श्रीहरिः

विषय-सूची

॥ श्रीहरिः ॥

भूमिका

इस पुस्तकके प्रकाशित होनेसे पूर्व ही इसके रचयिता श्रद्धेय भगवद्भक्त चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजीका देहावसान हो गया। वे आज इसकी भूमिका लिखनेके लिये इस संसारमें नहीं हैं, उनकी लेखनीसे न लिखे जानेपर चौधरी साहबके परिचित व्यक्तियों-को सदा दुःख बना रहेगा। पुस्तक छपकर प्रायः समाप्त हो चुकी थी कि गत दिसम्बर मासमें थोड़े ही दिनोंकी बीमारीमें उनका परलोकवास हो गया।

चौधरी साहबने बहुत वर्ष पूर्व 'साधनसंग्रह' की रचना की थी और उसको दो खण्डोंमें प्रकाशित किया था। समग्र पुस्तक अप्राप्य हो गयी थी। अब पुनः भावुक साधकोंको वह सुलभ हो गयी। 'साधनसंग्रह' का 'कर्माभ्यासयोग' तारायन्त्रालय काशीसे प्राप्य है और 'ज्ञानयोग' गीताप्रेस, गोरखपुरने छापा है। 'भक्तियोग' आपके हाथमें ही है। प्रस्तुत पुस्तक अपने पूर्व संस्करण-से परिवर्द्धित है। पुनरावृत्ति और संशोधनके कारण पुस्तक पहले-की अपेक्षा अधिक उपादेय हो गयी है।

भक्तिविषयक पुस्तकोंकी कमी नहीं है। इस मधुर विषयपर अच्छी-अच्छी पुस्तकें सौभाग्यसे प्राप्त हैं। परन्तु प्रस्तुत पुस्तकमें कई विशेषताएँ हैं। भक्तिके प्रत्येक अंगपर इतना सविस्तर विवरण शायद ही किसी अन्य पुस्तकमें मिले। श्रुति, स्मृति, पुराण, श्रीमद्भागवत, गीता आदिके उपयुक्त प्रमाण ही यथास्थान नहीं दिये वरं सिद्धान्त समझानेमें उनका बड़ा ही सुन्दर उपयोग किया गया है। यदि इन प्रमाण-वाक्योंका संग्रह ही एक स्थानमें मिल जाता तो ही बड़े कामकी चीज़ तैयार हो जाती। चौधरी साहबने संकलनद्वारा पुस्तकको अत्यन्त रोचक और उपादेय बना दिया है। गोस्वामी तुलसीदासजी और अन्य हिन्दीके भक्त कवियोंकी सूक्तियोंने सोनेमें सुगन्धका काम किया है। मानो भक्तिशास्त्रका मथनकर साधकके लिये नवनीत उपस्थित कर दिया है। परन्तु सबसे बड़ी बात तो यह है कि एक-एक शब्दपर लेखकके अनुभवकी छाप लगी हुई है। जो शास्त्रोंसे दीर्घकालके अनवरत परिशीलनसे प्राप्त किया उसको अनुभवद्वारा सिद्ध करके लेखकने लेखनी उठाना उचित समझा है। पुस्तक संकलनमात्र नहीं है एक उन्नत और अनुभवसिद्ध, भक्तिरसमें ओतप्रोत आत्माका प्रसाद है। ऐसी ही पुस्तकका सच्चा प्रभाव पड़ता है और उन्हींका लिखना, पढ़ना सार्थ और कल्याणकारी हो सकता है। लेखकको एक ही चिन्ता व्याप्त रही थी, और वह यह कि भूले-भटके जीवोंको सावधान करना आदि जो भक्तिमार्गपर अग्रसर होनेके इच्छुक हैं उनको प्रोत्साहन देकर मार्गदर्शकका कार्य करना। इससे ऊँची भावना और क्या हो सकती है? स्वर्गस्थ चौधरीजी-

ने केवल अपना ही जीवन उन्नत नहीं बनाया वरं दूसरोंके हितार्थ लोक-कल्याणकी कामनासे साधन-पथ सुगम कर दिया। इस बातको निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि साधकोंके लिये यह पुस्तक अनमोल है और इसके पठन और मननद्वारा अतुल लाभ उठाया जा सकता है। इस पुस्तकद्वारा मानो हमको एक सत्पुरुषका सत्संग सदा सुलभ हो गया, चाहे उनका नश्वर शरीर अब इस लोकमें नहीं रहा।

मेरे लिये तो यह पुस्तक एक कृतकार्य और सत्पुरुषकी आत्मकहानी है। कई वर्षोंसे चौधरी साहबसे परिचय हो गया था, और वह उनके गुरुदेव पूज्यपाद पण्डित भवानीशंकरजीद्वारा हुआ था। पूज्य पण्डितजी एक वयोवृद्ध महात्मा हैं। जो आजकल काशीवास कर रहे हैं। जब थियोसोफिकल सुसायटीकी स्थापना हुई थी तभीसे आपने उसमें योग दिया था और उसके उद्देश्य-का प्रचार करनेके लिये जब उन्होंने भारतभ्रमण किया तभीसे चौधरी साहबसे परिचय हो गया और फिर बहुत कालतक गुरु-शिष्यका सम्बन्ध रहा। चौधरी साहबकी गुरुभक्ति बड़ी भावमयी और प्रगाढ़ थी। मुझे उनके सत्संगकी स्मृति हो आती है तो कृतज्ञतासे हृदय भर जाता है। उनका उन्नत ललाट, गौरवर्ण और गम्भीर मुख दर्शनीय था। आँखोंमें बड़ी विचारगम्भीरताकी झलक थी और एक विशेष प्रकारका उनमें तेज प्रत्यक्ष दीखता था। अपने बारेमें वे बहुत कम बात करते थे। सत्संग और भगवत्-चर्चाका व्यसन था। कपड़े-लत्तोंके प्रति अति उदासीनता थी। और भोजन

उनका वहुत वर्षोंसे केवल केला था। उपदेशकका अंदाज कभी नहीं दिखाया। मित्रके नाते साधनके रहस्योंको समझानेमें उन्हें आनन्द मिलता था। अपने वारेमें केवल इतना ही एक बार कहा था कि दरभंगाराजके एक पदाधिकारी होकर पटनेमें निवास है। और विहारके एक भूमिहारवंशमें जन्म लिया है। मृत्युके थोड़े ही दिन पहले पत्रद्वारा आपने काशी आनेकी सूचना दी थी और लिखा था कि कार्य-भार छोड़कर अब अपने ही स्थान सुस्तामुहम्मद-पुर, जिला मुजफ्फरपुरमें भजन और सत्संगमें शेष जीवन बितायेंगे। उनकी साधना पूरी हो चुकी थी। संसारके लिये जो उपदेश देना था सो दे चुके थे। फिर यहाँ किस कार्यके लिये भगवान् उन्हें रहने देते!

'साधनसंग्रह' के अतिरिक्त उन्होंने 'एकश्लोकी गीता' और 'गीता और आदिसंकल्प' नामक दो छोटी पुस्तकें और कतिपय छोटे ग्रन्थ और भी प्रकाशित किये थे। 'कल्याण' में समय-समय-पर लेख लिखते थे उनका एक संग्रह 'आनन्दमार्ग' नामसे गीताप्रेससे हालमें ही प्रकाशित हो चुका है।

पटवा डाँगर
(नैनीताल)
१३ जून १९३६ ई०

जीवनशङ्कर याज्ञिक
अध्यापक—काशी हिन्दूविश्वविद्यालय

ध्यानयोगी भक्त

श्रीगणेशाय नमः

श्रीगायत्र्यै नमः

श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीभागवताय नमः

भक्तियोग

(साधनसंग्रहान्तर्गत)

अवतरणिका

साकार और उपासनाक्रम

(केवल शास्त्रज्ञान अपूर्ण है)

ज्ञानयोगके प्रकरणमें यह कहा गया है कि ज्ञानयोगकी साङ्गोपाङ्ग साधनामें सिद्धिलाभ होनेपर साधककी स्थिति कारण-शरीरके 'प्राज्ञ' में हो सकती है, जिसका लाभ भी इस कालमें बड़ा कठिन है। किन्तु इससे भी आगे जो श्रीभगवान्* महेश्वर हैं उनकी प्राप्ति बिना भक्तिके कदापि नहीं हो सकती। जिस विज्ञान-की प्राप्तिसे परमात्माका साक्षात्कार होता है वह तो भक्तिहीका

---

* इस पुस्तकमें श्रीभगवान् शब्द व्यापकभावमें व्यवहार किया गया है। चूँकि सब उपास्य देव एक ही हैं, अतएव यह श्रीभगवान् शब्द उसी एक परात्पर परमेश्वरका नाम है जिसे शिव, विष्णु, शक्ति, राम, कृष्ण, गणेश, सूर्य आदि भी कहते हैं। अतएव भिन्न-भिन्न उपासक इस श्रीभगवान् शब्दसे अपने इष्टदेवको ही समझें। जैसा कि शैवके लिये यह श्रीभगवान् शब्द श्रीशिवका द्योतक है वैसा ही शक्तिके लिये भी है।

रूपान्तर है। केवल शास्त्रजनित ज्ञानसे भक्ति बहुत उच्च और श्रेष्ठ है। लिखा है—

तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात्, साम्मुख्येतरापेक्षितत्वात्। (शाण्डिल्यसूत्र)

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा, फलरूपत्वात्॥

(नारदसूत्र)

भक्ति ही मुख्य है, क्योंकि भक्त (सकाम) कर्मी, (शास्त्र) ज्ञानी और (भक्तिहीन) योगी इन सबोंसे श्रेष्ठ कहा गया है।

भक्ति इसलिये भी मुख्य है, क्योंकि इतर योग-ज्ञानादिकोंमें भी इसकी अपेक्षा रहती है। वह भक्ति कर्म, ज्ञान और योग *तीनोंसे बहुत श्रेष्ठ है; क्योंकि कर्म, ज्ञान और योग ये साधन हैं* और भक्ति इनका फल है। भागवतका वचन है—

श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

(१०।१४।४)

दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥

(१०।४७।२४)

और भी—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता १२।२, ५)

हे भगवन्! तुम्हारी मंगल करनेवाली भक्तिको त्यागकर जो केवल ज्ञानलाभके लिये ही क्लेश करते हैं, उनके लिये केवल क्लेश ही शेष रहता है और कुछ नहीं रहता, जैसे (जिसके भीतर अन्नकी कणा नहीं है ऐसे) भूसेको कूटनेसे कोई फल प्राप्त नहीं होता। दान, व्रत, तप, होम, जप, यज्ञ, वेदपाठ, इन्द्रियनिग्रह और अनेक प्रकारके कल्याणके उपाय, इन सबोंके करनेका फल यही है कि श्रीकृष्णचन्द्रमें भक्ति हो। जो पुरुष मुझमें मनको एकाग्र करके रखता है और सात्त्विक-श्रद्धायुक्त होकर मेरे सगुण स्वरूपकी उपासना करता है, मेरे मतमें वही सर्वोत्तम योगयुक्त है। निर्गुण ब्रह्ममें चित्तको लगानेवाले पुरुषोंको अधिक क्लेश होता है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति देहाभिमानीको बड़े ही क्लेशसे होती है।

गीताजीका और भी वचन है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

(११।५४)

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

(१८।५४)

'हे परन्तप अर्जुन! ऐसा मैं केवल एक अनन्य भक्तिसे ही जानने, देखने और पूर्णरूपसे प्राप्त होने योग्य हूँ। सब भूतोंमें समबुद्धि रखनेवाला, ब्रह्म (प्राज्ञरूप चेतन और उसकी समष्टि) को प्राप्त हुआ वह प्रसन्न चित्त किसी प्रकार शोक या अभिलाषा नहीं करता, और तब मेरी पराभक्तिका लाभ करता है।' श्रीमद्-भागवतका वचन है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥

(१ । ७ । १०)

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः ।
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम् ॥

(३ । २५ । ४३)

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥

(४ । ९ । १०)

न साधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥

(११ । १४ । २०-२१)

भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते ।
तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम् ॥
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः ।

(११ । २५ । ३३-३४)

जो संसारबन्धनसे छूटे हुए हैं वे आत्म (प्राज्ञ) निष्ठ मुनिजन भी निष्काम भक्ति करते हैं । श्रीनारायणके गुण ही ऐसे हैं । योगी लोग ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्तियोगसे सम्पन्न हो अपने कल्याण-के लिये आपके सर्वथा भयशून्य चरणोंके आश्रित होते हैं । और

इसीसे उनका कल्याण होता है । देहधारियोंको जो आनन्द आपके चरणकमलोंके ध्यान और आपके भक्तोंकी कथाके कीर्तन-श्रवणसे होता है, हे नाथ ! वह आनन्द तो ब्रह्मज्ञानकी दशामें नहीं होता ! फिर जो यमके खड्गसे काटे जाकर विमानसे गिर जाते हैं उन्हें तो वह मिल ही कैसे सकता है? हे उद्धव ! मैं जैसे दृढ़ भक्तिसे मिलता हूँ वैसा न योगसे, न सांख्यसे, न वेदविहित धर्मसे, न वेदके पाठसे और न ज्ञान-तप या दानादिसे साध्य होता (मिलता) हूँ । मैं सज्जनोंका प्रिय और उनका अन्तरात्मा हूँ । मुझे लोग केवल एक भक्ति और विश्वाससे ही पा सकते हैं । मेरी भक्ति, चाण्डालको भी, उनके जन्म और कर्मके दोषोंसे, शुद्ध कर देती है । भक्ति-योगद्वारा मुझमें निष्ठा करनेवाला पुरुष मुझे ही प्राप्त हो जाता है । अतः, जिसमें ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति सम्भव है, ऐसे इस शरीरको पाकर बुद्धिमानोंको गुणोंकी आसक्ति त्यागकर मेरी भक्ति करनी चाहिये ।

श्रुतिका भी कथन है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम् ॥
(मुण्डकोपनिषद् ३ । २ । ३)

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥
प्रकाशन्ते महात्मन इति ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६ । २३)

इस परमात्माका लाभ न वेदाध्ययनसे, न धारणासे और न बहुत शास्त्रोंके ज्ञानसे ही हो सकता है। जो इसकी प्राप्तिके लिये हृदयसे (भक्तिभावके साथ) प्रार्थना करता है उसीको यह मिलता है और उसीको यह अपना रूप प्रकट करता है। जिसकी इष्टदेवमें पराभक्ति है और जैसी इष्टदेवमें है वैसी ही गुरुजीमें भी है, उसी सत्पुरुषको वेदप्रतिपादित ब्रह्मका प्रकाश होता है, प्रकाश होता है।

जैसे विश्वका केन्द्र अर्थात् मूलबीजरूप आधार महेश्वर हैं उसी प्रकार मनुष्य-जीवनका केन्द्र कारण-शरीरका अभिमानी प्राज्ञ है, जिसके ज्ञान और प्राप्ति सबसे पहले आवश्यक हैं, क्योंकि बिना उसमें स्थित हुए उसके आगे महेश्वरकी प्राप्तिके लिये अग्रसर होना असम्भव है। ज्ञानयोगका मुख्य उद्देश्य कारण-शरीरस्थ जीवात्मामें स्थिति प्राप्त करना है, जिसकी प्रधान साधना प्राकृतिक बाह्य दृश्य और उसीसे बनी हुई उपाधिसे चेतन-को पृथक् करना ही है। ज्ञानमार्गके साधक संसारको अनिर्वचनीय मायाका कार्य मान उसको असत् समझता और उससे निःसङ्ग और पृथक् रहनेका यत्न करता है। उसका मुख्य उद्देश्य सत् और चित्भावको अपनी आत्मामें प्रत्यक्ष करनेका रहता है, किन्तु भक्तिमार्गका उद्देश्य इससे ऊँचा है। भक्तिमार्गमें आनेपर साधकको श्रीभगवान्की प्राप्तिके लिये श्रीभगवान्की पराशक्तिके आश्रित होनेकी आवश्यकता होती है। उसकी कृपा और सम्बन्ध-से श्रीभगवान्के परम आनन्दभावका रसास्वादन करना इस मार्गका मुख्य उद्देश्य है, जो ज्ञानमार्गमें हो नहीं सकता। ज्ञानमार्ग-

में साधकको केवल अपने जीवात्माके स्वरूपके सम्बन्धमें आनन्दकी प्राप्ति आनन्दमय कोशमें स्थिति होनेपर होती है, जिस रसास्वादमें अविद्याका लेश रहनेके कारण उससे उसकी पूर्ण तृप्ति नहीं होती और न परम शान्ति मिलती है। तत्पश्चात् उसको आनन्दके सागर श्रीभगवान्की प्राप्तिके लिये प्रबल पिपासा उत्पन्न होती है, जो उसको ईश्वरोन्मुख करती है। यह पिपासा भक्तिका बीज है। कितने ही लोग तो आनन्दमय कोशके ही रसास्वादनमें लगे रह जाते हैं। वे उससे आगे बढ़नेकी चेष्टा नहीं करते और यह नहीं समझते कि यह आनन्द यथार्थ आनन्दका केवल प्रतिबिम्बमात्र है, यथार्थ नहीं है, और अविद्याजनित होनेसे परम शान्तिप्रद भी नहीं है। जैसा कि गीतामें लिखा है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥
(१४।६)

हे निष्पाप! उनमें सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाशक और निरुपद्रव है, किन्तु वह देहीको सुख और ज्ञानके सङ्गसे बाँधता है। ज्ञानमार्गावलम्बी साधक प्रकृतिको बन्धनका कारण मान उसके कार्य संसारदृश्यको भी अनर्थका मूल मानता है। और उससे प्रायः सम्बन्ध रखना नहीं चाहता, क्योंकि उसको भय होता है कि बाह्य दृश्यके संसर्गसे मैं चेतनरूपी केन्द्रसे, जिसको बड़े परिश्रमसे मैंने प्राप्त किया है, च्युत हो जाऊँगा और फिर अपने यथार्थ स्वरूपको भूलकर प्रकृतिके जालमें फँस

जाऊँगा। किन्तु साधारणतः कर्मका त्याग असम्भव है, क्योंकि मानसिक भावना भी कर्म है और शरीरयात्राके निमित्त कर्म आवश्यक है (गीता ३। ५, ८ और १८। ११)। क्रिया बिना करण (इन्द्रिय और उनके विषय) के हो नहीं सकती, अतएव वस्तुतः ज्ञानी दृश्यसे पृथक् हो नहीं सकते, जो दृश्य कि मायाके सहारे ज्ञानीको भी मोहमें डालकर गिराता है। दृश्यको मिथ्या माननेसे भी छुटकारा नहीं मिलता। क्योंकि वह भासता है और शरीरयात्रा आदिके निमित्त उससे व्यवहार करना पड़ता है। असङ्ग-निःसङ्ग-भाव कथनमात्र रह जाता है और सङ्गमें परिवर्तित हो जाता है।

सृष्टि भगवल्लीला

पर भक्तोंकी दृष्टि भिन्न है। भक्त साधक जिसने अपना सम्बन्ध श्रीभगवान्‌की पराप्रकृतिके साथ जोड़ा है, सम्पूर्ण दृश्यको केवल मूल प्रकृतिका कार्य न मानकर उसके अन्तःस्थित पराशक्ति-को ही मुख्य सञ्चालिका शक्ति मानते और उसीकी दृष्टिसे दृश्यको देखते हैं। और चूँकि वे समझते हैं कि उक्त पराशक्ति स्वतः निर्विकार, शुद्ध और आनन्दमय है तथा श्रीभगवान्‌की इच्छाके अनुसार ही उनके इस विश्वरूपी लीलाके सम्पादनमें प्रवृत्त है, इसलिये भक्तजन इस विश्वको दुःखात्मक और भयावह समझनेके बदले इसको श्रीभगवान् और उनकी पराशक्तिसे परिपूर्ण देखते हैं और कारणके समान इस कार्यको भी श्रीभगवान्‌की आनन्दमयी लीला ही जानते हैं, जो न तो उन्हें बन्धनमें डाल सकती है और न कोई हानि कर सकती है। इस कारण भक्त-साधक दृश्यके भीतर

श्रीभगवान्‌को वर्तमान जान दृश्यमात्रको भगवन्मय समझता है। यही यथार्थ दृष्टि है। इस कारण दृश्य-माया उसे बाधित नहीं करता। किन्तु वह उत्पत्ति, स्थिति और संहार तीनोंको पृथक्-पृथक् भगवत्-कार्य जान स्थितिके समय संहारसे अलग रहता है। भक्त तो भगवद्‌दृष्टिसे संसारमें दुःखमें भी सुखका ही लक्ष्य करता है, अमङ्गलमें भी मङ्गल ही देखता है, अशुभमें भी शुभका ही बोध करता है, बाह्य अपवित्रतामें भी आभ्यन्तरिक पवित्रताका भास मानता है, बाह्य दृष्टिसे प्रतीत होनेवाले अधर्ममें भी देश, काल, पात्र और अधिकारीकी दृष्टिसे धर्मका अस्तित्व जानता है; क्योंकि वह इन सबके यथार्थ अभिप्रायको जान गया है और उनके अन्तिम परिणामकी दृष्टिसे उन सबका रहस्य जानकर आवश्यक ही समझता है। भगवान्‌की इस सृष्टिरूपी लीलामें सेवारूपसे योग देकर श्रीभगवान्‌की प्रसन्नता सम्पादन करना साधक अपना परम कर्त्तव्य समझता है। भक्तसाधक श्रीभगवान्‌के आनन्दभावको रसमय देखता है और मधुर रस, मनोहर रस, सुन्दर रस, शृङ्गार रस आदिको उसीके अन्तर्गत अनुभव करता है। पराभक्ति श्रीभगवान्‌की आनन्दोपासना है। तैत्तिरीयोपनिषद्‌का वचन है। 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' वह रस ही है, इस रसको ही प्राप्तकर (जीव) आनन्दित हो जाता है। भक्त-साधककी दृष्टिमें सृष्टिके उद्भवका उद्देश्य और परिणाम श्रीभगवान्‌की विभूति, महिमा, अनुकम्पा और उनके परम मधुर भावका विकास करना है। अतएव सृष्टिमें जहाँ कहीं दैवी सौन्दर्य, माधुर्य, मनोहर भाव, मैत्री भाव, पवित्र भाव, करुणाभाव, आनन्दभाव, प्रेमभाव देखा जाता है, वहाँ

भक्तसाधक शक्तिसेवित श्रीभगवान्‌का अस्तित्व समझता है और तन्मयभावसे स्मरण-चिन्तनद्वारा उनमें संयुक्त हो उनमें ही श्रीभगवान्‌की पूजा-उपासना करता है। लिखा है—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।
मधुगन्धिमृदुस्मितमेतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्॥

यह व्यापक भगवान्‌का शरीर मधुर-मधुर है और मुख भी मधुर मधुर मधुर है। अहा! कैसा कोमल मधुगन्धसे मिश्रित यह है। मधुर है, मधुर है, मधुर है।

श्रीभगवान्‌ने गीताके १० वें अध्यायमें जो अपनी विभूतिका वर्णन किया है उससे भी यही सिद्ध होता है कि सृष्टिमें जो कुछ सुन्दर, पवित्र, उत्तम, मधुर, मनोहर, आनन्दप्रद पदार्थ हैं, वे सब श्रीभगवान्‌की विभूति हैं और उन विभूतियोंके प्रकाशका उद्देश्य यह है कि उनकी भावना करके भावुक साधक श्रीभगवान्‌से सहजमें ही सम्बन्ध जोड़ सकें जो किसी और साधनसे अत्यन्त दुष्कर है। लिखा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(भागवत ११।२।४१)

'आकाश, पवन, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि, जीव-जन्तु, वृक्षादि, नदी, समुद्र इन सबको श्रीभगवान्‌का शरीर समझ भेदबुद्धि छोड़कर प्रणाम करे।'

आनन्दान्वेषण

आनन्दका अन्वेषण करना, अपने अस्तित्वको सदा बनाये रखना तथा सुन्दरता और मधुरतासे आकर्षित हो जाना जीव-मात्रका स्वभाव है। इसका कारण यह है कि ये भाव अर्थात् सत्, आनन्द, सुन्दर और मधुर भाव श्रीभगवान्‌के परमोच्च भाव हैं; और चूँकि जीवात्मा श्रीभगवान्‌का अंश है, जिसके यथार्थ स्वरूपमें ये भाव वर्तमान भी हैं किन्तु मायासे आबद्ध होनेके कारण यह उनसे वञ्चित है। अतएव इन भावोंकी खोज उसके लिये स्वाभाविक है, उनकी प्राप्ति बिना इसको शान्ति नहीं मिल सकती। अतएव जीवमात्र श्रीभगवान्‌के इस रसमय परमानन्द-भावका ही अन्वेषण कर रहा है और यही सबका आन्तरिक लक्ष्य है। यह जीवात्मा श्रीपरमात्मासे बिछुड़कर संसृतिचक्रमें पड़ गया है; किन्तु इसको उसके बिना शान्ति कहाँ? जबतक वह प्रेम-पुष्प-को प्राप्तकर उसे आत्माञ्जलिद्वारा अपने प्रियतम श्रीभगवान्‌के चरणकमलमें समर्पणकर उनकी पूजा नहीं करेगा, तबतक न तो वियोगसे छुटकारा होगा और न शान्ति ही मिलेगी। कर्मी कर्ममें, योगी योगमें, ज्ञानी ज्ञानमें परमात्माके इस आनन्दभावका ही अन्वेषण करते हैं, बल्कि सांसारिक लोग भी धन, कुटुम्ब, स्त्री, भवन, भूषण, वस्त्र, स्वादिष्ट भोजन, सुन्दर दर्शन, गन्ध-सेवन, गीतश्रवण आदिद्वारा इसी आनन्दका अन्वेषण करते हैं, क्योंकि इनमें भी उसका आभास है। यह विषयजनित सुख भी सत्त्व, रज और तमके भेदसे तीन प्रकारका है। उसका गीता अध्याय १८ श्लोक ३७ से ३९ तकमें वर्णन है। उसका संक्षिप्त विवरण

इस प्रकार है––जो सुख आरम्भमें विषके तुल्य कटु किन्तु परिणाममें अमृतके समान मीठा होता है और जो आत्मविचारमें संलग्न बुद्धिकी निर्मलतासे प्राप्त होता है, वह सात्त्विक है। कुत्सित विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे जो सुख होता है, जो आरम्भमें अमृतके समान किन्तु परिणाममें विषके तुल्य है, वह राजस कहलाता है। तथा जो सुख आरम्भ और अन्तमें चित्तको मोहित करता है, एवं निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होनेवाला है, वह तामस कहलाता है। सृष्टिमें प्रकृतिके तीनों गुण अर्थात् आसुरी (तम), राजस (प्रवृत्ति) और सात्त्विक (निर्मल) का होना आवश्यक है, क्योंकि तमोगुणके अतिक्रम करनेसे रजोगुणका उदय होता है और रजोगुणका पराभव करनेसे सत्त्वगुणका प्रादुर्भाव होता है और यही विकासक्रम है। ज्ञानमार्गमें सात्त्विक सुखका ही अनुभव होता है; किन्तु उसमें भी आनन्द-भावका आभासमात्र ही है, जिससे शान्ति मिल नहीं सकती है, अतएव भक्तिद्वारा आनन्दके सागर श्रीभगवान्में निमग्न होनेपर ही जीवात्माकी प्रबल पिपासा शान्त होगी और श्रीभगवान्से विच्छेद-जन्य विरहानलकी ज्वालासे साधक मुक्त होगा अन्यथा कदापि नहीं। धन्य हैं वे साधक जिनमें कर्म, अभ्यास और ज्ञानमार्गके अनुसरण करनेके कारण ऐसी पिपासा और ज्वाला प्रत्यक्षरूपमें प्रकट हो गयी है और जिनके चित्तरूपी भ्रमरका केवलमात्र लक्ष्य श्रीभगवान्का पदसरोज है, अन्य कुछ नहीं। यहाँसे भक्तिमार्ग प्रारम्भ होता है जिसमें पराभक्ति त्रिगुणसे परे है।

विभूति-उपासना

साधक कर्म, अभ्यास और ज्ञानमार्गके अनुसरणद्वारा श्रीभगवान्‌की पूजा और चिन्तन उनकी सांसारिक विभूतिमें करते हैं। जैसा कि यज्ञादिद्वारा देवताओंमें, सूर्योपासनाद्वारा सूर्यमें, होमद्वारा अग्निमें, जल-सिञ्चनद्वारा अश्वत्थमें, राजभक्तिद्वारा राजामें, गोरक्षा और गोसेवाद्वारा गौमें, ब्राह्मणकी परितुष्टि करके ब्राह्मणमें, गंगा आदि पुण्य नदियोंमें श्रद्धासे स्नानकर नदियोंमें, गायत्री आदि मन्त्रके जपद्वारा गायत्री आदि मन्त्रमें, अपने व्यवसायको धर्म और निष्कामभावसे पालनकर उक्त व्यवसायमें (गीता १८।४६), धर्मयुक्त शासन और दण्डसे अपने परिवारवर्गको सच्चरित्र बनानेसे दण्डमें, नीतिका पालन करनेसे नीतिमें, दीन-दुखीके दुःख मिटानेसे दीन-दुखियोंमें, अभ्यासयोगद्वारा मनकी शुद्धि और निग्रह करके मनमें, और श्रीभगवान्‌के नामका जप करनेसे वाणी और नाममें तथा सत्य, क्षमा, धारणा आदि सद्‌गुणोंके अभ्याससे उन सद्‌गुणोंमें, ज्ञानयोगकी विधिसे बुद्धिको शुद्ध और विचक्षण करनेसे बुद्धिमें, प्रणवका मनन करके प्रणवमें, अध्यात्मविद्या और ज्ञानके अभ्याससे अध्यात्मविद्या और ज्ञानमें, सत्त्वगुणकी प्राप्तिसे सत्त्वगुणमें और कारणशरीरस्थ आत्माकी प्राप्तिसे आत्मामें, श्रीभगवान्‌की विभूति-पूजा की जाती है। ये सब श्रीभगवान्‌की विभूतियाँ हैं और उनमें उनका वास है।

श्रीउपासना—सौन्दर्योपासना

विभूतियोंमें श्रीभगवान्‌की उपासना करनेसे भी साधकको पूरी तृप्ति नहीं होती है, क्योंकि विभूतियाँ प्रायः श्रीभगवान्‌की

महिमाको प्रकाशित करती हैं और इसीसे वे केवल विभूति कही जाती हैं अर्थात् वे साक्षात् भाव नहीं हैं। अब साधककी यह प्रबल आकांक्षा होती है कि श्रीभगवान्‌को वह ऐसे साक्षात् गुण और भावमें उपासना करें जो उनका साक्षात् स्वरूप हो और जिसकी प्राप्ति होनेपर साधकका हृदय तृप्त हो जाय। ऐसा भाव 'श्रीभाव' है अर्थात् श्रीभगवान्‌को उनके परम पवित्र सौन्दर्य और माधुर्यभावमें उपासना करनी। इस भावकी उपासनाकी रगड़से साधकमें प्रेमका प्रकाश होना सहज है। श्रीमद्भगवद्गीताके अध्याय ११ श्लोक ४१ में जो 'श्री' भावका उल्लेख है, वह यही सौन्दर्य और माधुर्य भाव है और उत्कृष्ट होनेके कारण ही यह अन्तमें कहा गया है। श्रीमद्भगवद्गीताके प्रमाणसे इस बातका कुछ वर्णन इस विषयके अन्तमें किया जायगा। ऐसा साधक, संसारकी सब पवित्र, सुन्दर और मधुर विभूतियोंमें अपने प्राणप्रिय श्रीआनन्दकन्द चिद्घनानन्द-को देखता है और अपने पवित्र हृदयरूपी बागके परम दुर्लभ प्रेम-पुष्पको समर्पणकर उसकी पूजा करता है। इस प्रेम-यज्ञमें साधक अपने प्रियतमकी प्रीतिके लिये अपने सब प्रकारके सुख, सम्पत्ति और ऐश्वर्यको स्वाहा करता है और उसके बदलेमें कुछ भी नहीं चाहता। किन्तु इसका परिणाम स्वयं यह होता है कि साधक निर्मल हो जाता है; क्योंकि प्रेमयज्ञकी ज्वाला किसी प्रकारकी कालिमा रहने नहीं देती। किन्तु इस भावकी भी यथार्थ प्राप्ति श्रीभगवान्‌की परा शक्तिकी कृपापर निर्भर है, अन्यथा नहीं। हृदय-के शुद्ध और प्रेमसे द्रवित होनेपर ही इस भावका आना सम्भव है। इस भावद्वारा स्वतः श्रीभगवान् अपनी कृपासे साधकके

प्रेमपूर्ण हृदयको अपनी किसी पवित्र और सुन्दर विभूतिको नेत्रगोचरकर अपनी ओर खींच लेते हैं और जैसे चुम्बक लोहेको आकर्षण करता है वैसे ही वह आप-से-आप आकर्षित हो जाता है। उस मनोहर रूपको श्रीभगवान्‌की परम विभूति जानकर उसका हृदयरूपी प्रेम-पुष्प विकसित हो जाता है, जिसे वह अपने प्रियतम श्रीभगवान्‌को समर्पणकर जिनकी वह विभूति है उनकी पूजा करता है। इस प्रेमोपहारके कारण साधक कृतकृत्य हो जाता है। यह प्रेम केवल पवित्र सुन्दर स्वरूपमें ही हो सकता है, जिसमें पवित्र भाव और आभ्यन्तरिक विशुद्ध गुण हों, अन्यथा इस दैवी प्रेमकी उत्पत्ति हो नहीं सकती, क्योंकि पवित्र और मधुर सुन्दरता ही श्रीभगवान्‌की विभूति है। इस भावमें प्रेमपात्रके पवित्र विशुद्ध मनोहर रूपमें श्रीभगवान्‌का अभ्यन्तरमें वास मान उन्हींकी उपासना की जाती है, न कि उस वाह्य आकारकी। यह सम्पूर्ण विराट् सृष्टि ही श्रीभगवान्‌का विश्वरूप है अर्थात् इस सृष्टिद्वारा वे अपने आपको प्रकाशित कर रहे हैं। संसारमें जो कुछ यथार्थ, सुन्दर और प्रिय है वह श्रीभगवान्‌के अन्तर्यामित्वके कारण ही है, न कि केवल वाह्य स्वरूपके कारण। उपनिषद्‌का वचन है—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति।

पतिके कारण पति प्रिय नहीं है किन्तु (उसके अभ्यन्तर) परमात्माके कारण प्रिय है। सारे भूत स्वतः भूतस्वरूप होनेके

कारण प्रिय नहीं हैं किन्तु अपने अधिष्ठान परमात्माके कारण प्रिय हैं।

पातञ्जलयोगसूत्रका 'यथाभिमतध्यानाद्वा' अर्थात् जो प्रिय पदार्थ चित्तको आकर्षित करे उसीका ध्यान करनेसे चित्त एकाग्र होता है, ऊपरके सिद्धान्तपर स्थित है। उपासना-ध्यानका विषय ऐसा पदार्थ होना अच्छा है जिसपर चित्त स्वभावसे ही अनुरक्त हो, क्योंकि उसीके ध्यान और उपासना करनेसे चञ्चल मनके एकाग्र और शान्त होनेकी अधिक सम्भावना है किन्तु यह एकाग्रता ऐसे पदार्थका ध्यान करनेसे जिसकी ओर कि मनका स्वाभाविक झुकाव नहीं होता—कठिनतासे देरमें प्राप्त होगी। चूँकि श्रीभगवान् सर्वत्र हैं, इस कारण समझना चाहिये कि उस प्रिय पदार्थमें भी श्रीभगवान् हैं और वे ही उस रूपद्वारा आकर्षित करते हैं; उनकी इच्छा है कि मैं उसी रूपमें उनकी उपासना करूँ। किन्तु आवश्यक यह है कि बाह्य जड आकारपर आसक्त न हो। उसके भीतर जो श्रीभगवान् चैतन्यरूपमें विराजमान हैं उनमें उस आकारके द्वारा प्रेम किया जाय—बाह्य रूपमें ही आसक्ति न हो। बाह्यको तो अभ्यन्तरस्थ चैतन्य परमात्माका ही द्योतक समझना चाहिये। जो केवल बाह्य जड आकारमें आसक्त होते हैं उनका अधःपतन होता है। कहते हैं, एक विद्यार्थीको कई बार बहुत देरतक घोखनेपर भी कोई वाक्य कण्ठस्थ न हुआ। शिक्षकने पूछा कि चित्तमें क्या भावना है। विद्यार्थीने कहा 'मेरे मनमें भैंसके बच्चेका स्मरण हो आता है जो दूर नहीं होता।' इसपर शिक्षकने वाक्य घोखनेको छोड़कर उस भैंसके बच्चेका ध्यान करनेको कहा।

विद्यार्थीने ऐसा ही किया और उसका ध्यान शीघ्र ही उस बच्चेपर जम गया, क्योंकि वह स्वाभाविक उसके चित्तमें आ रहा था। उसका ध्यान कुछ कालमें ऐसा परिपक्व हो गया कि पूछनेपर विद्यार्थीने कहा—'मैं भैंसका बच्चा हूँ।' इस अभिमत ध्यानका परिणाम यह हुआ कि वह तन्मय हो गया अर्थात् ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों एक होकर केवल ध्येय रह गये।

इस सृष्टिमें जितने उत्तम पदार्थ हैं उन सभीमें श्रीभगवान्का प्रकट प्रकाश है और उनकी उत्तमताकी मात्रा उस प्रकाशकी प्रकटताकी मात्रापर निर्भर है। जिस पदार्थने श्रीभगवान्के प्रकाश-को अपनी शुद्धता और स्वच्छताके कारण जितना अधिक प्रकट किया है वह उतना ही अधिक उत्तम, प्रिय और श्रेयस्कर है, और जो पदार्थ जितना अधिक शुद्ध, स्वच्छ और पवित्र होगा, उतना ही उसमें श्रीभगवान्का प्रकाश विशेष प्रकाशित होगा। श्रीभगवान्की विभूति वे ही पदार्थ कहे जाते हैं जिनमें श्रीभगवान्-के प्रकाश और गुण विशेषरूपसे उन पदार्थोंकी विशेष स्वच्छता और पवित्रताके कारण प्रकट हैं—जिससे उनकी बाह्य छवि भी उनके अन्तर्वर्ती श्रीभगवान्के प्रकाश और प्रभाकी ही द्योतक होती है। इसीसे जहाँ जिनमें सत्य, क्षमा, त्याग, वैराग्य, ब्रह्मचर्य, दया, निःस्वार्थ परोपकार आदि दैवी गुण रहते हैं, वहाँ श्रीभगवान्का विशेष प्रकाश रहता है, क्योंकि ये सब उन्हींके गुण हैं। इसी प्रकार पवित्र सुन्दरता श्रीभगवान्की विभूतियोंमें बड़ी श्रेष्ठ विभूति है, क्योंकि यह श्रीभगवान्का स्वतः स्वरूप है और यह रूप-रस सब रसों और भावोंमें उच्च है। श्रीभगवान् 'शान्तं शिवं सुन्दरम्'

हैं अर्थात् वे शान्त (आनन्दस्वरूप), शिव (कल्याणस्वरूप) और सुन्दर (प्रकाशस्वरूप) हैं। यथार्थमें ये तीनों भाव एक और अभिन्न हैं। जो सुन्दर है वह शान्त और कल्याणस्वरूप भी है और जो शान्त और कल्याणस्वरूप है वही सुन्दर है। जो शान्त और कल्याणरूप नहीं है वह कदापि यथार्थ सुन्दर हो नहीं सकता, यद्यपि चर्मदृष्टिसे भले ही उसका बाह्य आकार सुन्दर भी दीख पड़े। बाह्य भाव अन्तर्भावका द्योतक है। यथार्थ सुन्दरता श्रीभगवान्के स्वरूपकी द्योतक और प्रकाशक है, यह पहले कहा ही जा चुका है। जहाँ श्रीभगवान् अपनी विभूतिको प्रकट करते हैं, वहाँ उनके दैवी गुण भी उसमें प्रकट होते हैं और वहाँ ही श्रीभगवान्के रूप-रसका प्रकाश पवित्र सुन्दरता भी प्रकट होती है। ये तीनों एक साथ रहते हैं और जहाँ श्रीभगवान्के प्रकाश और गुण प्रकट नहीं रहते, वहाँ यथार्थ और पवित्र सुन्दरता कदापि नहीं आती। पवित्र सुन्दरता केवल ऐसे भाग्यवान् साधक भक्तके पवित्र हृदयको आकर्षित करती है जो अपने आन्तरिक विशुद्ध भावके कारण उसमें श्रीभगवान्की प्रभा और गुणका विशेष प्राकट्य जानकर उसके द्वारा उनकी उपासना करनेकी योग्यता रखता है। इस सृष्टिमें श्रीभगवान् जीवोंको उनकी अवस्थाके अनुसार नाना प्रकारसे और नाना भावोंमें अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। मनुष्य-शरीर श्रीभगवान्का परमप्रिय मन्दिर है जिसमें उनके दिव्य स्वरूपका विशेष निवास है। श्रीमद्भागवतपुराणमें लिखा है— 'मनुजो निवासः' (२ । १ । ३६) अर्थात् मनुष्य श्रीभगवान्का निवासस्थान है। मनुष्य श्रीभगवान्की श्रेष्ठ विभूति

है । अतः उपर्युक्त मनुष्य-शरीरमें नाना प्रकारसे श्रीभगवान्‌की पूजा करना उनकी उत्तम पूजा है । इसमें सुविधा यह है कि उस ओर साधककी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है । स्त्री पतिमें, पुत्र माता-पितामें, गृहस्थ अतिथिमें, दयावान् दीन-दुःखियोंमें, यथार्थ मित्र मित्रमें—इस प्रकार नाना भावोंसे मनुष्य श्रीभगवान्‌हीकी पूजा करता है और श्रीभगवान्‌हीके उन पात्रोंके भीतर रहनेके कारण इस सौन्दर्योपासनाके भावकी उत्पत्ति होती है । श्रीभगवान्‌ने अपनी श्रेष्ठ विभूति मनुष्यरूपमें अपने परम श्रेष्ठ सौन्दर्यभावको प्रकाशित कर उसके द्वारा मनुष्यको अपनी ओर आकर्षित करनेका सुगम मार्ग दिखलाया है, क्योंकि श्रीभगवान्‌के सौन्दर्यभावको उत्तम प्रकारसे प्रकाशित करने योग्य मनुष्य-शरीर ही है, अन्य नहीं, और मनुष्यको समानताके कारण जिस प्रकार मानवी सुन्दरता आकर्षित कर सकती है उस प्रकार दूसरी नहीं ।

बालक-बालिकाएँ बाल्यावस्थामें स्वाभाविक अवस्थामें रहनेके कारण प्रायः विकार और दोषोंसे रहित होती हैं और वे स्वभावतः पवित्र और आनन्दरूप होती हैं । इसी कारण उनमें उनके आन्तरिक पवित्र भावानुसार श्रीभगवान्‌की सुन्दरतारूप विभूति न्यूनाधिक अंशमें अवश्य रहती है । जो भाग्यशाली बालक-बालिकाएँ अपने पूर्वजन्मके संस्कारानुसार पवित्र और शुद्ध रहती हैं और श्रीभगवान्‌की कृपापात्र हैं, उनमें श्रीभगवान्‌की सौन्दर्य-विभूतिका प्रकाश अधिक रहता है । ऐसे किसी बालक-बालिकाकी पवित्र सुन्दरता यदि किसी साधक भक्तके हृदयको स्वभावतः पूर्णरूपसे आकर्षित करे और ऐसे आकर्षणके कारण यदि उनके

पवित्र हृदयमें परम पवित्र भगवत्प्रेमका सञ्चार उस सुन्दर रूपके प्रति हो, तो वह उनको श्रीभगवान्‌के दुर्लभ रूप-रसका प्रकाशक जान उनमें श्रीभगवान्‌की उपासना कर सकते हैं। ऐसे साधक उन्हीं सुन्दर और पवित्र मूर्तिमें श्रीभगवान्‌की भावना करते हैं, उन्हींमें अपने पवित्र अहैतुक प्रेमको समर्पित करते हैं और उचित-रूपसे उन्हींकी अथवा उनके सम्बन्धमें निष्काम सेवाकर श्रीभगवान्‌में उस सेवाको समर्पित करते हैं। यह एक प्रकारकी प्रतीकोपासना है। इसके द्वारा भावुक साधकके हृदयमें प्रेमका अङ्कुर सहजमें उत्पन्न हो जाता है। मनरूपी भ्रमरको श्रीभगवान्‌के चरण-सरोजके सौन्दर्य-गन्धपर आसक्त होना सहज है। इस गन्धके आनन्दमें वह मग्न रहता है और उसके कारण उसकी चञ्चलता और मल दूर हो जाते हैं। जो बालक श्रीभगवान्‌का लीला-स्वरूप धारण करते हैं उनके प्रति ऐसा भाव अधिकतर उत्पन्न हुआ करता है और इसी कारण भक्तोंने श्रीभगवान्‌की लीलाको भक्तिका श्रेयस्कर साधन माना है। शास्त्रमें जो कुमारी बालिकाको साक्षात् श्रीभगवती जगन्माताका रूप मानकर कुमारीपूजाकी विधि है वह निष्काम होनेसे इसी उपासनाके अन्तर्गत है। श्रीचैतन्यमहा-प्रभुके निकट एक सुन्दर राजपुत्रको श्रीभगवान् व्रजविहारीके वेषमें विभूषित करके ले जानेसे उनको बड़ा आनन्द हुआ और इसके कारण राजाको महाप्रभुका दर्शन हुआ जो पहले असम्भव था।

इस भावका आना यत्नसाध्य नहीं है। यह श्रीभगवान्‌की कृपाहीसे स्वतः उत्पन्न होता है। इस सौन्दर्योपासनाका भाव उसीमें आता है जिसमें काम-क्रोधादि नहीं रहते और जो पवित्र

सुन्दरताको श्रीभगवान्‌की श्रेष्ठ विभूति समझता है तथा मनुष्य सृष्टिका उद्देश्य श्रीभगवान्‌के पवित्र गुण और सुन्दर मधुर रूप-रसको प्रकाशित करना ही जानता है। भक्तिमार्गमें 'एकोऽहं बहु स्याम्' का यही अर्थ है।

स्मरण रहे कि इस पवित्र सौन्दर्योपासनाके अधिकारी केवल पवित्र हृदयवाले साधक भक्त हैं, अन्य नहीं। जिनके हृदय और भाव अपवित्र और कलुषित हैं उनके ऊपर न इस पवित्र सुन्दरताका पवित्र प्रभाव पड़ सकता है और न वे इस उपासनाके अधिकारी हैं। ऐसे लोग यदि हठसे इसमें प्रवृत्त होंगे, तो उनको लाभके बदले केवल हानि होगी। अपवित्र हृदयवाले तो अपने अपवित्र भावसे अपवित्र रूपपर ही लुब्ध होते हैं, ऐसी प्रवृत्तिमें आसुरी भाव वर्तमान रहता है और उस मोहकारी आसुरी शक्तिके फन्देमें पड़कर उनका अधःपतन होता है। पवित्र हृदयवालेको उक्त आसुरीरूप, जो विषयी लोगोंको लोभाता है, भयङ्कर जान पड़ता है और वे कदापि उसमें आसक्त नहीं होते। आसुरी सुन्दरता बाह्य चमक-दमक रखनेपर भी नाश करती है, किन्तु पवित्र दैवी सुन्दरता भगवद्विभूति होनेके कारण संसारसे त्राण करनेका एक पथ है।

पहले कहा जा चुका है कि भक्त संसारको श्रीभगवान्‌के प्रेमानन्दसे पूर्ण जानता है। यथार्थमें प्रेम ही संसारका मूल है, प्रेमहीपर इसकी स्थिति है, प्रेम ही इसका प्राण है और प्रेम-द्वारा ही जीवात्मा फिर प्रेमके केन्द्र श्रीभगवान्‌की ओर आकर्षित

होता है। संसारकी सूक्ष्म गतिके आन्तरिक अभिप्रायपर विशेष विचार करनेसे यह सिद्ध होता है।

प्राथमिक साधनामें श्रीभगवान्‌की उनके किसी रूपमें भावना की जाती है (गीता ७।२१)। उसके पश्चात् विश्वविभूतिमें उनकी उपासना की जाती है जिनमें कि उनका विशेष प्रकाश है। श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे ऐसा कहा—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥

(गीता १०। ७)

'जो पुरुष मेरे इन सब विभूति और ऐश्वर्यको ठीक-ठीक जानता है वह निश्चय ही उन विभूतियोंके ध्यानयोगसे मुझमें सम्मिलित होता है, इसमें सन्देह नहीं।' इस श्लोककी टीका करते हुए श्रीहनुमान्‌जीने यों लिखा है—

सोऽविकम्पेन निश्चयेन योगेन ध्यानरूपोपायेन युज्यते युक्तो भवति।

अर्थात् 'वह निश्चय ही योगसे अर्थात् (विभूतियोंके) ध्यान-द्वारा श्रीभगवान्‌में सम्मिलित होता है।' यहाँ श्रीभगवान्‌ने अपनी विभूतियोंकी उपासनाकी श्रेष्ठता बतलायी है; इसीसे अर्जुनको श्रीभगवान्‌से विभूतियोंके नाम पूछनेकी आवश्यकता हुई थी, ताकि वे विभूति-उपासना कर सकें, इसीसे उन्होंने पूछा था—

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिञ्च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥

(गीता १०।१७-१८)

'हे योगिन्! मैं सर्वदा आपका ध्यान करते हुए आपको किस प्रकार जानूँगा। हे भगवन्! आप किस-किस भाव (विभूति) में मेरे ध्यान करने योग्य हैं? हे जनार्दन! अपने ऐश्वर्य और विभूतिको फिर विस्तारसे कहिये, क्योंकि आपके मुखसे निकले वाक्यामृत सुनकर मेरी तृप्ति नहीं होती।' यहाँ प्रथमके १७ वें श्लोकमें चिन्ताका अर्थ ध्यान है। श्रीशङ्कराचार्यने इस श्लोकके भाष्यमें लिखा है 'चिन्त्योऽसि ध्येयोऽसि' तुम चिन्त्य अर्थात् ध्यान करने योग्य (विभूतिमें) हो। श्रीबलदेवने भी अपनी टीकामें लिखा है 'चिन्त्योऽसि ध्येयोऽसि' इसका भी वही तात्पर्य है। श्रीमधुसूदनने अपनी टीकामें लिखा है—

परिचिन्तयन् सर्वदा ध्यायन् ननु मद्विभूतिषु मां ध्यायन् ज्ञास्यसि।

इसका अर्थ भी ध्यान करना ही है। श्रीविश्वनाथने अपनी टीकामें लिखा है—'तच्चिन्तनभक्तिर्मया कर्तव्या इत्यर्थः' अर्थात् (जिन विभूतियोंका) ध्यानकर मैं भक्ति कर सकूँ। दूसरे १८ वें श्लोकके भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्यने लिखा है कि 'विभूतिश्च विस्तरं ध्येयपदार्थानाम्' अर्थात् अपनी विभूतिको जिसमें आपका ध्यान किया जाता है विस्तारसे कहिये। श्रीमधुसूदनने लिखा है—'विभूतिञ्च ध्यानालम्बनम्' अर्थात् विभूति जो ध्यान करनेका अवलम्ब है। श्रीनीलकण्ठने लिखा है—'विभूतिं ध्यानालम्बनम्'

इसका भी वही अर्थ है। ऊपरके श्रीभगवद्वाक्य और अर्जुनके प्रश्नसे प्रकट है कि श्रीभगवान्‌की प्राप्तिमें उनकी विभूतिकी उपासना एक आवश्यक सीढ़ी है। पहले भी कहा जा चुका है कि कर्म, अभ्यास और ज्ञानयोगका अनुसरण भी श्रीभगवान्‌की विभूति-उपासना ही है। इस विभूति-उपासनामें श्रीभगवान्‌के 'श्रीभाव' अर्थात् सौन्दर्यकी उपासना करनी परमोत्तम भावोपासना है, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। सौन्दर्य पदार्थ-विभूति न होकर श्रीभगवान्‌की गुण-विभूति है और उसमें भी यह उच्चतम आनन्द-विभूति है। इसी कारण श्रीभगवान्‌ने गीतामें पदार्थ-विभूति आदिके कहनेके पश्चात् अन्तमें इस गुण-विभूतिका वर्णन किया, और इसे अपने तेजका अंश बतलाया। इस प्रकार श्रीभगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे ही इस 'श्रीभाव' अर्थात् सौन्दर्योपासनाको श्रेष्ठ स्थान दिया है। इस विषयमें श्रीगीतामें भगवान्‌के श्रीमुखका वचन इस प्रकार है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
(१०। ४१)

'जो-जो पदार्थ ऐश्वर्यशाली, सौन्दर्यशाली और बलशाली हैं वे सब मेरे तेजके अंशसे उत्पन्न हैं, ऐसा जानो।' यहाँ 'श्री' शब्दका अर्थ सुन्दरता है, लक्ष्मी नहीं। विभूति शब्दमें अर्थात् ऐश्वर्यमें लक्ष्मीभाव विद्यमान ही है, अतएव यह 'श्री' शब्द श्रीभगवान्‌का सौन्दर्यसूचक ही है। श्रीलक्ष्मीजी भी श्रीभगवान्‌के सौन्दर्य-का ही प्रकाश हैं, वे मानो भगवत्सौन्दर्यकी मूर्ति ही हैं।

अतएव विभूतियोंके प्रसङ्गमें लक्ष्मीजीसे भी सौन्दर्य ही अभिप्रेत है। इस श्लोककी टीकामें श्रीआनन्दगिरिने 'श्रीमत्' का अर्थ 'शोभावद्वा कान्तिमद्वा' किया है, जिसका अर्थ सुन्दरता ही है। श्रीरामानुजाचार्यने अपने भाष्यमें 'श्रीमत्कान्तिमत्' अर्थ किया है; यह भी सुन्दरता ही है। श्रीबलदेवने 'श्रीमत् सौन्दर्येण वा युक्तम्' किया है; इसका अर्थ तो स्पष्ट सौन्दर्य ही है। श्रीमधुसूदनने 'शोभा कान्तिर्वा तया युक्तम्' किया है इससे भी सुन्दरता ही अभिप्रेत है। श्रीनीलकण्ठने 'शोभा वा' किया है; अतः उनके मतमें भी इसका तात्पर्य सुन्दरता ही है, इसके सिवा उक्त अध्याय १० के ३४ वें श्लोक 'कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा' में श्रीका अर्थ सुन्दरता स्पष्ट ही है। श्रीबलदेवने अपनी टीकामें इसका अर्थ 'कायद्युतिः', श्रीमधुसूदनने 'शरीरशोभा वा कान्तिर्वा' और विश्वनाथने 'श्रीः कान्तिः' लिखकर अपनी एकवाक्यता प्रकट की है।

श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित श्लोकमें भी श्रीभगवान्की इस श्री-विभूतिका वर्णन है—

> यत्किञ्च लोके भगवन्महस्व-
> ओजःसहस्वद्बलवत्क्षमावत्।
> श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्भुतार्णं
> तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम्॥
> (२।६।४६)

'इस लोकमें जो कोई वस्तु ऐश्वर्य, तेज, इन्द्रियोंके बल, मनकी शक्ति, शरीर-शक्ति अथवा विशेष क्षमासे युक्त, अथवा जिसमें सुन्दरता, लज्जा, सम्पत्ति और बुद्धि विशेषरूपसे हो तथा जिसका

रूप अद्भुत हो वह रूपवती हो अथवा रूपरहित, उसे ईश्वरका ही रूप जान।' यह अनुवाद श्रीधरस्वामीकी टीकाके अनुसार है; इसमें सौन्दर्य और रूपरसको श्रीभगवान्‌का स्वरूप होना स्पष्ट-रूपसे वर्णन किया गया है।

संसारमें जहाँ देखिये वहाँ क्या सृष्टि-वैचित्र्यद्वारा और क्या नाना कृत्रिम-अकृत्रिमरूपमें सर्वत्र इस सुन्दरताहीके प्रकाशित करनेकी चेष्टा हो रही है और इसीके लिये सारी आयोजनाएँ हैं; मानो यही सबका इष्ट है। पहाड़के शिखरमें, जङ्गलकी हरियालीमें, वनके एकान्तमें, समुद्रकी तरङ्गोंमें, नदीके कलरवमें, वृक्षके पत्तोंके स्पन्दनमें, झरनोंके प्रपातमें, बिजलीकी चमकमें, मेघकी घटामें, सूर्य-चन्द्रकी रश्मिमें, पक्षियोंके गान और रंगमें, पशुओंके विहारमें, मृगोंके उछल-कूदमें, स्त्रीकी कान्तिमें, पुरुषके त्यागमें, बालकके वचनमें, माताके वात्सल्यमें, पुत्रके मातृस्नेहमें, जहाँ देखिये वहाँ सौन्दर्यहीका विकास है। आहार और विहारमें, खाने और पीनेमें, वस्त्र और वाहनमें, गृह और परिवारमें, खेल और तमाशेमें, पशु और पक्षीमें, वन और पर्वतमें, नदी और तड़ागमें, फूल और फलमें, धन और धर्ममें, दान और मानमें, वाणिज्य और व्यापारमें, पिता और पुत्रमें, स्त्री और पुरुषमें, मित्र और सुहृद्‌में, स्वामी और दासमें, नृत्य और गीतमें, भजन और भावमें, स्मरण और वन्दनमें, दर्शन और दृश्यमें, दाता और याचकमें, प्रेमी और प्रेयसीमें, जहाँ देखिये वहाँ सर्वत्र इस सौन्दर्य-आनन्दहीकी खोज है और यही लक्ष्य है। सम्पूर्ण संसार इस सौन्दर्यके लिये ही प्यासा है और इसीके लिये इतनी दौड़-धूप है। चेतनकी कौन कहे, स्थावर भी इसके लिये व्याकुल

हैं। जीवात्मारूपी पपीहा केवल सौन्दर्यरूपी स्वातिबिन्दुकी ही चाह रखता है अन्यकी नहीं। इस उपासनाकी उत्कर्षता स्वयं सिद्ध है, क्योंकि श्रीभगवान्‌का परम दुर्लभ सौन्दर्य और आनन्द-भाव इसमें प्रत्यक्ष है। ऐसा कौन हृदय है जिसपर पवित्र रूप-रस-का मधुर प्रभाव नहीं पड़ता और इस रसामृतके आस्वादनकी चाह नहीं होती, और उसको पान कर चित्त आनन्दमें मग्न नहीं हो जाता। साधकमें इस भावका आना परम सौभाग्य है। जिनके हृदयमें श्रीभगवान्‌का सौन्दर्य–प्रेमरूपी बीज नहीं है, वहाँ श्रीभगवान्‌की दुर्लभ साकारोपासनारूप मधुर पुष्प जिसमें कि सौन्दर्यकी पराकाष्ठा है—प्रकट नहीं हो सकता, क्योंकि उस बीजके स्नेहरूपी जलसे सिञ्चनद्वारा वृक्षाकार होनेपर ही उससे उक्त दुर्लभ पुष्पका विकसित होना सम्भव है।

या देवी सर्वभूतेषु कान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
(दुर्गासप्तशती)

सौन्दर्यदेवि परमे मधुरे विशुद्धे
आनन्दशान्तिमयरूपिणि भक्तिहेतो।
कामादिकल्मषविनाशिनि विश्ववन्द्ये
प्रेमामृतेन सकलान् परितर्पयस्व॥

'जो देवी सब प्राणियोंमें सौन्दर्यरूपसे स्थित हैं, उनको नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है और बारंबार नमस्कार है।'

'हे सौन्दर्यदेवि! आप सर्वोत्कृष्ट हैं, मधुर हैं, विशुद्ध हैं, आनन्दमयी और शान्तिरूपा हैं तथा भक्तिका कारण हैं। आप

कामादि दोषोंका नाश करनेवाली और विश्वमें वन्दनीय हैं। आप अपने प्रेमामृतसे सबको तृप्त कीजिये।'

स्मरण रहे कि जिस पवित्र हृदयमें विशुद्ध भगवत्प्रेमका अङ्कुर होगा, उसीका सौन्दर्योपासनामें प्रवेश हो सकता है। श्रीभगवान्‌की सौन्दर्यविभूति भी प्रेम और आनन्दमयी होनेके कारण केवल अपने समानको ही आकर्षित करेगी अथवा यों कहिये कि प्रेमाप्लावित हृदयहीका उसकी ओर झुकाव होगा, अन्यका नहीं। अपवित्र और कामासक्त हृदय केवल रागात्मक (रजोगुणी) चमक-दमकवाली खूबसूरतीपर आसक्त होगा। अतएव केवल काम-विकारसे शून्य व्यक्ति ही सौन्दर्योपासनाके अधिकारी हैं; कामासक्त कदापि नहीं। जो कामासक्त व्यक्ति सौन्दर्योपासनाकी ओटमें अपनी दुष्प्रवृत्तिको चरितार्थ करते हैं और इस प्रकार इस पवित्र भावमें कलङ्क लगाकर इसे बदनाम करते हैं वे इसका दुष्प्रयोग करते हैं, उसके कारण उनका अधःपतन होता है। सौन्दर्यभावसे भगवान्‌की उपासना करनेवालोंको चाहिये कि सुन्दरताको श्रीभगवान्‌की विभूति जान उसके द्वारा विभूतिके मूलभूत श्रीभगवान्‌का स्मरण करें और उन्हें धन्यवाद दें कि हमलोगोंके आनन्दके लिये उन्होंने अपना सौन्दर्य प्रकट किया है जिसे आदर और पूज्य दृष्टिसे देखना चाहिये। इसके विपरीत जो लोग सुन्दरताको अपने काम-भोगका विषय समझ उसका दुरुपयोग करते हैं वे विपत्तिमें पड़ते हैं। धर्म-पत्नीको भी काम-पत्नी नहीं बनाना चाहिये। स्त्रीसहवास सन्तति उत्पन्नकर पितृ-ऋणसे मुक्त होनेके लिये है, अतएव यह एक यज्ञ है।

अन्य अवस्थाओंमें जैसे रसास्वादन विघ्न है वैसे ही वह इसमें भी है। साधकको केवल इस रसके आस्वादनमें ही आसक्त होकर शिथिल नहीं हो जाना चाहिये, किन्तु श्रीभगवान्के साक्षात् मिलनकी उत्कण्ठाको जागृत कर अपने मार्गमें अग्रसर होना चाहिये।

साक्षात् उपासना-साकारोपासना

इस सौन्दर्य उपासनाके पात्रमें श्रीभगवान्का आनन्दभाव बाह्य दृष्टिके कारण आंशिकरूपमें प्रकट रहता है, क्योंकि इस भावमें पर्याप्त अन्तर्दृष्टि होना बहुत कम सम्भव है। अतएव यह भाव भक्तके हृदयरूपी कन्दरासे प्रेमके स्रोतको पूर्णरूपसे प्रवाहित नहीं कर सकता है; जिससे कि वह विशेष मात्रामें प्रकट होकर अविच्छिन्नरूपसे निरन्तर बहा करे। इस प्रकारका साङ्गोपाङ्ग प्रेमोत्पादन केवल भगवान्की साक्षात् माधुरी मूर्तिकी दैवी झलकके हृदयगोचर होनेसे ही हो सकता है, अंशमात्रसे कदापि नहीं हो सकता। जिस प्रकार चुम्बकका छोटा खण्ड लोहेके केवल छोटे टुकड़ेको ही आकर्षण कर सकता है, बड़ेको नहीं; उसे तो केवल चुम्बकका बड़ा खण्ड ही आकर्षण कर सकता है, इसी प्रकार विभूति-उपासनाको भी समझना चाहिये। जब साधक भक्त अपने प्रेमस्रोतके प्रवाहमें रुकावट पाता है और हृदयरूपी भक्ति-कमलको विशेष प्रेमवारिके बिना कभी-कभी शुष्करूपमें पाता है और कभी उसके विशेष विकासमें बाधा देखता है, तो वह प्रतिबिम्बरूप चन्द्रमाके प्रकाशसे तृप्त न होकर-जिसमें कि केवल सूर्यहीका प्रकाश है और वह भी साक्षात् नहीं केवल प्रतिबिम्बकी भाँति है-

सीधे श्रीभगवान्‌रूप सूर्यका पूर्ण प्रकाश पानेके लिये लालायित हो जाता है, जिसके बिना उसकी पिपासा शान्त नहीं हो सकती। इस अवस्थाके साधकमें श्रीभगवान्‌के चरणकमलके आश्रयमें साक्षात्-रूपसे पहुँचनेकी प्रबल उत्कण्ठा प्रकट होती है और अब वह उनके साक्षात् सम्बन्ध बिना रह नहीं सकता। इस विरहकी अवस्थामें उसको संसारके सुखद पदार्थ फीके माल्टम पड़ते हैं, फीके ही नहीं बल्कि दुःखद बोध होते हैं। यहाँतक कि उसको अपनी शारीरिक आवश्यकताओंका भी पता नहीं रहता। बस, श्रीभगवान्‌से साक्षात् सम्बन्ध होनेकी ही प्रबल पिपासा रहती है। वह समझता है कि उसका जीवन सार्थक नहीं हुआ, क्योंकि वह श्रीभगवान्‌के श्रीचरणोंसे दूर है। वह अपनेको निःसहाय मान कभी-कभी अत्यन्त निराश हो जाता है, किन्तु तब भी उसकी उत्कण्ठा बढ़ती ही जाती है जिससे कि वह बहुत व्याकुल हो जाता है। वह इस अवस्थामें व्याकुल और अधीर होकर इधर-उधर जिस-तिससे सहायता भी चाहता है। और व्याकुलताके कारण उसका हृदय वस्तुतः भीतर-ही-भीतर रोता और क्रन्दन करता है। यह विशुद्ध विरहक्रन्दन श्रीभगवान्‌के ध्यान-को शीघ्र आकर्षित करता है और तब श्रीभगवान् उस साधक भक्तपर कृपाकर किसी गुरु या सत्पुरुषद्वारा उसके प्रति अपने साक्षात् मिलनेका मार्ग प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे साधकको प्रायः स्वप्नमें भी आवश्यक सहायता या उपदेश मिल जाता है। तबसे साधक साक्षात् श्रीभगवान्‌को अपना लक्ष्य बनाता है। यहाँसे श्रीभगवान्‌की यथार्थ साकारोपासना प्रारम्भ होती है, क्योंकि भक्त-

की आन्तरिक हार्दिक पिपासा किसी अन्य प्रकारकी उपासना-द्वारा शान्त नहीं हो सकती । श्रीविष्णुपुराणमें श्रीभगवान्‌की उपासनाका यही क्रम अर्थात् प्रथम विभूति पीछे साक्षात् उपासना है जो कि पहले कहा गया है । वहाँ लिखा है—

तच्च विष्णोः परं रूपमरूपाख्यमनुत्तमम् ।
विश्वस्वरूपवैरूप्यलक्षणं परमात्मनः ॥
न तद्योगयुजा शक्यं नृप चिन्तयितुं यतः ।
ततः स्थूलं हरे रूपं चिन्तयेद्विश्वगोचरम् ॥
हिरण्यगर्भो भगवान्वासुदेवः प्रजापतिः ।
....
मनुष्याः पशवः शैलाः समुद्राः सरितो द्रुमाः ॥
मूर्तमेतद्धरे रूपं भावनात्रितयात्मकम् ॥
(अंश ६ अ० ७ । ५४–५७, ५९)

'हे राजन् ! यह श्रीविष्णुका परम रूप है जो बिना रूपके अजन्मा और अविनाशी है और विश्वके रूपसे विलक्षण प्रकारका है । क्योंकि उस परमात्माके उक्त पर रूपका ज्ञान और ध्यान योगिजनोंके लिये भी असाध्य है । इस निमित्त श्रीभगवान्‌के स्थूल रूपका, जो विश्वात्मक है, ध्यान करना चाहिये । वे भगवान् हिरण्य-गर्भ, वासुदेव, प्रजापति...........मनुष्य, पशु, पर्वत, समुद्र, नदी, वृक्ष आदि हैं । ये सब श्रीभगवान्‌की मूर्तिमती विभूतियाँ हैं, जिनमें तीसरे प्रकारका ध्यान करना चाहिये ।' इस विभूति-उपासनाके वर्णनके बाद लिखा है—

समस्तशक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वर।
देवतिर्यङ्मनुष्यादिचेष्टावन्ति स्वलीलया॥
जगतामुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा।
तद्रूपं विश्वरूपस्य तस्य योगयुजा नृप।
चिन्त्यमात्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकिल्बिषनाशनम्॥
यच्च मूर्तं हरे रूपं यादृक् चिन्त्यं नराधिप।
तच्छ्रूयतामनाधारा धारणा नोपपद्यते॥
प्रसन्नवदनं चारुपद्मपत्रोपमेक्षणम्।
सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम्॥
प्रलम्बाष्टभुजं विष्णुमथवापि चतुर्भुजम्॥

(७१—७३, ७९-८०, ८२)

'हे राजन्! वह (विष्णु) अपने अमूर्त भावसे अनेक प्रकारके रूप (अवतार) देव, पशु, मनुष्य आदि स्वरूपमें अपनी लीलासे जगत्के उपकारके लिये प्रकट करते हैं जो उनके शक्तिरूप ही हैं, किन्तु ये कर्मज नहीं हैं। उस विश्वरूपका उक्त रूप योगी अपनी आत्माकी शुद्धि और सब मलोंके नाशके लिये ध्यान करे। हे राजन्! श्रीहरिके जिस रूपका जिस प्रकार ध्यान करना चाहिये, वह सुनो; क्योंकि बिना आधारके धारणा नहीं हो सकती। जिनका प्रसन्न और सुन्दर मुख है, कमलपत्रके समान नेत्र हैं, सुन्दर कपोल और विशाल ललाटपट्ट है तथा जो लंबी-लंबी आठ अथवा चार भुजाओंवाले हैं उन श्रीविष्णुभगवान्का (ध्यान करे)।'
श्रीमद्भागवतमें भी यही क्रम है अर्थात् प्रथम विश्वरूपमें विभूति-

उपासना करनेका आदेश है, पश्चात् साक्षात् साकाररूपमें। जैसा कि—

राजोवाच

यथा संधार्यते ब्रह्मन्धारणा यत्र सम्मता।
यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनोमलम्॥

श्रीशुक उवाच

जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः।
स्थूले भगवतो रूपे मनः संधारयेद्धिया॥
विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्।
यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत्॥

(२।१।२२-२४)

वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं
मनुर्मनीषा मनुजो निवासः।
गन्धर्वविद्याधरचारणाप्सरः-
स्वरस्मृतीरसुरानीकवीर्यः॥
इयानसावीश्वरविग्रहस्य
यः सन्निवेशः कथितो मया ते।
संधार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे
मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित्॥

(२।१।३६, ३८)

राजाने पूछा—'हे ब्रह्मन्! जो धारणा पुरुषके मनके विषय-वासनारूप दोषको शीघ्र नष्ट करती है उसको किस स्वरूपमें कैसे लगावे? इस विषयमें आपका जो मत हो वह मुझसे

कहिये ।' श्रीशुकदेवजीने कहा—'साधक अपने आसनको जीतकर अर्थात् एक ही आसनसे दीर्घकालतक बैठनेका अभ्यास कर तथा श्वासको जीत (शान्त) कर, ममता और स्पृहाको त्यागे, इन्द्रियोंको वशमें करे; ऐसी धारणा करके श्रीभगवान्के स्थूल रूपमें बुद्धिकी सहायतासे मनको लगावे । जिन श्रीभगवान्का यह विस्तृत स्वरूप, सम्पूर्ण महान् वस्तुओंसे भी बड़ा है, जहाँ भूत, भविष्य और वर्तमान, इन तीनों कालोंमें होनेवाला यह चराचर जगत् देखनेमें आता है । नाना प्रकारके पक्षी उनकी विचित्र शिल्प-चातुरी हैं, मनु उनकी बुद्धि और मनुष्य उनका निवासस्थान है, गन्धर्व, विद्याधर, चारण, अप्सरा, ये सब उनके स्वर हैं तथा दैत्योंमें श्रेष्ठ प्रह्लादजी उनकी स्मृति हैं । इस प्रकार मैंने जो श्रीभगवान्के शरीरकी यह रचना तुमसे कही, इस महान् विराट् स्वरूपमें अपनी बुद्धिकी सहायतासे मनकी धारणा की जाती है क्योंकि इस स्वरूपके बिना जगत्में कोई भी वस्तु नहीं रह सकती ।' इस विभूति-उपासनाके वर्णनके बाद साकारोपासनाकी विधि इस प्रकार है—

केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् ।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति ॥
प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं
कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम् ।
लसन्महारत्नहिरण्मयाङ्गदं
स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलम् ॥

उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकालये
योगेश्वरास्थापितपादपल्लवम् ।
श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभरत्नकन्धर-
मम्लानलक्ष्म्या वनमालयाचितम् ॥
विभूषितं मेखलयाङ्गुलीयकै-
र्महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः ।
स्निग्धामलाकुञ्चितनीलकुन्तलै-
र्विरोचमानाननहासपेशलम् ॥
अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्-
भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम् ।
ईक्षेत चिन्तामयमेनमीश्वरं
यावन्मनो धारणयावतिष्ठते ॥
(२ । २ । ८—१२)

'हे राजन् ! कितने ही योगी अपने शरीरके भीतर हृदयाकाशमें रहनेवाले प्रादेश (दश अङ्गुल) मात्र रूपवाले पुरुषका उसकी धारणा करके स्मरण करते हैं, जो पुरुष चार भुजाओंवाले और उनमेंसे प्रत्येकमें क्रमशः कमल, चक्र, शंख और गदा धारण किये हुए हैं, जिनका मुख प्रसन्न, नेत्र कमलके समान खिले हुए और पीताम्बर कदम्बपुष्पकी केसरके समान पीतवर्ण है, जिनके शोभायमान बाहु-भूषण रत्नजटित सुवर्णके सदृश हैं और जिनके कुण्डल तथा किरीट देदीप्यमान महारत्नोंसे रचित हैं, जिनके कमल-सदृश कोमल चरणोंको बड़े-बड़े योगी अपने हृदयरूपी प्रफुल्लित कमलके मध्यमें ध्यान करनेके निमित्त धारण करते हैं; उन ईश्वरके वक्षःस्थलपर लक्ष्मीजीका चिह्न है, कण्ठमें कौस्तुभमणि है, और

उनका सारा शरीर कदापि न कुम्हलानेवाली वनमालासे ढका हुआ है। उनकी कमरमें मेखला है, हाथकी अङ्गुलियोंमें बहुमूल्य अँगूठियाँ हैं तथा चरणोंमें नूपुर हैं। वे परमात्मा हाथोंमें कड़े आदि आभूषणोंसे सुशोभित हैं, चिकनी, निर्मल घुँघराली नीली अलकें आपके मुखको परम शोभा दे रही हैं और उनका हास्य तो अत्यन्त ही सुन्दर प्रतीत होता है। उन्होंने उदार लीलायुक्त हास्यसहित अवलोकनसे शोभित भौंको कुछ इधर-उधरको चलाकर भक्तोंके ऊपर अपना परम अनुग्रह दिखाया है, इस प्रकार ध्यानमें प्रकट होनेवाले जो श्रीभगवान् उनका, जबतक अपना मन उनमें धारणाद्वारा स्थिर न होवे, अवलोकन करे।'

साधनाका क्रम यह है कि साधक सबसे पहले इस स्थूल विश्वको श्रीभगवान्‌का स्वरूप देखे और उनको सर्वत्र समस्त प्राणियोंमें वर्तमान जानकर सबसे प्रेम करे, किसीसे द्वेष न करे और प्राणियोंका यथासामर्थ्य उपकार सेवा-भावमें करके श्रीभगवान्‌की विश्वपूजा करे। किसी भी प्राणीके कष्टको श्रीभगवान्‌का कष्ट समझे जो उनके भीतर हैं और उस कष्टके दूर करनेका यथासाध्य यत्न करे; अभिमानवश स्वयं किसीके कष्टका कारण न बने। यही दृष्टि धर्म और कर्मयोगकी भित्ति है। श्रीभगवान्‌के इस विश्व-रूपमें जो श्रीभगवान्‌की विभूतियाँ हैं उनमें जिसके प्रति चित्त स्वभावतः आकर्षित हो, उसी विभूतिको श्रीभगवान्‌का विशेष रूप जान उसीके ध्यान आदिद्वारा उनकी उपासना करे। इसी सिद्धान्तके आधारपर पञ्चमहायज्ञादि कर्म हैं। सौन्दर्योपासना इस विभूति-उपासनाके अन्तर्गत है। इसके पश्चात् साधक भगवान्‌के दिव्य

रूपकी यथार्थ उपासना करनेका अधिकारी होता है, जो कि साकारोपासना कहलाती है। श्रीभगवान्‌का यह साकार दिव्य चिद् रूप स्थूल दृष्टिसे एकदेशी होनेके बदले विश्वमात्रका बीज है और देशकालसे परे होनेके कारण देशकालका भी कारण है तथा उसीमें सम्पूर्ण विश्व निहित है। यह परम दिव्योपासना है और इसी कारण इसमें सबसे पीछे प्रवेश होता है। इसके यथार्थ अधिकारीका उपयुक्त भाव होनेपर तो यह एक प्रकारसे निर्गुणोपासनासे भी उत्कृष्ट है। साकारोपासना नामस्मरणका फलरूप है, जैसा कि कहा है—'नाम मिलावे रूपको।'

सूर्यका प्रकाश सूर्यके अपने मण्डलमें आवेष्टित और आच्छन्न रहनेसे हमलोग देखते हैं और उनके प्रकाशसे लाभ उठाते हैं, पर यदि वह अपने मण्डलमें आबद्ध और आच्छन्न होकर अपने तेजको ह्रास नहीं करते, तो उस अनन्त राशि तेजःपुञ्जको देखनेकी बात तो दूर रही किन्तु उसकी प्रबल ज्वालाके कारण पृथ्वीके मनुष्य, पशु, वनस्पति आदि सभी नष्ट हो जाते। इसी प्रकार भक्तकी उत्कण्ठाकी पूर्ति और अपनी प्राप्तिके मार्ग और आनन्दकी प्राप्तिको सुलभ करनेके लिये श्रीभगवान् परमात्माने अपनी पराशक्तिके बने हुए दिव्य सुन्दर शरीरको धारणकर व्यक्तभावको ग्रहण किया। जैसा कि बालकके जन्मके पूर्व उसके लिये मातृ-स्तनमें दुग्ध जमा रहता है उसी प्रकार प्रारम्भमें ही श्रीभगवान्‌ने भावी भक्तकी आकांक्षाकी पूर्तिके लिये साकार रूप धारण किया। कहा है—

निर्गुणोऽपि निराकारो लोकानुग्रहरूपधृक् ।

(बृहन्नारदीयपुराण ३१ । १४)

'महेश्वरने निर्गुण निराकार होनेपर भी लोगोंपर अनुग्रह करके साकार रूप धारण किया ।' और भी—

अगुन अलेख अमान एक रस । राम सगुन भये भक्तप्रेमवस ॥

(मानसरामायण)

श्रीभगवान् सच्चिदानन्दने अपनी दैवी प्रकृतिका अवलम्बन कर लक्ष्मीनारायण, गौरीशङ्कर, महाविद्या, सूर्यनारायण, आदिगणेश आदि मूर्तियोंको भिन्न-भिन्न प्रकारके लोगोंकी भिन्न-भिन्न रुचि और स्वभावके अनुकूल उपास्य होनेके लिये तथा और भी भिन्न-भिन्न कार्योंके सम्पादनके लिये धारण किया । विद्युत् सर्वव्यापी है और वह अदृश्य एवं अरूप है; किन्तु जब वह चुम्बक आदिके संसर्गसे केन्द्रीभूत होकर प्रकट रूप धारण करता है, तभी प्रकाश आदि लाभकारी कार्य होते हैं, अन्यथा अदृश्य रूपसे कोई लाभ ले नहीं सकता । काष्ठमें भी अग्नि अदृश्य और निराकार है, किन्तु दो काष्ठके टुकड़ोंके सङ्घर्षणसे जब वह प्रकट होती है, तब जिसमें वह प्रकट होती है वही उसका रूप होता है और तभी उससे दाहक कार्य होने लगता है । ऐसा ही रहस्य साकारका है ।

जब सब कामनाओं और आसक्तियोंके दूर होनेपर और श्रीभगवान्की असीम कृपाका ज्ञान होनेपर साधकके हृदयमें अपने उपास्यदेवके लिये अनन्य अनुराग उत्पन्न होता है, तब वह उनको अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य और आश्रय बनाता

है। तब उसकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि जैसे प्राण बिना शरीर रह नहीं सकता, उसी प्रकार उपास्यदेवके बिना वह रह नहीं सकता। इस अवस्थाका आना ही यथार्थ भक्ति-मार्गका प्रारम्भ होना है और तभी उपास्यदेव कृपाकर अपनी तेजोमयी आभाको उसके हृदयगोचर कर देते हैं। तब साधक अपने इष्ट-देवको जानने लगता है। श्रीभगवान्‌का साकार होना सनातन भाव है; ऐसा नहीं है कि अमुक समयके पूर्व यह भाव नहीं था। सृष्टि अनादि है और जब-जब सृष्टि होती है तब-तब श्रीभगवान् साकार रूप अवश्य धारण करते हैं; जिसके बिना सृष्टिके होनेके उद्देश्यकी पूर्ति, जो श्रीभगवान्‌के भावोंको प्रकट करना है, हो नहीं सकती है। अतएव यह परमभाव है। श्रीरामचरितमानसमें लिखा है—

निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुण न जानै कोय।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनिमन भ्रम होय॥

अपनी पराशक्तिसे संयुक्त होकर श्रीपरमात्मा साकार होते हैं। अतएव प्रत्येक साकार रूपके साथ उनकी आनन्दमयी (आह्लादिनी) शक्ति भी उनकी सेवाके लिये साकार रूप धारण करती है जिसकी कृपा और सम्बन्ध बिना प्राप्त किये उपास्यदेव-की प्राप्ति हो नहीं सकती। श्रीनारायणकी शक्ति श्रीलक्ष्मी हैं; जिन (श्रीलक्ष्मी) की कृपाके बिना न श्रीनारायणकी भक्ति प्राप्त हो सकती है और न श्रीनारायण मिल सकते हैं। यही कारण है कि श्रीरामानुजाचार्यके वैष्णवसम्प्रदायको श्रीसम्प्रदाय कहते हैं जिसकी श्रीलक्ष्मीजी आचार्य (भक्ति प्रदान करनेवाली) हैं और श्री-

नारायण मुख्य उपास्यदेव हैं। इसी प्रकार श्रीभगवान् शङ्करकी शक्ति श्रीगौरीजी हैं जिनकी कृपाके विना श्रीशङ्करकी भक्ति और प्राप्ति हो नहीं सकती। चूँकि साधकके लिये पहले उपास्यकी आनन्दमयी शक्तिकी कृपा प्राप्त करनी आवश्यक है, इसीसे उपास्य-देवके नामके पहले शक्तिके नामका संयोग करना पड़ता है। जैसे श्रीलक्ष्मीनारायण, श्रीगौरीशङ्कर आदि। किन्तु इसके विपरीत नारायणलक्ष्मी और शङ्करगौरी कहनेसे दोष होता है। उपास्यदेव अपनी आनन्दमयी शक्तिके सहित यह सृष्टिरूप लीला और विहार करते हैं। वस्तुतः वे दोनों एक हैं। साधक भक्त शक्तिकी कृपासे जब त्रिगुणसे पार होकर श्रीभगवान्‌के धाममें पहुँचता है, तो वहाँ वह भी उस लीलाविहारके अलौकिक रसका आस्वादन करता है और स्वतः आनन्दमय एवं रसमय हो जाता है। फिर उस लीलामें तन्मय होकर वह सेवामें प्रवृत्त होता है।

चूँकि बहुत लोगोंमें भ्रम फैला हुआ है, इसलिये यह कहना फिर भी आवश्यक है कि श्रीमहेश्वरकी प्राप्ति निराकारभावमें चिन्तन करनेसे बहुत कठिन है, क्योंकि निराकारभाव जीवात्माके लिये सुगम नहीं है, और न यथार्थरूपमें निराकारका ध्यान या उपासना हो ही सकती है। निराकार रूपमें प्रेम होना अत्यन्त कठिन है और परमात्माकी प्राप्तिके लिये प्रेम ही परमावश्यक है। एक कारण यह भी है कि चित्त बिना अवलम्बके एकाग्र नहीं हो सकता, बिना एकाग्रताके ध्यान नहीं हो सकता और न बिना ध्यानके ध्येयकी प्राप्ति ही हो सकती है। साकार जीवात्माके हृदयरूपी सरोवरके प्रेम-सरोजको आकाश और वायुके

समान निराकारके साथ सतत संग रहनेपर भी वे उसको विकसित नहीं कर सकते, किन्तु श्रीभगवान्के साकारभावरूपी सूर्यकी निर्मल किरणोंके पड़ते ही वह विकसित हो जाता है। प्रेमरूपी सूत्रको भक्तिकी ग्रन्थि देकर उपासनाकी शक्तिसे श्रीभगवान्के अति मनोहर साकार रूपके चरणोंके प्रति फेंकनेपर ही श्रीभगवान् बाँधे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। साकारतत्त्व परम गोपनीय विषय है और इसको श्रीभगवान्के कृपापात्र ही समझते हैं। उपासकोंकी भिन्न-भिन्न रुचि और अवस्थाके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारके उपास्यदेवोंकी आवश्यकता है, क्योंकि कोई एक भाव सब प्रकारके उपासकोंके अनुकूल नहीं पड़ सकता। इसी कारण श्रीभगवान्ने भिन्न-भिन्न प्रकारके रूप धारण किये और उनके द्वारा उपासकोंकी भिन्न-भिन्न रुचिकी पूर्ति की। श्रीमद्भागवत-पुराणमें लिखा है—

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥

और भी—

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः॥
(३। २४। ३१)

'हे प्रभो! श्रवणद्वारा जिनका पथ देखा है ऐसे भक्तजनोंके भक्तिद्वारा शुद्ध हुए हृदयकमलमें तुम निःसन्देह निवास करते हो।

हे महानुभाव ! वह तुम्हारे भक्त अपने मनमें तुम्हारा जो स्वरूप चिन्तन करते हैं, उस स्वरूपको तुम भक्तोंपर अनुग्रह करनेके निमित्त प्रकट करते हो। हे भगवन् ! वास्तवमें तुम निराकार हो, तथापि तुम्हारे भक्तोंको जो-जो रूप प्रिय लगते हैं वे ही सब तुम्हें प्रिय लगते हैं अर्थात् उन्हींको तुम धारण करते हो।' श्री-भगवान्‌के ये भिन्न-भिन्न रूप भिन्न-भिन्न कारणोंसे ही हुए हैं जो यथार्थमें एक ही हैं।

श्रीभगवान् भक्तके वशमें हैं; भक्त उनमें जो-जो भाव स्थापित करता है और उसके पवित्र हृदयमें जिन-जिन भावोंमें प्रभुके दर्शनकी आकांक्षा होती है, उनकी पूर्ति श्रीभगवान् उन भावोंको धारण करके करते हैं। जब भक्तोंकी यह प्रबल वाञ्छा हुई कि साक्षात् श्रीभगवान् परमसुन्दर मनुष्य-मूर्ति धारणकर अपनी रहस्य-लीलाको जगत्‌में प्रकटकर भक्तोंके हृदयको तृप्त और दुर्गम भक्ति-मार्गको सुगम करें और अपने पावन चरित्ररूपी सूर्य-को उदयकर संसारकी अविद्या, अधर्म और अन्धकारका नाश करें तो श्रीभगवान्‌ने सहर्ष इस आकांक्षाकी पूर्ति की। श्रीमद्भागवतका वचन है—

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

'भक्तोंके प्रति कृपाकर श्रीभगवान्‌ने मनुष्यशरीरको धारण किया और ऐसी लीला की, जिसके श्रवणसे सांसारिक लोग भी ईश्वरोन्मुख हो जाते हैं।' श्रीभगवान् यथार्थमें दयासागर हैं और

जीवोंपर उनकी असीम कृपा है। संसारके हितके लिये श्रीभगवान्‌ने केवल मनुष्यरूपमें अवतार लेनेका ही कष्ट अपने ऊपर नहीं लिया किन्तु उन्होंने पवित्र लीला और गुणको दिखलाकर संसारसे उद्धार होनेका सुगम सेतु निर्माण किया।

भक्तप्रवर श्रीप्रह्लादजीपर जब घोर प्राणसङ्कट आ पड़ा और उनका पिता हिरण्यकशिपु उन्हें खंभेमें बाँधकर खड्ग हाथमें ले उनका वध करनेके लिये तत्पर हुआ तो उनका अन्तसमय जानकर उसने पूछा—'मेरे सिवा यदि कोई अन्य ईश्वर तुम्हारा रक्षक है तो वह कहाँ है?' इसपर जब श्रीप्रह्लादजीने निर्भीक होकर श्रीभगवान् और उनकी असीम अनुकम्पामें अपने दृढ़ विश्वास, प्रगाढ़ प्रेम और भक्तिके आधारपर उत्तर दिया कि 'हे पितः! हममें, तुममें, खड्ग-खंभमें जहाँ देखो तहाँ राम' तो उसी क्षण भक्तप्रवर श्रीप्रह्लादकी भक्ति और प्रेमसे आकर्षित हो स्वयं श्रीभगवान् उस खंभेसे प्रकट हुए और हिरण्यकशिपुको नष्टकर अपने भक्तका त्राण किया तथा सारे संसारके प्रति अपने भजनकी महिमा प्रकट कर दी। अहा! श्रीभगवान्‌की भक्तवत्सलता और भक्तकी महिमा यथार्थमें अकथनीय है। कारण, भक्तप्रवर श्रीप्रह्लादके निमित्त श्रीभगवान्‌ने इतना बड़ा कष्ट अपने ऊपर लिया कि वे खंभेमेंसे प्रकट हुए। यह भक्त-त्राण-कार्य श्रीभगवान्‌को अपने किसी पार्षदके भेजनेसे अथवा अन्य प्रकारसे भी हो सकता था, किन्तु यहाँ तो भक्तकी दृढ़ोक्तिको सच्चा करना था, इसीसे प्रभु स्वयं प्रकट हो गये। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट कहा है कि भक्तकी उक्तिको सत्य करनेके लिये श्रीभगवान् खंभेसे प्रकट हुए।

श्रीप्रह्लादको श्रीनृसिंहजी बड़े सुन्दर और मधुर देखनेमें आये, क्योंकि यह अवतार तो उनके और संसारके हितके लिये ही हुआ था। उस समय ऐसे अनेक नास्तिक थे जो ईश्वरके अस्तित्वको भी नहीं मानते थे और कितने ही ऐसे थे जो साकार-भावको कल्पित समझते थे और इसी कारण श्रीभगवान्‌के नाम और यशके कीर्तनके विरोधी थे। इस अवतारद्वारा केवल श्रीभगवान्‌का अस्तित्व ही सिद्ध न हुआ किन्तु उनका साकारभाव भी प्रकट हुआ। श्रीनृसिंहावतार सबसे पहला मनुष्यावतार है, यहींसे नराकृतिमें साकारोपासना प्रारम्भ हुई। श्रीभगवान्‌के पार्षदोंने उस समय कहा था—

अद्यैतद्धरिनररूपमद्भुतं
ते दृष्टं नः शरणद सर्वलोकशर्म।
सोऽयं ते विधिकर ईश विप्रशप्त-
स्तस्येदं निधनमनुग्रहाय विद्मः॥
(श्रीमद्भा० ७।८।५६)

'हम भक्तोंके आश्रयदाता हे भगवन्! सब लोगोंका कल्याण करनेवाला आपका यह अति विचित्र नृसिंहरूप हमने आज ही देखा है, पहले कभी नहीं देखा। हे प्रभो! यह हिरण्यकशिपु यथार्थमें आपका दास था और ब्राह्मणोंके शापके कारण दैत्य हो गया था। अब उसका वध करना उसके ऊपर अनुग्रह करने-के निमित्त ही हुआ है—ऐसा हम समझते हैं।' यहाँ श्रीप्रह्लादजीकी स्तुतिके केवल दो श्लोक श्रीमद्भागवतपुराणसे उद्धृत किये जाते हैं, जिनसे भक्त और भक्तिकी महिमा प्रकट होगी—

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥
क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्
जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा ।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥
(७ । ९ । ९, २६)

'धन, श्रेष्ठ कुलमें जन्म, सुन्दरता, तपस्या, पण्डिताई, इन्द्रियसौष्ठव, कान्ति, प्रताप, शरीरकी सामर्थ्य, उद्योग, बुद्धि और अष्टाङ्गयोग, ये बारहों गुण लोक और शास्त्रमें यद्यपि श्रेष्ठ मानकर प्रसिद्ध हैं तथापि वे परमपुरुष भगवान्‌को सन्तुष्ट करनेमें समर्थ नहीं हैं—ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि भगवान् केवल भक्तिसे ही गजेन्द्रके ऊपर सन्तुष्ट हुए थे। हे भगवन्! जिसमें तमोगुण अधिक है और जो रजोगुणसे ही उत्पन्न हुआ है, ऐसे असुरकुलमें उत्पन्न हुआ मैं कहाँ! और तुम्हारी कृपा कहाँ! क्योंकि ब्रह्मा, रुद्र और लक्ष्मीके मस्तकपर जो कभी भी नहीं रक्खा, वह कमलके समान सकल सन्तापोंको दूर करनेवाला पुरुषार्थरूप अपना हाथ तुमने मेरे मस्तकपर रक्खा है। श्रीप्रह्लादजीने श्रीभगवान्‌से प्रार्थना की कि मेरे पिताका दोष क्षमा किया जावे। भक्त अपने शत्रुकी भी भलाई ही चाहते हैं—यही बात श्रीप्रह्लादजीकी उक्त प्रार्थनासे प्रकट होती है।'

इसके पश्चात् माधुर्यभक्तिके विकासका क्रम आया। अनेक भक्त जो श्रीभगवान्‌के रूपरस आदि भावोंके प्रेमी थे, उनकी तृप्ति श्रीनृसिंहावतारसे न हुई। वे श्रीभगवान्‌को परम सुन्दर पूर्ण नररूपमें देखनेके लिये और उनके परमाद्भुत बहुव्यापी लीलामृतका रसास्वादन करनेके लिये लालायित थे। भक्तोंकी इस प्रबल वाञ्छाको श्रीभगवान्‌ने दो अवतारोंके द्वारा पूर्ण किया। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीभगवान् रामचन्द्र और वृन्दावनविहारी श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके परम पावन अवतार और उनमें की हुई अद्भुत लीलाओंसे भक्तोंके चिरकालीन मनोरथ पूर्ण हुए और प्रेम-भक्तिके पूर्ण विकासके लिये पूरी सामग्री प्रकट हो गयी, जिसका इसके पूर्व प्रायः अभाव था। इन अवतारोंद्वारा भक्तोंके सब भावोंकी पूर्ति हुई। इन दो अवतारोंके रहस्यका वर्णन करना असम्भव है। भक्ति-प्रेमका भी पूरा विकास संसारमें इन पावन अवतारोंके प्रकट होनेपर ही हुआ और यही इन अवतारोंका मुख्य उद्देश्य भी था। इन अवतारोंकी पावन लीलाका किञ्चित् दिग्दर्शन इस पुस्तकके शेष भागमें किया जायगा।

भक्तिमार्ग अन्तिम मार्ग है; अतः इस मार्गमें ही सद्गुणोंकी परिपक्वता होती है और साधनाकी चरम सीमा भी यहाँ पहुँच जाती है। अतएव भक्तियोगके वर्णनमें प्रायः उन सब सद्गुण और साधनाओंका उल्लेख पाया जायगा जो पीछेके योगोंमें भी हैं। वे सब सद्गुण और साधनाएँ भक्तियोगमें परमोच्चभावमें आये हैं और यहाँ ही उनकी पूर्णता और पूरी सफलता होती है। भक्ति-मार्गमें सब मार्गोंकी छाया आनी आवश्यक है, क्योंकि यह सब मार्गोंका अन्तिम लक्ष्य है।

भक्तियोग (मुख्य)

भक्तियोगका स्वरूप

श्रीशाण्डिल्य ऋषिका वचन है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (भक्तिमीमांसा) । श्रीसच्चिदानन्द परमेश्वरमें परम अनुराग होना ही भक्ति है । श्रीनारदजीने अपने भक्तिसूत्रोंमें कहा है—'सा तस्मिन्परमप्रेमरूपा'। उस श्रीभगवान्‌में परम प्रेम ही भक्ति है । श्रीनारदपाञ्चरात्रका वचन है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥
अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता ।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः ॥
मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता ।
अभिसन्धिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवशंकरी ॥

'इन्द्रियगणद्वारा श्रीभगवान् हृषीकेशमें तत्परत्व (सेवा) को भक्ति कहते हैं जो (सेवा) सब उपाधियोंसे रहित और निर्मल है । दूसरे सबके प्रति ममता छोड़कर केवल श्रीभगवान्‌में जो ममता करनी है वही प्रेम है । इसी प्रेमको भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारदादिने भक्ति कही है । श्रीभगवान्‌में मनकी अभिसन्धिरहित, प्रेमपरिप्लुत और निरवच्छिन्न गति ही भक्ति है । यही भक्ति श्रीविष्णुभगवान्‌को अपने अधीन कर लेती है ।' और भी—

'स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः ।'

(श्रीरामानुजभाष्य, गीता ७ । १)

स्नेहपूर्वक श्रीभगवान्‌के ध्यानको भक्ति कहते हैं। श्रीमद्भागवत-पुराणका वचन है—

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
(३। २५। ३२-३३)

'पुरुषोंकी जो विषयोंका ज्ञान करानेवाली और वेदमें कहे कर्म करानेवाली इन्द्रियोंकी अयत्नसाध्य प्रवृत्ति है वह यदि निष्काम-भावसे सत्त्वमूर्ति श्रीभगवान्‌के प्रति संलग्न हो तो वही भक्ति है जो कि अणिमादि सिद्धियोंसे बड़ी है।'

ऊपरके वाक्योंसे प्रकट है कि साधकके पवित्र हृदयरूपी गोमुखसे अहैतुक और अनन्य प्रेमरूप पावन गङ्गाका प्रकट होकर दयासागर श्रीभगवान्‌की ओर निर्विच्छिन्नभावमें प्रवाहित होना भक्ति है। निर्मल हृदयके प्रेमवारिसे श्रीभगवान्‌के चरणसरोजको केवल उनके प्रीत्यर्थ सदा-सर्वदा सिञ्चन करना भक्ति कहलाता है। यह चरणामृतरूपी गङ्गा श्रीचरणोंसे निकलकर संसारमें प्रवाहित होती हैं तथा जगत्‌का कल्याण करती हैं। श्रीयज्ञपुरुष भगवान्‌के निमित्त प्रेमरूपी स्रुवाद्वारा श्रीभगवान्‌की साकार मूर्तिरूपी तेजःपुञ्जमें आत्मसमर्पण करना भक्ति है, जिससे साधक विशुद्ध नवीन जीवन-लाभ करता है और तबसे श्रीभगवान्‌की अहैतुकी सेवा करनी ही उसका मुख्य व्रत हो जाता है। भक्ति शब्द 'भज सेवायाम्' धातुसे निकला है और यह यथार्थमें

श्रीभगवान्‌की सेवा ही है। यह सेवा अहैतुकी है, सकाम कदापि नहीं। श्रीशाण्डिल्योक्त 'परानुरक्ति' अहैतुकी भक्तिहीका नाम है। इस पुस्तकमें कही हुई साधना वैधी (सकाम) भक्तिके पीछेकी है और यहाँसे रागात्मिका अर्थात् अहैतुकी भक्ति प्रारम्भ होती है। इस अवस्थाके साधकके लिये सकामभाव बड़ा ही तुच्छ है, जिसे उसने कर्मयोगकी सिद्धावस्थामें त्यागा था और जो उस समय भी अवशेष रह गया था, उसका त्याग ज्ञानयोगकी अवस्थामें किया गया। जब जीवात्माको इस लोक और परलोकके विषयभोगोंसे शान्ति नहीं मिलती और जब विचारसे उनको परिणाममें दुःखदायी समझकर वह उनकी स्पृहाको त्यागता है तब वह ज्ञानयोगके मार्गमें पग देनेके योग्य होता है। किन्तु साधकको ज्ञानयोगसे भी, जिसका लक्ष्य मुख्य आत्मस्थिति है। परम शान्ति और परम आनन्द नहीं मिलते हैं, क्योंकि वे तो केवल श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंमें ही हैं, अन्यत्र कदापि नहीं। लिखा है—

यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः॥

(छान्दोग्योपनिषद् ७। २३)

'अखण्ड ब्रह्ममें आनन्द है परिच्छिन्नमें नहीं। ब्रह्म आनन्द-रूप ही है, अतएव उसीकी सेवारूप जिज्ञासा करनी चाहिये।' विशुद्ध प्रेमके कारण भगवत्सेवा भक्ति है किन्तु प्रेम विना त्यागके सम्भव नहीं है। 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।' इस त्यागमें विषय-कामना, यश-कामना, स्वर्ग-कामना आदिसे लेकर मोक्ष-कामनातक सम्मिलित है। जबतक किसी प्रकारकी स्वार्थ-आकांक्षा है तबतक

न तो शुद्ध प्रेम और न निर्हैतुक सेवा ही सम्भव है। फलाकांक्षासे श्रीभगवान्‌का भजन करना भजनानुष्ठान अर्थात् वैधी भक्ति है। निष्कपट अहैतुक एवं प्रेम-पूरित सेवा-वारिसे ही शान्तिदायिनी रागात्मिका भक्ति अंकुरित होती है। ऐसे सिञ्चनसे ही इसकी वृद्धि होती है और इसीकी शक्तिसे उसमें परम प्रेमरूप पुष्पका विकास होता है, जो अन्तमें सेवाहीमें परिणत हो जाता है। सबका अन्तिम परिणाम पराभक्ति भी परासेवा ही है। इस प्रकार इसका आदि, मध्य और अन्तिम परिणाम सेवा ही है।

पहले कहा जा चुका है कि जीवात्मा श्रीभगवान्‌का अंश है। इसीसे उन दोनोंमें अंश-अंशीभाव हुआ है, और भी कोई-कोई लोग जीवात्माको श्रीभगवान्‌रूपी आनन्दसागरका तरङ्ग मानते हैं; दूसरे श्रीपरमात्मारूपी प्रज्वलिताग्निका विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) जानते हैं और कोई अन्य उसे श्रीपरमात्मारूपी सूर्यका किरण कहते हैं। जीवात्मा और परमात्माके विलक्षण आध्यात्मिक सम्बन्धका संसारके किसी सम्बन्धद्वारा ठीक-ठीक वर्णन नहीं हो सकता, क्योंकि यह अधिभूत है और वह अध्यात्म है। किन्तु यह निश्चित है कि जीवात्मा श्रीभगवान्‌का अंश होनेके कारण उनका स्वरूप ही है और श्रीभगवान् आत्माके भी आत्मा (परमात्मा) होनेके कारण जीवात्माके सर्वस्व हैं, तथा उत्पत्ति, स्थिति, विश्राम, कल्याण, शान्ति और बोधके एकमात्र कारण और आलय हैं। लिखा है—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
(गीता ९।१८)

'मैं (श्रीभगवान्) गति, पोषण करनेवाला, स्वामी, साक्षी, निवासस्थान, रक्षक, सुहृद्, उत्पादक, लय करनेवाला, आधार, अन्तिम विश्रामस्थान और अविनाशी बीज हूँ।' जीवात्मा श्रीभगवान्का है और श्रीभगवान् जीवात्माके हैं। इन दोनोंका यह अनादि पारस्परिक सम्बन्ध अभेद्य और अटूट है। ये दोनों एक-दूसरेसे ऐसे आबद्ध और संयुक्त हैं कि अपने शुद्ध स्वरूपमें तो ये क्षणभरके लिये भी पृथक् नहीं हो सकते। अब विचारनेकी बात यह है कि वह कौन-सी अद्भुत शक्ति है जिसके कारण ये दोनों ऐसे घनिष्ठरूपसे आबद्ध हैं और अविद्याके कारण भेद प्रतीत होनेपर भी, जो कालान्तरमें दोनोंको एक बना देती है, जिस एकमें सब कुछ बीज-रूपमें वर्तमान भी रहता है और आवश्यक होनेपर उसकी इच्छासे फिर उदय भी होता है। यह श्रीभगवान्की पराशक्ति है जिसे जीवात्मा और परमात्माके बीचकी आकर्षण शक्ति कह सकते हैं। यह दोनोंके बीच मिलानेवाला सूत्र, सीढ़ी अथवा सेतुकी भाँति है।

परम प्रेम
(परा और अपरा प्रकृति)

यह पराशक्ति श्रीभगवान्का प्रेमभाव है जिसे आनन्दभाव भी कहते हैं। प्रेम और आनन्द एक ही हैं। जहाँ प्रेम है वहाँ आनन्द है और जहाँ आनन्द है वह प्रेमहीका परिणाम है। प्रेम ही आनन्द है और आनन्द ही प्रेम है। आनन्द प्रेमकी

मनोहर और लहलहाती लताका सुन्दर पुष्प है अथवा प्रेमरूपी सरोवरमें आनन्द एक सरोज है। यह सृष्टियज्ञ भी प्रेमयज्ञ ही है, क्योंकि श्रीभगवान्‌की सृष्टि-रचनाकी इच्छा भी प्रेम है और प्रेम ही उसका कारण है। परब्रह्मके अज्ञात-अज्ञेय होनेपर भी इतना अवश्य कहना ही पड़ेगा कि उसमें महेश्वरभावका आना उसका स्वभाव है कि जिसके बिना सृष्टि हो नहीं सकती। परब्रह्मके इस स्वभावहीका नाम प्रेम है। यह प्रेम ही है जो अज्ञेयको ज्ञेय बनाता है, निर्गुणको सगुण करता है, निराकारको साकार बनाता है, तमको प्रकाश करता है और गुप्तको प्रकट करता है, यहाँतक कि यह सूक्ष्मको स्थूल बना देता है। प्रेमहीने सबसे प्रथम एकको दो बनाया, क्योंकि बिना दोके प्रेमानन्दका अनुभव प्रकट हो नहीं सकता। यह प्रेम ही है जो एक ईश्वरको अनेक बनाता है ताकि वे अनेक होकर प्रेमका आनन्द प्राप्त करें। सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति, उद्भव और लयके क्रमका ज्ञान होनेसे श्रीभगवान्‌का असीम प्रेम जो जीवोंके प्रति है उसकी कुछ झलक मिल सकती है। यह प्रेम ही है जिसके कारण श्रीभगवान् नर अर्थात् जल (प्रकृति) में वास करते हैं जिससे उनका नारायण नाम हुआ और जिनके बिना प्रकृति ठहर नहीं सकती। यह प्रेम ही है जिसके वश वे प्रत्येक प्राणीके शरीररूपी पुरमें वास करते हैं और पुरुष कहलाते हैं जिनके बिना यह शरीर शव (मुर्दे) की भाँति है। यह प्रेम ही है जिससे प्रेरित हो श्रीभगवान्‌ने विराट् विश्वरूप धारण किया और सृष्टिमात्रमें सर्वत्र व्याप्त रहकर विष्णु कहलाते और पालन करते

हैं जिनके विना यह जगत् क्षणभर भी स्थित नहीं रह सकता। यह प्रेमहीकी महिमा है जिससे आवद्ध हो श्रीभगवान् विश्वके प्रत्येक पदार्थके भीतर प्रकृतिसे आवेष्टित होकर प्रकृतिको धीरे-धीरे शुद्ध और उन्नत करते हैं, जिसमें करोड़ों करोड़ वर्ष लगते हैं किन्तु वे इस कार्यमें आवद्ध रहनेपर भी धैर्यसे प्रवृत्त रहते हैं, क्योंकि ऐसा किये विना यह क्रमोन्नतिविकासका कार्य हो नहीं सकता। यह प्रेम ही है जो श्रीभगवान्‌को सृष्टिके धारण और पालन-कार्यमें नियुक्त करता है और मर्त्यलोकमें अवतार लेनेतकके लिये वाध्य करता है जिसके विना सृष्टि चल नहीं सकती है। प्रेम ही ब्रह्माको उत्पत्तिकार्यमें नियुक्त करता, प्रेम ही विष्णुसे धारण और पालन करवाता और प्रेम ही शङ्करसे संहारद्वारा फिर दूसरे रूपमें परिवर्तन करवाता है। जव किसी नियत पदार्थके प्रादुर्भावका उद्देश्य पूर्ण हो जाता है और उसकी आवश्यकता नहीं रहती तव उसका परिवर्तनकर उससे भी उत्तम अन्य आवश्यक पदार्थका प्रकट करना ही श्रीशङ्करका संहार-कार्य है। इससे भी सृष्टिका हित ही होता है। सृष्टिके आदिमें सप्तर्षि, पितृ, रुद्र, वसु, मनु, देवतादि जो सृष्टिके कार्यमें प्रवृत्त होते हैं उसका भी कारण प्रेम ही है। श्रीभगवान् स्वयं प्रेमरूप होकर प्रेमहीसे सृष्टि करते, प्रेमहीसे अनेक वनते, प्रेमहीका जीवन देते, प्रेमहीसे धारण करते, प्रेमहीसे पालन करते, प्रेमहीसे रक्षा करते, प्रेमहीसे आकर्षण करते, प्रेमहीसे आकर्षित होते, प्रेमहीकी चाह रखते, प्रेम ही नैवेद्य लेते, प्रेमहीमें लय करते हैं। यह प्रेम ही सवका लक्ष्य है। सृष्टिमें प्रेम ही द्रष्टा है, प्रेम ही दर्शन है और प्रेम ही

दृश्यरूप है। प्रेम ही ज्ञाता है, प्रेम ही ज्ञान और प्रेम ही ज्ञेय है। प्रेम ही आत्मा है, प्रेम ही प्राण है, प्रेम ही बल है, प्रेम ही ऐश्वर्य है, प्रेम ही धर्म है, प्रेम ही सद्गुण है और प्रेम ही सौन्दर्य है, जिसका वर्णन पहले अवतरणिकामें हो चुका है।

ऊपरका वर्णन कोई अत्युक्ति नहीं है, किन्तु सृष्टिकी रचना और क्रमके ज्ञानसे यह स्वतः सिद्ध है। सृष्टिके क्षुद्रातिक्षुद्र पदार्थ भी अनेक अणुओंके सम्मेलनसे ही बनते हैं। वह सम्मेलन आकस्मिक नहीं है, बल्कि इस प्रेमशक्तिके दीर्घ परिश्रमका ही फल है। एक समय किसीने देखा कि जगन्माता आनन्दमयी शक्ति बड़ी एकाग्रता और सावधानीसे किसी वस्तुके बनानेमें व्यस्त हैं, जिससे दर्शकको बोध हुआ कि देवी किसी बड़े महा-पुरुषका मस्तिष्क बना रही होंगी। अनुसन्धानसे जान पड़ा कि वह एक मक्खीकी पिछली टाँगको सुधार रही हैं। इस कहानीपर मनन करनेसे आनन्दमयी प्रेमदेवीके प्रेम-यज्ञका कुछ आभास मालूम पड़ेगा और बोध होगा कि करुणामयी जगन्माताको केवल प्रेमके कारण ही प्रत्येक जीवके स्वरूप और उनके उपभोगयोग्य आवश्यक वस्तुओंके निर्माणमें कितना त्याग और परिश्रम करना पड़ता है।

प्रेमका पूर्ण प्रकाश करना ही सृष्टिका उद्देश्य है, अतएव सब-के-सब, छोटे-बड़े, जड-चेतन, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, पशु-पक्षी, ज्ञानी-अज्ञानी इसकी ओर जा रहे हैं और यही सबका लक्ष्य है। श्रीभगवान्‌के सच्चिद्भावके समष्टिमें प्रकाशित होनेपर ही अन्तमें

आनन्द (प्रेम) का प्रकाश होता है और यही नियम व्यष्टि (व्यक्ति) में भी है। यही कारण है कि चींटीसे लेकर ब्रह्मा-पर्यन्त सब-के-सब इस प्रेमानन्दके अन्वेषणमें ही व्यग्र हैं, जिसके मिले बिना किसीको कदापि शान्ति नहीं मिल सकती। अवतरणिकामें इस विषयका किञ्चित् वर्णन हो चुका है। यह प्रेमकी धारिणी और आकर्षिणी शक्ति है जो अनेकोंको एक बना परम एकमें मिला देती है जो कि सृष्टिका अन्तिम लक्ष्य है। किन्तु इनकी कृपा उसीपर होती है जो स्वार्थ छोड़कर परोपकार-रूप सेवा नैवेद्यकी भाँति समर्पणकर इनकी आराधना करते हैं। ऐसा होना कठिन अवश्य है। इनकी प्राप्ति सहज भी है, क्योंकि यह सबकी बीजस्वरूपा हैं और शुद्ध हृदयसे करुण स्वरसे पुकारने-पर शीघ्र ही कृपा करती हैं। कभी-न-कभी सभीको इनकी शरण लेनी ही पड़ेगी, वह चाहे अब हो अथवा करोड़ों वर्षके बाद, क्योंकि इनकी शान्तिदायिनी छायाके तले आये बिना जीवके परम कल्याणका अन्य कोई आश्रय नहीं है। यह प्रेममयी ह्लादिनी पराशक्ति ऐसी दयामयी हैं कि हमलोगोंके भूल जानेपर, इनके अस्तित्वको भी नहीं माननेपर और इनके गुणोंके विरुद्ध आचरण करनेपर भी ये अपनी कृपाको नहीं त्यागतीं बल्कि अपनी दयादृष्टिसे हमलोगोंको हमारे कर्मोंकी परिधिमें सुधारनेका यत्न करते हुए अपनी ओर क्रमशः आकर्षित करती ही रहती हैं और कभी-न-कभी अपने आश्रयमें अवश्य ले लेती हैं। किसकी सामर्थ्य है कि इस परात्पर शक्तिके विरुद्ध ठहर सके? जब कि स्वयं श्रीभगवान् इस प्रेम-यज्ञका सम्पादन कर रहे हैं, तब जीवके

लिये उसके विरुद्ध चलना कबतक सम्भव है ? सृष्टिमें सर्वत्र प्रेमहीका राज्य है और इसीका अभ्यास है। यह प्रेम ही है जिसके कारण शरीरके अणु और परमाणु अपने-अपने स्वार्थको त्यागकर एकत्र रहते हैं और एक होकर शरीरस्थ जीवात्माके कार्यके साधनमें आत्मोत्सर्ग करते हैं। प्रेमहीके कारण पृथ्वी सबका भार वहन करती है और अपने गर्भसे रत्न, धातु, अन्न, ओषधि, लता-गुल्म आदि पदार्थोंको उत्पन्नकर संसारका पालन करती है। प्रेमके आवेगसे ही नदी आदि जलाशय अपने जलको स्वयं न पीकर उसे दूसरोंके लिये अर्पण करते हैं। यह प्रेमहीकी महिमा है जिसके कारण वृक्षोंमें सुन्दर फल, फूल और पत्तियाँ देखनेमें आती हैं, जिन्हें वे अपने अर्थमें न लगाकर सहर्ष दूसरोंको दान करते हैं। यह प्रेमहीका चमत्कार है जो गाय, बैल, हाथी, घोड़ा आदि पशुओंको मनुष्यके उपकारमें प्रवृत्त करता है और वे उस कष्टको सानन्द स्वीकार करते हैं। यह प्रेमहीका जादू है जिसके कारण सूर्य-चन्द्र अपने प्रकाशसे संसारको तृप्त करते हैं। मेघ अपने श्रम-सञ्चित जलको सहर्ष संसारके लिये बरसा देते हैं। वायु अपनी शक्तिद्वारा जीवन प्रदान करता है और सुगन्धसञ्चारसे सबको तृप्त करता रहता है। इसीके कारण अग्निदेव अपनी शक्तिसे इस विचित्र संसारके आवश्यक कार्योंका सम्पादन करता है। जब कि स्थावर-जंगम जगत्में भी प्रेमका ऐसा प्राबल्य है तब मनुष्यपर उसका विशेष प्रभाव पड़ना क्या आश्चर्य है ? संसारमें जितने परोपकारसम्बन्धी कार्य किये जाते हैं उनका कारण प्रेम ही है। तड़ाग, कुआँ, धर्मशाला, अतिथिशाला,

चिकित्सालय, पाठशाला, कुष्टयाश्रम, अनाथशाला आदिका निर्माण, सदाव्रत और विविध प्रकारके दान आदि इस प्रेमहीकी प्रेरणाके परिणाम हैं। मित्रका मित्रके निमित्त सौहार्द, पुत्रका पिताके प्रति सत्कार, सेवकका अपने स्वामीके प्रति सेवकाई, सती स्त्रीका अपने पतिके निमित्त सर्वस्वत्याग, माताका अपने पुत्रके लिये आत्मोत्सर्ग आदि अद्भुत कर्म इस विश्वव्यापी प्रेमहीका चमत्कार है। यथार्थमें सर्वत्र प्रेमहीका प्रकाश है, प्रेमहीका निवास है, प्रेमहीका विकास है, प्रेमहीका विलास है, प्रेम ही जिज्ञास्य है, प्रेम ही लक्ष्य है, प्रेम ही जीवन है, प्रेमहीकी तृषा है और प्रेमहीकी वर्षा है। यहाँतक कि पण्डित शास्त्रमें, साधु वैराग्यमें, याज्ञिक यज्ञमें, वैदिक स्वाध्यायमें, तपस्वी तपमें, भोगी भोगमें, योगी योगमें, ज्ञानी ज्ञानमें इस प्रेमहीको खोजते और ढूँढ़ते हैं। सारांश यह है कि इस सृष्टिके प्राणिमात्र, कुछ जानकार और अधिकांश अनजान, इस प्रेमदेवीहीकी ओर धावमान हैं, क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है केवल ये परमा देवी ही सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लक्ष्य हैं और प्राणिमात्रके स्वरूपमें विद्यमान हैं। बड़े आश्चर्यकी बात है कि इतनी दौड़धूप, इतने परिश्रम, इतने त्याग, इतने अनुसन्धान, इतने क्लेश करनेपर भी संसारमें शान्ति नहीं दीख पड़ती, जिसे देखो वही नाना प्रकारकी चिन्ताओंसे व्यग्र दिखायी देता है। इस प्रेमराज्यके रहते हुए भी हिंसा, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ और मद आदिकी—जो प्रेमके विरोधी हैं—प्रबलता देखी जाती है। इस विषम समस्याका क्या अर्थ है?

इस प्रश्नका उत्तर ठीक-ठीक समझानेके लिये सृष्टि-विकास-क्रमका थोड़ा-बहुत उल्लेख करना आवश्यक था; किन्तु यहाँ उसके लिये न तो स्थान है और न प्रसंग ही। संक्षेपमें उत्तर यों है— सृष्टितत्त्वके वर्णनमें दो प्रकारकी प्रकृतिका उल्लेख है; अर्थात् (जो चैतन्यमयी परा विद्या शक्ति है उस) परा प्रकृतिके सिवा उसके विरुद्ध स्वभाववाली अपरा प्रकृति भी है (जो त्रिगुणात्मिका जड़रूपा अविद्या शक्ति है)। इन दोनोंके संयोगसे ही सृष्टि होती है। उत्तम गुणोंकी उत्तमता उनके विरुद्ध दुर्गुणोंकी भयानकताके साथ तुलना करनेपर ही प्रकट होती है। प्रकाशकी उत्तमता उसके विरोधी अन्धकारसे ही स्पष्ट होती है तथा किसी सद्गुणका लाभ उसके विरोधी गुणका पराभव करनेसे ही होता है और तभी उसकी महिमा बढ़ती है, अतएव इस सृष्टिमें द्वन्द्वोंका रहना आवश्यक है; क्योंकि उनके बिना सृष्टिका कार्य चल नहीं सकता। इसी कारण अपरा प्रकृतिकी आवश्यकता हुई जो यद्यपि परा प्रकृतिकी विरोधिनी है किन्तु उसका यथार्थ उद्देश्य विरुद्धता दिखलाकर और उसकी प्रतिद्वन्द्विता किये जानेपर प्रेम-शक्तिसे परास्त होकर परा प्रकृतिके महत्त्व, शोभा, गुण, शक्ति और विशेषता आदिको प्रकट करना और दिखलाना है। इसीलिये अपरा प्रकृति, परा प्रकृति और परमात्माका, आवरण बन जीवात्मा और इनके बीच अनेक आवरण डालती है जिनके कारण परमात्मा जीवात्मासे अदृश्य हो जाता है और जीवात्मा भी परमात्माको भूल जाता है। फिर अपरा प्रकृति जीवात्माको भी अनेक आवरणोंमें आवृतकर अपने स्वरूपका भी विस्मरण करा देती है;

इसीसे वह प्राकृतिक शरीरको ही अपना स्वरूप समझता है और प्राकृतिक पदार्थोंमें ही आसक्त हो जाता है। यही कारण है कि संसारमें द्वन्द्व, अर्थात् परस्परविरोधी पदार्थ, और गुणके विरोधी जोड़े, देखे जाते हैं जैसा कि धर्म और अधर्म, प्रेम और द्वेष, क्षमा और हिंसा, सत्य और असत्य, पवित्र और अपवित्र, धैर्य और अधैर्य, वैराग्य और लोभ, त्याग और लिप्सा इत्यादि इत्यादि। कभी-कभी अधर्म और दुर्गुणकी इतनी प्रबलता हो जाती है कि बहुत-से लोग समझने लगते हैं कि संसारमें अधर्महीका राज्य है और वही उन्नतियोंका मूल है। इस भ्रममें पड़कर वे अपरा प्रकृतिके कार्य (सांसारिक विषयभोग) को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं और अपनी कामपिपासाकी शान्तिके लिये उसीकी ओर दौड़ते हैं। जैसे गर्मीमें मृग तृषित होकर उज्ज्वल मैदानको जलाशय समझकर उसकी ओर दौड़ता है किन्तु उससे उसकी तृषाकी शान्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ जल नहीं है; उसी प्रकार विषयी लोग अपरा प्रकृति (माया) की मृगतृष्णामें पड़कर सुखकी प्राप्तिके लिये अतुल परिश्रम और यत्न करते हैं किन्तु परिणाममें सुखके बदले दुःख ही मिलता है। कारण, अपरा प्रकृति स्वयं असत् और परिणाममें दुःखदा है। जो स्वतः असत् है, उससे दूसरोंको क्या लाभ हो सकता है? जैसे मेघ थोड़े कालके लिये सूर्यको आच्छादित कर लेता है किन्तु कुछ कालके बाद तितर-बितर हो जाता है और सूर्य पूर्वके समान देदीप्यमान ही रहते हैं। उसी प्रकार अपरा प्रकृति (बाह्य जगत्) परा प्रकृति (परमार्थ) को दीर्घ कालतक आच्छादित कर नहीं सकती। सृष्टिका उद्देश्य तो यह

है कि अपरा प्रकृति भी परा प्रकृतिके संसर्ग और प्रभुत्वसे ऐसी स्वच्छ हो जाय कि आवरण करनेके वदले उस (परा प्रकृति) के प्रकाशको उत्तमतासे फैला सके। अर्थात् तमोगुण और रजोगुणका पराभव होकर सत्त्वगुणकी वृद्धि हो और फिर त्रिगुणके पार हो जाय। तमोगुण और रजोगुण तथा उनके विकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, मत्सर आदिके होनेका उद्देश्य यह नहीं है कि जीवात्मा उनमें लिप्त होकर अपनेको नष्ट करे किन्तु यह है कि उनके पराभव करनेमें यत्नकर अपनी आन्तरिक प्रेमानन्द-शक्तिका विकास करे और विकास करके उसको प्रसारित करे। प्रकृतिके आवरणमें पड़नेपर भी जीवात्मा अपने स्वरूपके अन्य भावोंको भले ही कुछ कालके लिये भूल जाय किन्तु परमोच्च आनन्द (प्रेम) भावको कदापि नहीं भूल सकता। हाँ, इतना अवश्य होता है कि आवरणके कारण वह उसे ठीक स्थानमें न खोजकर अयथार्थ स्थानमें खोजता है और इस प्रकार दुःख पाता है। विषयी लोग प्रकृतिके वशमें होकर जो इन्द्रियोंके विषय-भोगमें बड़े वेगसे प्रवृत्त होते हैं उसका कारण इस आनन्दका अन्वेषण ही है। वे नाना प्रकारके सांसारिक विषय-भोगमें इस प्रेमानन्दका ही अन्वेषण करते हैं, क्योंकि उनमें इसका जो प्रतिविम्ब है वही भ्रममें डालता है। जीवात्मारूपी हंसको मानससरोवररूप प्रेमानन्दसागरके जल विना विषयरूपी नालेके गन्दे जलसे कदापि तृप्ति नहीं हो सकती। जीवात्मा क्रमशः तामसिक सुखकी आसक्तिका पराभव कर राजसिक सुखमें प्रवृत्त होता है और राजसिकका पराभवकर सात्त्विकमें जाता है। सात्त्विक वृत्तिमें आनेपर और सात्त्विक सुख-

का अनुभव करनेपर जीवात्मा समझता है कि आनन्द उसके भीतर है और उसका स्वरूप ही है, वह विषयमें कदापि नहीं है। तब उसको प्रेमकी किञ्चित् झलक अपनेमें मालूम पड़ने लगती है। प्रेमका धीरे-धीरे प्रसार होता है। प्रेम सङ्कुचित और विच्छिन्न कदापि नहीं रह सकता। इसका स्वभाव वर्षाके समान सर्वत्र वृष्टि कर सबको तृप्त करना है, जिसमें अपने-परायेका कुछ भी विचार नहीं किया जाता। दानसे ही इसकी उन्नति होती है और त्यागसे ही इसकी वृद्धि होती है। दया इसका मित्र है और स्वार्थ इसका शत्रु है। अन्न आदिको यज्ञद्वारा हवन करनेसे वृष्टि होती है और उस वृष्टिद्वारा अन्न आदिकी उत्पत्ति होती है जो फिर यज्ञमें प्रयुक्त किया जाता है और इस चक्राकार गतिमें समर्पित पदार्थोंकी कमी न होकर वृद्धि ही होती है। इसी प्रकार सूर्य मेघद्वारा जलकी वर्षाकर फिर उस जलको आकर्षित करते हैं और फिर वर्षा करके उसकी वृद्धि करते हैं। यहाँ भी वही चक्राकार गति है। ठीक ऐसी ही गति प्रेमकी भी है। प्रेम व्यय करनेसे बढ़ता है और कृपणकी भाँति केवल सञ्चयसे घटता है। जहाँ इसका दान नहीं, वहाँ इसका वास नहीं। इस सृष्टिका प्रत्येक पदार्थ प्रेम-यज्ञद्वारा बना है और उसीसे परिपालित होता है। प्रत्येक आकार अनेकानेक अणुओंका समूह है और उन अणुओंके किये प्रेमयज्ञका परिणाम है। अतएव इस सृष्टिका कोई भी पदार्थ कदापि अपने ही लिये अर्थात् स्वार्थके ही लिये नहीं बना है, किन्तु इसलिये है कि वह किसी दूसरेको प्रिय हो अर्थात् उसका हित-साधन करे और वह दूसरा अन्य दूसरेका

प्रिय हो तथा वह किसी तीसरेका प्रिय हो। इस प्रकार उत्तरोत्तर इस प्रेम और त्यागके कार्यका प्रसार होता रहे जैसा कि पहले कहा जा चुका है। जो कोई इस प्रेमयज्ञके प्रेमपुरुषकी उपासना नहीं करता और प्रेमयज्ञके व्रतको धारण नहीं करता, उसके लिये इस प्रेमराज्यमें कहीं भी स्थान नहीं है। जिसके जीवनका उद्देश्य प्रेमदानके बदले स्वार्थसाधन है वह प्रेमके स्वर्गराज्यसे नीचे गिरता है और मायाके समुद्रमें पड़कर उसकी गुणमयी लहरोंमें चक्कर खाता रहता है। ऐसा पुरुष केवल प्रेमरूपी नौकाका आश्रय लेनेसे ही उस अपार महासागरसे पार हो सकता है।

जीवात्मामें श्रीभगवान्‌के प्रति प्रेमका विकास इस क्रमसे होता है। पहले अपने परिवारके लिये, पीछे पड़ोसके लोगोंके लिये, उसके बाद ग्रामभरके लिये, तत्पश्चात् अतिथि-अभ्यागतके लिये, फिर दीन-दुखियोंके लिये, फिर देशभरके लिये और फिर क्रमशः पशु, पक्षी एवं उद्भिज आदि अन्यान्य पदार्थोंके लिये प्रेमकी प्रवृत्ति होती है। यह भी श्रीभगवान्‌की एक प्रकारकी विभूति-उपासना है जिसका जिक्र पहले हो चुका है। इतनेपर भी जीवात्माको यथार्थ शान्ति नहीं मिलती। इसके पहले जो कुछ लिखा जा चुका है उससे प्रकट है कि जीवात्मा श्रीभगवान्‌का अंश है और श्रीभगवान् जीवात्माके सर्वस्व हैं, और भी कहा जा चुका है कि मनुष्यशरीर श्रीभगवान्‌का प्रिय मन्दिर है, और जीवात्मा तथा परमात्मामें प्रेमका सम्बन्ध है। श्रीभगवान्‌की जो जीवोंपर असीम कृपा है उसका भी कुछ वर्णन हो चुका है। इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि जीवात्मा श्रीभगवान्‌का केवल अत्यन्त प्रेम-

पात्र ही नहीं किन्तु उसका प्रिय अंश ही है और उसीके लिये वे इस सृष्टिरूपी महायज्ञको करते हैं। श्रीभगवान् ही जीवात्माके मधुराति-मधुर प्रियतम हैं, क्योंकि केवल वे ही प्रेमानन्द और कल्याणके एकमात्र मूल हैं। गुणमयी प्रकृतिद्वारा आवेष्टित होनेपर भी यह जीवात्मा यथार्थमें श्रीभगवान्हीकी खोज करता रहता है और उस खोजकी यात्रामें नाना प्रकारका अनुभव प्राप्त करता है जो उसके लिये आवश्यक है। जीवात्माको संसाररूपी वागमें भेजनेसे श्रीभगवान्‌का यह उद्देश्य है कि वह इसके उत्तम अनुभवरूपी सुन्दर पुष्पोंको चुनकर प्रेमाञ्जलिद्वारा उनके चरणसरोजमें अर्पणकर स्वयं अपना भी समर्पण कर दे। अतएव विना इस उद्देश्यकी पूर्तिके जीवात्माको किस प्रकार शान्ति मिल सकती है? अवतरणिकामें कहा जा चुका है कि जीवात्माकी पूरी तृप्ति श्रीभगवान्‌की किसी विभूतिमें प्रेम करनेसे ही नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ केवल अंश है। एक अंशका अपने समान अन्य अंशके साथ मिलन होनेसे आनन्दकी वृद्धि अवश्य होती है किन्तु परम शान्ति नहीं मिल सकती, चाहे वह अंश उससे कहीं बृहत् और स्वच्छ हो। कारण यह है कि जीवात्माकी शान्ति उसके प्रेमके पूर्ण विकास-हीसे होगी और यह पूर्ण विकास केवल पूर्णहीकी प्राप्तिसे हो सकता है और वह पूर्ण केवल श्रीभगवान् हैं। अतएव जीवात्मा-की पिपासा पूर्ण प्रेमानन्दसागर श्रीभगवान् ही मिटा सकते हैं, उनके अंशभूत कोई और नहीं। लिखा है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

जीवात्माकी अवस्था मृगके समान है। जैसे मृग अपनी नाभिमें रहनेवाली कस्तूरीके सुगन्धकी खोजमें इधर-उधर दौड़ता-फिरता है पर उसे न पाकर व्याकुल ही रहता है, क्योंकि उसको यह मालूम नहीं होता कि वह सुगन्ध उसीके पास है। उसी प्रकार जीवात्मा अपने प्रेमानन्द चैतन्यस्वरूपको (जो परमानन्दसागर श्रीभगवान्‌का अंश होनेके कारण उसे प्राप्त है) भूलकर उस आनन्दको अपनेसे बाह्य इन्द्रियसम्बन्धी विषय-भोगमें (जो जड होनेके कारण यथार्थमें दुःखद है) खोजता है। किन्तु वहाँ तो केवल उसका छायामात्र है। इस प्रकार वह संसृतिचक्रमें पड़कर पीसा जाता है। जीवात्माको किस प्रकार श्रीभगवान्‌में प्रेमकी उत्पत्ति होती है उसका वर्णन श्रीमद्भागवतपुराणमें यों है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥
भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्-
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः॥

(३। २५। २५-२६)

साधुओंके समागमसे ही, मेरे पराक्रमोंका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा अन्तःकरण और कर्णोंको सुखी करनेवाली

कथाओंका सुनना बनता है । उन कथाओंके सेवनसे मोक्षरूप श्रीहरिके प्रति पहले श्रद्धा, फिर प्रीति और तदनन्तर भक्ति क्रमसे उत्पन्न होती हैं । तदनन्तर मेरी की हुई सृष्टि आदि लीलाओंके बारंबार चिन्तन करनेसे मेरेमें उत्पन्न हुई भक्तिके द्वारा, इस लोकमें दीखनेवाले और स्वर्गादि लोकोंमें सुननेमें आनेवाले विषय-सुखोंसे मनुष्यको वैराग्य उत्पन्न होता है और वह मनुष्य आत्म-साधनके उद्योगमें तत्पर होकर योगाभ्यास करता हुआ, जिनमें भक्ति मुख्य है (अर्थात् भक्तियोग), ऐसे योगादि मार्गोंके अवलम्बनद्वारा अन्तःकरणको स्वाधीन करनेका प्रयत्न करता है ।

सत्सङ्गके कारण श्रीभगवान्‌के पावन चरित्रसम्बन्धी कथाओंमें अभिरुचि होनेसे यह ज्ञान होता है कि श्रीभगवान् जगत्‌के एकमात्र परम कारण, पालक और त्राणकर्ता हैं जिसके लिये वे बाह्य दृष्टिसे कष्ट भी स्वीकार करते हैं । श्रीभगवान्‌के मत्स्य, कच्छप, वाराह आदि अवतार केवल सृष्टिके कल्याणके निमित्त हुए हैं । श्रीनृसिंह-अवतारमें उन्होंने खंभेसे प्रकट होकर यह दिखला दिया कि वे सर्वव्यापी भक्तके वचनको सत्य करते हैं और उसके दुःखको सह नहीं सकते । यह वात्सल्य भाव है । गजेन्द्रकी रक्षा करके उन्होंने दिखला दिया कि वे अपने पशु भक्तकी भी आन्तरिक पुकारको तत्काल सुनते हैं यह सौलभ्य भाव है । श्रीराम और कृष्णावतारमें उन्होंने भालू-बन्दर और गोप-गोपिका-जैसे साधारण जीवोंसे सुहृदता करके अपनी दीनवत्सलताका परिचय दिया है । यह उनका सौशील्य गुण है । श्रीभगवान्‌की सबसे बड़ी दया और करुणा यह है कि महतो महीयान् और सर्वव्यापी होनेपर भी

जीवात्माके हितके लिये प्रत्येक चेतनके हृदयमें विराजमान हैं। ऐसा करके उन्होंने मानो एक प्रकारसे अपनेको कैदी वना दिया है। इस प्रकार वे पापी, क्रूर, दुष्टातिदुष्ट, हिंसक, लुब्धक और दस्यु आदि सभीके हृदयमें परिपूर्णभावसे साक्षीरूपमें विराजमान हैं, और मनुष्यके अनेकानेक घोर पापको सहन करते हैं, किन्तु फिर भी उसका त्याग नहीं करते; ताकि उनकी ओर कभी-न-कभी उन्मुख होनेसे जीवात्मा मायाके फन्देसे छूटकर मुक्त हो जाय। यदि श्रीभगवान्‌का हृदयमें वास न रहता, तो अणुरूप जीवात्मा विभु और व्यापक प्रभुकी प्राप्ति कदापि नहीं कर सकता था। यह श्रीभगवान्‌का मुख्य व्यूह है। इस प्रकार श्रीभगवान्‌की असीम अनुकम्पा और त्यागका चिन्तन-स्मरण करनेसे श्रीभगवान्‌में प्रीति उत्पन्न होती है। भगवत्प्रीतिकी प्राप्ति होनेपर साधक समझता है कि श्रीभगवान् ही गुरु, पिता, बन्धु, मित्र, प्रेमास्पद आदि हैं और परमकल्याण तथा आनन्दके आलय हैं, उनके समान अन्य कोई नहीं है। तव उसको स्वयं विषय-भोगोंसे वैराग्य होता है।

इसका क्रम ऐसा है। श्रीभगवान्‌की कृपासे सत्सङ्ग लाभ होता है, सत्सङ्गसे श्रीभगवत्कथामें अनुराग होता है। इस प्रकार श्रीभगवान्‌की कथाका निरन्तर श्रवण-चिन्तन करनेसे जव श्रीभगवान्‌के स्वरूप और तत्त्वका इस प्रकार दृढ़ ज्ञान होता है कि जीवात्मा श्रीभगवान्‌का प्रिय अंश है और वे ही उसके यथार्थमें एकमात्र माता, पिता, रक्षक, पोषक, माया आदिसे रक्षा करनेवाले, परम सुहृद् और प्रियतर आदि हैं और उनकी विभूति यह

सृष्टि उनसे व्याप्त रहनेके कारण उन्हींका रूप है; जीवका कल्याण करनेके लिये सबके हृदयमें उन्हींका निवास है तथा अबतक जितनी भी हितकी प्राप्ति और अहितकी निवृत्तियाँ हुई हैं वे उन्हींकी कृपा हैं, तब साधकको ऐसा श्रद्धा-विश्वास होता है कि अनेक कालसे जिन श्रीभगवान्‌को उसने विस्मरणकर त्याग दिया था वे उसे मिल गये हैं। इस प्रकार श्रद्धा होनेपर श्रीभगवान्‌में रति अर्थात् प्रीति उत्पन्न होती है, जिससे वह श्रीभगवान्‌को भूलता नहीं और सदा उनमें अनुरक्त रहता है। ऐसा निरन्तर अनुरक्त रहनेपर भक्ति अर्थात् श्रीभगवान्‌के प्रति परम प्रेमकी उत्पत्ति होती है।

प्रेमका आविर्भाव होनेपर अहङ्कार और ममत्व दोनों लय हो जाते और तब साधक अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मातकको प्रेमोपहाररूपसे श्रीभगवान्‌को अर्पण कर देता है। ऐसे साधकके लक्ष्य केवल श्रीभगवान् होते हैं और इस संसारको भी वह केवल श्रीभगवान्‌से ही परिपूर्ण देखता है। उसका मन स्वाभाविकरूपसे सतत और अनन्यभावसे केवल एकमात्र हृदयस्थ श्रीभगवान्‌में आकृष्ट और संनिवेशित रहता है और वह जो कुछ करता, बोलता, सोचता और निश्चय करता है वह सब एकमात्र केवल अपने प्रियतम श्रीभगवान्‌के लिये ही करता है, जिनमें उसने उनके परम धन अपनी आत्माको भी अर्पण कर दिया है। यह आत्मारूपी धन श्रीभगवान्‌का ही है; अतः यह श्रीभगवान्‌में ही समर्पित होना चाहिये और श्रीभगवान्‌हीके निमित्त व्यवहृत होना चाहिये, अन्य प्रकार नहीं। जबतक ऐसा समर्पण नहीं

किया जाता, तबतक जीवात्मा मृगकी भाँति यहाँ-वहाँ केवल भटकता ही फिरेगा और उसको शान्तिपथ कदापि दृष्टिगोचर न होगा। प्रेम श्रीभगवान्‌की थाती है जो इसलिये दी गयी है कि श्रीभगवान्‌की विभूतिमें और श्रीभगवान्‌के परोपकारादि सेवाव्रतके आदेशके पालनमें व्यय होकर उसकी वृद्धि की जाय और परिवर्धित होकर फिर श्रीभगवान्‌को समर्पित हो। जो ऐसा न कर इस प्रेमको स्वार्थसाधनमें लगाता है, वह इसका दुरुपयोग करता है। उसमें इस प्रेमका शुद्ध स्वरूप कदापि प्रकट नहीं होता, केवल उसका छायामात्र आता है जिसे स्पृहा और आसक्ति आदि भी कहते हैं और जिसका अन्तिम परिणाम आनन्दके बदले क्लेश होता है। श्रीभगवान्‌के प्रति जो सच्चा स्नेह और अनुराग है वही प्रेम है, अन्यको प्रेम नहीं कह सकते। भक्ति-प्रेमके मुख्य पात्र केवल श्रीभगवान् ही हैं और श्रीभगवान्‌हीसे उसकी उत्पत्ति है, उन्हींसे इसकी स्थिति है और वही एकमात्र इसके लक्ष्य हैं। साधकके प्रगाढ़ अहैतुक प्रेमकी तुलना असम्भव है।

गायका प्रेम जैसे अपने बछड़ेमें रहता है जिससे कि चरने और घूमनेके समय दूर रहनेपर भी उसका चित्त बछड़ेहीमें लगा रहता है, अन्यत्र कदापि नहीं जाता। मृग जैसे नादके सुननेमें ऐसा व्यस्त हो जाता है कि उसको अपने शरीरकी भी सुधि नहीं रहती। पतंग जैसे दीपकपर आसक्त होकर उससे मिलनेके लिये प्राणतक दे देता है। मीऩ जैसे जलके बिना रह नहीं सकता और यदि पृथक् किया जाय तो प्राण त्याग देता है। लोभीका चित्त जैसे सर्वदा धनमें ही आसक्त रहता है और उसे निरन्तर

उसीकी धुन लगी रहती है। पनिहारिन जैसे जलसे भरे घटको सिर-पर लेकर चलती है और बातें भी करती जाती है, किन्तु अपनी सुरत (ध्यान) को पूर्णभावसे उस घटपर ही रखती है, जिसके कारण वह घट सिरसे कदापि नहीं गिरता। पपीहा जैसे सिवा स्वातीकी बूँदके दूसरा जल प्राणकी रक्षाके लिये भी ग्रहण नहीं करता। इसी प्रकार जब साधक तन्मयभावसे श्रीभगवान्‌का चिन्तन करता है और श्रीभगवान् तथा श्रीगुरुदेवकी कृपासे उसके पवित्र और निर्मल हृदयवाटिकामें विशुद्ध प्रेमपुष्पका पूर्ण विकास होता है जो कि श्रीभगवान्‌का प्रिय धन है और जब श्रीभगवान्‌को 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पितम्' के अहैतुकभावसे वाटिकासहित पुष्पको समर्पण करता है और दक्षिणामें अपनी आत्माको भी अर्पण कर देता है, तबसे वह श्रीभगवान्‌का हो जाता है। फिर वह जो कुछ करता, सोचता और बोलता है सब श्रीभगवान् और उनके कार्यकी साधनाके निमित्त ही करता है। अपनेको तो वह एकदम भूल ही जाता है और अहर्निश बिना विराम श्रीभगवान्‌में ही सब प्रकारसे प्रेमबद्ध रहता है, उनसे कदापि अलग नहीं होता। ऐसी अवस्थाको श्रीनारदजीने परम प्रेम कहा है और यही भक्तिका रूप है। इस प्रेमका वर्णन आगे भी होगा। श्रीमद्भागवतपुराणका वचन है—

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयं च तव पादरजःप्रपन्नाः॥

(१०।२९।३७)

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु
प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः ।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका
न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥
तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥
(१०।३०।३, ४३)

श्रीगोपीजन श्रीभगवान्‌से कहती हैं—'जैसे श्रीलक्ष्मीजी, जिनके कृपाकटाक्षकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मादि देवतागण तपस्या आदिद्वारा उद्योग करते हैं, उनका अनादर कर और तुम्हारे वक्षःस्थलमें सापत्न्यभावरहित स्थानको पाकर भी अपनी सपत्नी तुलसीके साथ भी बहुत सेवकोंद्वारा सेवित तुम्हारे चरणकमलके रजकी इच्छा करती हैं। उसी प्रकार हम भी उस चरणकी ही शरण आयी हैं। गोपियोंका उनके प्रिय श्रीकृष्णकी गति, हास्य, दर्शन और भाषण आदिकी ओर ही मन लगा हुआ था। इतना ही नहीं, किन्तु देह भी तन्मय हो रही थी और भी श्रीकृष्णके समान ही लीलाविहारका प्रारम्भ हो रहा था। श्रीकृष्णमें ऐसी तन्मय हुई कि वे श्रीभगवान्‌की प्रिय गोपियाँ, 'कृष्ण मैं ही हूँ' ऐसा परस्पर कहने लगीं। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ही जिनकी आत्मा हैं, ऐसी गोपियोंने भगवान् श्रीकृष्णके न मिलनेपर उन्हींमें मन लगाकर, परस्पर उन्हींकी वार्ता, उन्हींकी लीलाएँ और उन्हींके गुणोंका गान करते हुए अपने घरकी सुधि भी बिसार दी।'

भक्तिके अधिकारी कौन हैं ?

पहले कहा जा चुका है कि ज्ञान और योगकी अपेक्षा भक्ति श्रेष्ठ है और वह श्रीभगवान्‌की प्राप्तिका एकमात्र उपाय है। किन्तु इस ज्ञान और योगके यथार्थ अधिकारी भी बहुत थोड़े लोग हैं। ज्ञानके लिये विचक्षण बुद्धि और विद्याका बल होना चाहिये जिनकी प्राप्ति करनेकी योग्यता सबको नहीं होती और इनकी प्राप्तिका अवसर बीत जानेपर फिर इनका लाभ होना कठिन है। हठयोगके साधनके लिये उत्तम स्वास्थ्य, नवीन वय, ब्रह्मचर्य आदि नियम, उपयुक्त स्थान, उपयुक्त भोजन और सिद्ध गुरु आदिकी आवश्यकता है। किन्तु इन सबका एकत्र संयोग बड़ा ही कठिन है और प्राप्त होनेपर भी उक्त क्रियासे विशेष लाभ नहीं होता। ऐसी अवस्थामें यह भावना होनी स्वाभाविक है कि भक्तिका अधिकारी करोड़ोंमें कोई विरला ही पाया जायगा। परन्तु यदि ऐसा होता तो यह संसार श्मशानकी भाँति परम अमङ्गलरूप हो जाता, क्योंकि जहाँ श्रीभगवान्‌की भक्ति नहीं, वह स्थान अवश्य भयानक है। किन्तु करुणावरुणालय जगन्नियन्ता श्रीभगवान्‌को अनेकानेक धन्यवाद है जिसने अगोचर और अगम्य होनेपर भी जीवोंके हितके लिये साकार रूप धारणकर अपनेको गोचर और गम्य बनाया और ऐसा करके अपनी प्राप्तिके मार्गको सुगम और सुलभ कर दिया। ऐसा सुगम मार्ग रहते भी यदि हमलोग उसका अनुसरण नहीं करते और उसके अभावमें नाना प्रकारसे संतापित और पीडित हो रहे हैं, उसमें सोलह आने दोष हमलोगोंका ही है, क्योंकि श्रीभगवान्‌ने तो अपने मार्गको सुगम ही नहीं बनाया किन्तु सबपर विदित भी कर

दिया है । श्रीभगवान्‌ने इस सर्वोच्च भक्तिमार्गका सबको अधिकार दिया है, किसीको इससे वञ्चित नहीं रक्खा । इसमें जातिपाँतिका विचार नहीं—चाण्डालतकको अधिकार है, स्त्री-पुरुषका विचार नहीं, स्त्रीके लिये तो अधिक सुविधा है; आयुका विचार नहीं—बालक, वृद्ध, जवान सभी कर सकते हैं, इनमें भी बालक और वृद्धोंको तो किसी अंशमें कुछ सुभीता ही है; विद्या-बुद्धिका विचार नहीं—पण्डित और मूर्ख दोनों कर सकते हैं बल्कि संशयके अभावके कारण मूर्खके लिये कुछ सुभीता है; धनी और निर्धनका विचार नहीं—बल्कि गरीबके लिये सहज और सुलभ है; समय और स्थानका विचार नहीं—सब समय की जा सकती है और जङ्गल, पर्वत आदि निर्जन स्थानोंकी अपेक्षा (जहाँ रहना सर्व-साधारणके लिये कठिन है) ग्राम और नगर ही इसके लिये अधिक उपयुक्त हैं । इसके लिये अपने शरीरको अथवा दूसरेको क्लेश देनेकी आवश्यकता नहीं—क्योंकि श्रीभगवान् करुणासिन्धु हैं और करुणा-सिन्धु अपनी प्राप्तिके लिये क्लेशका उपहार कदापि नहीं चाहते । इसके लिये सामग्रीकी आवश्यकता नहीं क्योंकि यह खरीदनेकी वस्तु नहीं है । किन्तु यह बात अवश्य है कि चित्तमें इसकी थोड़ी-सी भी स्फूर्त्ति आनेपर अपना सौभाग्य समझ इसका अनुसरण करनेमें तत्काल प्रवृत्त हो जाना चाहिये और विलम्ब कदापि नहीं करना चाहिये । बीज बीजावस्थामें सुरक्षित रहता है किन्तु उसके अंकुरित होनेपर यदि उसकी रक्षा और पुष्टि नहीं की जाती तो वह मुरझा जाता है । वही अवस्था यहाँ भी है । यह शरीर क्षण-भंगुर है, इसके जीनेका एक क्षणके लिये भी निश्चय नहीं । थोड़े

भी अमृतके मिलनेपर जो शीघ्र उसका पान न कर उसे रख देता, जिसके कारण वह उसको फिर प्राप्त नहीं भी कर सकता है, वह जैसी मूर्खता करता है उसी प्रकार भक्तिमें विलम्ब करना है। अब यहाँ भक्तिका अधिकार सबोंको होनेके विषयमें कुछ प्रमाण दिये जाते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९। ३२)

'हे अर्जुन ! मेरा आश्रय पाकर तो जो लोग निकृष्ट श्रेणीमें जन्म लेनेवाले तथा जो स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र हैं, वे भी उत्तम गति पा जाते हैं। और भी लिखा है—

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः॥
(नारदसूत्र ७२)

आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते।
(शाण्डिल्य-सूत्र)

भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियाके भेदका विचार नहीं है। श्रीभगवान्‌की भक्तिमें निन्दित योनि (चाण्डालादि) तक सभीको अधिकार है। और भी—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किन्तत् सुदाम्नो धनम्।
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किम्पौरुषं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

'व्याधका क्या आचरण था? ध्रुवकी क्या आयु थी? गजेन्द्रकी क्या विद्या थी? कुब्जाकी क्या सुन्दरता थी? ब्राह्मण सुदामाके पास क्या धन था? विदुरका क्या वंश था? यादवपति उग्रसेनका क्या बल था? (तो भी श्रीभगवान्‌ने उन लोगोंके प्रति विशेष कृपा दिखलायी।) इससे सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् भक्तिके भूखे हैं, भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं, गुणोंसे नहीं।' मनुष्यका तो कहना ही क्या भक्तिके अधिकारी तो पशु, पक्षी आदि भी हैं। श्रीमद्भागवतका वचन है—

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा॥
(११। १२। ८)

'श्रीभगवान् कहते हैं कि केवल भावसे ही गोपी, गौ, यमलार्जुन आदि वृक्ष, मृग और जो दूसरे मूढबुद्धि कालियादि सर्प थे वे भी अनायास ही मुझे पाकर कृतार्थ हो गये।' इसमें एक विशेषता और भी है, वह यह है कि इसकी प्राप्तिके लिये कोई नियत समय नहीं है। हो सकता है सात दिनहीमें इसका पथ मिल जाय, जैसा परीक्षितको हुआ अथवा अनेकों जन्म लग जायँ। अनेक साधनाओंमें प्रायः ऐसा होता है कि यदि वे सिद्धि होनेसे पहले रुक जायँ तो तबतक किये हुए सब कर्मोंका प्रभाव बहुत कुछ नष्ट हो जाता है। किन्तु भक्तिमें ऐसा नहीं है। इसकी किसी साधनाका ह्रास कदापि नहीं होता। किन्तु आजकल बहुत लोगोंकी ऐसी धारणा है कि व्यवहार और परमार्थ एक साथ नहीं निभ सकते अर्थात् वे परस्परविरोधी हैं। क्या वास्तवमें भक्ति और व्यवहार परस्परविरोधी हैं। क्या भक्तिद्वारा किसी भी व्यवसायमें

बाधा पड़ सकती है ? अथवा किसी व्यवसायके कारण भक्तिमें रुकावट आ सकती है ? इनका एकमात्र उत्तर यही है कि भक्ति न तो किसी व्यवसायको बाधा देती है और न स्वयं किसी व्यवसायसे बाधित होती है। इतना ही नहीं, प्रत्युत भक्तिका सहयोग तो प्रत्येक व्यवसायके साथ होना चाहिये, क्योंकि जो व्यवसाय भक्तिविहीन और भगवद्विमुख होकर किया जाता है उसमें यथार्थ सफलता और उससे शान्ति कदापि प्राप्त नहीं हो सकती और उसका परिणाम अवश्य बहुत ही शोचनीय होता है। वही व्यवसाय मंगलजनक है जो भक्तियुक्त होकर किया जाय। यथार्थ व्यवसाय वही है जिसका सम्पादन कर्तव्यपालन, लोक और समाजके हितके लिये आवश्यक है, अन्य नहीं। इस प्रकार क्योंकि व्यवसायकी पूरी सफलता भक्तिपर निर्भर है और बिना भक्तिका व्यवसाय हानिप्रद है इसलिये भक्तिके तात्पर्यका विचार करना आवश्यक है, सो अब संक्षेपमें उसका विचार किया जाता है।

भक्तिका तात्पर्य

(व्यवहारमें भी आवश्यकता)

पहले भक्तिका कुछ तात्पर्य दिखलाया जा चुका है किन्तु विषयकी गम्भीरताके कारण और व्यवहारमें उसकी उपयोगिता दिखलानेके कारण यहाँ संक्षेपमें उसका दोबारा लिखना आवश्यक है। संसारमें जितने मनुष्य हैं वे सब श्रीभगवान् सच्चिदानन्दके चेतन अंश हैं तथा नामरूपात्मक बाह्य जगत्के सब दृश्यमान पदार्थ गुणमयी प्रकृतिके विकार और जड हैं। इस जड-चेतन-सम्बन्धसे श्रीभगवान्का उद्देश्य यह है कि चैतन्य जीवात्मा अपनी प्राकृतिक उपाधिके

दोषोंका पराभव कर उन्हें शुद्ध बनावे, और अपने वशमें करे ताकि श्रीभगवान्‌के आनन्दादि भाव और शक्तियोंका, जो जीवात्मामें निहित हैं, उपाधिके शुद्ध होनेपर उनके द्वारा बाह्यरूपमें भी प्रकाश और विकास हो तथा जीवात्मा अपनी सब शक्तियोंको *श्रीभगवान्‌के प्रीत्यर्थ* कार्य करनेमें और उनकी इच्छापूर्तिमें समर्पणकर श्रीभगवान्‌की ओर क्रमशः अग्रसर होता जाय और अन्तमें आनन्दके सागर श्रीभगवान्‌में लीन हो जाय। जिस शक्तिके बलसे यह उद्देश्य सिद्ध होता है और प्रकृतिका पराभव होता है वह भगवद्भक्ति है और उसका अन्य नाम प्रेम है। धर्म इसीका एक अङ्ग है। मायाका पराभव केवल इस भक्तिकी शक्तिसे ही है, अन्य किसी प्रकार नहीं। (गीता अ० ७। १४) जो लोग श्रीभगवान्‌की इस शक्तिका आश्रय नहीं लेते वे जड प्रकृतिकी भुलावेमें पड़कर लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर क्लेश उठाते हैं, क्योंकि जड प्रकृतिमें केवल आनन्दका, अभाव ही नहीं है किन्तु वह विरुद्ध गुणवाली और दुःखदायिनी है। जड प्रकृति, शुद्ध और वशमें होनेपर, तो दासीकी भाँति जीवात्माकी बहुत बड़ी सहायता करती है, किन्तु यदि इसके विरुद्ध जीवात्मा ही रजस्तमोमयी प्रकृतिके वशमें हो जाय तो वह इसको विषय-भोगमें फँसाकर बहुत ही क्लेश देती है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। यह बात स्वयंसिद्ध है कि इस संसारके सब जीवोंका लक्ष्य केवल आनन्दकी प्राप्ति है और जो कुछ वे करते हैं वे सब इसीके लिये करते हैं। यहाँतक कि वे इसीके लिये जीते हैं और इसीके लिये मरते हैं। इस विषयपर विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। अतः मनुष्यमात्र-

का यह कर्तव्य है कि उस आनन्दकी प्राप्तिके लिये वह श्रीभगवान्‌की भक्तिका अनुसरण करे। इस भक्तिकी मात्रा जितनी बढ़ेगी, उतनी ही आनन्दकी वृद्धि होगी।

पहले कहा जा चुका है कि सब जीव ईश्वरकी इच्छाके अनुसार उसीकी ओर जा रहे हैं और जो कोई इसके विरुद्ध चलकर प्रकृतिमें फँस जायगा उसको भी कर्मका दुःखरूपी थप्पड़ लगकर होशमें आनेपर फिर अपने लक्ष्यकी ओर आना ही पड़ेगा किन्तु इस प्रकार अपने लक्ष्यपर पहुँचनेमें उसे विलम्ब होगा और तरह-तरहके दुःख भोगने होंगे। शोक है कि हमलोग इस आनन्दको इसके मिलनेके स्थानमें न खोजकर प्रकृतिके पदार्थोंमें खोजते हैं, जहाँ इसका वास कदापि नहीं है। इसका परिणाम यह होता है कि इस जगत्‌में अनेक परिश्रम, बड़े कष्ट, वृहत् पुरुषार्थ, लम्बी कूद-फाँद, गम्भीर चिन्ता और अनेक प्रकारके व्यय आदि किये जानेपर भी कहीं शान्ति-देवीके दर्शन नहीं होते वरं सर्वत्र हाहाकार ही दीख पड़ता है। सब-के-सब व्यग्र और पिपासित होकर मायारूपी मृगतृष्णाकी ओर दौड़ रहे हैं, किन्तु शान्तिजल नहीं मिलता। संसारमें अनेक प्रकारके व्यवसाय किये जाते हैं, करोड़ों रुपये भी एकत्रित होते हैं, बड़े-बड़े विशाल भवन भी बनते हैं, भोग-सामग्रियोंका तो पारावार ही नहीं है, पर ऐसा एक आदमी भी नहीं देखा जाता जिसने इनमें शान्तिरूपी अमृतका पान किया हो और यथार्थमें सुखी हो, इसके विरुद्ध यह तो देखनेमें आता है कि इन पदार्थोंके भक्तोंपर मायादेवीकी जितनी ही अधिक कृपा होती है उतने ही उसकी चिन्ता और क्लेश बढ़ते

जाते हैं। विचारनेपर जान पड़ेगा कि ऊँचे-ऊँचे पदोंवाले, बड़े धनवान्, बड़ी बुद्धिवाले, बड़े बलवान्, बड़े पदार्थोंवाले और बड़े भूमिवाले भी कदापि शान्तिलाभ नहीं करते, वरं उनमें तृष्णाकी अधिक वृद्धि हो जानेके कारण वे बड़े ही चिन्तित और उद्विग्न रहते हैं। सत्य यह है कि भोगसे वासनाकी शान्ति न होकर उसकी वृद्धि होती है। बड़े लोगोंका बाह्याडम्बर बाहरसे भड़कीला रहनेपर भी यथार्थमें सार-शून्य होता है। किसी कार्यका गुण-दोष उसके तात्कालिक फलसे नहीं जाना जा सकता किन्तु जो उसका अन्तिम परिणाम है वही उसकी असल कसौटी है। पर शोक है कि आजकलके लोग सांसारिक कार्योंके तात्कालिक लाभको ही उन्नतिका रूप मानते हैं और परमार्थकी अवज्ञा करते हैं। यह उनकी बड़ी भूल है, क्योंकि प्रकृति स्वयं क्षणभंगुर और अस्थायी है अतएव इसके सब कार्य परिवर्तनशील और नाशवान् हैं। जो व्यक्ति अथवा जाति केवल प्राकृतिक (सांसारिक) उन्नतिको ही अपना लक्ष्य बनावेगी वह अवश्य धोखा खायगी और विपत्तिमें पड़ेगी। प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास भी इसका साक्षी है। जब-जब श्रीभगवान् और उनके आदेशके विरुद्ध आचरणकी अधिकता होती है तब-तब ही जनध्वंसकारी समर, प्लेग, बाढ़, दुर्भिक्ष, अग्निकाण्ड और महामारी आदि महान् उत्पात होते हैं और कभी-कभी अनेकों जातियाँ नष्ट हो जाती हैं। पूर्वकालमें भी पाश्चात्त्य देशोंमें अनेक सभ्यताएँ बहुत ऊँची उठ गयी थीं, जैसा कि इजिप्ट (मिश्र), बैबीलोन, एसीरिया, रोम, ग्रीक, फोनीशिया आदि। किन्तु उनकी उन्नति केवल पार्थिव (प्राकृतिक) होनेके

कारण और उसका मूल धर्मशून्य होनेके कारण वे समस्त जातियाँ अपनी सभ्यतासहित नष्ट हो गयीं, क्योंकि प्रकृति स्वयं सदा परिवर्तनशील है और कदापि एकरूपमें नहीं रह सकती। भारतवर्षकी सभ्यता जो इन सभ्यताओंसे बहुत ही प्राचीन है और उनके प्रारम्भसे भी बहुत पहलेसे चली आती है इसके अबतक जीवित रहनेका और अपनी छोटी बहिनोंकी भाँति नष्ट न होनेका रहस्य यही है कि भारतवर्षकी सभ्यताकी भित्ति केवल पार्थिव न होकर परमार्थ है और इसका लक्ष्य परमात्मा हैं। परमात्मा सत्य और आनन्दरूप हैं, अतएव उनकी ओर जानेकी जितनी चेष्टा की जायगी और जितना मार्ग अतिक्रम होगा, वह कदापि व्यर्थ नहीं होगा। हमलोग जितना ही उनके निकट पहुँचेंगे, उतना ही अधिक यथार्थ समृद्धि और आनन्दकी प्राप्ति होगी तथा मायिक दुःखोंकी निवृत्ति होगी। गुणमयी प्रकृति स्वयं असत्य और मृगतृष्णाकी भाँति है; जो लोग इसे अपना लक्ष्य बनावेंगे, वे अवश्य धोखा खायँगे और अन्तमें हताश होकर अवश्य दुःखसागरमें मग्न होंगे। अतएव सभीको विशेषतः भारतवासियोंको (जो पाश्चात्त्य सभ्यताकी बनावटी चमकदमकको देखकर और उसपर मुग्ध होकर अपनी प्राचीन रीतिनीति और आदर्शको बड़े वेगसे त्याग रहे हैं) अवश्य शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। कई समय अनेक स्थानोंमें अनेकों बार धर्मविहीन पार्थिव उन्नतिको मुख्य लक्ष्य मानकर उसकी प्राप्तिके लिये अनेक चेष्टाएँ और आयोजनाएँ की गयी हैं, किन्तु अन्ततोगत्वा सब विफल ही हुईं। वर्तमान समय कलियुगमें तो केवल इस पार्थिवताकी ही प्रधानता है, किन्तु इसका शोचनीय

फल प्रकट है। पूर्व समयमें जैसे कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें, जब भगवद्भक्ति प्रधान थी, लोग कैसे सुखी थे और दुःखका प्रायः अभाव-सा ही था। इस प्रकार विचारनेसे जान पड़ेगा कि सांसारिक सुखके यथार्थ कारण धर्म और भक्ति ही हैं। अतएव ऐसा समझना कि विना धर्म और परमार्थकी परवा और रक्षा किये तथा भगवान्की शरण हुए केवल धर्मविरुद्ध सांसारिक कार्यों और व्यवहारोंद्वारा सांसारिक उन्नति हो सकती है तथा स्थायी सुख-सम्पत्ति मिल सकती है, सर्वथा भूल है। यह सांसारिक घटनाओंपर विचार करनेसे भलीभाँति सिद्ध हो जायगा। ऐसे प्राकृतिक लाभोंसे थोड़े दिनोंके लिये उनकी चमकदमकके कारण बालक्रीड़ाके समान भले ही कुछ तृप्ति हो जाय किन्तु वह निःसार होनेके कारण कदापि नहीं ठहरेगी और अन्तमें अवश्य धोखा होगा, उसका अन्तिम परिणाम दुःखद और शोकप्रद होगा। संसारमें जो इतनी बड़ी हिंसा, द्वेष, हत्या, मारपीट, चोरी, डकैती, लूट, छीनछान, झूठ, छल, प्रपञ्च, पाखण्ड, कपट, धोखेबाजी, अन्याय, अत्याचार, काम, क्रोध, लोभ आदि भयानक दुर्गुण और दुर्व्यसन देखे जाते हैं और सभ्यता एवं उन्नतिके नामसे नानारूपमें अच्छे और आवश्यक भी समझे जाते हैं, वे सब केवल धर्म और परमार्थकी अवज्ञा, भगवद्विमुखता और केवल मायादेवीकी उपासनाका ही परिणाम है जो वस्तुतः संसारके महाघोर कष्टका कारण है। केवल भक्ति ही इनके और इनसे उपजे क्लेशोंके दूर करनेका एकमात्र उपाय है। संसारमें जितनी दरिद्रता, रोग, शोक, चिन्ता, अन्नादि कष्ट और अशान्ति आदि पायी जाती हैं,

वे सब भी भक्तिकी अवहेलना और केवल जड प्रकृतिदेवीके अनुसरण करनेके ही फल हैं । अतएव जबतक भक्तिदेवी (पराप्रकृति) का अनादर होता रहेगा और उनके स्थानमें केवल मायादेवीकी पूजा होगी तबतक संसारके कष्टोंकी कभी कमी नहीं होगी । और न कभी सुख-शान्तिका राज्य ही आवेगा, यही कारण है कि आर्य-ऋषिगणने परमार्थ और व्यवहारको कदापि भिन्न-भिन्न नहीं माना और दोनोंको एक समझ इसीको आर्यजाति-की समाजनीति और आचरणकी भित्ति बनाया, जिसके कारण लोगोंके भोजन, शयन, पठन, पाठन, गमन, धनोपार्जन, विहार और व्यवहार आदि सब-के-सब धर्मके अन्तर्गत ही हैं । ये धर्मसे बाह्य कदापि नहीं हैं । आर्यसभ्यताकी उन्नतिका धर्म सर्वोच्च मूल मन्त्र था, जिसे वर्तमान कालमें भूल जानेसे सुखशान्तिके स्थानमें भयानक दुर्दशा उपस्थित हो गयी है । आजकलके अधिकांश लोगोंने तो परमार्थ और भक्तिका एकदम लोप ही कर दिया है, जिसके कारण परमार्थ और व्यवहारकी एकताकी चर्चा उन लोगोंके लिये हास्यास्पद है ।

हमलोगोंकी वर्तमान दुर्दशाके सुधार और सुखशान्तिके राज्यकी स्थापना करनेका एकमात्र उपाय यह है कि हम अपने पूर्वजोंकी भाँति परमार्थ (भक्ति) को मुख्य मानें और सांसारिक व्यवहारोंमें भी मायादेवीके मोहसे विवेकशून्य न होकर भक्तिकी दिव्यदृष्टिसे धर्म और परमार्थकी रक्षा करें और दोनोंका पालन साथ-साथ किया करें । ऐसा करनेहीसे व्यवहारमें यथार्थ सफलता प्राप्त होगी और आनन्द तथा शान्तिरूपी अमृतफल मिलेंगे जो

केवल कर्मकर्ताहीको सन्तुष्ट न करेंगे किन्तु विश्वमात्रको तृप्त करेंगे। इसी कारण भक्तिके अधिकारियोंके वर्णनमें कहा गया है कि सब व्यवसायियोंको इसका आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि यह बात निश्चित है कि वस्तुतः वही व्यवसाय सफल और स्थायी होगा जो श्रीभगवान्‌की भक्तिके भावसे विधिवत् किया जायगा, और जो इसके बिना किया जायगा उसका फल तात्कालिक दृष्टिमें कैसा ही सुहावना क्यों न हो, उसका परिणाम तो अवश्य क्लेश और कष्ट ही होगा। 'यतो धर्मस्ततो जयः' का सिद्धान्त सब काल और सब स्थानोंके लिये अविचल और अखण्ड है। सब व्यवसाय भगवद्भक्तिकी छायामें अर्थात् श्रीभगवान्‌का कार्य समझ उचित रूपसे उन्हींके लिये करनेसे ही उत्तम, प्रिय और सुखद होगा; किन्तु इससे विपरीत ढंगसे करनेसे वह अप्रिय और परिणाममें भी भयावह होगा। प्राचीन कालमें राजा जनक, राजा अम्बरीष, तुलाधार (जो केवल लकड़ी बेचा करते थे), धर्मव्याध, राजा युधिष्ठिर, भीष्म, प्रह्लाद, राजा परीक्षित, राजा पृथु और अर्जुन आदि भक्तगण सांसारिक व्यवहारमें पूरा प्रवृत्त रहते थे; किन्तु वे व्यवहारको भी परमार्थका अंग मानकर भक्तिभावसे भगवत्प्रीत्यर्थ ही सम्पादन करते थे, जिसके कारण व्यवहार भी बड़ी उत्तमतासे करते थे और उसका बड़ा ही उत्तम फल मिलता था और साथ-साथ परमार्थ और भगवत्कृपाका भी लाभ होता था। उनके व्यवहारसे उनको और उनके परिवारको ही नहीं बल्कि सारे संसारको भी बड़े उत्तम फल मिले, जो बिना भक्तिभावके करनेसे कदापि सम्भव नहीं था। आधुनिक कालमें भी गृहस्थ भक्तोंमें यही शैली

रही और इसी शैलीका अनुसरण सबको करना चाहिये। श्रीमद्भागवतका वचन है—

> **गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम्।**
> **मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः॥**
> (४।३०।१९)

'(श्रीभगवान् कहते हैं) जिनका समय मेरी कथामें ही बीता है और जिनके कर्म मुझे ही समर्पण होते हैं, वे पुरुष यदि गृहस्थ हों तब भी उनका वह गृहस्थाश्रम उनके बन्धनका कारण नहीं होता है।' चूँकि बिना विषय-वैराग्यके धर्म अथवा भक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती, अतएव इस विषयका बार-बार वर्णन आवश्यक है।

भक्तिकी सर्वव्यापकता

इस ग्रन्थके प्रारम्भमें जिस भक्तिका वर्णन है वह अहैतुकी है जो कर्म, अभ्यास और ज्ञानयोगके साधनसे प्राप्त होती है। तथा जिसका यहाँ उल्लेख किया गया है वह साधनभक्ति है अर्थात् भक्तिकी प्रारम्भिक साधनाकी अवस्था है, जिसकी प्राप्ति करनेपर ही अहैतुकी भक्ति प्राप्त होती है। अतएव इसकी साधनाके सभी अधिकारी हैं। इन कर्म, अभ्यास और ज्ञानयोगमेंसे किसी एकके मुख्य साधनकालमें गौणरूपसे अन्य योग भी रहते हैं; किन्तु भक्तियोग तो अन्तिम लक्ष्य और सब साधनाओंका प्राण होनेसे सबका आधार ही है; अतएव यह सबमें है। कर्म भक्तिमार्गका पाँव है, अभ्यास उदर है, ज्ञान मस्तिष्क है और

यह (भक्ति) सबसे ऊँचा स्वयं हृदय है। बिना भक्तिके अर्थात् बिना श्रीभगवान्‌को लक्ष्यमें रक्खे कर्म, अभ्यास और ज्ञान सभी व्यर्थ हैं। यथार्थमें प्रारम्भिक साधना भक्तिभावसे ही प्रारम्भ होनी चाहिये क्योंकि सब साधना इसीमें समाप्त होती है। बिना भक्ति-भावके आये किसी साधनामें सफलता हो नहीं सकती और इस भावके आनेपर साधकमें अन्य आवश्यक साधना और उसकी योग्यता भी आ ही जाती है। किसी भी साधनासे बिना भक्तिके जो परिणाम हो सकता है उससे कहीं अधिक वही उसी साधनाको भक्तिभावके साथ करनेसे होना सम्भव है। सभी मार्गोंकी अर्थात् कर्म, अभ्यास, ज्ञान और भक्तिकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—प्रारम्भ, मध्य और अन्तिम लक्ष्य। अतएव इन सबके प्रारम्भ, मध्य और अन्तिम लक्ष्य लगभग एक रंगके अर्थात् मिलते-जुलते होते हैं, किन्तु उद्देश्य आदिका भेद अवश्य रहता है। कर्मकाण्डकी प्रारम्भिक अवस्था सकाम कर्म है जिसका उद्देश्य स्वर्गप्राप्तिके लिये देवताओंकी तुष्टि है; इसके बाद अभ्यास-योगकी प्रारम्भिक अवस्था आती है। वह एक प्रकारका सकाम कर्म ही है, किन्तु उसका लक्ष्य अपने शरीरके भीतरकी शक्तियोंका विकास करना है। इसका परिवर्तन होकर ज्ञानकी प्रारम्भिक अवस्था आती है जिसका लक्ष्य मोक्षकी प्राप्ति है किन्तु वह भी सकाम ही है और अन्तमें भक्तिकी प्रारम्भिक अवस्थाका आरम्भ होता है। वह वैधी भक्ति भी सकाम ही होती है, किन्तु उसका लक्ष्य सबको छोड़कर केवल श्रीउपास्यदेव ही रहते हैं अन्य नहीं। इस प्रकार प्रारम्भिक साधनाकी समाप्ति होनेपर मध्य अवस्थाकी साधनाका प्रारम्भ होता है। कर्ममार्गकी मध्य अवस्था कर्तव्यकी

दृष्टिसे कर्म करना है, अभ्यासकी मध्य अवस्था मनोनिग्रह है, ज्ञानकी आत्माका मनन और निदिध्यासन है और भक्तिकी उपास्य-देवके नामका निष्काम जप और ध्यान है। कर्ममार्गकी अन्तिम अवस्था श्रीभगवान्के निमित्त कर्म करना है, अभ्यासकी मनको समाहित और उपशमकर श्रीभगवान्में संनिवेशित करना है, ज्ञानकी स्वस्वरूप जीवात्मामें स्थिति पाना है और भक्तिकी जीवात्मा-को परमात्मामें अर्पणकर अपने स्वार्थको मिटाना है और उपास्यदेव-के साथ युक्त हो जाना है। चूँकि भक्ति अन्तिम लक्ष्य है, अतएव सब मार्ग इसमें वर्तमान रहते हैं और यह मार्ग सब मार्गोंमें वर्तमान रहता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। कर्मकाण्डोक्त देवार्च-नादि भी परिणाममें श्रीभगवान्को ही प्राप्त होते हैं (गीता ७ । २१ और ९ । २३-२४) जो उसके यथार्थ फलदाता हैं। अभ्यास-योगकी सिद्धि भी भगवत्कृपापर ही अवलम्बित है और ईश्वरप्रणिधान ही उसका मुख्य साधन भी है। ज्ञानके दाता भी श्रीभगवान् हैं (गीता १० । १०)। इसी कारण भक्तिमें सब मार्ग निहित हैं। 'सर्वे पदाः हस्तिपदे निमग्नाः' इसके प्रारम्भमें कर्ममार्ग है, मध्यमें अभ्यासमार्ग और अन्तमें विज्ञान एवं परमबोध है जो पराभक्ति भी कहलाता है। किन्तु भक्तिमार्गके सभी भेदोंके लक्ष्य केवल श्रीउपास्यदेव रहते हैं अन्य नहीं। जैसे सृष्टि श्रीपरमात्मासे प्रारम्भ होकर परमात्मामें ही लीन होती है, उसी प्रकार सब साधनाका प्रारम्भ भी भक्ति है और लक्ष्य भी भक्ति ही है। भक्तिका सब कोई अधिकारी इसलिये है कि भक्ति जीवका स्वरूप और धर्म है और ईश्वरपर निर्भर होना जीवात्माका स्वभाव है जो भक्तिका बीज है। नास्तिक

भी, जिसने जन्मभर ईश्वरका खण्डन किया है यदि अकस्मात् घोर विपत्तिमें पड़ता है तो ईश्वरकी सहायताके लिये प्रार्थना करने लगता है, इससे सिद्ध होता है कि ईश्वरके सम्बन्धका ज्ञान जीवात्माके अभ्यन्तरमें अवश्य वर्तमान रहता है, यद्यपि ऊपरसे भले ही वह कुछ विकृत हो गया हो। दुःखमें प्रायः सबका चित्त ईश्वरकी ओर जाता है और संकटमें पड़कर ईश्वरसे प्रार्थना करना स्वाभाविक है। इस प्रकार भी सकाम भक्तिका प्रारम्भ हो जाता है। गीताका वचन है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

(७। १६)

'हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! पुण्यवान् जन मुझको चार प्रकारसे भजते हैं—दुःखमें पड़कर, जिज्ञासु होकर, अर्थ (धन) की चाहनासे और ज्ञानी होकर।' यह श्लोक सिद्ध करता है कि भक्ति सब प्रकारके लोगोंके लिये है। श्रीभगवान्‌की चाह होनेपर कोई भी व्यक्ति भक्तिसे वञ्चित नहीं रह सकता। इसके सिवा यह भी समझना चाहिये कि जैसे सकाम भक्ति प्रारम्भिक साधना है वैसे ही निष्काम भक्ति अन्तिम लक्ष्य है, क्योंकि ज्ञानीको भी इस भक्तिकी आवश्यकता होती है। कोई भी मनुष्य दुःखसे छूटने, भयसे निकलने, अपनी आवश्यकताकी पूर्ति करने, चित्तकी शान्ति प्राप्त करने अथवा किन्हीं अन्य कारणोंसे यदि श्रीभगवान्‌को स्मरण करेगा और यह निश्चय रखेगा कि केवल भगवान् ही उसके ऐसे-

ऐसे मनोरथको पूर्ण कर सकते हैं अन्य कोई नहीं, तथा ऐसा समझकर केवल श्रीभगवान्‌को अपना लक्ष्य बनावेगा और मनोरथकी पूर्तिमें विलम्ब होनेपर भी कदापि संशयमें नहीं पड़ेगा, किन्तु अपने निश्चयमें दृढ़ ही रहेगा—उससे कदापि विचलित नहीं होगा, तो वह अवश्य कभी-न-कभी श्रीभगवान्‌की प्राप्ति कर लेगा और प्रारम्भमें सकामभाव रहनेपर भी उसमें निष्कामभाव और अन्य आवश्यक साधनाएँ आ जायँगी। श्रीहरि भगवान्‌में सदा लगे रहना चाहिये, उनसे कदापि पृथक् नहीं होना चाहिये। यही वृत्ति भक्तिमार्गका प्रारम्भ है।

भक्तिके उपास्य देव

यथार्थ भक्ति और प्रेम वही है जिसके लक्ष्य प्रेमके परमकारण श्रीभगवान् हैं। लोगोंकी भिन्न-भिन्न रुचि और स्वभावके कारण भिन्न-भिन्न उपास्योंकी आवश्यकता है, क्योंकि एक उपास्य नाना प्रकारके स्वभाववाले साधकके अनुकूल हो नहीं सकते। इसी कारण श्रीभगवान्‌ने अनेक रूप धारण किये हैं, ताकि साधकगण अपनी रुचिके अनुकूल उपास्यको अपना इष्टदेव बना सकें। प्रत्येक मनुष्यको किसी ऐसे उपास्य देवको अपना इष्ट बनाना चाहिये, जिनके लिये उसका स्वाभाविक प्रेम हो और जिनके प्रति उसका हृदय स्वभावतः आकर्षित होता हो। विशेषकर साधकोंके हितके लिये ही इन उपास्य देवोंने नाना प्रकारकी लीलाएँ कीं और अपने परमपावन चरित्रको प्रकाशित किया; ताकि उनका मनन करनेसे उपास्य देवके प्रति भक्ति और प्रेमकी उत्पत्ति हो। जिस उपास्य देव-

के रूप, गुण और यश जिस साधकको रुचें और हृदयग्राही हों, उसी उपास्य देवको उसे ग्रहण करना चाहिये। इष्टदेव साधकके आदर्श होते हैं क्योंकि उनके दिव्य गुण उसके हृदयको आकर्षित करते हैं और इस कारण जिनकी प्राप्तिकर वह अपनेको कृतकृत्य समझेगा।

एक अद्वितीय परम परात्पर परमात्मा, महेश्वर अनेक रूप धारण करता है और वह अपनी शक्तिसे युक्त होकर सृष्टिका मूलकारण होता है और फिर वहाँसे सृष्टिका प्रारम्भ होता है। तीन भाव देखनेमें आते हैं—प्रथम गुणातीत निराकारभाव। दूसरा चिन्मयी शक्तियुक्त सगुणभाव। यह दूसरा भाव त्रिमूर्ति अर्थात् प्रजापति, महाविष्णु और सदाशिवरूपमें प्रकट होता है और ये त्रिमूर्ति अपनी-अपनी शक्तिसे युक्त होकर सृष्टिका तीन प्रकारसे कारण होते हैं। तीसरा विश्वरूप विराट्भाव है। दूसरे सशक्ति साकारभावसे यह विश्वरूप प्रकट होता है और त्रिदेव अपने एक अंशसे इस विश्वमें वास करते हैं अर्थात् वे विश्वरूप हो जाते हैं। प्राकृतिक विराट् विश्वरूपके भीतर वे शक्तिसहित निवासकर इसका क्रमशः उद्भव करते हैं। त्रिदेवमें प्रजापतिका कार्य सृष्टिका ढाँचा बनाना और नाना पदार्थोंकी रचना करना है किन्तु यह कार्य समाप्त हो गया। सृष्टिको सात अथवा चौदह लोकोंमें विभक्त करना प्रजापतिका मुख्य कार्य था, वह सबसे प्रथम हुआ और समाप्त हो गया। अब ब्रह्माका प्रधान कार्य जारी नहीं है। सशक्ति महाविष्णु और सदाशिवका कार्य धारण और पालन और परिवर्तन-द्वारा पुनः सङ्गठन है जो बराबर जारी है। जीव और जीवात्माके

लिये जितने आकार, शरीर, उपाधि आदि भिन्न-भिन्न लोकोंमें हैं उनका धारण, पालन और परिवर्तनकर उनका पुनरुद्भव करना तथा जीवात्माका शरीरोंमें आना, निवास करना और उत्पन्न होना ये सब कार्य सशक्ति महाविष्णु और सदाशिवके हैं। इस विषयका विशेष वर्णन करनेके लिये यहाँ स्थान नहीं है। प्रजापतिका मुख्य कार्य समाप्त होनेके कारण वे आजकल उपास्य देव नहीं हो सकते। इस समय केवल सशक्ति महाविष्णु और सदाशिव उपास्य देव हैं, क्योंकि इन दोनोंके कार्य संसारमें अबतक चालू हैं। शक्ति, इन उपास्य देवोंसे अभिन्न होनेपर भी प्रधान है, क्योंकि सृष्टिके सब कार्य शक्तिसे ही होते हैं। अतएव तीन उपास्य मुख्य हैं—शक्ति, शिव और विष्णु। शिवके रूप गणेश और विष्णुके रूप सूर्य हैं। इन दोनोंके कार्य भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। श्रीगणेश विद्या और बुद्धिके दाता हैं जो परमावश्यक है और सूर्यदेव संसारको प्रकाश एवं भौतिक शक्ति प्रदान करते हैं अतएव पाँच मुख्य उपास्य देव हैं—शक्ति, शिव, गणेश, विष्णु और सूर्य। फिर इनमेंसे एक शक्तिके ही नाना रूप हैं; जिनमेंसे उपासकगण अपनी-अपनी रुचिके अनुसार किसी एक रूपको ग्रहण कर सकते हैं।

उपासकोंके सुभीतेके लिये श्रीसदाशिवके भी भैरव, बटुक और बाल-योगीश्वर आदि अनेक रूप हैं। श्रीमहाविष्णुके श्वेत-द्वीपवासी विष्णु, शेषशायी विष्णु, वैकुण्ठवासी विष्णु, नृसिंह, साकेतवासी भगवान् रामचन्द्र, गोलोकवासी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आदि बहुत-से रूप हैं जिनमें उपासक अपनी रुचिके अनुसार किसी एकको उपास्य देव बना सकता है। ये सब उपास्य देव

यथार्थमें एक हैं और इनमें कोई भेद नहीं है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि ये सब एक परात्पर गुणातीत ब्रह्मके सगुण-व्यक्तभाव और प्रकाश हैं। और इस कारण भिन्न-भिन्न होनेपर भी एक ही हैं। अतएव इनमें छोटेपन-बड़ेपनकी कुछ भी भावना करनी असत्य और पापमयी है। ये पाँच यथार्थमें तीन ही हैं, क्योंकि श्रीगणेश श्रीशिवके रूप हैं और सूर्य श्रीविष्णुके। तीन मुख्य उपास्योंमें अर्थात् शक्ति, शिव और विष्णुमें शक्ति तो शेष दोनोंमें समान हैं, क्योंकि पराशक्तिसे युक्त होनेपर ही श्रीशिव और श्रीविष्णुका प्रादुर्भाव होता है और शक्ति इनसे सदा अभिन्न हैं, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान्‌में भेद हो नहीं सकता। ये दोनों भी शक्तिके द्वारा ही व्यक्त हुए हैं और उसीसे अपना-अपना कार्य भी करते हैं। इस कारण शक्तिकी सहायताके बिना इनकी प्राप्ति हो नहीं सकती। यही कारण है कि द्विजोंको सबसे प्रथम गायत्रीकी दीक्षा दी जाती है। दक्षिणमें प्रथा है कि यज्ञोपवीतके समय बालक अपनी माताके निकट जाकर जिज्ञासा करता है कि मातः! बतलाओ, मेरे पिता कौन हैं? माताद्वारा बतलाये जानेपर बालक पिताके पास जाकर उनको अपना आचार्य मानता है। इसका आन्तरिक अभिप्राय यही है कि गायत्री माताके ही द्वारा परम पिता परमात्माका यथार्थ ज्ञान और प्राप्ति होगी, अन्यथा नहीं। यह परा प्रकृति ही श्रीशंकरकी शक्ति श्रीगौरी हैं, जिनकी कृपा बिना श्रीशंकरकी प्राप्ति नहीं हो सकती, वही श्रीविष्णुकी शक्ति श्रीलक्ष्मी हैं जिनके बिना श्रीविष्णुकी प्राप्ति हो नहीं सकती, वे ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी परम प्रिया शक्ति श्रीसीता हैं जिनकी

कृपा विना भगवान् श्रीरामचन्द्रकी प्राप्ति कदापि हो नहीं सकती तथा वे ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी शक्ति श्रीराधाजी हैं जिनकी कृपा विना भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी प्राप्ति हो नहीं सकती। इसी कारण उपास्यदेवके नामसे पहले उनकी शक्तिका नाम आता है, और उसे पीछे रखना दोष माना गया है। श्रीविष्णु सम्पूर्ण चराचरके धारण और पालनकर्ता होनेके कारण प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गके परम इष्ट हैं तथा सभीको इनकी आवश्यकता है। श्रीशिव जगद्गुरु हैं; इसीसे ज्ञान, योग, भक्ति आदिकी यथार्थ प्राप्ति इनकी कृपाके विना नहीं हो सकती। अतएव इनकी प्राप्तिके लिये सबको श्रीशिवकी कृपा प्राप्त करनेकी परम आवश्यकता है। ये विशेषकर निवृत्ति-मार्गके योगीश्वर हैं। इसी कारण गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने काशीमें रहकर श्रीशिवजीकी कृपासे ही राम-भक्ति प्राप्त की थी। गोस्वामीजीका कथन है—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

'श्रद्धा-विश्वासरूप भवानीशङ्करकी वन्दना करता हूँ जिनकी कृपा विना सिद्धगण भी अन्तरस्थ ईश्वरके दर्शन नहीं कर सकते।' इसके सिवा श्रीभगवान् रामचन्द्रजीका भी कथन है—

जेहिपर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥

अउरउ एक गुपुत मत सबहिं कहहुँ कर जोरि।
संकर-भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

श्रीशिवकी उपासना सर्वदा शक्तिके सहित ही होनी चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे शक्तिसे अर्थात् महाविद्यासे सम्बन्ध स्थापित

होनेसे वह साधकको मायाके तमसे पारकर उसके इष्टसे मिला देती हैं। श्रीशक्तिकी उपासना माताके रूपमें करनी चाहिये, क्योंकि वे जगज्जननी हैं और विश्वका कल्याण करना उनका मुख्य कार्य है। विद्या-शक्तिका ध्यान, यथा—

अरुणकिरणजालै रञ्जिता सावकाशा
धृतजपपुटिका सत्पुस्तकाभीतिहस्ता।
इतरकरवराढ्या फुल्लकह्लारसंस्था
निवसतु हृदि माता विश्वकल्याणरूपा॥

'जो अपनी लाल-लाल किरणोंसे विभूषित और प्रकाशमयी हैं, जप-माला लिये रहती हैं, जिनके एक हाथमें सुन्दर पुस्तक और अभय तथा दूसरेमें वरद मुद्रा है, जो खिले हुए श्वेत-कमल-पर विराजमान रहती हैं वे विश्वकल्याणमयी माता विद्याशक्ति मेरे हृदयमें निवास करें।'

इस प्रकार विश्वके कल्याणके लिये सबको इस परम विद्या-शक्तिकी उपासना और ध्यान अपने हृदयमें विराजमान माताके रूप-में करने चाहिये। उन जगज्जननीकी यह श्रीमुखकी उक्ति है कि वे माताके रूपमें सबके हृदयमें रहकर विश्वमात्रका कल्याण करती हैं।

श्रीब्रह्मवैवर्तपुराणका वचन है—

करोति सृष्टिं स विधेर्विधाता
विधाय नित्यां प्रकृतिं जगत्प्रसूम्।
ब्रह्मादयः प्राकृतिकाश्च सर्वे
भक्तिप्रदां श्रीं प्रकृतिं भजन्ति॥

(ब्रह्मखण्ड ३०। १०)

राधा पूज्या च कृष्णस्य तत्पूज्या भगवान् प्रभुः ।
परस्पराभीष्टदेवे भेदकृन्नरकं व्रजेत् ॥
(प्रकृतिखण्ड ४९,५९, ६३)

हरिभक्तिप्रदात्री सा विष्णुमाया सनातनी ।
सा च याननुगृह्णाति तेभ्यो भक्तिं ददाति च ॥
(५४ । १२९)

'वह विधाताके विधाता, जगत्को उत्पन्न करनेवाली सनातनी प्रकृतिकी सहायतासे सम्पूर्ण सृष्टिकी रचना करते हैं और शक्तिके उपासक ब्रह्मादि सभी देवता भक्ति देनेवाली श्रीलक्ष्मीको प्रकृति जानकर उनका भजन करते हैं। श्रीकृष्ण भगवान् श्रीराधाकी पूजा करते हैं और श्रीराधा श्रीभगवान् कृष्णकी पूजा करती हैं; ये दोनों एक दूसरेके इष्टदेव हैं। इनमें जो भेद करता है वह नरकगामी होता है। श्रीराधा विष्णुकी सनातन शक्ति हैं और श्रीभगवान्की भक्तिको देनेवाली हैं। वे जिसपर कृपा करती हैं उसीको भक्ति देती हैं, केवल शक्तिको ही इष्ट मान उनकी उपासना करनेसे भी भक्ति मिलती है। शक्तिके भिन्न-भिन्न रूप भी एक ही हैं, कदापि उनमें भेद नहीं करना चाहिये।' पद्म-पुराणके पातालखण्डका वचन है—

गौरी गङ्गा महालक्ष्मीर्यस्य नास्ति पृथक्कया ।
ते मन्तव्या नराः सर्वे स्वर्गलोकादिहामराः ॥
(४ । २५१)

'जो गौरी, गंगा और महालक्ष्मीको एक समझता है उसको स्वर्गलोकसे आया देवता समझना चाहिये।' शक्तिकी उपासना इस प्रकार सर्वव्यापक और सबोंके लिये समान और परमावश्यक होने-

पर अब केवल दो उपास्य देव श्रीशंकर और श्रीविष्णु रह गये जो यथार्थमें एक हैं दो कदापि नहीं हैं। पहले कहा जा चुका है कि वर्तमान कालमें सृष्टिमें इन दोनोंके कार्य हो रहे हैं, अतएव जीवात्माका इन दोनोंसे सम्बन्ध है और दोनों आवश्यक हैं। इष्टदेवकी प्राप्तिके लिये जैसे उनकी शक्तिकी कृपाकी आवश्यकता है, उसी प्रकार ऐसे सद्गुरुकी प्राप्तिकी भी आवश्यकता है, जिनकी स्थिति उस शक्तिके प्रकाशमें हो और इस प्रकार जिनका उससे सम्बन्ध हो। ऐसे गुरुकी प्राप्ति और कृपा होनेपर ही उपास्यदेवकी प्राप्ति होती है। भगवान् श्रीशंकरका एक कार्य जगद्गुरु होना भी है अर्थात् वे ही संसारभरके गुरु हैं। वे ही मायाके तमका नाश करते हैं अर्थात् साधकके तृतीय नेत्र (दिव्य दृष्टि) को खोलकर उनके आन्तरिक तमका नाश करते हैं और उसके उपास्य देवको प्रकाशित कर देते हैं। जितने सद्गुरु महात्मा हैं वे सब इन्हीं जगद्गुरु श्रीशंकर भगवान्को आह्वान कर उन्हींकी शक्तिसे दीक्षा देते हैं, क्योंकि वे सब उन्हींसे सञ्चालित होते हैं। इसलिये उनके स्वरूप ही हैं। उपासनाका क्रम ऐसा है—प्रथम साधक अपनी रुचिके अनुसार किसी एक इष्टको ग्रहणकर उनकी उपासना करता है। उन्नति करनेपर यह उपासना युगल हो जाती है अर्थात् इष्टकी शक्तिको भी उनके साथ अभिन्न-रूपमें सम्मिलित करना पड़ता है, युगल होनेपर शक्ति और इष्टदेव दोनोंको अभिन्न जानकर दोनोंकी एक साथ उपासना की जाती है। साधनोंके परिपक्व होनेपर साधकके प्रति जगद्गुरु भगवान् श्रीमहादेवकी कृपा-दृष्टि आकर्षित होती है। तब स्वप्नमें दर्शन-

द्वारा उसे इसका प्रमाण मिलता है। ऐसा होनेपर उपासकको उपासनाके आरम्भ अथवा अन्तमें भगवान् श्रीशंकरका जगद्गुरुके रूपमें ध्यान करना चाहिये और उनसे प्रार्थना करनी चाहिये कि वे कृपाकर श्रीउपास्य देवके साथ साक्षात् सम्बन्ध करा दें। इसके बाद श्रीशिवजीकी कृपासे सद्गुरुकी प्राप्ति होती है।

अतएव प्रत्येक साधकको श्रीशक्ति, श्रीशिव और श्रीविष्णु इन तीनोंकी कृपाकी आवश्यकता है, इनमें किसी भी एकके बिना सिद्धि नहीं हो सकती, बल्कि साधनाकी प्रारम्भावस्थामें भी पाँचों देवोंकी पूजा करनी आवश्यक है किन्तु ऐसा होनेपर भी इष्ट एक ही रहेगा अन्य उसके सहायक होंगे। शक्ति, गुरु, इष्ट तीनों एक हैं और एक समझकर ही इनकी उपासना करनी चाहिये।

ब्रह्मवैवर्तका कथन है—

तत्त्वज्ञानप्रदं शान्तं मुक्तिदं हरिभक्तिदम्॥

(ब्रह्मवैवर्त० ब्रह्मखण्ड १२। १८)

'शङ्कर तत्त्वज्ञानके देनेवाले, शान्त, मुक्तिदाता और हरिभक्ति देनेवाले हैं।' श्रीब्रह्माने सनत्कुमारसे कहा था—

गच्छ वत्स शिवं शान्तं शिवदं ज्ञानिनां गुरुम्॥

(ब्रह्मखण्ड २४। ४५)

'हे वत्स! कल्याणके देनेवाले और शान्त श्रीशिवजीके पास जाओ जो ज्ञानियोंके भी गुरु हैं।' लिङ्गपुराणका वचन है—

व्यासावताराणि तथा द्वापरान्ते च सुव्रताः।
योगाचार्यावताराणि तथा तिष्ये तु शूलिनः॥

(७। ८)

'हे सुव्रतगण ! द्वापरके अन्तमें महादेवजी व्यासरूपमें प्रकट होते हैं। व्यास अनेक हैं। तथा कलियुगमें वे योगाचार्यरूपमें प्रकट होते हैं। उस समय भी वे अनेक रूप धारण करते हैं।' श्रीमद्भागवतपुराणका वचन है—

विद्यातपोयोगपथमास्थितं तमधीश्वरम्।
चरन्तं विश्वसुहृदं वात्सल्याल्लोकमङ्गलम्॥
(४।६।३५)

'विश्वहितकारी शिव स्नेहसे लोगोंकी मङ्गलकामनाके लिये उपासना, तपस्या और योगके मार्गके आचार्य होकर उनका प्रचार करते हैं।' और भी—

ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं
जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम्।
ददर्श देहो हतकल्मषा सती
सद्यः प्रजज्वाल समाधिजाग्निना॥
(४।४।२७)

'वह सती तदनन्तर सकल जगत्‌के गुरु अपने पति श्रीशिवजीके चरणकमलके सिवा दूसरे किसीकी ओर चित्तको नहीं लगाकर और शरीरको कल्मषरहितकर समाधिद्वारा उत्पन्न अग्निसे तत्काल भस्म हो गयी।' यह तो श्रीशंकरके जगद्गुरु होनेका प्रमाण हुआ। शक्तिके उपासककी तो शक्ति ही इष्ट रहेंगी किन्तु उन्हें उनकी इष्टदेवी ही पहले श्रीशिवसे और अन्तमें श्रीविष्णुसे सम्बन्ध करा देंगी, जो उस शक्तिसे अभिन्न ही हैं। शिवके

उपासकके शिव ही इष्ट रहेंगे और उक्त इष्ट ही उसे पहले अपनी शक्तिसे और अन्तमें श्रीविष्णुसे सम्बन्ध करा देंगे जो उनसे अवश्य अभिन्न हैं। श्रीविष्णुके उपासकके श्रीविष्णु ही इष्ट रहेंगे किन्तु वे इष्टदेव ही प्रथम अपनी शक्ति और फिर श्रीशिवसे सम्बन्ध करा देंगे, जो श्रीविष्णुके ही रूप हैं, उनसे भिन्न नहीं हैं। अतएव आवश्यक है कि उपासक तो इष्टदेव एकहीको माने किन्तु अन्य उपास्योंके प्रति भी श्रद्धा-प्रीति रखे और उनकी अवज्ञा कदापि न करे। क्योंकि वे सब एक ही हैं और भिन्न-भिन्न देवोंकी भी किसी-किसी विशेष कार्यके लिये आवश्यकता पड़ती है जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। इसी सिद्धान्तपर स्मार्तधर्म है, जिसमें एक ही देवको इष्ट मानकर अन्य देवोंकी भी पूजा की जाती है। ब्रह्मवैवर्तपुराणका वचन है—

गणेशं च दिनेशं च वह्निं विष्णुं शिवं शिवाम्।
सम्पूज्य देवषट्कं च सोऽधिकारी च पूजने॥
गणेशं विघ्ननाशाय निष्पापाय दिवाकरम्।
वह्निं स्वशुद्धये विष्णुं मुक्तये पूजयेन्नरः॥
शिवं ज्ञानाय ज्ञानेशं शिवां च बुद्धिवृद्धये।
सम्पूज्यैतल्लभेत् प्राज्ञो विपरीतमतोऽन्यथा॥

(प्रकृतिखण्ड १० । ९२–९४)

गणेश, सूर्य, अग्नि, विष्णु, शिव, शिवा—इन छः देवताओं-की पूजा करनेसे मनुष्य प्रकृत कार्यमें अधिकारी होता है। साधक विघ्ननाशके निमित्तसे गणेशकी, पापनाशके लिये सूर्यकी, आत्म-शुद्धिके निमित्तसे अग्निकी और मुक्तिके उद्देश्यसे विष्णुकी, ज्ञान-

प्राप्तिके निमित्तसे शिवकी और बुद्धिवृद्धिके लिये शिवाकी पूजा करनेसे लाभ पावेगा, किन्तु इसके विपरीत करनेसे विपरीत फल मिलेगा। यदि सब उपास्योंका यथार्थमें एक होनेका और भिन्न-भिन्न कार्योंके निमित्त भिन्न-भिन्न रूप धारण करनेका ज्ञान बना रहे, तो फिर साम्प्रदायिक विरोध जाता रहे, जो वस्तुतः भक्तिका बड़ा बाधक है। पद्मपुराण पातालखण्डका वचन है—

शिवे विष्णौ न वा भेदो न च ब्रह्ममहेशयोः।
तेषां पादरजःपूतं वहाम्यघविनाशनम्॥
(४।२५०)

विष्ण्वीशयोर्विभेदं यः शिवशक्त्योः करोत्यपि।
तत्पापं मम वै भूयाच्चेन्न कुर्यामृतं वचः॥
(१९।८।१२०)

ममास्ति हृदये शर्वो भवतो हृदये त्वहम्।
आवयोरन्तरं नास्ति मूढाः पश्यन्ति दुर्धियः॥
ये भेदं विदधत्यद्धा आवयोरेकरूपयोः।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते नराः कल्पसहस्रकम्॥
ये त्वद्भक्ताः सदासंस्ते मद्भक्ता धर्मसंयुताः।
मद्भक्ता अपि भूयस्या भक्त्या तव नतिङ्कराः॥
(२८।२०–२२)

भूतेश्वरं यो न नमेन्न पूजये-
न्न वा स्मरेद्दुश्चरितो मनुष्यः।
नैनां स पश्येन्मथुरां मदीयां
स्वयंप्रकाशां परदेवताख्याम्॥
(४२।५०)

भगवान् श्रीरामचन्द्र श्रीशत्रुघ्नको कहते हैं—

शिव और विष्णुमें कोई भेद नहीं है, ब्रह्मा और शिवमें भी कोई भेद नहीं है। मैं उनकी पवित्र पापनाशक पदरजको धारण करता हूँ। श्रीशत्रुघ्नजीकी सेनाके योद्धा वीर पुष्कल राजाने ऐसा कहा—यदि मैं अपना वाक्य सत्य न कर सकूँ तो जो व्यक्ति विष्णु और शिव तथा शिव और शक्तिमें भेद कल्पना करता है, उसको जो पाप होता है वही पाप मुझे लगे। भगवान् श्रीरामचन्द्र-जीने श्रीमहादेवजीसे कहा—आप सर्वदा मेरे हृदयमें रहते हैं और मैं सर्वदा आपके हृदयमें रहता हूँ। हम दोनोंमें कोई भेद नहीं है। केवल दुर्मति मूढ़ लोग भेद देखते हैं। हम दोनों परस्पर अभिन्न-रूप हैं। जो हमलोगोंमें भेद मानते हैं, वे सब लोग सहस्र कल्प-पर्यन्त कुम्भीपाक नरकमें अशेष कष्ट पाते हैं। जो आपके भक्त हैं वे धार्मिक पुरुष मेरे भी भक्त हैं और जो मेरे भक्त हैं वह मेरी भूयसी भक्तिके कारण आपके भी किङ्कर हैं। श्रीकृष्णभगवान्‌का वचन है—जो दुःशील मनुष्य श्रीभूतेश्वर महादेवको प्रणाम नहीं करता, उनकी पूजा नहीं करता, अथवा उनका स्मरण नहीं करता है वह कभी स्वयंप्रकाश परदेवतारूपिणी मेरी मथुरापुरीको नहीं देखता। श्रीमद्भागवतका वचन है—

त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति॥

(४।७।५४)

श्रीभगवान् विष्णु दक्षसे कहते हैं—'हे ब्राह्मण! वास्तवमें एक रूप और सकल प्राणियोंके आत्मा जो यह ब्रह्मा, विष्णु और

शिव हैं इन तीनोंमें जो भेदभाव नहीं रखता, वह शान्ति (मोक्ष) पाता है ।'

यह ग्रन्थ सब उपास्योंके उपासकके लिये है और इसमें श्रीभगवान् आदि शब्द व्यापक अर्थमें है जैसा कि प्रारम्भमें कहा जा चुका है, संकुचितभावमें अर्थात् केवल विष्णुअर्थमें ही कदापि नहीं है। शैव श्रीभगवान् शब्दको शिव समझें और शाक्त शक्ति समझें ।

भक्तिके प्रतिबन्धक

जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस प्रकरणमें भक्तिका वर्णन निष्काम भक्तिसे ही प्रारम्भ किया गया है । सबसे प्रथम यह आवश्यक है कि भक्तिके विरोधी दुर्गुणोंका विचार किया जाय । फिर भी यह कहना अत्यन्तावश्यक है कि भक्तिकी प्राप्तिके लिये दुर्गुणोंका बहुत कुछ समूल नाश करना चाहिये, केवल उनको दबानेसे काम नहीं होगा । और इस मार्गमें दुर्गुणके पराभव और सद्गुणकी प्राप्तिमें परिपक्वता पाना अत्यन्त आवश्यक है । ये कार्य अन्य मार्गोंमें जिन उपायोंसे होते हैं इस मार्गमें उससे भिन्न उपायद्वारा सम्पादित होते हैं; यही इसकी विलक्षणता है । श्रीमद्भागवतमें इसके मुख्य प्रतिबन्धकका इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ भयं मदः ।
मानोऽवमानोऽसूया च माया हिंसा च मत्सरः ॥
रजः प्रमादः क्षुन्निद्रा शत्रवस्त्वेवमादयः ।
रजस्तमःप्रकृतयः सत्त्वप्रकृतयः क्वचित् ॥

(७ । १५ । ४२-४४)

राग, द्वेष, लोभ, शोक, मोह, भय, मद, मान, अपमान, असूया, वञ्चना, हिंसा, मत्सर (दूसरोंके द्वारा की हुई हानिकी भावना), क्रोध, प्रमाद, क्षुधा और निद्रा इत्यादि शत्रु हैं और योगमें किसी समय रजोगुण और तमोगुणकी अभिमान आदि वृत्तियाँ शत्रु हो जाती हैं और कभी-कभी सात्त्विक वृत्तियाँ भी शत्रु हो जाती हैं ।

भोजन

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मनुष्यका शरीर ही श्रीभगवान्‌का उत्तम मन्दिर है और इसीमें उनका निवास है । साधकको श्रीभगवान्‌की प्राप्ति अपने शरीरके भीतर ही होगी, अन्यत्र कदापि नहीं । लिखा है—'देहो देवालयः प्रोक्तः' इस कारण यह अत्यन्त आवश्यक है कि शरीर, इन्द्रिय और मनकी पूरी शुद्धि की जाय, ताकि श्रीभगवान्, जो शरीरके भीतर दोषोंके कारण आच्छादित हैं, वे उनके दूर होनेपर प्रकाशित हो जायँ । प्रथम शरीरहीको लीजिये । कर्ममार्गमें शरीरका शोधन होनेपर भी यह आवश्यक रह जाता है कि शरीरके अणु और परमाणुकी भी शुद्धि हो, क्योंकि उनका प्रभाव चित्तपर भी पड़ता है । शरीरमें तमोगुणी-रजोगुणी अणु-परमाणुओंके रहनेसे रजोगुणी-तमोगुणी वृत्ति चित्तमें अवश्य आवेगी; उसे रोकनेके लिये उनकी शुद्धि आवश्यक है । यह शुद्धि विशेषतः भोजनकी शुद्धिद्वारा होती है । तमोगुणी भोजनके व्यवहारसे तमोगुणकी वृद्धि होती है, रजोगुण-से रजोगुणकी और सात्त्विकसे सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है । शरीर-

पर भी शौच और सदाचारपालनके सिवा खान-पानका प्रभाव बहुत पड़ता है। शरीरकी शुद्धिके लिये केवल सात्त्विक भोजन ही करना परमावश्यक है। इससे शरीर शुद्ध होता है और इन्द्रियदमन एवं बुद्धिके पवित्र होनेमें सहायता मिलती है। रजोगुणी-तमोगुणी खान-पान जैसा कि मांस, मदिरा एवं भाँग, गाँजा, तंबाकू, चुरुट आदि सब प्रकारके मादक द्रव्य और पियाज, लहसुन, गाजर, लाल मिर्च, गरम मसाला आदि उत्तेजक और निन्दित वस्तुओंके भोजनव्यवहारको अवश्य त्यागना चाहिये; जिनके सेवनसे शरीर अशुद्ध होता है तथा इन्द्रियाँ प्रबल और बुद्धि मलिन होती है। सात्त्विक, राजस और तामस आहारका गीताके १७ वें अध्यायमें इस प्रकार वर्णन किया है—

> आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
> रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
> कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
> आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥
> यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
> उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥
> (८—१०)

आयु, उत्साह, बल, नीरोगता, सुख और प्रीतिके बढ़ानेवाले, रसीले, चिकने, दीर्घ कालतक रहनेवाले और हृदयको प्रिय लगनेवाले आहार सात्त्विक पुरुषोंको प्रिय होते हैं। अति तीखे, खट्टे, नमकीन, अति उष्ण, तेज, रूखे, दाहकारी और दुःख, शोक एवं रोगादि उत्पन्न करनेवाले आहार रजोगुणी

पुरुषोंको प्रिय होते हैं। पहरोंके ठंडे हुए रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठे और अपवित्र आहार तमोगुणी पुरुषोंको प्रिय होते हैं।

शास्त्रमें इसका पूरा वर्णन है कि कौन-कौन पदार्थ सात्त्विक और कौन राजसिक और कौन तामसिक हैं। उनको जानकर राजस और तामस पदार्थोंका त्यागकर केवल सात्त्विकोंका ही व्यवहार करना चाहिये। शरीर-शुद्धिके लिये स्नान, शौच, आचमन आदि क्रिया करना और अपवित्र वस्तुके छुआछूतसे बचे रहना तथा भोजनमें भी इसका उचित विचार रखना आवश्यक है। मिताहार करना चाहिये और अधिक भोजन अथवा दिनमें दो बारसे अधिक भोजन नहीं करना चाहिये। पेटके आधे भागको भोज्य पदार्थोंसे और चौथाईको जलसे भरना चाहिये तथा चौथाईको वायुके सञ्चारके निमित्त खाली रखना चाहिये—यही मिताहार कहलाता है। प्रातःस्नान तो परमावश्यक है ही। भोजनविचार भी भक्तिमार्गकी प्रारम्भिक साधना अवश्य है, किन्तु इसमें पूरी परिपक्वता होनी चाहिये, यहाँतक कि वर्जित पदार्थोंका औषधमें भी व्यवहार यथासम्भव न किया जाय।

आभ्यन्तरिक शुद्धि

साधक भक्तके लिये तीन वस्तुएँ बहुत आवश्यक हैं—एक शुद्ध भोजन, दूसरा पवित्र मन, तीसरा ईश्वरका सतत चिन्तन। इन्द्रिय, मन और अहंकार इन तीनोंका आपसमें घनिष्ट सम्बन्ध है और बिना दमन और शुद्धिके ये तीनों ही भक्तिके बड़े भारी प्रतिबन्धक हैं। इनमें जो उत्तरोत्तर ऊँचा है वही प्रबल है।

सबसे उच्च अहंकार है और वह सारे अनर्थोंका मूल है, क्योंकि अहंकारके मुख्य अङ्ग स्वार्थ, और उसके उपाङ्ग तृष्णा एवं कामसे प्रेरित होकर ही मन इन्द्रियोंको विषय-भोगमें प्रवर्तित करता है जिससे अनेक विकार उत्पन्न होते हैं और निन्दित कर्म किये जाते हैं। किन्तु इस प्रबल अहङ्कारकी पूरी शुद्धि ज्ञानमार्गमें भी नहीं होती है। यद्यपि वहाँ अहंकार अनात्मासे पृथक् हो जाता है किन्तु उसकी स्थिति सूक्ष्मरूपसे जीवात्मामें रहती है और उसी दृष्टिसे वह सबको देखता है। अपनेको 'ब्रह्माहम्', 'शिवोऽहम्' भी बुद्धिद्वारा ही समझता है किन्तु उस ब्रह्म और शिवके भावके साथ 'अहम्' भाव भी वर्तमान रहता है। अहंकारका त्यागना बड़ा ही कठिन है। श्रीभगवान्‌की कृपासे प्रेम और भक्तिके प्रकाशद्वारा शोधित होनेपर ही अहंभाव विशुद्ध, परिवर्तित और परिवर्द्धित होता है। तब अहंभावके बदले केवल शुद्ध आत्मभाव रह जाता है; पीछे वह भी श्रीभगवान्‌में समर्पित कर दिया जाता है और तभी इसकी पूर्ण शुद्धि होती है। भक्तिमार्गमें मन और इन्द्रियोंके दमन और शुद्धि भी भक्तिकी साधनाद्वारा ही की जाती है, जिसके कारण उनमें जो अवशेष दोष रहते हैं वे अनायास नष्ट हो जाते हैं। पूर्ण इन्द्रियदमन तो श्रीभगवान्‌की कृपासे ही होता है। गीतामें लिखा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
(२।५९)

देहाभिमानी पुरुषका विषयभोगसे निवृत्त रहनेपर इन्द्रिय-निग्रह हो जाता है किन्तु वासना बनी रहती है। परन्तु स्थिर बुद्धिकी वह वासना भी श्रीभगवान्‌के दर्शनसे नष्ट हो जाती है।

मनके विकार षड्रिपु काम-क्रोधादिमें काम ही मुख्य और सबका कारण है, क्योंकि इस कामके कारण ही अन्य सब दोष उत्पन्न होते हैं अतएव साधक भक्तको स्वार्थसम्बन्धी सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करना चाहिये। उन कामनाओंका पूरा दमन और शुद्धि इस मार्गमें भगवत्सेवा और भगवत्प्रीतिकी प्रबल कामनाको उत्पन्न करनेसे ही होती है। श्रीभगवान्‌की प्राप्तिका उद्देश्य केवल उनमें प्रेमार्पण अर्थात् स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पण होना चाहिये जिसको हृदयमें स्थान देनेके लिये अन्य सम्पूर्ण स्वार्थमूलक इच्छाओंका त्याग करना आवश्यक है। भक्तिमार्गमें मोक्षकामना भी स्वार्थके अन्तर्गत और भक्तिका प्रतिबन्धक है, अतएव भक्तको मोक्षेच्छाका भी त्याग करना पड़ता है क्योंकि यह भी एक प्रकारकी उत्तम तृष्णा ही है। प्रेम परम पवित्र और अमूल्य है और उसका स्वभाव 'त्याग' है अर्थात् प्रेमी कोई फल अपने लिये कदापि नहीं चाहता है किन्तु प्रियतमकी प्रसन्नताके लिये सर्वस्व त्यागने और क्लेश उठानेसे ही प्रसन्न होना उसके लिये स्वाभाविक हो जाता है। स्वार्थ और प्रेम दोनों आपसमें विरोधी हैं, अतएव स्वार्थको पूर्णरूपसे त्यागे बिना ईश्वर-प्रेमका सञ्चार हो नहीं सकता। अधर्म, पाप, मलिन कर्म, दुष्टवासना, असदाचार, दुर्व्यसन, आन्तरिक मलिनता और कुप्रवृत्ति इत्यादिका मूल स्वार्थ और अहंकार ही है, अतएव इनको बिना त्यागे अन्तःकरण पवित्र

नहीं हो सकता और ऐसा हुए बिना ईश्वर-प्रेमकी प्राप्ति नहीं हो सकती। महात्मा श्रीकबीरने जो बार-बार अपने वाक्योंद्वारा उपदेश दिया है कि प्रेमीको अपना शिर काटकर अर्पण करना चाहिये, उसका यही तात्पर्य है कि उसे अपने अहंकार और स्वार्थका दमन ईश्वरको आत्मसमर्पण करके करना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें दोषोंके दमनके उपाय यों कहे हैं—

असङ्कल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्॥
आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान्मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया॥
कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात्समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च।
एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥
(७।१५।२२–२५)

'स्वार्थ-सङ्कल्पको त्यागकर वासनाको जीते, वासनाका त्यागकर क्रोधका दमन करे, विषयोंमें नश्वरता और अनर्थबुद्धि रखकर लोभका जय करे, आत्मतत्त्वका विचारकर भयका नाश करे। आत्मा और अनात्माके विचारसे शोक-मोहका त्याग करे, सत्त्वगुणी बड़े पुरुषोंकी उपासना करके दम्भका नाश करे, मनकी वृत्तियोंको मौनकर अर्थात् रोककर योगकी प्राप्ति करे और देह आदिकी लोलुपताको रोककर हिंसाका त्याग करे। भय देनेवाले प्राणियोंका अनिष्ट न कर किन्तु उनका हित

करके उनके भयको दूर करे, मनको समाहित करके प्रारब्ध-कर्मके क्लेशको दूर करे, प्राणायामादि योगक्रियासे शरीरकी व्याधियोंका क्षय करे, सात्त्विक पदार्थोंका भोजन करके निद्राको जीते। रजोगुण-तमोगुणको सत्त्वगुणकी वृद्धि करके जीते और मनकी शान्ति प्राप्तकर सत्त्वगुणको भी जीते, सद्गुरुकी भक्ति-प्राप्ति और उनकी कृपासे साधक इन सब दोषोंको अनायास ही जीत लेता है।' कामद्वारा कामका दमन करना चाहिये अर्थात् मलिन और अशुभ कामना और वासनाके स्थानमें उसके विरुद्ध उत्तम, पवित्र और शुभ वासना और कामनाको स्थान दे पूर्वकथित दोषोंका दमन करना चाहिये और यह सहज उपाय है। नेत्रसे कुत्सित दृश्य देखनेकी स्पृहाका दमनकर श्रीभगवान्की सुन्दर मूर्तिके दर्शन करनेकी इच्छा उत्पन्नकर श्रीविग्रहादि और अन्य सात्त्विक सुन्दर रूपको श्रीभगवान्का प्रतिबिम्बरूप समझ उनके शुभ दर्शनसे हृदयको शुद्ध करना चाहिये। श्रीभगवान्के यशके कीर्तन-श्रवणमें लगनेसे श्रोत्र-इन्द्रियकी दुष्ट वासना जाती रहेगी; श्रीभगवान्के प्रसादके भक्षण करनेसे जिह्वाकी कुप्रवृत्ति प्रशमित होगी; श्रीभगवान्की मूर्तिको हृदयमें स्थापितकर उनके पादारविन्दमें मनको रमानेसे पार्थिव भोगेच्छा नष्ट हो जायगी; श्रीभगवान्की परम पवित्र लीलाका श्रवण, दर्शन, मनन और कीर्तन करनेसे अन्तःकरणकी मलिनता मिट जायगी और श्रीभगवान्के प्रीत्यर्थ कर्म करनेसे लोभ और स्वार्थ आदि दूर हो जायँगे। इस प्रकार उत्तम कामनासे कुत्सित कामनाको और विहित कर्मसे अविहित कर्म करनेकी सम्भावनाको मिटाना चाहिये।

जैसा कि कई बार कहा जा चुका है। सब प्रकारकी स्वार्थ-कामनाएँ ईश्वरकी प्राप्तिमें बहुत बड़ी बाधक हैं। उन्हें त्यागे बिना प्रेमा भक्ति प्राप्त हो नहीं सकती। श्रीतुलसीदासजीका कथन है—

जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम तहँ काम।
तुलसी कबहुँ कि होत हैं, रबि रजनी इक ठाम॥

और भी—

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्।
(नारदसूत्र ७)

वह भक्ति मनमें कामना रखनेसे नहीं होती है, क्योंकि वह सम्पूर्ण कामनाओंको रोकनेवाली है। लिखा है कि—

सर्वसंसारदोषाणां तृष्णैव दीर्घदुःखदा।
अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसङ्कटे॥

इस संसारमें सकल प्रकारके दोषोंमें तृष्णा ही अर्थात् कामना सबसे अधिक दुःख देनेवाली है, जो घरके भीतर रहनेवाले मनुष्यको भी खींचकर बड़े भारी सङ्कटमें गिरा देती है। और भी—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
तां तृष्णां संत्यजेत्प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते॥
(विष्णुपुराण ४।१०।१२)

दुष्टबुद्धि लोगोंसे जो त्यागी नहीं जा सकती, लोगोंके वृद्ध होनेपर भी जो जीर्ण (शक्तिहीन) नहीं होती, ऐसी तृष्णाको त्यागकर बुद्धिमान् सुखसे रहते हैं। कठोपनिषद्का वाक्य है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
(२।६।१४)

जब सम्पूर्ण इच्छाएँ जो कि इस जीवके आश्रित हैं हृदयसे बाहर कर दी जाती हैं (अर्थात् जब वे नहीं रहतीं), तब नाशवान् मनुष्य अविनाशी हो जाता है और इसी स्थितिमें वह निश्चय ब्रह्मकी प्राप्ति करता है ।

प्रमाद-मान, बड़ाई

भक्तिमार्गका यम (निषेध) जिसका वर्णन हो रहा है बड़ा कठिन है, क्योंकि इस मार्गमें धोखा देनेके लिये सब दोष अपने घृणित रूपको बदलकर बनावटी उत्तम रूप धारण करके प्रकट होते हैं । इससे उनकी यथार्थ पहचान और दमन सहज नहीं है । अनेक उत्तम साधक इस बनावटी धोखेके भ्रममें पड़कर गिर जाते हैं । वे समझते हैं कि हम ठीक जा रहे हैं, किन्तु यथार्थमें वे मार्गच्युत होकर गड़हेकी ओर जाते हैं, किन्तु उन्हें यह मालूम नहीं रहता । प्रायः जबतक लोग अपने दोषोंको जानते हैं और समझते हैं कि वे दोष हैं तबतक ही उनके सुधारकी सम्भावना रहती है; किन्तु यहाँ तो दोष भी गुण ही समझा जाता है, अतएव उसका सुधार बड़ा कठिन हो जाता है । साधनामें अग्रसर होनेपर प्रायः साधकमें सुख्याति, मान, बड़ाई, आदर आदि पानेकी इच्छा उत्पन्न होती है और उसे ऐसी इच्छा भी होती है कि लोग मेरा उपदेश सुनें, मुझे भक्तिप्रचारक मानें और

मेरे उपदेशके अनुसार चलें। यह शुद्ध अहङ्कारका परिणाम है, विरुद्ध इसके जो मनुष्य केवल श्रीभगवान्‌की सेवाकी दृष्टिसे ही दूसरोंके लिये हितकर कार्य और धर्म-प्रचारमें निष्काम भगवत्सेवा समझ प्रवृत्त होता है। उसके पास ऐसे छोटे-बड़े कार्य अनायास ही आ जायँगे और वह उन्हें भगवत्-प्रेषित समझकर उन्हींके करनेमें प्रसन्न रहेगा। अन्य बड़े-बड़े कार्योंकी खोजमें वह कदापि न रहेगा। वह यशके लिये कदापि किसी कार्यको न खोजेगा किन्तु जो कार्य श्रीभगवान् स्वतः उसके जिम्मे कर देंगे उसीको सहर्ष करेगा; भले ही वह कार्य कैसा ही क्षुद्र क्यों न हो।

मनुष्यको इन मान, बड़ाई और आदर आदिके प्राप्त होनेपर भी कदापि तुष्टि नहीं होती है, किन्तु उसकी वासना बढ़ती ही जाती है। फिर वह समझने लगता है कि जितना आदर-मान होना चाहिये उतना नहीं होता, और ऐसा समझकर वह क्षुभित और दुःखित होता है। काम-वासना ही रूप बदल-कर मान, बड़ाई पाने और गुरु, नेता एवं नायक बननेकी वासनाका रूप धारण करती है, अतएव इसकी पूर्ति कदापि नहीं हो सकती। कामका स्वभाव है कि इसकी जितनी पूर्ति की जायगी उतना ही यह अधिक बढ़ेगा। इसी कारण ऐसे साधकमें भी इसकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि साधनाके बदले यही (मान-बड़ाई आदिकी कामना) उनका मुख्य लक्ष्य हो जाता है। अच्छे कामके कारण भी यश, मान, बड़ाई और नामवरी पानेकी इच्छा स्वार्थ ही है और बन्धन करने-वाली है। श्रीभगवान्‌की सेवाद्वारा यश पानेकी इच्छा अथवा

उसके बदलेमें पूज्य होनेकी कामना तो मानो उसपर पानी फेरना है और चिन्तामणिरत्नको काँचसे बदलना है ।

अपनी प्रशंसाकी स्पृहा और स्वयं प्रकट अथवा अप्रकट-रूपसे अपनी प्रशंसा करना, दूसरोंद्वारा कराना अथवा लेख आदि द्वारा फैलाना और अपनी बड़ाईके लिये दूसरोंकी निन्दा करना आदि अहङ्कार और कामहीके कारण होते हैं । ये सब भक्ति-मार्गमें केवल बाधक ही नहीं, बड़ी भारी क्षति पहुँचानेवाले भी हैं । भक्तिमार्गका तो एकमात्र उद्देश्य श्रीभगवान्‌की सेवा और उनके पवित्र यश, कीर्ति, माहात्म्य एवं पावन नामका विशेष प्रचार करना ही होना चाहिये । इसके बदले अपने क्षुद्र नश्वर स्थूल शरीर और उसके नामके यशके फैलानेकी इच्छा नहीं होनी चाहिये । इससे तो जीवात्माका सम्बन्ध बहुत थोड़े कालके लिये रहता है । आत्मप्रशंसा अर्थात् अपनी प्रशंसा स्वयं किसी प्रकार करना अथवा किसीसे कराना बड़ा घृणित पाप है ।

महाभारतके कर्णपर्वमें अध्याय ६९ से ७१ तक एक प्रसङ्ग इस प्रकार आता है कि एक बार भारतयुद्धमें युधिष्ठिरने कर्णके बाणके आघातसे व्याकुल होकर अर्जुनके बलको धिक्कारा और कहा कि तुम अपना गाण्डीव धनुष किसी दूसरे वीरको दे दो; ताकि वह उसके द्वारा कर्णका वध करे, जो अबतक तुमसे नहीं हुआ । ऐसा सुनकर अर्जुन युधिष्ठिरका वध करनेपर उद्यत हुए; क्योंकि उनकी प्रतिज्ञा थी कि जो मुझे गाण्डीव धनुषको दूसरेको दे देनेके लिये कहेगा उसे मैं अवश्य मार डालूँगा । यह

जानकर श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—'हे अर्जुन ! तुम्हें अपनी प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिये भ्रातृवध करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है; तुम युधिष्ठिरकी निन्दा करो और वह उनके वधके तुल्य होगी, क्योंकि अपयश मृत्युके तुल्य है, अतएव किसीकी निन्दा करनी उसका वध करना ही है।' अर्जुनने युधिष्ठिरकी निन्दा की। निन्दा करनेके पश्चात् अर्जुन स्वयं अपना वध करनेपर उद्यत हो गये। जब उनसे पूछा गया तो उन्होंने कहा कि मैंने अपने परमपूज्य ज्येष्ठ भ्राताकी निन्दा की है, अतएव इसके प्रायश्चित्तके लिये मैं आत्महत्या करूँगा। इसपर श्रीभगवान्‌ने कहा 'हे अर्जुन ! आत्महत्यारूपी परम भयानक पाप करनेके बदले तुम स्वयं अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करो, क्योंकि आत्मप्रशंसा करना आत्म-हत्याके ही तुल्य है। आत्महत्या बहुत बड़ा पाप है, अतः उसीके समान होनेके कारण आत्मप्रशंसा भी घोर पाप है।'

सिद्धिरूप विघ्न

इसके सिवा किसी प्रकारकी शक्ति, सिद्धि अथवा किसी प्रकारके असाधारण अनुभव पानेकी वाञ्छा भी साधकके लिये बहुत बड़ा विघ्न है जो एक प्रकारसे कामका ही रूपान्तर है। सांसारिक विषयोंकी चाह जैसी बन्धन करनेवाली है वैसी ही आधिदैविक (सिद्धि आदि) विषयोंकी वासना भी है। यह भी स्वार्थहीका परिणाम है और परमार्थकी परम विरोधिनी है। ऐसी चाह और इसकी प्राप्ति सांसारिक विषयोंकी वासनासे भी बढ़कर हानि करती है। श्रीमद्भागवतका वचन है—

यदा न योगोपचितासु चेतो
मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग ।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्या-
दात्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ॥
(३ । २७ । ३०)

योगसे प्राप्त होनेवाली और अन्य प्रकारसे प्राप्त न होनेवाली तथा अत्यन्त मोहित करनेवाली सिद्धियोंमें जब उस योगीका चित्त नहीं फँसता तो उसको मेरी पूर्वकथित परमपुरुषार्थरूपी गति प्राप्त होती है, जिसमें मृत्युका गर्व कुछ भी नहीं चल सकता अर्थात् यदि योगीका चित्त सिद्धियोंमें फँस जाय तो मृत्युको गर्व हो जाता है कि बड़े सिद्धको भी मैंने सिद्धिका लोभ दिखाकर अपने वशमें कर लिया।

निन्दा-स्तुतिमें तुल्यता

जिस प्रकार प्रशंसाकी चाह बुरी है उसी प्रकार निन्दाकी परवा भी प्रतिबन्धकरूप है और यह भी अहंकारका अंग है। अहंकारका भाव विद्यमान रहनेसे ही निन्दाका आघात माल्म पड़ता है। भगवत्-सम्बन्धी अनेक काम ऐसे भी हो सकते हैं जिनके लिये कतिपय लोगोंद्वारा निन्दा की जानी सम्भव है किन्तु साधकको ऐसी निन्दाकी कुछ भी परवा न कर श्रीभगवान्की सेवा और उनके कामको बड़े हर्षसे करना चाहिये। उसके निमित्तसे यदि निन्दा हो तो उससे भी प्रसन्न ही होना चाहिये। प्रशंसा और मान-बड़ाईकी वासनामें फँसकर प्रायः दूसरेकी प्रशंसा, योग्यता अथवा सत्कर्म सुनकर चित्तमें प्रसन्नताके बदले ईर्ष्या उत्पन्न होती है, क्योंकि अहंकारके कारण चित्त यही चाहता है कि केवल मेरी ही प्रशंसा

हो; इसमें दूसरे कोई पट्टीदार न हों। इस कारण दूसरेकी प्रशंसा सुनकर वह क्षुभित और ईर्ष्यान्वित ही नहीं होता है किन्तु उसकी निन्दाकर उसे उस प्रशंसासे वञ्चित करना चाहता है जिससे एकमात्र केवल उसीकी प्रशंसा और पूजा हो। ऐसी भावना पूर्ण अधःपतनका कारण है। इससे वह यहाँ भी ईर्ष्याग्निसे जलता है और परमार्थसे तो पतित हो ही जाता है। साधकको चाहिये कि दूसरेकी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हो और दूसरेकी निन्दा कदापि न करे। दूसरेकी सच्ची बुराईको भी छिपानेका ही प्रयत्न करे, उसका उद्‌घाटन कदापि न करे। श्रीमद्भागवतपुराण स्कन्ध ११ में श्रीभगवान्‌का वाक्य है कि दूसरेके गुण अथवा दोषपर दृष्टिपात करना यथार्थ दोष है और इन दोनोंपर ध्यान न देना यथार्थ गुण है—

गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥

(१९।४५)

—वहाँ ही अध्याय २८ के श्लोक १ से २ तकमें श्रीभगवान्‌का कथन है कि दूसरेकी प्रशंसा अथवा निन्दा करनेवाला परमार्थ-साधनसे पतित हो जाता है।

साधक भक्तमें यदि कोई शक्ति अनायास प्रकट हो जाय और उसके द्वारा कोई उपकारी कार्य हो सके तो उसे समझना चाहिये कि यह शक्ति और कार्य करनेकी सामर्थ्य श्रीभगवान्‌की ही है, मेरी कदापि नहीं है, और श्रीभगवान्‌के कार्योंके साधन करनेके लिये ही दी गयी है। उसके लिये उसे कदापि अहंकार न कर श्रीभगवान्‌की स्तुति करनी चाहिये और भगवत्-कैङ्कर्यभावसे उसका व्यवहार करना चाहिये।

साधकको अपनी आन्तरिक शक्ति और अनुभवको कदापि प्रकाशित नहीं करना चाहिये, क्योंकि जाने अथवा बिना जाने मान-बड़ाई आदिकी प्राप्तिके लिये ही ऐसा किया जाता है। यह एक प्रकारका स्वार्थ ही है और इसके कारण साधक गिर जाता है। अपने दैवी अनुभवको प्रकाशित करनेसे फिर ऐसा अनुभव होना एकदम रुक जाता है, क्योंकि उसे प्रकाशित करना उसका दुरुपयोग करना है। रहस्यविषय गुप्त ही रहना चाहिये। किन्तु आवश्यक होनेपर श्रीभगवान्‌के लिये उसका प्रयोग अवश्य करना चाहिये। जीवात्माकी सारी उत्तम शक्तियाँ ईश्वरकी दी हुई हैं और जो अहंकारवश उन्हें अपना समझ गर्व करता है उसका गर्व भंग कर दिया जाता है। प्रभासप्रयाणके पश्चात् जब अर्जुन यदुकुलकी स्त्रियोंको लेकर लौट रहे थे, उस समय रास्तेमें गँवारोंने उनसे स्त्रियोंको छीन लिया और अर्जुन अपने अमोघ शस्त्र गाण्डीव धनुषसे भी उन्हें ऐसा करनेसे रोक न सके, क्योंकि उनमें जो शक्ति थी वह यथार्थमें श्रीभगवान्‌की थी, और जब श्रीभगवान्‌ने उसे उनसे हर लिया तो अर्जुन स्वयं कुछ न कर सके। इस घटना-पर और उस समयकी अर्जुनकी उक्तिपर मनन करके अहंकार-का ह्रास करना चाहिये। उस समय अर्जुनने कहा था—

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते
सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं
भस्मन्हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम्॥

(श्रीमद्भागवत १।१५।२१)

'कौरवसंग्राममें अनेकों राजा जिसे प्रणाम करते थे, वही धनुष, वही बाण, वही रथ, वही घोड़े और वही मैं रथी हूँ, परन्तु यह सब सामग्रियाँ श्रीकृष्णसे रहित होनेके कारण, भस्ममें किये हुए हवन, मायावी पुरुषसे मिली हुई वस्तु और ऊसर भूमिमें बोये हुए बीजकी भाँति एक क्षणमें व्यर्थ हो गयीं।' इस घटनासे यह भी सिद्ध होता है कि सांसारिक पदार्थ और शक्तिमें ममता और राग कदापि नहीं करना चाहिये, क्योंकि कभी-न-कभी वे अवश्य नष्ट हो जायँगे।

अमानता

मान-बड़ाई चाहनेवालेको यह भी अवश्य होता है कि अनेक स्थलोंमें मान-बड़ाईके बदले अपमान और निन्दा मिलती है। ऐसी अवस्थामें साधकमें क्रोध और क्षोभ आते हैं, जिनके आवेगमें वह क्या नहीं कर डालता, क्योंकि क्रोध सब पापोंका मूल है। मान-बड़ाईकी रक्षाके लिये असत्य-भाषण आदि दुष्कर्म और अनेक प्रकारके असत्य धर्माडम्बर करने पड़ते हैं, जिनके कारण साधक गिर जाता है। इसमें विचित्रता यह है कि साधक इस मान-बड़ाईकी चाहके कारण भ्रममें पड़ जाता है और इसीको आवश्यक समझने लगता है। उसे यह मालूम नहीं कि यह वासना उसकी साधनाका नाश करनेवाली है। वह यह नहीं जानता है कि इस प्रकारकी वासना भी कामका ही रूपान्तर है और माया-देवीद्वारा प्रेरित होनेसे ही आयी है। अच्छे-अच्छे साधक इस वासनाके चंगुलमें फँस जाते हैं और वे गुरु तथा सिद्ध

बनना चाहते हैं और उसके बदलेमें मान-बड़ाई, द्रव्य आदि पानेके लिये लालायित रहते हैं। उनके स्वार्थी अनुयायी उनसे धन-पुत्र, व्याधिनाश और अन्य काम्य पदार्थोंकी प्राप्तिकी आशा रखते हैं और ऐसी ही प्रार्थना भी करते हैं तथा उन्हें भी सङ्कोच और स्वार्थवश वैसा ही आशीर्वाद देना पड़ता है, जिससे उनकी आभ्यन्तरिक शक्तिका बहुत बड़ा ह्रास होता है। ऐसा करनेसे वे पथसे च्युत हो जाते हैं। ईश्वरीय शक्तिका स्वार्थसाधनमें व्यय करना उसका बड़ा दुरुपयोग करना है। ऐसा करनेसे साधककी शक्तियाँ लुप्त हो जाती हैं। अतएव साधकको चाहिये कि इस दुर्धर्ष काम एवं मान और बड़ाईसे बचनेके लिये अपनेको शरीरकी दृष्टिसे सबसे छोटा समझे और मान-बड़ाईको विषके समान जाने तथा अपमान और निन्दा होनेसे प्रसन्न होवे। अहंकारका त्याग करनेसे ही ऐसी स्थिति प्राप्त हो सकती है, क्योंकि यह अहंकार ही है जो मान-बड़ाई चाहता है और निन्दा-अपमानसे खिन्न कर देता है। जबतक मान-बड़ाईकी चाह वर्तमान रहे तबतक समझना चाहिये कि अहंकार बना हुआ है। इसी कारण श्रीगौराङ्गमहाप्रभुने भक्तका लक्षण ऐसा कहा है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

'साधक अपनेको तृणसे भी तुच्छ मानकर और वृक्षके समान सहनशील होकर तथा अपने लिये मानका त्याग कर और दूसरेको मान प्रदान कर श्रीभगवान्‌का भजन करे।' साधक भक्त अपनेको श्रीभगवान्‌का एक छोटा-सा किंकर समझे। इससे उसे

अपमान तनिक भी क्षुभित नहीं कर सकता। बल्कि वह अपमानको अपमान नहीं समझता, क्योंकि अपमान जिस अहंकारपर चोट पहुँचाता है उसका उसमें अभाव है। वह अपमानको प्रशंसाकी भाँति समझता है और आवश्यक जानकर उससे प्रसन्न होता है। वह अपमानको श्रीभगवान्‌की कृपाका फल समझता है, क्योंकि इसके तत्त्वको समझकर सहन कर लेनेसे इससे बड़ा उपकार होता है जैसा पहले भी कहा जा चुका है। इसी प्रकार क्रोध, लोभ आदि भी रूपान्तरसे साधकमें प्रवेश करते हैं। अपमानित होनेपर अथवा अपने आदेशका पालन न होनेपर अथवा किसी ऐसे कार्यको होते देखकर जो उसे पसंद नहीं है, साधकमें क्रोध आ जाता है। उस समय वह उस क्रोधको बुरा नहीं समझता, बल्कि उचित समझकर उसे अपनेमें स्थान देता है। किन्तु वह साधकको कलुषित कर देता है। साधकके लिये सब प्रकारका क्रोध और क्षोभ परम हानिकर है। साधकको श्रीभगवान् और उनके अनिवार्य कर्मफलके नियमपर विश्वास रखना चाहिये। अधर्मका दमन प्रार्थना, उपदेशादिद्वारा अवश्य करना चाहिये, किन्तु समझना चाहिये कि धर्मका कार्य केवल धर्महीकी सहायतासे होगा, अधर्मद्वारा कदापि नहीं। क्रोध आदि जो अधर्म हैं उनके द्वारा कदापि धर्मका कार्य नहीं हो सकता है। साधकमें भेंट-पूजा, यश और सहायता पानेकी अभिलाषा आदिके रूपमें लोभ ही आ जाता है और इस प्रकार वह गुप्तरूपसे आकर बड़ा अनर्थ करता है। साधकको चाहिये

कि अपनी आवश्यकताओंको बहुत कम कर दे और उनमें भी यथालाभमें सन्तोष रक्खे ।

इन्द्रियाँ भी अपने विषयोंका रूप बदलकर, साधकको फँसानेके लिये उस नकलको उनके सामने भेजती हैं, जिनसे सावधान रहना साधकके लिये अत्यन्त आवश्यक है । यथार्थमें इन्द्रियाँ बड़ी ही प्रबल होती हैं और भक्तिमार्गमें बड़ी बाधा देती हैं । अतएव इनके सब प्रकारके बहकानेवाले और मोहनेवाले भावोंको सदा निग्रह करते रहना चाहिये, क्योंकि उनमें सब प्रकारके अनुचित मैथुनकी वासना बड़ी ही प्रबल है । यह अनेक रूपमें बार-बार आती रहती है और बड़ी कठिनाईसे नष्ट होती है । किन्तु बिना इसके समूल नष्ट हुए श्रीभगवान्‌के प्रकाशके आश्रयमें जानेका सौभाग्य किसीको कदापि प्राप्त नहीं हो सकता । जब सुन्दरताको देखनेसे उसमें श्रीभगवान्‌की विभूति होनेका पूज्यभाव, स्त्रीको देखनेसे उसमें जगन्माताका भाव, कुत्सित विषय-भोगके देखने और सुननेसे उसमें असद्भाव (अर्थात् वह यथार्थमें नहीं है, केवल मायामात्र है), केवल सुखकी सामग्रीके देखनेसे उसमें वैराग्यभाव और विवेक-दृष्टिसे संसारमात्रमें ईश्वरभाव आते हैं, केवल तभी हृदयके मल दूर होते हैं—ऐसा हुए बिना कदापि दूर नहीं होते । हृदय परम शुद्ध होनेपर भगवत्प्रेम उत्पन्न होता है और तभी वहाँ श्रीभगवान् प्रकट होते हैं, अन्य प्रकारसे कदापि नहीं ।

सत्सङ्ग

भक्तिकी प्राप्तिके लिये सत्सङ्ग परमावश्यक है। धर्मिष्ठ परोपकारी साधु भक्तजनोंसे बार-बार मिलना चाहिये, उनके पास केवल बैठनेमात्रसे भी लाभ होगा, चित्त शान्त होगा और भक्तिभाव उत्पन्न होगा। उनसे भक्तिकी साधनाके विषयमें वार्तालाप करना चाहिये, किन्तु व्यर्थ और अनावश्यक प्रश्नोंको उठाकर समयको व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहिये। व्यर्थ वितण्डावादमें भी नहीं पड़ना चाहिये। नारदसूत्रका वचन है—'वादो नावलम्ब्यः' वादका अवलम्बन (दुराग्रह) नहीं करना चाहिये।

श्रीमद्भागवतपुराणका वचन है—

सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषां च सम्मतः।
यत्सम्भाषणसम्प्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम्॥
(४।२२।१९)

यत्सङ्गलब्धं निजवीर्यवैभवं
तीर्थं मुहुः संस्पृशतां हि मानसम्।
हरत्यजोऽन्तः श्रुतिभिर्गतोऽङ्गजं
को वै न सेवेत मुकुन्दविक्रमम्॥
(५।१८।११)

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥
(१०।५१।५५)

'साधुओंके साथ सत्सङ्ग दोनोंहीके लिये लाभदायक है। उनके परस्पर प्रश्न और उत्तरसे सबका कल्याण होता है। भक्तोंके सत्सङ्गसे श्रीभगवान्‌के यशकी कथा सुननेमें आती है। उन कथाओंका श्रोतागणके हृदयमें प्रवेश होनेपर श्रीभगवान् उनके मनके मैलको दूर कर देते हैं। हे भगवन्! साधुओंके सङ्गसे संसारसे छुटकारा होता है। और जब सत्सङ्ग हुआ तब आपमें भक्ति होती है। आप छोटे-बड़े सभीके प्रभु हैं और सन्तोंकी गति हैं।'

जिस प्रकार सत्सङ्गतिसे लाभ होता है उसी प्रकार जो भक्तिके तत्त्वको नहीं जानते, उनके किसी-किसी स्वकपोलकल्पित उपदेशसे हानि भी होती है। अतः उनसे सावधान रहना चाहिये। आज-कल बहुत-से उत्तम जिज्ञासु स्वार्थी और असिद्ध गुरुओं एवं उप-देशकोंके पंजेमें पड़कर धोखा खाते हैं और उनका परिश्रम अयुक्तमार्गके अवलम्बनसे व्यर्थ ही नहीं होता, अपितु उससे बड़ी हानि भी होती है। विषयी लोगोंका सङ्ग तो विषके समान है, उसका तो सर्वथा त्याग करना चाहिये। दुःसङ्गके कारण अच्छे लोग भी बिगड़ जाते हैं। नारदसूत्रमें लिखा है—

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥ ४३ ॥

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ४४

'दुर्जनोंका समागम सर्वथा त्याग देना चाहिये। क्योंकि वह (दुर्जनसमागम) काम, क्रोध, मोह, मतिविभ्रम, बुद्धिहीनता और सर्वस्वनाशका कारण है।'

उपनिषद्‌में कथा है कि इन्द्रने किसी ऋषिको भ्रष्ट करनेके निमित्त उन्हें अपने पास रखनेके लिये एक खड्ग दिया। जब वे

आश्रमसे बाहर जाते तो खड्गकी रक्षाके निमित्त उसको साथ ले जाते। थोड़े दिनोंके बाद वे उससे घास-पत्ती काटने लगे, फिर वृक्ष, फिर पक्षी, फिर पशु और अन्तमें मनुष्य-हत्या करने लगे। विचारणीय है कि जड़ खड्गके सङ्गका जब ऐसा प्रबल प्रभाव हुआ तो चेतनके कुसङ्गसे क्या अनर्थ न होगा? इसी प्रकार सत्सङ्गका प्रमाण श्रीशबरी भीलनी हैं जिन्होंने सत्सङ्गके प्रभावसे श्रीभगवद्-दर्शन पाया और उनकी विशेष कृपा प्राप्त की।

श्रीमद्भागवतका वचन है—

> सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा।
> शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम्॥
> तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु।
> सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥
>
> (३।३१।३३-३४)

'जिनके सङ्गसे सत्य, शौच, दया, मौन, बुद्धि, लक्ष्मी, लज्जा, यश, क्षमा, शम, दम और सौभाग्यका नाश होता है ऐसे अशान्त, मूढ़, शोचनीय, देहाभिमानी, असाधु, स्त्रियोंके वशीभूत पुरुषोंका सङ्ग न करे।'

शास्त्रचिन्तनरूप सत्सङ्ग

एक अङ्ग भक्तिशास्त्र आदिका चिन्तन और मनन भी है। किसी सद्ग्रन्थका चिन्तन, मनन करना मानो उस ग्रन्थकर्तासे सत्सङ्ग करना और बातचीत करनेकी भाँति है, क्योंकि ग्रन्थमें ग्रन्थकर्ता अपनी भावनाके रूपमें वर्तमान रहता है। किसी ग्रन्थका यथार्थ तात्पर्य तभी

मालूम होता है, जब पाठक समझता है कि ग्रन्थकर्ता उसके सामने उपस्थित हैं और ऐसा समझ उस ग्रन्थकर्ताकी जो अवस्था और भाव ग्रन्थसङ्कलनके समय थे उनको अपने हृदयमें लानेका यत्न करनेपर और उसके द्वारा उसके साथ एकता करनेपर ही ग्रन्थकर्ताका यथार्थ तात्पर्य मालूम पड़ता है, अन्यथा नहीं। अतएव शास्त्रोंका चिन्तन, मनन करना मानो उस ग्रन्थकर्तासे सत्सङ्ग करना है और यही सत्सङ्ग आजकल सुलभ है। साक्षात् सत्सङ्ग तो बड़ा दुर्लभ है। अतएव साधकको ऐसे सद्ग्रन्थोंका पाठ, विचार और मनन करना चाहिये जिनमें श्रीभगवान्के पावन यश और अद्भुत लीलाओंका वर्णन हो, भक्तिकी साधना, रहस्य और तत्त्वका परिदर्शन हो और भक्तोंके कार्य और महिमाका उल्लेख हो। अन्य उपयुक्त सद्ग्रन्थोंका भी मनन करना चाहिये और जिन्हें पढ़नेसे श्रीभगवत्-सम्बन्धी धर्मप्रचार और अन्य परोपकारी कार्यके करनेमें सहायता मिले ऐसे ग्रन्थोंको भी पढ़ना चाहिये। नारदसूत्रका वचन है—

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधककर्माणि करणीयानि।

'जिनमें भक्तिका वर्णन है उन शास्त्रोंका चिन्तन, मनन करना चाहिये और भक्ति बढ़ानेवाले कर्मोंको करना चाहिये।'

सब साधनामें यम और नियम दोनों रहते हैं अर्थात् एक यम (निषेध) और दूसरा नियम (विधि)। जैसे सत्सङ्ग (विधि) के साथ असत्सङ्गका त्याग (निषेध) भी लगा हुआ है, जो पहले कहा

जा चुका है, उसी प्रकार सद्ग्रन्थके पाठ (विधि) के साथ असद्ग्रन्थके पाठका निषेध भी समझना चाहिये। धर्म और भक्तिकी विरोधिनी हानिकारी पुस्तकोंको नहीं पढ़ना चाहिये, क्योंकि यह भी एक प्रकारका असत्सङ्ग है।

सत्पुरुषका सङ्ग

सत्सङ्गकी मध्यम अर्थात् आधिदैविक अवस्था ऐसे सत्पुरुषोंसे सत्सङ्ग और समागम करना है जिनको सद्गुरुकी प्राप्ति हो चुकी है। महान् सद्गुरु तो प्रायः बाह्य दृष्टिसे अदृश्य ही रहते हैं किन्तु उनके शिष्य, प्रशिष्य और कृपापात्र सत्पुरुष अब भी इस संसारमें हमलोगोंके बीच वर्तमान हैं जिनके कारण यह गुरुपरम्परा अबतक वर्तमान है। उनके द्वारा और स्वयं भी सद्गुरुसे सम्बन्ध साधकोंको अब भी हो सकता और होता है और उपयुक्त साधनद्वारा उनकी साक्षात् प्राप्ति भी होती है, जैसा कि उन सत्पुरुषोंको हुआ है। किन्तु ऐसे सद्गुरुके कृपापात्र महानुभावोंसे भी, श्रीभगवान्की कृपासे ही, सम्बन्ध होता है, नहीं तो इनकी भी पहचान बहुत कठिन है। ये लोग अपनी अवस्थाको कदापि प्रकाशित नहीं करते और छिपे हुए-से रहते हैं। उनमें अन्य सद्गुणोंके सिवा मुख्य गुण अहङ्कार और स्वार्थका सर्वथा अभाव रहता है। अहङ्कारके जो दोष हैं वे उनमें नहीं रहते। वे सत्पुरुष न अपनेको गुरु मानते हैं, न गुरु बननेका दावा करते हैं। वे प्रार्थना करनेपर भी किसीके सद्गुरु नहीं बनते, क्योंकि वे केवल सद्गुरुको ही सबका यथार्थ गुरु जानते हैं। यदि सत्सङ्ग और उपदेशद्वारा किसीकी कुछ सहायता करते हैं तो उसके बदले आदर, मान कदापि

नहीं चाहते, वे कदापि धर्मप्रचारकी दूकानदारी नहीं करते । वे इस प्रकार संसारमें वर्तते हैं कि सिवा उन भाग्यशाली साधकोंके जिन्हें उनके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त हो गया है, दूसरे यह जान भी नहीं सकते कि इन्हें श्रीसद्गुरुका सम्बन्ध प्राप्त है । इस विषयमें अपनेको पूरा गुप्त रखना उनका मुख्य स्वभाव है । यह परम आवश्यक है कि साधकको ठीक समयपर ऐसे सत्पुरुषोंके सत्सङ्ग और उपदेशका सौभाग्य प्राप्त हो । यथार्थ जिज्ञासु साधक जब ऐसी अवस्थामें आ पहुँचता है कि उसे ऐसे सत्पुरुषोंकी सहायताकी आवश्यकता होती है, जब वह इसके लिये पूर्ण लालायित होता है और इसके लिये शुद्ध हृदयसे श्रीभगवान्‌से बड़े कातरभावसे प्रार्थना करता हुआ हृदयसे व्याकुल होकर क्रन्दन करता है और जब इसके लिये ठीक समय आ जाता है तो श्रीभगवान् कृपा कर उसका ऐसे सत्पुरुषसे समागम करा देते हैं । ऐसा कभी तो साधारण रीतिसे होता है और कभी असाधारण रीतिसे स्वप्नमें भी इसका आदेश मिलता है तथा यदि साधक योग्य हो तो कभी ऐसा ध्यानमें भी होता है । प्रायः भगवत्-कृपा होनेपर ऐसे सत्पुरुषको साधक स्वयं भी पहचान लेता है जो पहले सम्भव नहीं था । श्रीमद्भागवतका वचन है—

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये ।
पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥
(१० । ४० । २८)

'हे परमेश्वर पद्मनाभ ! ऐसा मैं, विषयासक्त पुरुषोंको जिसका पाना कठिन है ऐसे तुम्हारे चरणकी शरण आया हूँ, सो यह तुम्हारी कृपासे ही हुआ ऐसा मैं मानता हूँ, यदि कहो कि ऐसे साधुओंके समागमसे हो जाता है तो वह साधुसमागम भी जब तुम्हारी कृपासे इस जीवके संसारकी समाप्ति होनेका समय आता है तभी होता है और उस साधुसमागमसे तुम्हारी उपासनामें प्रवृत्ति होती है।' ऐसे सत्पुरुषके समागम होनेपर साधकको श्रीसद्गुरुका ज्ञान होता है और साधनाका रहस्य प्राप्त होता है जिसके अभ्याससे वह पथमें अग्रसर होता है। सत्सङ्गका अन्तिम लक्ष्य अर्थात् आध्यात्मिक अवस्था श्रीसद्गुरुकी प्राप्ति है जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

समयकी उपयोगिता

कलियुगमें मनुष्यकी आयु बहुत थोड़ी है और उस थोड़ी-सी आयुका भी कुछ निश्चय नहीं है और साधन बहुत करना है। अतएव साधकको समयके किसी अंशको कदापि व्यर्थ नहीं बीतने देना चाहिये किन्तु ईश्वर-चिन्तन एवं भगवत्सेवामें ही लगाना चाहिये। नारदसूत्रमें लिखा है—

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्षमाणे क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम्।

'जिस समय सुख, दुःख, इच्छा, लाभ आदि अनेकों प्रकारके विषयोंका अभाव हो उस समय काल मनुष्यकी प्रतीक्षा करता है, इसलिये अपना हित साधनेवाले मनुष्यको आधा क्षण भी व्यर्थ न

जाने देना चाहिये ।' संसारमें पुरुषार्थसे कभी-न-कभी सब कुछ मिल सकता है किन्तु केवल बीता हुआ समय ही कदापि किसी प्रकार नहीं मिल सकता; अतएव सबसे अधिक मूल्य समयका है और सब प्रकारके पुरुषार्थोंकी प्राप्तिमें इसकी अपेक्षा रहती है। समय अर्थात् काल एक बड़ा प्रबल कारण है। जो समयका सदुपयोग न कर इसको व्यर्थ खोते हैं, वे अवश्य पछताते हैं; किन्तु समय चूकनेपर पछतानेसे क्या हो सकता है? उन्नति वही करता है जो समयको व्यर्थ नहीं खोता और उसका ठीक-ठीक उपयोग करता है।

श्रद्धा-विश्वास

श्रद्धा-विश्वासका होना भक्तिके लिये अत्यन्तावश्यक ही नहीं, अपितु इसका मूल है। इस मूलके बिना भक्तिरूपी वृक्ष ठहर नहीं सकता। बृहन्नारदीयपुराणका वचन है—

श्रद्धापूर्वाः सर्वधर्मा मनोरथफलप्रदाः।
श्रद्धया साध्यते सर्वं श्रद्धया तुष्यते हरिः॥
भक्तिर्भक्त्यैव कर्तव्या तथा कर्माणि भक्तितः।
कर्माणि श्रद्धाहीनानि न सिध्यन्ति द्विजोत्तमाः॥
(४१-२)

'सारे धर्म जो श्रद्धासे किये जायँ तो वे वाञ्छित फल देते हैं, श्रद्धासे सब सिद्ध होता है और श्रद्धासे ही श्रीहरि प्रसन्न होते हैं। भक्तिको भक्ति (श्रद्धा-विश्वास) के साथ करनी चाहिये और

सब कर्मोंको भी भक्तिपूर्वक (ईश्वरनिमित्त) करना चाहिये, जो कर्म बिना श्रद्धाके किये जाते हैं वे सिद्ध नहीं होते।'

प्रारम्भमें श्रद्धा-विश्वास सद्ग्रन्थोंके श्रवण, पठन, चिन्तन, मनन और सत्सङ्गद्वारा उत्पन्न होता है अर्थात् शास्त्रप्रमाण और आप्तवाक्य इसका प्रधान कारण हैं। अभ्रान्त त्रिकालदर्शी ऋषियोंके शास्त्रोक्त वाक्य और सन्त महापुरुषोंके उपदेशोंमें जो अपने हृदयको उत्तम और सत्य मालूम पड़े उनपर श्रद्धा-विश्वास करना परमावश्यक है। इसके बिना साधक भक्तिसाधनाके पथमें अग्रसर नहीं हो सकता। जब कि किसी भी विद्या और कला-कौशलकी प्राप्ति प्रारम्भमें उनके कतिपय मुख्य सिद्धान्तोंपर पूरा विश्वास किये बिना हो नहीं सकती, ऐसी अवस्थामें यह जो श्रीभगवान्‌की भक्तिरूप सर्वोच्च साधन है उसकी प्राप्ति बिना श्रद्धा और विश्वासके कैसे हो सकती है? गीतामें श्रीभगवान्‌का वचन है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(१६। २३-२४)

'जो शास्त्रकथित विधानको छोड़ अपनी इच्छाके अनुसार चलता है, वह सिद्धि, सुख और उत्तम गति प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिये कर्तव्य और अकर्तव्य इनकी व्यवस्थामें शास्त्र ही

प्रमाण है, ऐसा जानो। शास्त्रमें कही हुई विधिको जानकर ही तू यहाँ कर्म कर सकता है।'

विश्वासका विरोधी सन्देह है जिसके भक्तिमार्गमें आनेसे सब साधनाएँ व्यर्थ हो जाती हैं। गीतामें श्रीभगवान्‌का वचन है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥
(४। ३९-४०)

'जितेन्द्रिय, ज्ञाननिष्ठ और श्रद्धावान् पुरुष ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वह ज्ञान पाकर शीघ्र ही बड़ी शान्ति प्राप्त कर लेता है। जो अज्ञानी श्रद्धासे हीन और सदा संशय करनेवाला है वह नाशको प्राप्त होता है। जिसका मन सर्वदा संशयमें रहता है, उसको इस लोक वा परलोकमें सुख नहीं मिलता।' ज्ञान-मार्गमें श्रद्धाके मुख्य पात्र देशिक (आचार्य) और वेदान्तके सिद्धान्त हैं किन्तु भक्तिमार्गमें श्रद्धा परिवर्तित होकर विश्वास हो जाती है। भक्तका यह विश्वास श्रीभगवान् और उनकी असीम कृपामें होता है।

श्रद्धा और विश्वासकी मध्यमा अवस्थाको श्रीभगवान्‌में रति कहते हैं जो साधनद्वारा प्राप्त होती है। इस अवस्थामें विश्वास स्वाभाविक हो जाता है और इसमें किसी प्रमाणकी आवश्यकता

नहीं रहती; यद्यपि तबतक कोई प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता भी नहीं है। अन्तरात्माकी जागृति होनेसे ही यह अवस्था आती है और सत्पुरुषोंके सम्बन्धसे इसकी प्राप्तिमें बड़ी सहायता मिलती है। फलकी कामना होनेसे और उसकी पूर्तिमें विलम्ब होनेसे अथवा कुसङ्गतिसे अथवा कुतर्क और कुविचारसे प्रथम अवस्थाके श्रद्धा-विश्वासके ह्रास और एकदम लोप होनेकी सम्भावना रहती है, और प्रायः ऐसा होता भी है; किन्तु द्वितीय अवस्थामें इसकी कुछ भी सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि उस समय विश्वास किसी वाह्य प्रमाणपर निर्भर न रहकर—चित्तके बाह्यभागमें न होकर अन्तरात्माके ज्ञानपर निर्भर हो जाता है और उस समय वृत्ति भी परम आन्तरिक हो जाती है, जो हजार कुसङ्गतिमें पड़ने और कुतर्कोंके सुननेपर भी विचलित नहीं होती। यह विश्वासकी अन्तिम अवस्था भक्तिके प्राप्त होनेपर आती है जब साधकको श्रीभगवान्‌की झलक एक वार प्रत्यक्षरूपसे दीख जाती है, जिससे उसे अपने विश्वासका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता है।

मुख्य साधना

इस परमोच्च विषयके कथनके आदिमें यह आवश्यक है कि भक्तिकी मुख्य साधनाएँजो शास्त्रमें कथित है उनका प्रथम उल्लेख किया जायँ और तत्पश्चात् उनका क्रमशः वर्णन किया जाय।

भक्तिकी मुख्य साधना भगवान् श्रीरामचन्द्रने श्रीलक्ष्मणसे यों कही है—

जाते वेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भक्ति भक्त-सुखदाई॥
सो स्वतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना॥

भक्ति तात अनुपम सुखमूला। मिलै जो संत होहिं अनुकूला॥
भक्तिके साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं विप्रचरन अति प्रीती। निज निज धर्म निरत श्रुति रीती॥
एहिकर फल पुनि विषय विरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥
श्रवणादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पतिदेवा। सब मोहि कहँ जाने दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
कामादिक मद दंभ न जाके। तात निरंतर बश मैं ताके॥

वचन कर्म मन मोरि गति, भजन करैं निष्काम।
तिन्हके हृदयकमल महँ, करौं सदा विश्राम॥

(मानसरामायण, अरण्यकाण्ड)

गर्गसंहिताके विज्ञानखण्ड अध्याय २ में श्रीवेदव्यासजीने उग्रसेनको भक्तिका लक्षण और साधन यों बतलाया—

भक्तियोगो द्विधा राजन्सगुणश्चैव निर्गुणः।
सगुणः स्याद्बहुविधो निर्गुणश्चैकलक्षणः॥
सगुणः स्याद्बहुविधो गुणमार्गेण देहिनाम्।
तैर्गुणैस्त्रिविधा भक्ता भवन्ति शृणु तान्पृथक्॥
हिंसा दम्भं च मात्सर्यं चाभिसन्धाय भिन्नदृक्।
कुर्याद्भावं हरौ क्रोधी तामसः परिकीर्तितः॥
यश ऐश्वर्यविषयानभिसन्धाय यत्नतः।
अर्चयेद्यो हरिं राजन् राजसः परिकीर्तितः॥
उद्दिश्य कर्मनिर्हारमपृथग्भाव एव हि।
मोक्षार्थं भजते विष्णुं स भक्तः सात्त्विकः स्मृतः॥

जिज्ञासुरार्तो ज्ञानी च तथार्थार्थी महामते ।
चतुर्विधा जना विष्णुं भजन्ते कृतमङ्गलाः ॥
एवं बहुविधेनापि भक्तियोगेन माधवम् ।
भजन्ति सनिमित्तास्ते जनाः सुकृतिनः परे ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य तथा शृणु ।
तद्गुणश्रुतिमात्रेण श्रीकृष्णे पुरुषोत्तमे ॥
परिपूर्णतमे साक्षात्सर्वकारणकारणे ।
मनोगतिरविच्छिन्नाखण्डिताहैतुकी च या ॥
यथाब्धावम्भसा गङ्गा सा भक्तिर्निर्गुणा स्मृता ।
निर्गुणानां च भक्तानां लक्षणं शृणु मानद ॥
सार्वभौमं पारमेष्ठ्यं शक्रधिष्ण्यं तथैव च ।
रसाधिपत्यं योगर्द्धिं न वाञ्छन्ति हरेर्जनाः ॥
हरिणा दीयमानं वा सालोक्यं यादवेश्वर ! ।
न गृह्णन्ति कदाचित्ते सत्सङ्गानन्दनिर्वृताः ॥
सामीप्यं तेन वाञ्छन्ति भगवद्विरहातुराः ।
सन्निकृष्टेन तत्प्रेम यथा दूरतरे भवेत् ॥
सारूप्यं दीयमानं वा समानत्वाभिमानिनः ।
नैरपेक्ष्यान्न वाञ्छन्ति भक्तास्तत्सेवनोत्सुकाः ॥
एकत्वं चापि कैवल्यं न वाञ्छन्ति कदाचन ।
एवं चेत्तर्हि दासत्वं क्व स्वामित्वं परस्य च ॥
निरपेक्षाश्च ये शान्ता निर्वैराः समदर्शिनः ।
आकैवल्याल्लोकपदग्रहणं कारणं विदुः ॥

नैरपेक्ष्यं महानन्दं निरपेक्षा जना हरेः ।
जानन्ति हि यथा नासा पुष्पामोदं न चक्षुषी ॥
सकामाश्च तदानन्दं जानन्ति हि कथञ्चन ।
रसकर्ता तथा हस्तो रसास्वादं न वेत्ति हि ॥
तस्माद्राजन्भक्तियोगं विद्धि चात्यन्तिकं पदम् ।
भक्तानां निरपेक्षाणां पद्धतिं कथयामि ते ॥
स्मरणं कीर्तनं विष्णोः श्रवणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
कुर्वन्ति सततं राजन्भक्तिं ये प्रेमलक्षणाम् ।
ते भक्ता दुर्लभा भूमौ भगवद्भावभावनाः ॥
कुर्वन्तो महतोऽपेक्षां दयां हीनेषु सर्वतः ।
समानेषु तथा मैत्रीं सर्वभूतदयापराः ॥
कृष्णपादाब्जमधुपाः कृष्णदर्शनलालसाः ।
कृष्णं स्मरन्ति प्राणेशं यथा प्रोषितभर्तृकाः ॥
श्रीकृष्णस्मरणाद्येषां रोमहर्षः प्रजायते ।
आनन्दाश्रुकलाश्चैव वैवर्ण्यं तु क्वचिद्भवेत् ॥
श्रीकृष्ण गोविन्द हरे ब्रुवन्तः श्लक्ष्णया गिरा ।
अहर्निशं हरौ लग्नास्ते हि भागवतोत्तमाः ॥
(६–३०)

'हे राजन् ! भक्तियोग सगुण और निर्गुणरूपमें दो प्रकार-का है, जिनमें सगुण अनेक प्रकारका है किन्तु निर्गुणका एक ही लक्षण है। मनुष्यके गुणोंके मार्गके कारण सगुण भक्तियोग

अनेक प्रकारके हैं और उन्हीं गुणोंके कारण तीन प्रकारके भक्त होते हैं जिनका पृथक्-पृथक् वर्णन सुनो। हिंसा, दम्भ, मत्सर (असहनशीलता), इनमें किसीको रखके और भिन्न (पृथक्) दृष्टि और क्रोधके भावसे जो श्रीभगवान्‌में भक्ति करता है वह तमोगुणी भक्त है। हे राजन्! जो यश, ऐश्वर्य और विषयकी कामना रखकर यत्नसे श्रीभगवान्‌की पूजा करता है वह रजोगुणी भक्त है। कर्मके बीजको नाश करनेके लिये और पृथग्भाव (भिन्न दृष्टि) को छोड़कर मोक्षकी प्राप्तिके लिये जो श्रीभगवान्‌का भजन करता है वह सात्त्विक भक्त है। हे महामते! चार प्रकारके भक्त अर्थात् जिज्ञासु, दुःखी, ज्ञानी और अर्थके चाहनेवाले श्रीभगवान् मंगलालयको भजते हैं। इस प्रकार सुकृती भक्त अनेक प्रकारके भक्तियोगसे श्रीभगवान्‌को भजते हैं जो सब सकाम है। निर्गुण भक्तियोगका लक्षण सुनो! श्रीभगवान्‌के गुणके सुननेमात्रसे साक्षात् परिपूर्णतम, सब कारणोंके कारण, पुरुषोत्तम श्रीभगवान्‌में अविच्छिन्न, अखण्डित और अहैतुकी जो मनकी प्रवृत्ति, जैसा कि समुद्रमें श्रीगंगाजीकी धारा, वही निर्गुण भक्ति है। हे मानद! निर्गुण भक्तोंका लक्षण सुनो। श्रीभगवान्‌के जन चक्रवर्ती राज्य, रसातलका राज्य, इन्द्रलोकका राज्य, ब्रह्माकी पदवी और अणिमादिक योगकी सिद्धियोंको कभी नहीं चाहते। हे यादवेश्वर! श्रीभगवान्‌से सालोक्यवास दिये जानेपर भी कदापि उसको वे स्वीकार नहीं करते क्योंकि वे सत्संगके आनन्दमें मग्न रहते हैं। श्रीभगवान्‌के विरहमें आतुर रहकर भी श्रीभगवान्‌के समीप रहना कदापि नहीं

चाहते, क्योंकि जैसा प्रेम दूर रहनेपर होता है वैसा समीप रहनेमें नहीं होता। भक्त भगवान्‌के समान रूप दिये जानेपर भी निष्काम होनेके कारण वे उसे नहीं चाहते, क्योंकि वे समान होनेके अभिमानसे मुक्त हैं और श्रीभगवान्‌की सेवा करनेके लिये उत्सुक रहते हैं। एकत्व और कैवल्य अर्थात् सायुज्यभावको भी कदापि नहीं चाहते, क्योंकि ऐसा होनेसे स्वामी और सेवकका भाव किस प्रकार रहेगा? निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर, समदर्शी, भक्त कैवल्यमोक्षसे लेकर किसी लोकपदका ग्रहण इन सबको वासना ही समझते हैं। निष्कामपनके महानन्दको श्रीभगवान्‌के निष्काम भक्त ही जानते हैं जैसा कि फूलकी सुगन्धिको नाक ही जानती है, नेत्र नहीं। सकाम भक्त उस आनन्दको कदापि नहीं जानते हैं, जैसे रसकर्ता हाथ रसके स्वादको नहीं जानता। इसलिये हे राजन्! सबसे श्रेष्ठ पद भक्तियोगको जानो। निरपेक्ष भक्तोंकी पद्धतिको मैं तुमको कहता हूँ। श्रीभगवान्‌के स्मरण, कीर्तन, श्रवण, पादसेवा, पूजा, वन्दन, दासत्व, सख्यभाव और आत्मसमर्पण इस नौ प्रकारकी प्रेमभक्तिको, हे राजन्! जो सदा करते हैं, वे ही भक्त हैं और पृथ्वीमें ऐसे भक्त, जिनकी भावना सदा श्रीभगवान्‌में लगी रहती है, दुर्लभ हैं। बड़ोंसे उपदेश पानेकी इच्छा रक्खे, अपनेसे छोटेपर दया करे, तुल्यमें मैत्रीभाव रक्खे और सब प्राणियोंपर दया करे। श्रीभगवान्‌के चरणकमलका भ्रमर बन और श्रीभगवान्‌के दर्शनकी लालसा रख प्राणेश श्रीभगवान्‌का स्मरण करे जैसे प्रोषितभर्तृका पतिको करती है। जिनको श्रीभगवान्‌के स्मरणसे ही रोमाञ्च हो

जाय, आनन्दकी आँसू बहे, शरीरका वर्ण कुछ बदल जाय, और हे श्रीकृष्ण ! हे गोविन्द ! हे हरे ! ऐसी मधुर वाणी कहता रात-दिन श्रीभगवान्‌में चित्त संलग्न रहे, वे ही श्रेष्ठ भक्त हैं।' जिस परम निष्काम भक्तिके वर्णनका यहाँ प्रसंग है उसका लक्षण और साधनाका उत्तम वर्णन ऊपरके गर्गसंहिताके वाक्योंमें है। और भी—

> सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
> अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥
> सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
> नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ॥
> अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
> तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥
> श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
> सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥
> नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
> त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥

(भाग० ७।११।८-१२)

'श्रीनारदजीने युधिष्ठिरसे कहा—हे राजन् ! पाण्डुपुत्र ! सत्य, दया, तप, शुद्धता, सहनशीलता, युक्त-अयुक्तका विचार, मनका निग्रह, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, मन्त्रानुष्ठान, सरलता, सन्तोष, सबमें समान दृष्टि रखनेवाले महात्माओंकी सेवा, प्रवृत्त कर्मसे धीरे-धीरे निवृत्त होना, मनुष्योंको कर्मका फल उलटा मिलता है यह देखना, वृथाभाषणसे बचना, आत्मामें स्थित रहने-

का यत्न, अन्न आदिका सकल प्राणियोंको यथोचित भाग देना, उन सकल प्राणियोंमें और विशेषतः मनुष्योंमें आत्मबुद्धि और देवताबुद्धि रखना, महात्माओंके आश्रयभूत इन श्रीभगवान्‌का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजन, नमस्कार, दासभाव, सखाभाव और आत्मसमर्पण, यह तीस लक्षणोंवाला सब मनुष्योंका उत्तम साधारण धर्म है जिसको ऋषियोंने उत्तम प्रकारसे कहा है; क्योंकि इनके द्वारा सर्वात्मा श्रीभगवान् प्रसन्न होते हैं।'

श्रीमद्भागवतपुराणमें भक्तिकी साधनाके ऐसे लक्षण हैं—

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम्॥
शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः॥
सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम्।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित्॥
श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि॥
श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान्सुतान्गृहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम्॥
(११।३।२३–२८)

'मनकी असंगता, साधुजनोंका संग, समस्त प्राणियोंके प्रति यथोचित दया, मैत्री, नम्रताका भाव, शौच, तप, तितिक्षा (सहन-

शीलता), मौन (व्यर्थ वार्ता-वर्जन), स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, निर्द्वन्द्वता, आत्मस्वरूप हरिको सर्वत्र देखना, एकान्त-सेवन, अनिकेतता (गृह आदिमें ममत्व न रखना), पवित्र वस्त्र धारण करना, जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तोष मानना, भक्ति शास्त्रोंमें श्रद्धा रखना, अन्य शास्त्रोंकी निन्दा न करना, मन, वाणी और कर्मका संयम, सत्य भाषण, शम, दमादि, विचित्र लीलाविहारी श्रीभगवान्‌के जन्म, कर्म और गुणोंका श्रवण, कीर्तन और ध्यान, उन्हींके लिये समस्त चेष्टाएँ करना, यज्ञ, दान, तप, जप अथवा जो कुछ भी अपनेको प्रिय हो तथा स्त्री, पुत्र, गृह, प्राण अथवा और जो कुछ हो सब परमात्माको अर्पण कर देना ।'

श्रीभगवान्‌का कथन है कि भक्तिकी प्राप्तिके लिये निम्न-लिखित लक्षण आवश्यक हैं—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक्छान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ११ । २९–३१)

श्रीभगवान् बोले—'हे उद्धव ! जो समस्त देहधारियोंपर कृपा करता है, किसीसे वैरभाव नहीं रखता तथा प्रतिहिंसासे शून्य है, सत्यशील, शुद्धचित्त, समदर्शी और सबका हितकारी

है, जिसकी बुद्धि कामनाओंसे शून्य है, जो संयमी, मृदुल स्वभाव, सदाचारी और अकिञ्चन है, जो निस्पृह, मिताहारी, शान्तचित्त, स्थिरबुद्धि, मेरा शरणागत, आत्मतत्त्वका मनन करनेवाला और प्रमादरहित है, जो गम्भीर स्वभाववाला और धैर्यवान् है तथा देहके छः धर्मों (क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जन्म और मरण) को जीत चुका है, स्वयं मानकी इच्छा नहीं करता तथापि औरोंका मान करनेवाला है तथा समर्थ, मिलनसार, करुणामय और सम्यक् ज्ञानयुक्त है।' श्रीमद्भागवतपुराण, स्क० ११ में भक्तिकी साधनाके विषयमें श्रीभगवान्‌का यों कथन है—

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम्।
गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम्॥
इति मां यः स्वधर्मेण भजन्नित्यमनन्यभाक्।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दतेऽचिरात्॥
(१८। ४३। ४४)

'ऋतुगामी गृहस्थके लिये भी ब्रह्मचर्य, तप, शौच, सन्तोष तथा यज्ञ-दया—ये आवश्यक धर्म हैं और मेरी उपासना करना तो मनुष्यमात्रका परम धर्म है। इस प्रकार स्वधर्मपालनके द्वारा जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरी भावना रखता हुआ अनन्यभावसे मेरा भजन करता है, वह शीघ्र ही मेरी विशुद्ध भक्ति पाता है।'

साधनाका सारांश

ऊपर कथित मुख्य साधनाके सम्बन्धमें विचार करनेसे सिद्ध होगा कि अभ्यासयोगके यम (निषेध) अर्थात् अहिंसा, सत्य,

अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और नियम (विधि) अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और अन्तिम 'ईश्वरप्रणिधान' और ज्ञानयोगके साधनचतुष्टय आदिकी भक्तियोगमें, परिपक्वता होती है। यहाँ अहिंसा परहितनिरतमें, सत्य केवल वाचनिक न रहकर कायिक, मानसिकमें, अस्तेय दानमें, ब्रह्मचर्य त्यागमें, अपरिग्रह परसेवामें परिवर्तित हो जाते हैं। इसी प्रकार शौच केवल शारीरिक न रहकर वाचनिक और मानसिकमें, सन्तोष कामनात्यागमें, तप भी केवल शारीरिक न रहकर मुख्यकर वाचनिक और मानसिकमें (गीता १७। १४-१६)। स्वाध्याय सतत भगवत्-स्मरण और जपमें और ईश्वरप्रणिधान सर्वार्पणमें परिवर्तित हो जाते हैं। इस सर्वार्पणकी मुख्य साधना और उसके परिणामभाव नवधा भक्ति है जिसका वर्णन अन्तमें होगा।

सर्वार्पणमें शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, चित्त, बुद्धि, अहङ्कार, चेष्टा, क्रिया आदिका साक्षात् समर्पण हो नहीं सकता, क्योंकि ये त्रिगुणात्मक जड़ हैं और श्रीभगवान् त्रिगुणातीत चैतन्यघन हैं; किन्तु इनका समर्पण यही है कि ये और गृह, धन, परिवार, व्यवसाय आदि श्रीभगवान्की वस्तु समझ उनको स्वार्थ-साधनमें नियुक्त न कर श्रीभगवान्के कार्यमें नियुक्त करना, जिस कार्यमें निष्काम कर्त्तव्य-पालन भी शामिल है। साक्षात् अर्पण केवल आत्माका होगा जो श्रीभगवान्का निज और प्रिय अंश है। यही आत्मार्पण नवधा भक्तिका अन्तिम भाव है। क्रम यों है—इस आत्मार्पणके निमित्त यह आवश्यक है कि आत्मा और

अनात्माके विवेकके कारण अनात्मासे वैराग्य और इन्द्रिय और मनकी शुद्धि और निग्रहद्वारा प्रथम आत्मामें स्थिति हो; और सिवा आत्माके अन्य भावना चित्तमें न आवे, आवे तो हटा दी जाय (गीता ६ । २५-२६) । श्रीमद्भागवतपुराणका वचन है—

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये ।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान्हि तान् ॥
(११ । २ । ३४)

'प्राज्ञ पुरुषोंके लिये आत्मलाभके जो सुगम उपाय श्रीभगवान्ने बतलाये हैं, उन्हींको भागवत धर्म समझो ।' आत्मस्थितिका लक्षण अत्यन्त सुखकी प्राप्ति है (गीता ६ । २१ और २८) । इसके बाद दूसरी अवस्थामें साधक अपनी आत्माको प्रच्छन्न एक शरीरस्थ न समझ सर्वत्र देखता है अर्थात् अन्यको भी आत्मदृष्टिसे देखकर अभेद भावसे एकत्व सर्वत्र देखता है । इस प्रकार सब भूतोंमें अपनी आत्माको और अपनी आत्मामें सब भूतोंको देखता हुआ समदर्शी हो जाता है (गीता ६ । २९)। तीसरी अवस्थामें सर्वत्र व्याप्त एकात्माको ही परमात्मा श्रीभगवान् जानता है और भी समझता है कि सब कुछ एक श्रीभगवान् ही हैं और उनके सिवा अन्य कुछ नहीं है । इस ज्ञानके अनुसार वर्ताव करना ही श्रीभगवान्की यथार्थ भक्ति और भजन है (गीता ६ । ३१) । इस परम ज्ञान-भक्तिकी कसौटी और परिणाम यह है कि ऐसा साधक ममता, अहङ्कारसे रहित होकर दूसरोंके दुःखको अपना दुःख समझ उसकी निवृत्तिके निमित्त यथासाध्य निष्काम भावसे यत्न करेगा और दूसरेके

सुखकी वृद्धिको अपने सुखकी यथार्थ वृद्धि समझ उसके लिये उपयुक्त चेष्टा करेगा और इन्हीं साधनोंको यथार्थ भगवद्-भजन समझेगा (गीता ६ । ३२)। इस प्रकार जो सर्वत्र श्रीभगवान्‌को देखता है और सबोंको श्रीभगवान्‌में स्थित समझता है, उससे न श्रीभगवान् पृथक् हैं और न वह श्रीभगवान्‌से पृथक् है* (गीता ६ । ३०) । श्रीमद्भागवतपुराणमें, सर्वत्र श्रीभगवान्‌के देखनेको ही ऐकान्तिक भक्ति कहा है । जैसा कि—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः ।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम् ॥

(७ । ७ । ५५)

---

* शनैः शनैरुपरमेद्‌बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

(गीता ६ । २५-२६, २८–३२)

श्रीमद्भागवतपुराणमें जो उत्तम भक्तका लक्षण कथित है वह ऊपरके समान है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥
(११।२।४५)

'जो समस्त प्राणियोंमें अपने ही भगवद्भावको देखता है, अर्थात् यह जानता है कि मैं श्रीभगवान्का स्वरूप और सब पदार्थोंमें व्यापक हूँ तथा जो अपने भगवत्स्वरूपमें ही समस्त प्राणियोंको (अध्यस्त) देखता है वही भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है।'

ममता, अहङ्कारत्याग और सतत स्मरणका सुलभ उपाय

भगवत्प्राप्तिके लिये इन तीनोंका अर्थात् ममता, अहङ्कारका त्याग और सतत स्मरण परमावश्यक है किन्तु इनकी प्राप्ति तभी सम्भव है जब कि सर्वत्र भगवद्दृष्टि रखी जाय और ऐसी दृष्टि रखकर सब प्राणियोंको भगवद्रूप समझकर उनकी निष्काम सेवाको भगवत्सेवा समझकर की जाय। यह सर्वत्र भगवद्दृष्टि साधना और साध्य भी है। प्राथमिक साधनामें इसका अभ्यास करनेसे यह अन्तमें प्रत्यक्ष हो जायगा। श्रीमद्भागवतपुराण ११ वें स्कन्धमें कथा है कि श्रीभगवान्के उपदेशोंको सुनकर जब श्रीउद्धवने उनसे कहा कि मेरे ऐसे अजितेन्द्रियको जो योगवार्ताका आपने उपदेश दिया उसका अभ्यास सम्भव नहीं है, अतएव सुलभ उपाय बतलाइये (२९।१); इसके उत्तरमें श्रीभगवान्ने कहा कि अब मैं अपना अति मंगलमय धर्म सुनाता हूँ (२९।८) और ऐसा कहा—

कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् ।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥
मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् ।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ॥
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात् ।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि ॥
विसृज्य स्मयमानान्स्वान्दृशं व्रीडां च दैहिकीम् ।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ॥

(भाग० ११ । २९ । ९, १२, १५, १६, १९)

'निरन्तर मुझमें मन और चित्तको लगाये रहनेसे जिसके आत्मा और मनका मेरे धर्मोंमें ही अनुराग हो गया है वह पुरुष मेरा स्मरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण कर्मोंको धीरे-धीरे मेरे ही लिये करता रहे । निर्मल चित्त होकर सम्पूर्ण प्राणियोंमें और अपने आपमें बाहर-भीतर मुझ आत्माको ही व्याप्त देखे, क्योंकि मैं आकाशके समान आवरणरहित और सर्वत्र व्याप्त हूँ । अधिक समयतक सब पुरुषोंमें निरन्तर मेरी ही भावना करनेसे स्पर्धा, असूया (परनिन्दा), तिरस्कार और अहङ्कार आदि दोष दूर हो जाते हैं । अपनी हँसी करनेवाले स्वजनोंको, 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है' ऐसी देहदृष्टिको तथा लोकलज्जाको छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेको पृथिवीपर गिरकर साष्टांग प्रणाम करे । मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरी

ही भावना करे। मैं इसीको अपनी प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन समझता हूँ।' ऊपरके श्रीभगवान्‌के वचनसे यह स्पष्ट है कि सर्वत्र भगवद्-दृष्टि केवल उच्च और उन्नत साधकके निमित्त न होकर सर्वसाधारण-के लिये भी है और यह आन्तरिक दोषोंके नाश और मनके शान्त, शुद्ध और कामनाशून्य होनेका सुलभ उपाय है। श्रुतिका वचन है कि—

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(ईश० ७)

'अर्थात् सर्वत्र एक श्रीभगवान्‌को देखनेवालेके लिये मोह और शोक कहाँ?'

यह सर्वत्र एकेश्वरभाव बाह्य नामरूपात्मक नानात्वको केवल उनके अन्तरस्थ स्थित चैतन्यघन श्रीभगवान्‌की दृष्टिसे असत् समझकर माना जाता है, अतएव व्यवहारमें भी इस भावसे गड़-बड़ी न होगी। न्यायाधीश अपराधीमें भी श्रीभगवान्‌को वर्तमान देखकर उसकी भूतात्माको अपराधी मान, यद्यपि वह असत् है, व्यवहारकी दृष्टिसे उस भूतात्माके उपकारके निमित्त उसे दण्ड देगा किन्तु भेद यह होगा कि उसको हेय दृष्टिसे न देखेगा। उसके अन्तरस्थ श्रीभगवान्‌को नमस्कार ही करेगा जो उसमें सत् है। इस प्रकार सब व्यवहार कर्त्तव्यपालनके अनुसार भगवद्दृष्टि रखकर किये जायँगे।

ऊपरके सार विषयोंको अब पृथक्-पृथक् करके नीचे वर्णन किया जाता है किन्तु उनका क्रम ठीक नहीं है, जिसके लिये

क्षमा-प्रार्थना है। इस पुस्तकके तृतीय संस्करणमें क्रमके बदलनेमें असुविधा है इसलिये पूर्वक्रम रह गया। क्योंकि सर्वत्र भगवद्दृष्टिसे जन-सेवा बिना भगवत्प्रेम उपजे सम्भव नहीं है जो भगवत्प्रेम अहैतुक सेवा करनेसे ही प्राप्त होता है, अतएव पहले अहैतुक सेवाभावका किञ्चित् वर्णन किया जाता है जो अन्य भावमें भी विद्यमान रहेगा।

अहैतुक सेवाभाव

फलकी अपेक्षा न कर केवल कर्तव्यकी दृष्टिसे कर्म करना-रूप जो कर्मयोग है वह अहैतुकी भक्तिकी प्रथमावस्था अधिभूत है, कर्मको श्रीभगवान्के निमित्त करना अर्थात् स्वार्थरहित होकर उसके फलको उनमें अर्पण करना मध्यमावस्था अधिदैव है। स्वतः कर्मको ही श्रीभगवान्में अर्पण करना अर्थात् श्रीभगवान्-का ही यह कर्म है, साधकका नहीं, ऐसा समझ कर्म करना अन्तिम लक्ष्य अध्यात्म है जिसके बाद आत्मसमर्पण-भाव आता है। (अहैतुक) भक्त अवश्य सायुज्यमोक्षको भी नहीं चाहता है और कदाचित् दिया जाय तो भी उसे ग्रहण नहीं करता, जैसा कि गर्गसंहिताके ऊपर कहे वाक्योंसे प्रकट है। यदि (अहैतुक) भक्त कुछ नहीं चाहता तो प्रश्न यह है कि उसके भक्ति करनेका उद्देश्य क्या है? बिना किसी उद्देश्यके तो कोई किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता। इसका उत्तर यह है कि अहैतुक भक्तके भक्ति करनेका उद्देश्य इष्टदेवके प्रति उसका स्वाभाविक अनुराग ही मुख्य है। अतएव अहैतुकी भक्तिको रागात्मिका भक्ति भी कहते हैं।

यद्यपि राग उद्देश्य है तथापि उसको स्वार्थसे सम्बन्ध नहीं है। प्रेमी भक्त अपने स्वार्थका त्याग कर श्रीउपास्यदेवके प्रीत्यर्थ अपने मन, वचन और शरीरको समर्पण कर देता है। मन, वचन और शरीरको कदापि स्वार्थसाधनमें न लगाकर केवल श्रीउपास्यदेवके प्रीत्यर्थ उनका व्यवहार करना ही यथार्थमें उनकी सेवा है और यही समर्पण है। भक्त जड़की भाँति कदापि निष्क्रिय नहीं हो जाता किन्तु सदा-सर्वदा श्रीउपास्यदेवकी सेवामें प्रवृत्त रहता है और इसी कारण मोक्ष नहीं लेता है। कहा है कि—

सालोक्यदा हरेरेका चान्या सारूप्यदा परा।
सामीप्यदा च निर्वाणदात्री चैव मतिस्मृतिः॥
भक्तास्ता न हि वाञ्छन्ति विना तत्सेवनादिकम्।
मुक्तिश्च सेवारहिता भक्तिः सेवाविवर्द्धिनी॥

(ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० ३४। ७६,७८)

और भी—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। १३)

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्॥

(श्रीमद्भा० ५। ६। १८)

'श्रीभगवान्‌के लोककी प्राप्ति करानेवाली एक मुक्ति है, दूसरी सारूप्य देनेवाली है, अन्य सामीप्य देनेवाली है और भी अन्य निर्वाण देनेवाली है । परन्तु भक्तगण भगवान्‌की सेवा आदिको छोड़कर इन मुक्तियोंकी इच्छा नहीं करते, क्योंकि मुक्ति सेवारहित होती है और भक्ति सेवाभावको बढ़ाती है ।'

(श्रीभगवान्‌का वचन है कि) मैं सालोक्यमुक्ति, सार्ष्टिमुक्ति (जिसमें समान ऐश्वर्य प्राप्त होता है) सामीप्यमुक्ति, सारूप्यमुक्ति और एकत्वमुक्तिपर्यन्त भी देता हूँ तथापि मेरे प्रियजन मेरी सेवा-भक्तिके बिना मेरी दी हुई किसी मुक्तिको भी अङ्गीकार नहीं करते हैं। (श्रीशुकदेवजीने परीक्षितसे यों कहा, कि) हे राजन् ! श्रीभगवान् मुकुन्द तुम्हारे और सब यदुवंशियोंके पति, गुरु, दैव, प्रियतम, कुलदेवता और कभी किङ्करतक होते हैं । हे प्रिय ! भक्तोंके लिये भगवान्‌को पूर्वोक्त रूपसे सब कुछ करना पड़ता है; अतः वे प्रसन्न होकर कभी मुक्ति तो देते हैं परन्तु भक्तियोग नहीं देते, भक्ति ऐसी दुर्लभ और अलभ्य है ।

भक्तके लिये उपास्यदेवकी सेवा मुख्य धर्म सिद्ध होनेपर अब विचारणीय यह है कि वह सेवा क्या है ? सेवा वही है जो उपास्यदेवमें अर्पण करने योग्य हो और जिससे उनकी तुष्टि हो । 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इस योगसूत्रकी वृत्तिमें राजा भोज यों लिखते हैं—'प्रणिधान इस प्रकारकी भक्ति है जिसमें फलोंकी अभिलाषा किये बिना सब कर्म इस परमगुरु परमेश्वरको अर्पण किये जायँ ।' श्रीभगवान्‌ने मृकण्डुसे ऐसा ही कहा है—

मदर्थं कर्म कुर्वाणो मत्प्रणामपरो नरः।
मन्मनाः स्वकुलं सर्वं नयत्यच्युतरूपताम्॥
(बृहन्नारदीय पुराण ४। २०५)

'जो मेरे लिये ही कर्म करता, मुझे ही प्रणाम करता और मुझमें ही मन लगाये रहता है, ऐसा भक्त अपने समस्त कुलको भगवद्रूप बना देता है।'

मदर्थं कर्मकर्तारस्ते वै भागवतोत्तमाः॥
(बृह० पु० ५। ६०)

'जो मेरे लिये कर्म करते हैं वे उत्तम भक्त हैं।' उपासना-सूत्रमें लिखा है—

तस्मिन् प्रीतिस्तस्य प्रियकार्यसाधनं च तदुपासनम्।

'उपास्यमें प्रीति रखनी और उसकी प्रसन्नताके लिये उसका कर्म करना उपासना है।' अब प्रश्न है कि वह किस प्रकारका कर्म अथवा सेवा है जिससे उपास्यदेवकी तुष्टि होगी और जिसके कारण वह उनमें समर्पण करने योग्य होगा। जो कर्म जिसको प्रिय और आवश्यक रहता है उसके सम्पादनमें वह स्वतः लगा रहता है और वही क्रिया उसको प्रिय होती है; और उसीमें किसीके योग देनेसे वह प्रसन्न होता है। अब देखना चाहिये कि श्रीभगवान् (उपास्यदेव) किस कार्यमें स्वतः प्रवृत्त हैं, क्योंकि वही कार्य उनको प्रिय होगा। श्रीमद्भगवद्गीताका वचन है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
(३। २२)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥
(४ । ७-८)

और भी—

युगे युगे च बाध्येत यदा पाखण्डिभिर्जनैः ।
धर्मः क्रतुर्दया साक्षात्तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
(गर्गसंहिता, गोलोक० ३ । २७)

'हे पार्थ ! तीनों लोकमें मुझे कुछ भी करना नहीं है क्योंकि कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो या जिसे प्राप्त करना हो परन्तु तो भी मैं कर्म करता हूँ । हे भारत ! जब-जब धर्मकी क्षीण दशा आ जाती है और अधर्मकी उन्नति होती है तब-तब मैं संसारमें प्रकट होता हूँ । सज्जनोंकी रक्षाके लिये और दुर्जनोंके दमनके लिये और धर्मकी स्थापना करनेके लिये युग-युगमें मैं संसारमें प्रकट होता हूँ । जिस-जिस युगमें जब-जब पाखण्डियोंद्वारा धर्म, यज्ञ, दया (परोपकार) में बाधा पड़ती है तब-तब मैं साक्षात् प्रकट होता हूँ ।'

सर्वत्र भगवद्दृष्टिसे कर्मार्पण, जनसेवा ही भगवत्सेवा

ज्ञानयोगमें और इस प्रकरणके भीतर श्रीभगवान्के कार्यके विषयमें जिन वचनोंका उल्लेख है उनसे तथा ऊपरके वचनोंसे सिद्ध है कि यह सृष्टि और इसके सब प्राणी श्रीभगवान्के परम प्रिय

ही नहीं, उनके साक्षात् स्वरूप हैं। अतएव श्रीभगवान् विश्व-प्रेम-के कारण उनके भीतर रहनेका और जीवोंकी ऊर्ध्वगतिके लिये उन्हें प्रेरित करनेका कष्ट (यत्न) सहर्ष स्वीकार करते हैं और जब-जब अधर्मकी अधिकतासे उनकी ऊर्ध्वगतिमें बहुत बड़ी बाधा पड़ती है तब-तब स्वयं अवतार लेनेका कष्ट अपने ऊपर लेकर अधर्म और दुष्टोंका दमन करते और धर्म तथा धर्मिष्ठोंकी सहायता करते हैं; क्योंकि दुष्टोंका दमन केवल उन्हींसे हो सकता है। श्रीभगवान् अधर्मियोंको दण्ड दे उनको सचेतकर यथार्थमें उनका उपकार ही करते हैं। ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है कि संसारमें सर्वत्र और सदा ही श्रीभगवान्का अस्तित्व है। अतः सबको भगवद्दृष्टिसे देखना और प्राणियोंके प्रति दया तथा उनका उप-कार करना चाहिये; और विशेषकर जिससे धर्म, ज्ञान और भक्तिकी वृद्धि तथा अधर्मका ह्रास हो उसको श्रीभगवान्का कार्य समझ उन्हींके निमित्त उचित रीतिसे करना चाहिये—यही श्रीभगवान्की उत्तम सेवा और पूजा है और यही भक्तका परम कर्तव्य है।

प्राणिमात्रको श्रीभगवान्का अंश जान सबोंके साथ प्रेमभाव रखना चाहिये, किसीकी निन्दा अथवा किसीसे द्वेष नहीं करना चाहिये और अपने दुःख-सुखके समान दूसरेके भी दुःख-सुखको जानना चाहिये। बृहन्नारदीय पुराणका वचन है—

आत्मवत्सर्वभूतानि ये पश्यन्ति नरोत्तमाः।
तुल्याः शत्रुषु मित्रेषु ते वै भागवतोत्तमाः॥

(५।४२)

'मित्र और शत्रुओंमें समान भाव रखते हुए जो उत्तम जन अपने समान सब प्राणियोंको देखते हैं वे उत्तम भक्त हैं।' भक्तका हृदय ऐसा कोमल होना चाहिये कि दूसरेका दुःख वह अपना दुःख समझे और दूसरेका सुख वह अपना सुख समझे। भक्तको अपनेमें और दूसरेमें भेदभाव नहीं रखना चाहिये और अपनी हानि-लाभको दूसरोंकी हानि-लाभके साथ एक कर देना चाहिये। साधकको अपनी आत्मीयता और दयाका धीरे-धीरे प्रसार करते जाना चाहिये; पहले अपने परिवारोंमें और अपनेमें ऐक्यका अभ्यासकर परिवारसे अपनेको अभिन्न समझना चाहिये, उसके बाद अपने पड़ोसके लोगोंके साथ, फिर ग्रामभरके लोगोंके साथ, फिर देशभरके साथ, फिर पृथ्वीभरके साथ और अन्तमें सृष्टिमात्रके साथ जैसा कि कर्मयोगका उद्देश्य है। भेद यह है कि यहाँ सर्वत्र सबको श्रीभगवान्का अंश मान उन्हींकी दृष्टिसे देखना होगा। जैसे-जैसे एकत्वभाव और भूतदयाका प्रसार होता जायगा वैसे-वैसे वह ईश्वरके समीप होता जायगा। सृष्टिमात्रसे ऐक्य करके सृष्टिमात्रको एक जानना ईश्वरमें युक्त होना है, क्योंकि सृष्टि ईश्वरमय है, इस प्रकार नानात्वमें एकत्व देखना अर्थात् सृष्टिमात्रको ईश्वरके सत् चित् आनन्दरूपसे पूर्ण देखना और उसी कारण सबोंके साथ समभाव, प्रेमभावका वर्ताव रखना भक्तिकी ऊँची श्रेणी है जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है।

बृहन्नारदीय पुराणका वचन है—

चराचरात्मकं विश्वं विष्णुरेव सनातनः।
इति निश्चित्य मनसा योगद्वितयमभ्यसेत्॥

आत्मवत्सर्वभूतानि मन्वाना ये मनीषिणः ।
ते जानन्ति परं भावं देवदेवस्य चक्रिणः ॥
(अध्याय ३१ । ३६, ३७)

'चर-अचररूप संसार सनातन विष्णु ही है ऐसा मनसे निश्चय करके कर्मयोग और ज्ञानयोगका अभ्यास करे । जो विचारशील अपने समान सब प्राणियोंको जानते हैं अर्थात् सबोंको अपने आत्मासे पृथक् नहीं समझते, वे ही देवोंके देव विष्णुजीके परमभावका ज्ञान प्राप्त करते हैं ।' और भीः—

सियाराममय सब जग जानी । करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥
उमा जे रामचरनरत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभु-मय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध ॥
(श्रीतुलसीदासजीकी रामायण)

भक्तको सबोंपर दया और प्रेम रखना चाहिये, वह अपने प्रेमकी सीमासे बाहर किसीको भी नहीं कर सकता, बाहरसे कोई कैसा ही अमङ्गल, अशुभ, विरुद्ध और अप्रिय क्यों न हो । क्योंकि वह सबोंके हृदयको (ईश्वरीय) प्रेम और जीवनशक्तिका आधार जानता है और ईश्वरको सबोंके हृदयमें वर्तमान देखता है । भक्त प्राणिमात्रका मित्र होता है और सबोंके उपकार करनेमें तत्पर रहता है—इसको वह अपना मुख्य कर्तव्य समझता है । जो ईश्वर-निमित्त निःस्वार्थभावसे परोपकार नहीं करता वह कदापि भक्ति नहीं प्राप्त कर सकता । भक्तके चित्तमें ऐसा भाव रहता है—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥

(भक्त इच्छा रखता है कि) सब कोई सुखी रहें, सब कोई व्याधिरहित रहें, सब कल्याण देखें और कोई दुःख न पावे। और भक्त ईश्वरसे ऐसी प्रार्थना करता है कि—

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गोविन्द उत्तिष्ठ गरुडध्वज!।
उत्तिष्ठ कमलाकान्त त्रैलोक्यमङ्गलं कुरु॥

हे गोविन्द ! हे गरुडध्वज ! हे कमलाकान्त ! उठो, उठो, उठो, और तीनों लोकोंका मङ्गल करो !!! गोस्वामी तुलसीदासजी-ने रामायणमें लिखा है—

हेतुरहित जग युग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी॥
संत सहज सुभाव अति दाया। परउपकार वचन मन काया॥
संतहृदय नवनीत समाना। कहा कविन, पै कहि नहिं जाना॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। परहित द्रवहिं सुसंत पुनीता॥
उमा! संतकी यही बड़ाई। मंद करत जो करै भलाई॥
संत विटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु इन्हनकी करनी॥
संत सहहिं दुख परहित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी॥
भूरुज तरु सम संत कृपाला। परहित सह नित बिपति बिसाला॥
संत उदय संतत सुखकारी। बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी॥

बृहन्नारदीयपुराणका वचन है—

ये हिताः सर्वजन्तूनां गतासूया अमत्सराः।
वशिनो निःस्पृहाः शान्तास्ते वै भागवतोत्तमाः॥
आरामरोपणरतास्तडागपरिरक्षकाः।
कासारकूपकर्त्तारस्ते वै भागवतोत्तमाः॥
ये वै तडागकर्त्तारो देवसद्मानि कुर्वते।
गायत्रीनिरता ये च ते वै भागवतोत्तमाः॥

(५।३५, ४७-४८)

परोपकारनिरतः सदा भव महामते।
हरिपूजापरश्चैव त्यज मूर्खसमागमम्॥
(३३।४२)

तस्माज्जन्तुषु सर्वेषु हितकृद्धरिपूजकः।
ईप्सितं मनसा यत्तु तत्तदाप्नोत्यसंशयम्॥
(६।६७)

'जो सब प्राणियोंके हितकारी, ईर्षा-अहङ्काररहित, दान्त (जितेन्द्रिय), इच्छारहित और शान्त हैं वे भगवद्भक्तोंमें उत्तम हैं। जो बगीचे लगाते, तड़ागकी रक्षा करते और सरोवर कुआँ आदि बनवाते हैं वे उत्तम भगवद्भक्त हैं। जो सरोवर और देवमन्दिर बनवाते हैं और जो गायत्रीकी उपासना करते हैं वे उत्तम भगवद्भक्त हैं। हे महामते ! सर्वदा परोपकार करनेमें प्रवृत्त रहो, ईश्वरकी पूजामें रत होओ और मूर्खोंकी संगति त्याग दो। अतएव जो सब प्राणियोंके हितकारी और हरिपूजक हैं वे जो-जो मनसे चाहते हैं सो-सो निस्सन्देह पाते हैं।

ईश्वरनिमित्त जो कर्म किये जाते हैं उनमें दूसरेके पारलौकिक उपकारनिमित्त यत्न करना साधकोंका मुख्य कर्तव्य है जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। धर्म, ज्ञान और भक्ति आदिके प्रचारसे लोगोंका यथार्थ उपकार होता है, अतएव उनका प्रचार संसारमें जिस भाँति हो उस भाँति करना भक्तका मुख्य कर्तव्य है, क्योंकि उक्त कार्यमें स्वतः श्रीभगवान् लगे हुए हैं जैसा कहा जा चुका है। अतएव भक्त भी ईश्वरका अनुकरण करता है और

ईश्वरकी तरह देने ही (सृष्टिके उपकारनिमित्त कर्म करने) की अर्थात् सेवा करनेकी ही इच्छा रखता है अपने लिये कुछ पानेकी नहीं। श्रीभागवत पुराणमें लिखा है—

> केचित् कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः।
> त्यजन्तः प्रकृतीर्दैवीर्यथाहं लोकसङ्ग्रहम्॥
>
> (१०।८०।३०)

'कोई ईश्वरकी मायासे मोहित न होकर और विषयोंकी तथा अन्य किसी पदार्थकी इच्छा न रख करके लोककी भलाईके निमित्त कर्म करते हैं, जैसे मैं करता हूँ।'

जिस कर्ममें प्रभु प्रवृत्त रहें उसमें यदि सेवक न प्रवृत्त हो तो वह सेवक नहीं कहा जा सकता। ऐसे ही जो धर्मके प्रचार-में प्रवृत्त नहीं होते, जिसमें श्रीभगवान् स्वयं प्रवृत्त हैं, वे भक्त नहीं कहे जा सकते हैं। भक्त ईश्वरसे प्रार्थना करता है कि 'हे प्रभो! आप अवतार लेनेका कष्ट न उठावें, आपको मैं आत्म-समर्पण करता हूँ और आप मुझको निमित्त बनाकर उस अपने महत् कर्मको मेरेद्वारा करें। पुरातन समयके नारदादि भक्तगण और कलिमें भी श्रीतुलसीदासजी, श्रीगुरु नानक, महात्मा कबीर, श्रीसूरदासजी, श्रीचैतन्यदेवजी, श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमाध्वाचार्य, श्रीतुकाराम बाबा, श्रीरामदासजी, श्रीनामदेवजी, श्रीमत्परमहंस रामकृष्णजी, श्रीगोस्वामी विजयकृष्णजी आदि भक्तों-ने धर्म, ज्ञान और भक्तिका प्रचार करके लोगोंका महान् उपकारकर

ईश्वरके प्रेमी और भक्त होनेका परिचय दिया है। जहाँ धर्मदान नहीं वहाँ ईश्वर नहीं। जो निःस्वार्थ होकर ईश्वरका प्रिय कार्य समझकर सदाचार, धर्म, ज्ञान और भक्ति आदिका लोगोंमें प्रचार नहीं करते और ऐसे प्रचारको अपना मुख्य कर्तव्य नहीं समझते, वे कदापि यथार्थ भक्त नहीं हैं। जो परोपकाररूपी भगवत्सेवा करनेका श्रम प्रसन्नतासे अपने ऊपर न लेगा वह कदापि भक्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा।

भक्तिका नारदसूत्रमें यों वर्णन है—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति। (सूत्र १९)

'परन्तु नारद ऋषिका तो यह मत है कि अपने सम्पूर्ण कर्म ईश्वरको समर्पण कर देना और ईश्वरके क्षणमात्र भी विस्मरण होनेपर अत्यन्त व्याकुल हो जाना—यही भक्ति है।' सृष्टिका आदिकारण ईश्वरकी इच्छा जो परा शक्ति है, उस शक्तिने ब्रह्मा, सप्तर्षि, रुद्र, मनु, प्रजापति आदिको उत्पन्न किया, और उस ईश्वरीय इच्छानुसार इन लोगोंको सृष्टिके बनाने और चलानेके कामका श्रम हर्षपूर्वक अपने-अपने ऊपर लेना पड़ा। ये सब बीते हुए कल्पके सिद्ध पुरुष हैं—एक कल्पके सिद्ध पुरुष उसके बादके कल्पकी सृष्टिके बनानेवाले होते हैं। पुराणमें प्रसिद्ध है कि इस कल्पके बलि और परशुराम आनेवाले कल्पके इन्द्र और ब्रह्मा होंगे। गत कल्पके सिद्धपुरुषोंकी सहायतासे वर्तमान सृष्टिके पदार्थ बने हैं और उन्हींके द्वारा इस सृष्टिका

सञ्चालन होता है। ऐसे समर्पितात्मा सिद्ध ऋषि-गण श्रीभगवान्की इच्छाकी पूर्तिके निमित्त उनकी सेवाकी भाँति केवल उनके प्रीत्यर्थ निमित्तमात्र बनकर इन कार्योंके सम्पादनमें योग देते हैं अतएव वर्तमान सृष्टिके समस्त प्राणी ऐसे महानुभावोंके ऋणी हैं, जिस महाऋणसे मुक्त होनेके लिये हम लोगोंको भी उन्हींके समान बननेका यत्न करना चाहिये जिससे हमलोग भी उन्हींके भावसे आनेवाले कल्पके बनानेवाले और चलानेवाले होनेमें योग दें। इस सृष्टिरूप यज्ञसे ईश्वरकी भी यही इच्छा जान पड़ती है कि जीवगण जो सृष्टिके प्रारम्भमें बालकके समान रहते हैं और त्रिगुणमयी मायाकी लहरमें पड़े रहते हैं, धीरे-धीरे सत् और असत्का ज्ञान प्राप्त करके असत्मायाके गुप्त भेदोंको जान लें और अपने अभ्यन्तरमें और सांसारिक नाना प्रकारके पदार्थोंमें जो ईश्वरकी शक्तियाँ निहित हैं उनको श्रीभगवान्का कार्य विश्व-हितके निमित्त प्रकट करें तथा उसीके निमित्त उनका व्यवहारकर ऐसी निष्काम सेवाद्वारा ईश्वरमें युक्त हों। इस प्रकार ऐसी सिद्धावस्थाको प्राप्त करें जिससे साधक श्रीभगवान्के प्रीत्यर्थ आनेवाले कल्पकी सृष्टिके बनानेमें सहायता कर सकें। इसलिये यह ईश्वरकी इच्छा जहाँतक शीघ्र हमलोग स्वयं और दूसरोंके द्वारा पूर्ण कर सकें, वहाँ-तक चेष्टा करनी चाहिये, यह हमलोगोंका परमकर्तव्य है, इसीको धर्म कहते हैं। अतएव हमलोगोंको समझना चाहिये कि इस संसारमें केवल ईश्वरके काम करनेके लिये ईश्वरद्वारा हम यहाँ भेजे गये हैं और जो काम जिसके योग्य है, वह काम ईश्वरने उसको सौंपा है। ईश्वरीय इच्छानुसार जो काम जिसको सौंपा गया है उसका

सम्पादन निःस्वार्थ होकर करना उसका स्वधर्म है किन्तु जो अनुचित कर्म है, जिससे ईश्वरकी इच्छा पूर्ण होनेमें किञ्चित् कालके निमित्त भी बाधा पड़ती है वह कर्म किसीका धर्म नहीं है और न ईश्वरका सौंपा हुआ समझा जा सकता है। ऐसे कर्मको स्वार्थनिमित्त मायासे प्रेरित हो मनुष्य करता है जिसको वह स्वयं भी अभ्यन्तरमें बुरा समझता है, तथा उसके बुरे फलको पानेसे ही उसे चेत होता है और तब वैसा करना छोड़ता है।

जैसे कोई आदमी किसान है तो उसको ऐसा समझना चाहिये कि इस ईश्वरनिर्मित संसारके निमित्त अन्न एक अत्यन्त आवश्यक पदार्थ है जिसके बिना शरीर नहीं रह सकता, अतएव यह ईश्वरकी इच्छा है कि अन्न अवश्य उपजे, जिसके उपजानेके काममें ईश्वरने उसे नियत किया है। इस प्रकार खेतीके कामको ईश्वरका काम समझ उसको करना चाहिये, कदापि अपने सुखके लिये नहीं। ऐसे ही वाणिज्य, नौकरी आदि दूसरे व्यवसायवालोंको अपना-अपना काम ईश्वरके निमित्त ईश्वरका काम समझकर करना चाहिये, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। अतएव भक्ति-प्राप्तिके निमित्त गृहस्थाश्रम अथवा कर्मका त्यागना आवश्यक नहीं है किन्तु जो कर्म और व्यवसाय धर्म और श्रीभगवान्की इच्छाके विरुद्ध है उसको भक्त कदापि न करे। प्रेमका परिचय प्रेमीके प्रीतिनिमित्त कर्म करनेसे होता है, केवल कहनेसे नहीं। स्वार्थ-कामनाओंको प्रेमरूप अग्निमें स्वाहाकर केवल ईश्वरनिमित्त प्रसन्नता-पूर्वक कर्म करते रहना भक्तके जीवनका उद्देश्य होना चाहिये।

यही प्रेम है, यही भक्ति है, और नारदजीकी 'तदर्पिताखिलाचारता' से यही तात्पर्य है—

साधक-भक्त अपने सम्पूर्ण सांसारिक, पारमार्थिक और उपकारी कर्मोंको केवल उपास्यदेवके निमित्त करता है, अपने लिये कुछ नहीं; अपनेको तो वह भूल ही जाता है। उसका जीवन ही उपास्यदेवके निमित्त कर्म करनेके लिये है, अतएव वह प्रातःकालसे लेकर शयनपर्यन्त जो कर्म करता है वह सम्पूर्ण उसके लिये इष्टदेवकी पूजा ही है। प्रातःकाल उठते ही निम्न-लिखित श्लोकका भाव उसके चित्तमें आता है—

लोकेश चैतन्यमयाधिदेव
श्रीकान्त विष्णो भवदाज्ञयैव।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं
संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये ॥

'हे लोकेश! हे चैतन्यमय अधिदेव! हे श्रीकान्त! हे विष्णो! मैं तुम्हारे आज्ञानुसार (इच्छानुसार) प्रातःकाल उठकर तुम्हारी प्रसन्नताके लिये संसारके काम करने जाता हूँ'। भक्तके जीवनका क्या उद्देश्य होना चाहिये? और किस उद्देश्यसे उसे कर्मोंको करना चाहिये? यह ऊपर कहे हुए श्लोकमें भलीभाँति वर्णित है। साधकको इस श्लोकके भावका अच्छी तरह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये और सब कामोंको केवल श्रीभगवान्‌के लिये उन्हींका काम समझकर निःस्वार्थ-भावसे करना चाहिये, अपने स्वार्थके निमित्त कदापि नहीं।

भक्तसाधक स्वादप्राप्तिके लिये भोजन नहीं करता अथवा स्वार्थनिमित्त शरीरका पालन नहीं करता, किन्तु इसलिये कि उससे शरीरकी रक्षा हो, जिससे उसको उपास्यदेवका कार्य करना है, और जो शरीर उक्त कार्यके लिये उपास्यदेवद्वारा उसको दिया गया है। अतएव भोजन-पान भी वह अपने उपास्यदेवहीके निमित्त करता है। शयन-वस्त्रधारण आदि जो शरीररक्षाके निमित्त आवश्यक हैं उनको भी वह परम्परया अपने उपास्यदेवहीके निमित्त करता है। गीताका वचन है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(९।२७)

'हे कौन्तेय! तुम जो कुछ कार्य करो, जो कुछ भोजन करो, जो कुछ हवन करो, जो कुछ दान करो और जो कुछ तप करो वह मुझको अर्पण करो (मेरे निमित्त करो)'।

जिसके स्त्री-पुत्रादि तथा अन्य आश्रितजन हैं उसको समझना चाहिये कि ये परिवार और आश्रितगण श्रीभगवान्‌ने पालन-पोषण करने और धर्माचरणमें सहायता करनेके निमित्त मुझे सौंपे हैं, अतएव उनके पालन-पोषण आदिके लिये उपार्जन और यत्न करना श्रीभगवान्‌का कार्य है जिसको स्वार्थका कार्य न समझ श्रीभगवान्‌की सेवा समझ, परिणामकी परवा न कर, करना चाहिये। इसी दृष्टिसे उनको देखे तथा उनके निमित्त कार्य करे।

जबतक श्रीभगवान् सृष्टिके कार्यमें उद्यत हैं तबतक मोक्ष-दशामें प्राप्त होना भक्त भक्तिके विरुद्ध समझता है, और यथार्थमें

यह ऐसा ही है; इसी कारण भक्त मोक्ष न लेकर केवल श्रीभगवान्‌के कार्यमें निरन्तर रहकर सेवा ही करता रहता है। श्रीव्यास, श्रीनारदादि ऋषिगण सदा-सर्वदा सृष्टिके उपकार करनेमें तत्पर रहते हैं, वे कभी सृष्टि रहते निर्वाण नहीं लेते और श्रीभगवान्‌के निमित्त कर्म करना नहीं छोड़ते। पुराणादि सद्ग्रन्थोंमें लिखा है कि जब-जब भक्तोंको उपास्यदेवके दर्शन हुए और वर माँगनेकी आज्ञा हुई तब-तब उन लोगोंने 'मोक्ष' का वर कदापि नहीं माँगा, केवल भक्ति माँगी जिससे सदा उपास्यदेवकी सेवाका ही सौभाग्य मिलता रहे। भक्तिकी दृष्टिसे मुक्ति तुच्छ पदार्थ है।

इष्टदेवके दर्शन पानेकी भी इच्छा और उसके द्वारा आनन्द-के रसास्वादनकी चाह भी स्वार्थ है। महात्मा कबीरका वचन है—

फलकारन सेवा करै, तजै न मनसे काम।
कह कबीर सेवक नहीं, चहै चौगुनो दाम॥

इष्टदेवतासे कुछ भी पानेकी इच्छा रक्खो तो भक्ति नहीं हुई। भक्ति त्यागमार्ग है इसमें भक्त अपने सम्पूर्ण स्वार्थोंको त्याग देता है। प्रेमके कारण ईश्वरनिमित्त कर्म करते रहना केवल यही एक इच्छा भक्त रखता है, इसके लिये उसे कितना ही दुःख भोगना पड़े और श्रम करना पड़े वह प्रसन्नतासे सब सहन करता है किन्तु ईश्वरके कामसे मुँह नहीं मोड़ता। कहा है—

बूड़ब जरब न बात कछु, तेहि जेहि लागी लाग।
जाहि प्रीति काँची नहीं, का पानी का आग॥

(मलिकमुहम्मद जायसी,)

सौदाये मुहब्बतमें जो जर जाय तो अच्छा ।

(सौफ)

किसी परमभक्तका वाक्य है—

तुझीको होवे मुबारक यह सुक्कोमाल तेरा ।

मुझे तो चाहिये सोई फकृत जमाल तेरा ॥

श्रीतुलसीदासजीका वचन है—

सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं । तिन्हकहँ राम भगति निज देहीं ॥

भक्तप्रवर प्रह्लादजीने श्रीनृसिंहजीसे यों कहा—

नैवोद्विजे परदुरत्ययवैतरण्या-

स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।

शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-

मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् ॥

प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा

मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।

नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको

नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥

(श्रीमद्भा० ७ । ९ । ४३-४४)

'हे भगवन्! अत्यन्त दुस्तर नरकपथकी वैतरणीसे मैं स्वयं नहीं डरता; क्योंकि मेरा मन तो आपके गुणगानरूपी महान् अमृतसागरमें गोता लगाया करता है । मुझे आपसे विमुख चित्तवाले उन मूर्खोंके लिये शोक है, जो कि विषय-सुखके लिये पापका बोझ ढो रहे हैं । हे देव ! मुनिलोग प्रायः अपनी मुक्तिकी इच्छासे विजन वनमें

बैठकर मौनावलम्बन किये रहते हैं, वे परोपकारमें नहीं प्रवृत्त होते। परन्तु मैं तो इन कृपण जीवोंको छोड़कर अकेले अपनी मुक्ति नहीं चाहता। भव-जालमें भटकनेवाले जीवोंकी शरण आपके सिवा दूसरेको मैं नहीं देखता'।

श्रीप्रह्लादजीके समान भक्तप्रवर राजा श्रीरन्तिदेवने भी सांसारिक लोगोंके कष्टत्राणको ही श्रेष्ठ भगवत्सेवा माना था। उनकी कथा श्रीमद्भागवतपुराण स्कन्ध ९ अध्याय २१ में यों है—

श्रीरन्तिदेवको अड़तालीस दिनोंतक निराहार रहनेपर एक दिन कुछ भोजन मिला, जब उसे वे खाने चले उसी समय एक भूखा ब्राह्मण अतिथि आ गया। राजाने श्रद्धा और आदरके साथ सर्वत्र श्रीभगवान्‌को ही देखते हुए उस ब्राह्मणको अन्न बाँट दिया। जब वह भोजन करके चला गया तो एक क्षुधापीड़ित शूद्र आ पहुँचा, उसमें भी भगवद्भावना रखते हुए राजाने उसके लिये आधा अन्न दे दिया। उसके भी चले जानेपर एक अतिथि कई कुत्तोंके साथ आया और राजासे अन्नकी भीख माँगी। फिर उन्होंने बड़े आदरके साथ बचे हुए अन्नको देकर कुत्तोंके साथ ही उस अतिथिको भगवद्भावनासे नमस्कार किया। अब उनके पास पानीमात्र बच गया था, उसे पीना ही चाहते थे कि एक चाण्डाल प्यासका मारा आ गया और बड़े दीनभावसे जलकी याचना की। राजा उसकी करुण पुकारसे पिघल उठे और उसके दुःखसे दुखी हो कहने लगे—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।

आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥
क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च
दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः ।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तो-
र्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ॥

(भाग० ९ । २१ । १२-१३)

'मैं परमात्मासे आठ सिद्धियोंसे युक्त उत्तम गति अथवा मोक्ष नहीं चाहता । मेरी तो एकमात्र यही इच्छा है कि मैं समस्त प्राणियोंके भीतर रहकर उनकी पीड़ाओंका उपभोग करूँ जिससे उन्हें कोई कष्ट न हो । मेरे जल देनेसे जीनेकी इच्छा रखनेवाले इस कृपण जीवकी भूख, प्यास, थकावट, दीनता, शिथिलता, शोक, विषाद और मोह सभी मिट जायँ' ।

इतना कहकर प्याससे मरते हुए दयालु राजाने चाण्डालको जल पिला दिया । उन्होंने अपना प्राण देकर दूसरोंका प्राण बचाया यही भक्तका आदर्श है । ऐसे ही महात्माको ईश्वरका सच्चा भक्त कहना चाहिये ।

श्रीमद्भागवतपुराण दशम स्कन्धका वचन है—

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।

न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥
(८७।२१)

भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः।
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः॥
(४८।३०)

'हे ईश्वर ! दुर्बोध आत्मतत्त्वको बतलानेके लिये अवतार धारण करनेवाले आपके चरित्ररूपी अमृतसमुद्रमें अवगाहनकर श्रमरहित हो आपके अनेकों भक्त मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते फिर इन्द्रादि पदकी तो बात ही क्या है ? इतना ही नहीं, आपके चरणकमलोंमें हंसके समान रमण करनेवाले महात्माओंके सत्संगसे वे अपना घर भी त्याग देते हैं।'

'कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको आपके समान पूजनीय बड़भागीकी नित्य सेवा करनी उचित है, क्योंकि देवता स्वार्थी होते हैं किन्तु साधु-महात्मा स्वार्थी नहीं होते'।

महाराज युधिष्ठिरको वनमें अत्यन्त कष्ट पाते देखकर द्रौपदीने उनसे पूछा कि आप ईश्वरके परमभक्त होनेपर भी इतने कष्टमें क्यों हैं, तब युधिष्ठिरने यह उत्तर दिया—

नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत।
ददामि देयमिति वा यजे यष्टव्यमित्युत॥
अस्तु वात्र फलं मा वा कर्तव्यं पुरुषेण यत्।
गृहे वा वसता कृष्णे यथाशक्ति करोमि तत्॥

धर्मं चरामि सुश्रोणि न धर्मफलकारणात् ।
आगमाननतिक्रम्य सतां वृत्तमवेक्ष्य च ॥
धर्म्म एव मनः कृष्णे स्वभावश्चैव मे धृतः ।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ॥

(महाभा० वन० ३१ । २–५)

'हे द्रौपदी ! मैं कर्मफल पानेकी इच्छा रखकर कर्म नहीं करता, अपितु 'देना चाहिये' यह सोचकर 'दान और यज्ञ करना कर्तव्य है' यह समझकर यज्ञ करता हूँ । हे कृष्णे ! यहाँ फल हो अथवा न हो । गृहस्थ पुरुषका जो कर्तव्य है, मैं उसको यथाशक्ति करता हूँ । मैं शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन और सत्पुरुषोंके आचरणोंका निरीक्षण करके धर्म करता हूँ, उसके फलके लिये नहीं । धर्ममें मेरा मन और स्वभाव दोनों ही लग गये हैं, जो धर्मको फलके लोभसे बेचता है अर्थात् धर्ममें वणिग्-वृत्ति करता है वह धार्मिकोंमें हीन और अधम माना गया है' । भक्तप्रवर प्रह्लादकी भी ऐसी ही उक्ति श्रीनृसिंहजीके प्रति है—

नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः ।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥
आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः ।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन्यो राति चाशिषः ॥
अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः ।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥

(श्रीमद्भा० ७ । १० । ४-६)

'हे जगद्गुरो ! आप दयाके निधान कदापि अपने भक्तको अनर्थके साधनमें प्रवृत्त नहीं कर सकते । जो सेवक आपसे फल पानेकी इच्छा करता है वह सेवक नहीं, बनिया है । जो सेवक अपने स्वामीसे अपने स्वार्थकी सिद्धि चाहता है वह सेवक नहीं है और जो स्वामी अपने सेवकको अपने कार्यके साधन होनेके कारण धन आदि देता है वह स्वामी भी नहीं है; किन्तु इन दोनोंको परस्परका व्यापारी समझना चाहिये । मैं तो आपका निष्काम भक्त हूँ और आप भी मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं, इसलिये हमारा और आपका सम्बन्ध राजा और उसके भृत्योंके समान नहीं है ।'

जो लोग यह समझते हैं कि भक्तको जगत्के कल्याणके कार्यमें प्रवृत्त होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है बल्कि यह उसके लिये व्याघात है, उसको तो केवल श्रीभगवान्की पूजा ही करनी चाहिये, वे भूल करते हैं । श्रीभगवान् पूर्णकाम हैं और उनको न कोई अभाव है और न कोई आवश्यकता है और न किसी वस्तुकी चाह है । किन्तु संसार उनका प्रियरूप है और वे सृष्टिके पालक हैं, उनका यह पालन-कार्य भक्ति और धर्मकी वृद्धिद्वारा सम्पन्न होता है, अतः लोकहितकी इच्छासे धर्माचरण करना यथार्थ भगवत्सेवा है । यह नियम है कि श्रीभगवान् केवल निष्काम प्रेमद्वारा मिल सकते हैं और वह सेवायुक्त प्रेम प्रथम श्रीभगवान्के संसाररूपी विभूतिके प्रति होना चाहिये अर्थात् संसारके प्राणिमात्रको श्रीभगवान्का अंश और रूप मान उनसे प्रेम और उनका हित-साधनरूप सेवाकर उस प्रेमका परिचय साधकको देना चाहिये ।

श्रीभगवान्‌को कोई कार्य नहीं है तथापि वे केवल सृष्टिके हितके कार्यमें अवश्य प्रवृत्त हैं, जिसके निमित्त स्वतः सबमें प्रविष्ट हैं। जिस सृष्टिके हितके कार्यको श्रीभगवान् स्वयं कर रहे हैं उस कार्यमें जो प्रवृत्त न होगा वह कैसे श्रीभगवान्‌का प्रेमी अथवा भक्त हो सकता है? अतएव सब प्राणियोंमें श्रीभगवान्‌का निवास मानकर उनके हितके निमित्त कार्य करना श्रीभगवान्‌की उत्तम और यथार्थ पूजा है। इसके प्रमाण पहले कई स्थलोंमें दिये गये हैं। और ऊपर दिये हुए गर्गसंहिताके वाक्योंके भी २७ वें श्लोकमें वर्णित दया अर्थात् परोपकारका अभ्यास भक्तके लिये परमावश्यक माना गया है।

श्रीकपिलभगवान्‌ने अपनी माता देवहूतिके प्रति जो भक्तकी निष्ठा और कर्तव्यके विषयमें कहा है उसमें ऊपरका सिद्धान्त स्पष्ट है और उनके तथा गर्गसंहिताके वचनोंमें एकवाक्यता है। श्रीकपिलभगवान्‌ने निष्काम (निर्गुण) भक्तिकी साधनामें परोपकार-को मुख्य अंग माना है। उन्होंने ऐसा कहा है—

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते॥
अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः॥
विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः॥
कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन्वा तदर्पणम्।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः॥

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥
निषेवितेनानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा ।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ॥
मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः ।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासङ्गमेन च ॥
महतां वहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥
आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसङ्कीर्तनाच्च मे ।
आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहङ्क्रियया तथा ॥
मद्धर्मिणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः ।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ॥
यथा वातरथो घ्राणमावृङ्क्ते गन्ध आशयात् ।
एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत् ॥
अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।

भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥
अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥
आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥
तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः ।
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः ।
न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात् ॥
मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २९ । ७–२७, ३३-३४)

श्रीकपिलभगवान्ने कहा कि 'हे देवहूति ! भक्तिमार्ग अनेकों मार्गोंसे भिन्न-भिन्न प्रकारका हो रहा है, क्योंकि मनुष्योंके भाव ही अनेकों प्रकारके स्वभाव, गुण और संकल्पोंके द्वारा बहुत भेदवाले होते हैं। जो कोई पुरुष अपने और परमात्मामें भेददृष्टि रखता हुआ क्रोधवश किसीकी हिंसा, दम्भ और स्पर्धा (हिर्स) को मनमें रखकर मेरी भक्ति करता है वह तामस (अधम श्रेणीका) भक्त है । जो भेददृष्टि पुरुष माला-चन्दन, आदि विषय, कीर्ति और धन आदि ऐश्वर्यकी इच्छा करके मूर्ति आदिमें मेरी पूजा करता है वह राजस (मध्यम श्रेणीका) भक्त है। और

जो भेददृष्टि पुरुष पापों अर्थात् वासनाओंका क्षय होनेकी इच्छा करके अथवा वह कर्म ईश्वरको अर्पण हो ऐसी इच्छा करके अथवा 'पूजन करें' इस वेदकी आज्ञाको पूर्ण करनेकी इच्छा करके मेरी पूजा करता है वह सात्त्विक (उत्तम श्रेणीका) भक्त है। निर्गुण भक्ति एक ही प्रकारकी है—जैसे गङ्गाके जलकी गति समुद्रकी ओर होती है वैसे ही मुझ अन्तर्यामी परमेश्वरके प्रति मेरी भक्तवत्सलता आदि गुणोंके श्रवणमात्रसे किसी फलकी इच्छा या व्यवधान न करके मनकी गतिका अविच्छिन्न होनारूप जो भगवान् पुरुषोत्तमविषयक भक्ति है वह निर्गुण भक्तियोगका लक्षण है। ऐसी निर्गुण भक्ति करनेवाले पुरुषोंको, सालोक्य (मेरे साथ एक लोकमें रहना), सार्ष्टि (मेरे ऐश्वर्यको भोगना), सामीप्य (मेरे पास रहना), सारूप्य (मेरे समान रूप होना) और एकत्व अर्थात् सायुज्य (मुझमें लीन हो जाना)—यह चार प्रकारकी मुक्ति मैं देता हूँ, तो भी वे भक्त मेरी सेवाको छोड़ दूसरी कोई वस्तु ग्रहण नहीं करते तो फिर उनकी किसी प्रकारकी अन्य कामना कैसे हो सकती है ? अतः ऊपर कहा हुआ भक्तियोग ही आत्यन्तिक कहलाता है जिससे मनुष्य सत्त्व, रज और तमोगुणरूप संसारको लाँघकर मेरे समान रूपवाला होनेके योग्य होता है। किसी प्रकारकी इच्छा न करके, श्रद्धापूर्वक उत्तम रीतिसे निज धर्मका आचरण करना, निष्काम-बुद्धिसे अवैध हिंसा न कर पाञ्चरात्र आदिमें कही हुई रीतिसे मेरी पूजा करना; मेरी मूर्तिके दर्शन, उस मूर्तिके चरणोंका स्पर्श, पूजा, स्तुति और वन्दना करते हुए प्राणिमात्रमें 'यह परमेश्वररूप ही है' ऐसी भावना

करना, मनमें धैर्य और विषयोंमें वैराग्य रखना; सत्पुरुषोंका बहुत आदर करना, अनाथोंके प्रति दया और उपकार करना, अपने समान गुणोंवाले पुरुषोंसे मैत्री रखना, अहिंसा आदि यम और जप-पाठ आदि नियम धारण करना; आत्मस्वरूपका वर्णन करनेवाले शास्त्रोंका बार-बार श्रवण करना, मेरे नामोंका संकीर्तन करना, मनकी सरलता रखना, सत्पुरुषोंका संग करना, देहादिके अभिमानको छोड़ देना; ऐसे गुणोंसे भागवत-धर्मोंका आचरण करनेवाले पुरुषका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो जाता है और वह अन्तःकरण मेरे गुणोंका श्रवण होते ही मुझमें अनायास ही आसक्त हो जाता है । जैसे वायुसे उड़कर आनेवाला सुगन्ध अपने स्थान (पुष्प आदि) से घ्राण इन्द्रियको अपने वशमें कर लेता है वैसे ही भक्तियोगमें निमग्न हुआ और सुख-दुःखादिमें समानभावको प्राप्त हुआ चित्त, परमात्माको वशमें कर लेता है। मैं सब प्राणियोंकी आत्मा होनेके कारण सबोंके भीतर निरन्तर वास करता हूँ, उस मुझको तिरस्कार करके अर्थात् सब भूतोंमें मुझे न जानकर जो नश्वर देह आदिमें आत्मदृष्टि रखकर केवल एक मूर्तिमात्रमें ही मेरी पूजा करता है, वह पूजाकी केवल नकल करता है । सकल प्राणियोंमें आत्मस्वरूपसे रहनेवाले मुझ ईश्वरका अपमान करके (अर्थात् उन प्राणियोंके हित करनेकी चेष्टा न कर) जो मूर्खतासे केवल एक मूर्तिमात्रकी ही पूजा करता है वह मानो केवल भस्ममें हवन करता है, जो निष्फल है । जो भेददृष्टि रखते (अर्थात् अपने सुख-दुःखके समान दूसरेके सुख-दुःखको नहीं अनुभव करते), अभिमान

अपनेमें रखते, सब प्राणियोंसे वैरभाव रखते और सब प्राणियोंके शरीरके भीतर विद्यमान रहनेवाले मुझसे द्वेष करते, ऐसे पुरुषोंका मन कभी भी शान्ति नहीं पाता। हे निष्पापे देवहूति! थोड़े या अधिक पदार्थोंके द्वारा एकत्र की हुई सामग्रियोंसे प्रतिमाके भीतर पूजित होनेपर भी मैं प्राणिमात्रका अपमान करनेवाले मनुष्य-पर कदापि सन्तुष्ट नहीं होता। अतः हे मातः! जबतक पुरुष सब प्राणियोंमें रहनेवाले मुझको हृदयमें नहीं अनुभव करता है, तबतक वह अपने नित्य-नैमित्तिक कर्म करता हुआ मूर्ति आदिमें मेरा पूजन करे। जो मनुष्य अपनेमें और अन्य प्राणियोंमें (जिनमें भी ईश्वरका वास है) थोड़ा भी भेद मानता है उस भेददृष्टिवाले मनुष्यको मैं ही मृत्युरूप होकर अति दुःसह भय देता हूँ। इसलिये सब प्राणियोंमें रहनेवाले और सबोंके अन्तर्यामी मुझ परमेश्वरका दान-मान तथा मैत्रीभावसे पूजन करे। इसलिये सब कर्म, उनके फल और शरीर ये सब मुझे अर्पणकर प्रतिबन्धकरहित हो जाय; अपना शरीर मुझे अर्पण करनेवाला, मुझे कर्मोंका फल अर्पण करनेवाला, कर्तापनके अभिमान-से रहित और समदृष्टि पुरुषसे अधिक उत्तम मैं किसीको भी नहीं देखता। श्रीभगवान् ईश्वर ही जीवरूपसे सब प्राणियोंमें विराजमान हैं—ऐसा समझकर सब प्राणियोंको बहुत ही सम्मानपूर्वक मनसे प्रणाम करे'।

सर्वत्र दया-धर्म सर्वश्रेष्ठ और परमावश्यक माना गया है, दया और परोपकार करना एक ही है, भिन्न नहीं। दया करनेका यह तात्पर्य नहीं है कि केवल मनमें दयाभाव उत्पन्नकर अपने

स्थानपर ही बैठे रहें, अपि तु दया वही है कि दूसरेके दुःखको अपना दुःख जानकर उससे कातर हो जैसे अपने दुःखको मिटानेका यत्न किया जाता है उसी प्रकार दूसरेके दुःखको मिटाने-का भी यत्न करे। जो कार्यरूपमें परिणत नहीं हुई वह दया कदापि नहीं है।

> तेष्वेषु भगवान्राजंस्तारतम्येन वर्तते।
> तस्मात्पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते॥
> दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप।
> त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिः कृता॥
> ततोऽर्चायां हरिं केचित्संश्रद्धाय सपर्यया।
> उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम्॥
>
> (भाग० ७। १४। ३८—४०)

श्रीनारदजीने श्रीयुधिष्ठिरसे कहा—'हे राजन्! ऐसे इस मनुष्य आदि शरीरोंमें भगवान् न्यूनाधिकभावसे अर्थात् पशु-पक्षी आदिकोंके शरीरोंकी अपेक्षा पुरुषशरीरोंमें अधिक अंशसे रहते हैं इस कारण पुरुष ही पात्र है और इसमें भी जिसका जिसमें जैसा-जैसा तपस्या आदि ज्ञानका अंश अधिक-अधिक अनुभवमें आता है वैसा-वैसा वह-वह पुरुष अधिक-अधिक सत्पात्र है—ऐसा समझे। हे राजन्! त्रेता आदि युगमें उन मनुष्य आदिकोंके एक-से-एकका अपमान करनेकी बुद्धि उत्पन्न हुई देखकर विद्वान् पुरुषोंने पूजाके निमित्त श्रीहरिकी प्रतिमा कल्पना की है। तबसे कितने ही पुरुष प्रतिमाके ऊपर पूर्ण श्रद्धा रखकर उत्तम प्रकारकी पूजाकी सामग्रीसे

श्रीहरिकी पूजा करते हैं तथापि पुरुष-द्वेषी लोकोंके प्रतिमाकी पूजा करनेपर भी उनको वह पुरुषार्थ देनेवाली नहीं होती है।'

यज्ञका अर्थ भी परोपकार करना है, जिसकी आवश्यकताको श्रीभगवान्‌ने गीताके प्रारम्भमें भलीभाँति दिखलाया है। गीतामें श्रीभगवान्‌का वाक्य है 'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ (४। ३१) यज्ञ न करनेवालेको यह लोक नहीं है तो परलोककी क्या आशा ?

भक्तका ऐसा लक्षण श्रीभगवान्‌ने गीता अ० १२ श्लोक १३ में भी कहा है कि—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

'अर्थात् जो किसीकी हानि करनेकी इच्छा नहीं करता किन्तु सभीका मित्र बनकर दया करता अर्थात् उपकार करता है वही भक्त है।' गीता अ० १६ श्लोक २ में 'दया भूतेषु' अर्थात् प्राणियोंपर दया (उपकार) करना दैवी सम्पत्तिका अंग माना गया है। जब कि श्रीभगवान् स्वयं नरनारायणरूप धारणकर बदरिकाश्रममें संसारके उपकारके लिये तपस्या कर रहे हैं तो इस लोकहित कार्यमें उनके सेवकोंका प्रवृत्त होना परमावश्यक और परम कर्तव्य है। श्रीनारायणको अपने साथ द्वितीय नररूप धारणकर लोकहितके लिये तपस्या करनेका तात्पर्य ही यह है कि साधक जो नरके समान श्रीनारायणका प्रिय अंश और साथी (सखा) है उसको लोकहित कार्यमें योग देना परम आवश्यक है। श्रीमद्भागवतपुराणका वचन है—

यत्र नारायणो देवो नरश्च भगवानृषिः।
मृदु तीव्रं तपो दीर्घं तेपाते लोकभावनौ ॥

भक्तका परम कर्तव्य धर्म और भक्तिका प्रचार करना है, जैसा कि—

ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं
यदाह योगेश्वर ईश्वरस्ते।
वक्तुं भवान्नोऽर्हति यद्धि विष्णो-
र्भृत्याः स्वभृत्यार्थकृतश्चरन्ति॥
(३।४।२२,२५)

'जहाँ (बदरिकाश्रममें) लोकोंपर अनुग्रह करनेवाले देव नारायण और भगवान् नर ये दोनों ऋषि कोमल, तीव्र और दीर्घ-कालिक तपस्या कर रहे हैं। विदुरजीने कहा कि हे उद्धवजी! आत्मतत्त्वके रहस्यको प्रकाशित करनेवाले योगीश्वर श्रीकृष्णजीने आपके लिये जिस ज्ञानका उपदेश किया था वह आपको मेरे लिये वर्णन करना उचित है, क्योंकि श्रीभगवान्‌के सेवक अपने सेवकों-के प्रयोजन सिद्ध करनेके निमित्त ही विचरते हैं।' और भी—

नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारै-
राराधितैः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः।
यत्सर्वभूतदययासदलभ्ययैको
नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा॥
परं शुश्रूषणं मह्यं स्यात्प्रजारक्षया नृप।
भगवांस्ते प्रजाभर्तुर्हृषीकेशोऽनुतुष्यति॥
(३।१३।१२)

'समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित सुहृद् और अन्तरात्मा-रूप अद्वितीय परमेश्वर हृदयमें कामना रखनेवाले देवताओंद्वारा

प्रचुर सामग्रियोंसे पूजित होनेपर भी वैसे प्रसन्न नहीं होते जैसा कि दुर्जनोंको प्राप्त न होनेवाली सकल प्राणियोंके ऊपर दया करनेसे शीघ्र ही प्रसन्न होते हैं। (श्रीब्रह्माने कहा) हे राजन्! प्रजाओंकी रक्षा करनेसे मेरी (ब्रह्माकी) अत्युत्तम सेवा होगी और प्रजाओंका पालन करनेवाले तेरे ऊपर हृषीकेश श्रीभगवान् भी प्रसन्न होंगे।' श्रीमद्भागवतपुराणका वचन है—

स एवेदं जगद्धाता भगवान् धर्मरूपधृक्।
पुष्णाति स्थापयन् विश्वं तिर्यङ्नरसुरात्मभिः॥
(२।१०।४४)

यन्नाभिपद्मभवनादहमासमीड्य
लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण।
तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योग-
निद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय॥
सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा
सत्त्वेन यन्मृडयते भगवान् भगेन।
तेनैव मे दृशमनुस्पृशताद्यथाहं
स्रक्ष्यामि पूर्ववदिदं प्रणतप्रियोऽसौ॥
(३।९।२१-२२)

'वही धर्मस्वरूप जगत्को धारण करनेवाले विश्वम्भर श्रीभगवान् तिर्यग्योनियों, मनुष्यों और देवताओंके रूपमें इस चराचर विश्वका स्थापन करके पालन करते हैं। (ब्रह्मा श्रीभगवान्से कहते हैं कि) हे स्तुतियोग्य भगवन्! जिन आपके नाभिकमलरूप स्थानसे मैं उत्पन्न हुआ हूँ, जिनके अनुग्रहसे सृष्टि रचकर त्रिलोकीपर उपकार करनेवाला हुआ हूँ, जिनके उदरमें सकल जगत् रहता है और

योगनिद्राके अन्तमें जिनके नेत्र विकसित कमलके समान दीखने लगते हैं ऐसे आपको प्रणाम है। वे ही सकल लोकोंके हितकारी एक आत्मस्वरूप, शरणागतोंके प्रिय कार्य करनेवाले श्रीभगवान्, जिस ज्ञान और ऐश्वर्यके द्वारा जगत्को सुखी करते हैं उस ज्ञानसे मेरी बुद्धिको संयुक्त करें, कि जिससे इस जगत्को मैं पहलेकी तरह फिर उत्पन्न करूँ।' ऊपरके वचनसे स्पष्ट है कि श्रीभगवान् धर्मकी स्थापना, ज्ञान और अपने ऐश्वर्यद्वारा सृष्टिका पालन करते हैं। अतएव इनकी प्राप्तिकर इनका प्रचार मुख्य सेवा है जैसा ब्रह्माजी करते हैं। नीचेके श्रीभागवत पुराणके श्लोकमें श्रीब्रह्माजीने श्रीभगवान्से स्पष्ट कहा है कि मैं प्रजासृष्टिरूपी कार्य आपकी सेवाकी भाँति करता हूँ—

यावत्सखा सख्युरिवेश ते कृतः
प्रजाविसर्गे विभजामि भोजनम्।
अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो
मा मे समुन्नद्धमदोऽजमानिनः॥
(२।९।२९)

'(ब्रह्माजी कहते हैं कि) हे भगवन्! आपने मित्रके समान हस्तस्पर्श आदिके द्वारा ममतासे मुझे अपना सखा बनाया है, इससे मैं प्रजासृष्टिरूप आपकी सेवामें अनाकुल रहकर इन चराचर लोकोंको उत्तम, मध्यम आदि भेदसे जबतक उत्पन्न करूँ तबतक आपसे प्राप्त हुए सम्मानके कारण 'मैं अजन्मा हूँ' इस प्रकारका अभिमान मुझको प्राप्त न हो।' श्रीभगवान्ने श्रीमद्भागवतपुराणमें उद्धवसे ऐसा कहा—

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः ॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥
(११ । १९ । २०-२४)

'मेरी अमृतसमान कथाके सुननेमें श्रद्धा और सुननेके अनन्तर मेरी कथाका व्याख्यान करना, मेरी पूजामें लगे रहना, स्तोत्रोंसे मेरी स्तुति करना । मेरी परिचर्यामें प्रवृत्ति, मुझे साष्टाङ्ग प्रणाम करना, मेरे भक्तोंकी विशेष पूजा, सब प्राणियोंमें मेरी भावना रखना । मेरे कार्यके निमित्त शरीरसे चेष्टा करना, वाणीसे मेरे गुणोंका वर्णन करना, मुझे अपना मन अर्पण करना, सब विषयोंकी वासना छोड़ना । मेरे कार्यके निमित्त द्रव्यका व्यय करना, आवश्यक हो तो मेरे लिये भोग और सुखका भी त्याग करना; यज्ञ, दान, होम, जप, तप, व्रत आदि कर्म मेरे निमित्त करना; हे उद्धवजी ! इस प्रकारके श्रवण आदि साधनाओंसहित आत्मनिवेदन करनेवाले मनुष्योंको मुझमें प्रेमरूप भक्ति उत्पन्न होती है, फिर उनका कौन-सा प्रयोजन बाकी रह जाता ।' ऊपरके वाक्यमें श्रीभगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि मुझको सब प्राणियोंमें देखे और केवल श्रीभगवान्‌के

निमित्त कर्म करे अर्थात् ऐसा कर्म करे जिसका श्रीभगवान् प्राणियों-की भलाईमें व्यवहार कर सकें। श्रीमद्भागवत पुराण, स्कं० ८ के निम्न कथित वाक्य, जो श्रीभगवान् शङ्करके संसारके प्राणियोंके रक्षार्थ समुद्रसे निकले विष-पान करनेपर कहा गया वह भक्तको कण्ठहार बनाना चाहियेः—

तप्यन्ते लोकतापेन प्रायशः साधवो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥
(७।४४)

भक्त-साधुगण प्रायः संसारके दुःखसे दुःखित होकर संसार-भरका कष्ट हटाना अपना कर्त्तव्य समझते हैं—ऐसा करना सर्वव्यापक श्रीभगवान्का सर्वोत्तम पूजन है।

जब कि श्रीभगवान्ने जगत्के उपकारके लिये स्वयं अवतार लेकर इस परोपकार धर्मका स्वतः पालन करके इसकी श्रेष्ठता और परमावश्यकताको प्रकट कर दिया, तो फिर इसमें अन्य प्रमाणकी कोई आवश्यकता ही नहीं रही। इस परोपकार-व्रत-सेवाका इस पुस्तकमें बार-बार उल्लेख किया गया है और इसके प्रमाण भी कहीं-कहीं दोहराये गये हैं जिसका कारण यह है कि आजकल अनेक लोग इस परमावश्यक परोपकार-सेवा-धर्मको एकदम भूल गये हैं जिससे बड़ी हानि हुई है। अनेक सच्चे साधक-भक्त श्रीभगवान्के नामपर सर्वस्व त्याग करते हैं, अनेक कष्ट उठाते हैं, अपने शरीर, वचन और मनको श्रीभगवान्के लिये अर्पण भी करना चाहते हैं, किन्तु इस परोपकार-सेवासे अनभिज्ञ होनेके कारण उनके त्याग, उनके कष्ट और उनके परिश्रमका पूर्ण फल श्रीभगवान्को नहीं मिलता। अनेक साधक

दिन-रात अपनी समझमें श्रीभगवान्‌की सेवामें लगे रहते हैं किन्तु वे यह नहीं जानते कि श्रीभगवान् जैसे परोपकार-सेवासे प्रसन्न होंगे वैसे अन्यसे नहीं और परोपकार-सेवा ही उनकी मुख्य सेवा है। परोपकाररूप सेवाद्वारा और अन्य प्रकारसे भी श्रीभगवान्‌की सेवा, पूजा और भजन करना चाहिये, किन्तु भेद यह है कि इसमें स्वार्थभाव न रखकर केवल श्रीभगवान्‌के प्रीत्यर्थ कर्म करना चाहिये और श्रीभगवान्‌की तुष्टि उसी कर्मसे होती है जिससे सृष्टिका उपकार होता है। जो कर्म सृष्टिके उपकारमें व्यवहृत हो नहीं सकता वह यथार्थ भगवत्-सेवा नहीं है। श्रीभगवान्‌को कर्मका फल समर्पण करना अथवा कर्म ही श्रीभगवान्‌के निमित्त करना अथवा श्रीभगवान्‌को कर्म ही समर्पण करना अथवा दूसरी भाँति उनकी सेवा-पूजा-भजन करना इन सबोंका यथार्थ तात्पर्य यही है कि इन कर्मोंसे जगत्‌का उपकार हो और श्रीभगवान् उन कर्मोंके परिणामको सृष्टिके उपकार करनेमें व्यवहार करें। जैसा कि पहले कहा जा चुका है सिवा सृष्टिके उपकार करनेके, जिसको श्रीभगवान्‌की लीला भी कहते हैं, अन्य कोई कार्य श्रीभगवान्‌को करना नहीं है और न अन्य किसीकी उनको अपेक्षा है। यज्ञादि क्रियाके अन्तमें 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' जो कहा जाता है, इसका तात्पर्य भी यही है कि श्रीभगवान् अपने सृष्टि-उपकारके कार्यमें उस क्रियाके फलको व्यवहार करें। वही परोपकार-सेवा श्रीभगवान्‌में अर्पण हो सकती है जिसमें स्वार्थका लेशमात्र न हो, जिससे यश, मान, ख्याति (नामवरी) पानेकी कोई आशा न की जाय, जिसका उद्देश्य लोगोंमें ख्याति करना न हो, जिससे किसी पारलौकिक

सुखके पानेकी भी लालसा न रहे, किन्तु सृष्टिके उपकारका भाव रखकर केवल श्रीभगवान्‌के निमित्त की जाय। भक्तका यह भाव नहीं रहता है कि मैं सृष्टिका उपकार करूँगा, अथवा कर सकता हूँ या करता हूँ। वह यही समझता है कि सृष्टिका उपकार तो केवल श्रीभगवान् ही कर सकते हैं और करते हैं। श्रीभगवान् इतनी कृपा अवश्य मेरे ऊपर करें कि उक्त कार्यमें मेरी तुच्छ सेवा-को भी ग्रहण करें अर्थात् मुझको किञ्चित् सेवा अपनी शक्तिको प्रेरणाकर करने दें और जो मुझसे लघुसेवा बन सके, जो यथार्थमें उनकी शक्तिद्वारा की गयी है, उसको कृपाकर ग्रहण करें, यद्यपि वह ग्रहण करने योग्य न हो। ऐसे भावसे श्रीभगवान्‌के निमित्त शुद्ध हृदयसे जो कर्म किया जाता है उसको श्रीभगवान् ग्रहणकर सृष्टिके उपकारके कार्यमें लगाते हैं और यदि उक्त कार्यसे अनजान कोई बुरा फल भी हो जाय तो कर्ताको उसका दोष नहीं होता और श्रीभगवान् उसको सुधार लेते हैं। श्रीभगवान्‌के निमित्त लङ्काकी यात्राके लिये सेतुबन्धनके समय एक क्षुद्र जन्तुने भी उक्त महत्कार्यमें योग दिया जिसको श्रीभगवान्‌ने सादर ग्रहण किया। इस सेवा-भावमें भावकी शुद्धि मुख्य है, कर्म गौण है। अब प्रश्न यह है कि साधकको कौन परोपकार कर्म करना चाहिये? इसका उत्तर यह है कि सभी साधक-भक्तोंमें सार्वजनिक प्रेम और परोपकार-सेवाका भाव सदा सब अवस्थामें रहना चाहिये किन्तु सबोंके कार्य एक प्रकारके न होंगे। साधककी भिन्न-भिन्न अवस्था, योग्यता, देशकाल, अवसर आदिके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारके कर्तव्य होंगे और श्रीभगवान्‌की सेवामें शुद्ध-

चित्तसे अपनेको अर्पण करनेपर स्वतः उसको बोध हो जायगा कि उसका क्या कर्तव्य है ? यह परोपकार-सेवा भी स्वधर्मके अनुसार जो जिसके योग्य है वह स्वयं उसके समीप आ जायगा और उसको बोध होगा कि मेरा यही कर्तव्य है। जो लोग केवल परोपकार-परोपकार कथनमात्र किया करते हैं और चाहते हैं कि हम ऐसे बड़े-बड़े कार्य करें जिनकी ओर सबका ध्यान आकर्षित हो अथवा जिसका वर्णन समाचारपत्रोंमें छपे और जिसके लिये हमारी प्रशंसा हो, हम नायक समझे जायँ अथवा हमारे लिये मानप्रदान हो; वे कदापि सेवाभावके परोपकारी सेवक नहीं हैं किन्तु स्वार्थी हैं और उनको उस कर्मका फल मिलेगा किन्तु उस कर्मको स्वार्थमिश्रित रहनेके कारण श्रीभगवान् स्वतः अपनी सृष्टि-हितके कार्यमें ग्रहण नहीं कर सकते।

शरीर-रक्षा भगवत्कार्य

जो लोग समझते हैं कि वैराग्य और भक्ति यही है कि शरीर और स्वास्थ्यके नियमकी परवाह नहीं करना किन्तु उनके विरुद्ध बर्ताव करना और भी शरीररक्षाका यत्न नहीं करना और इन सबका बोझ श्रीभगवान्‌पर देना; वे बिल्कुल भूल करते हैं। शरीर और स्वास्थ्यके नियमके विरुद्ध चलनेसे व्याधि उत्पन्न होती है और इस प्रकार व्याधिको उत्पन्न करके यह चाहना कि, श्रीभगवान् उस व्याधिसे मुझे मुक्त कर दें, परम स्वार्थ है और भक्तिके विरुद्ध है। शरीररक्षा आदि सांसारिक व्यवहारका भार श्रीभगवान्‌पर देना भी स्वार्थ है और भक्तिके विरुद्ध है। साधकोंका

कर्तव्य है कि अपने शरीरको श्रीभगवान्का दिया हुआ उनके कार्य करनेके निमित्त समझें और आश्रितवर्गको भी ऐसा ही समझें। ऐसा समझकर विशेष यत्न श्रीभगवान्के धन, इस शरीर और आश्रितका, करें, और भी उनकी रक्षा और पालन करें, और उनको पवित्र, स्वस्थ और नीरोग बनाये रहें जिसके लिये भी आवश्यक यत्न करें किन्तु इस कर्तव्यको स्वतः न कर श्रीभगवान्पर छोड़ देना स्वार्थ है। आश्रितवर्ग अर्थात् परिवार आदिके प्रति जो कर्तव्यका पालन है वह भी श्रीभगवान्की सेवा ही है। किन्तु जो लोग उस कर्तव्यका पालन नहीं करते अथवा ऐसे कार्यमें प्रवृत्त होते हैं जिस कारण उक्त कर्तव्यके पालनमें बाधा पड़ती है, यद्यपि वह कर्म उत्तम क्यों न हो; वे इस कारण श्रीभगवान्के प्रिय कार्य नहीं करते हैं और ऐसा कर्म श्रीभगवान्को कदापि प्रिय नहीं है।

सांसारिक कष्ट, कृपाका फल

अनेक साधक भक्त अन्यकी अपेक्षा अधिक सांसारिक कष्टमें अवश्य पड़ जाते हैं जो उनके लिये आवश्यक है और जिससे प्रथम तो सञ्चित प्रारब्ध कर्म थोड़ेमें भुगतान हो जाता है जो साधारण रीतिसे अधिक परिमाणमें आता और दूसरे कष्टमें भी धर्म और भक्तिके मार्गमें दृढ़ रहनेसे आन्तरिक शक्तिकी वृद्धि होती है और इस परीक्षामें उत्तीर्ण होनेसे इच्छाशक्तिकी दृढ़ता प्राप्त होती है। पाण्डव, विभीषण आदि आदर्श भक्त बड़े कष्टमें पड़ गये थे। श्रीभगवान्की दृष्टि भक्तपर कष्टके समय विशेष रहती है, अतएव अनेक भक्त सुखसे दुःखको उत्तम समझते हैं, क्योंकि सुखमें

श्रीभगवान्‌का विस्मरण होता है किन्तु दुःखमें स्मरण रहता है। कबीरका वचन है—

सुखके माथे सिल पड़े, (जो) नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखको, (जो) पल पल नाम जपाय॥

भक्तको कष्ट आनेपर श्रीभगवान्‌की कृपाहीका फल उसको समझना चाहिये, कदापि उद्विग्न नहीं होना चाहिये और कष्टसे छुटकारा पानेकी प्रार्थनातक भी श्रीभगवान्‌से नहीं करना चाहिये। ऐसी प्रार्थना भी स्वार्थकामना है और भक्तिके विरुद्ध है। भक्तको यदि श्रीभगवान्‌की दयामें विश्वास है तो फिर प्रार्थना क्यों? क्या श्रीभगवान् भक्तकी दशाको नहीं जानते हैं और यह नहीं जानते हैं कि उसके लिये कौन चीज कब आवश्यक है? अल्पज्ञ हमलोग यह नहीं जानते हैं कि कब और कैसी अवस्थासे किस प्रकार हमलोगोंका यथार्थ उपकार होगा किन्तु सर्वज्ञ श्रीभगवान् सब जानते हैं। अतएव हमलोगोंको चाहिये कि उनकी मर्जीपर विश्वास रख सब अवस्थामें प्रसन्न रहें, कदापि घबड़ायें नहीं। 'जाही बिधि राखै राम वाही बिधि रहिये' यही भाव रहना चाहिये।

श्रीमद्भागवत पुराणके निम्नलिखित वाक्यद्वारा श्रीभगवान्‌का श्रीमुखसे स्वयं कथन है कि मैं जिसपर अनुग्रह करता हूँ उसके धनको हरण कर लेता हूँ, जिससे उसमें कोई दोष न रह जाय अथवा आ जाय—

ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम्।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते॥

(८। २२। २४)

मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति ।
तं भ्रंशयामि संपद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम् ॥
(१०।२७।१६)

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ॥
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद्धनेहया ।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् ॥
(१०।८८।८-९)

'हे ब्रह्मन् ! मैं जिसके ऊपर प्रसन्न होकर दया करता हूँ उसका समस्त धन-ऐश्वर्य हरण कर लेता हूँ । कारण, धनके मदसे मनुष्य उन्मत्त और उद्धत होकर जनताकी अवहेलना करता है और जनताके हृदयमें हृदयेश्वर होकर जो मेरा वास है उसके कारण मेरा भी अपमान होता है । ऐश्वर्यके मदसे अन्ध दण्डसे शासन करनेवाले मुझको नहीं देखते हैं । ऐसेपर जब मैं अनुग्रह करता हूँ तो उनकी सम्पत्तिको नाश करता हूँ । हे युधिष्ठिर ! जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ उसका धन थोड़ा-थोड़ा करके हरण करता हूँ क्योंकि तब दुःखित निर्धन भक्तको उसके आत्मीय त्याग कर देते हैं । वह धनोपार्जनकी चेष्टामें फिर-फिर विफलमनोरथ होकर विषयसे विरक्त होकर मेरे एकान्त भक्तोंके साथ मैत्री स्थापन करता है और तब समझो कि मैंने उसके ऊपर परम अनुग्रह किया ।'

अर्जुनको श्रीभगवान्का परमभक्त होनेका गर्व था । एक दिन श्रीभगवान् और अर्जुन घूम रहे थे कि अर्जुनने एक साधुको देखा

जो सूखा घास खा रहा था, किन्तु उसके पास एक खड्ग था। अर्जुनके पूछनेपर साधुने कहा कि हरे घासोंमें प्राण समझकर अहिंसाके भावसे केवल सूखा घास खाकर अपनी प्राणरक्षा करता हूँ, जिसपर अर्जुनने पूछा कि ऐसी अहिंसाका व्रत रखनेपर भी तुम हिंसाके कारणभूत खड्गको क्यों अपने पास रखते हो? साधुने उत्तर दिया कि भेंट होनेपर तीन आदमियोंके मारनेके लिये मैं खड्ग साथ रखता हूँ। नाम और मारनेका कारण पूछनेपर साधुने यों कहा—'एक तो मैं द्रौपदीको भेंट होनेपर मारूँगा, क्योंकि उसने अपने स्वार्थके लिये चीरहरणके समय मेरे प्रभुको पुकारा, जिस पुकारके कारण उनको वहाँ आनेका और वस्त्रमें प्रवेशकर उसको बढ़ानेका कष्ट उठाना पड़ा। दूसरा अर्जुन है जिसने मेरे प्रभुसे अपने सारथिका काम करवाया और तीसरा नारद जो समय-कुसमयकी परवा न कर कुसमयमें भी मेरे प्रभुके यशका गान करता है, जिसके कारण उनको उस कुसमयमें अर्थात् सोने आदिके समयमें भी नारदके पीछे-पीछे गानके कारण घूमना पड़ता है। ऐसा सुनकर अर्जुनका अपने हृदयसे परमभक्त होनेका गर्व जाता रहा। यथार्थमें आदर्श भक्त वही है जो श्रीभगवान्‌से कुछ भी पानेकी इच्छा न रखे और न कभी कोई प्रार्थना करे। यदि मोक्षतककी इच्छाको त्यागा, तो फिर किसी कष्टसे त्राणके लिये क्यों प्रार्थना करना? जिस परमप्रेमकी दृष्टिसे मोक्ष तुच्छ है, उसी दृष्टिसे सांसारिक कष्ट भी तुच्छ और असत्य है; जिसकी परवा कदापि नहीं करनी चाहिये। एक भक्तकी उक्ति थी कि 'मैं चाहता हूँ कि श्रीभगवान् यह न जानें कि उनके प्रति मैं प्रेम

रखता हूँ क्योंकि ऐसा जाननेसे वे कुछ मुझे दे देंगे जो मेरे निष्काम प्रेमके विरुद्ध होगा' इस उक्तिका भाव यथार्थ भक्तके भावका ठीक द्योतक है। भक्त जब कि सायुज्य (निर्वाण) मुक्तिके परमानन्दका भी सहर्ष त्याग करता है, तो फिर अन्य प्रकारका कोई आनन्द अथवा सांसारिक कष्टनिवारण श्रीभगवान्-द्वारा क्यों चाहेगा ?

शुद्ध और युक्तभाव और विवेक आवश्यक

श्रीभगवान् कार्यको नहीं देखते, किन्तु उसके भावको देखते हैं। कोई कार्य बहुत उत्तम हो किन्तु शुद्ध भावसे नहीं किया जाय अथवा उसके सम्पादनद्वारा किसी कर्तव्यपालनमें रुकावट हो अथवा उससे किसीको कष्ट हो अथवा भविष्यत्में उससे हानि होना सम्भव हो तो वैसा कर्म कदापि श्रीभगवान्को प्रिय नहीं हो सकता, वरं उनकी इच्छाके विरुद्ध होनेके कारण वह यथार्थमें अधर्म माना गया है। यदि अपनी सामर्थ्यसे अधिक किसी उत्तम कार्य-में भी व्यय किया जाय अथवा अपने परिवार और आश्रितके भागको उनके लिये न रखकर किसी उत्तम उपकारी काममें खर्च किया जाय तो वह भी अयुक्त है और श्रीभगवान्को कदापि ग्राह्य नहीं है। किन्तु यदि एक भङ्गी भी अपने कर्तव्य झाड़बहारके कार्यको श्रीभगवान्का कार्य समझ केवल उनके निमित्त आवश्यक समझकर करता है तो वह श्रीभगवान्का परमप्रिय है और उसके कर्मको श्रीभगवान् सादर ग्रहण करते और अपनी सेवा समझते हैं। भक्तोंको कदापि यह नहीं समझना चाहिये कि श्रीभगवान्

केवल धनके व्यय करनेसे प्रसन्न होते हैं जिसमें धनीको सुविधा है और गरीब लाचार है। राजसिक भावसे करोड़ रुपये श्रीभगवान्‌के नामपर और उनके निमित्त व्यय होनेपर भी श्रीभगवान् कदापि प्रसन्न न होंगे और न उसे स्वयं स्वीकार करेंगे किन्तु निष्काम सेवाभावसे और प्रेमसे केवल पुकारे जानेपर अर्थात् नाम लेनेपर प्रसन्न हो जाते हैं और उस सेवाको सहर्ष ग्रहण करते हैं। लिखा है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(गीता ९। २६)

श्रद्धयोपहृतं श्रेष्ठं भक्तेन मम वार्य्यपि।
भूर्य्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते॥
(वाराहपुराण)

(श्रीभगवान् कहते हैं कि) जो भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल अथवा जल ही मुझको अर्पण करता है, उस भक्तिभावसे अर्पण किये हुएको मैं प्रीतिसे ग्रहण करता हूँ (अपने जगदुपकार-कार्यमें व्यवहृत करता हूँ)। मेरा भक्त, श्रद्धासे यदि मुझको जलबिन्दु भी अर्पण करता है तो मैं उससे अत्यन्त तृप्त होता हूँ, किन्तु अभक्तका उपहार बहुत अधिक परिमाणमें भी होनेपर उससे मेरी तुष्टि नहीं होती।

श्रीमद्भागवत पुराण, स्क० ११, अ० २७ का वचन है—

सूर्ये चाभ्यर्हणं प्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः।
श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि॥

भूर्यण्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः॥
(१७, १८)

सूर्यकी उपासना करनेमें नमस्कार और अर्घ्यदान करना चाहिये, जलमें तर्पणादिसे मेरी उपासना करनी चाहिये। मेरे भक्तजन यदि श्रद्धापूर्वक मुझे थोड़ा-सा जल भी देते हैं तो मुझे वह अत्यन्त प्रिय होता है। भक्तिहीन पुरुषके द्वारा समर्पित तो बहुमूल्य सामग्री भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती, फिर चन्दन, धूप, दीप, पुष्प और नैवेद्यादिकी तो बात ही क्या है?

इस परोपकार-सेवामें न अहङ्कार, न स्वार्थ और न राग-द्वेष ही रहना चाहिये, दया और निःस्वार्थ प्रेमका भाव अवश्य रहना चाहिये और कर्म ऐसा हो जो धर्म और कर्तव्यके विरुद्ध न हो, किन्तु यथार्थ उपकार पहुँचानेवाला हो अथवा उपकार-सेवा करनेकी शक्ति और योग्यता देनेवाला हो। यह उपकार-सेवा प्रथम समीपसे प्रारम्भ होगा अर्थात् पहले अपने परिवार, पीछे सम्बन्धी, फिर पड़ोसके लोग, फिर नगरस्थ लोग, इस प्रकार क्रमशः इनको सुधारने और उनका सेवा-उपकार करनेका यत्न करना होगा, फिर क्रमशः इससे भी अधिक इसकी गति होगी। जो अधिक कष्टमें हैं उसका अधिकार दया और उपकारकी सेवा पानेके लिये दूसरेकी अपेक्षा अधिक है। किसकी और कैसी सेवा करनी चाहिये? यह शुद्ध भावसे पूछनेपर अन्तरात्मा स्वतः बतला देगी।

जो लोग कर्मयोगकी मध्यम अवस्थामें हैं उनको विद्याप्रचार, ज्ञानप्रचार, रोगि-सेवा; दीनोंके लिये अन्न-वस्त्र, गृह, जलके कष्टका

निवारण, अनाथ और असहायकी सहायता, योग्योंको द्रव्यदान, व्याधिनिवारण और स्वास्थ्यकी उन्नति, विवादनिवारण आदि उपकारी कर्ममें कोई कर्म यथासामर्थ्य और यथावकाश अवश्य करने चाहिये और इन कार्योंको करनेकी शक्ति और योग्यताप्राप्तिके लिये यत्न करना भी सेवा ही है, किन्तु उद्देश्य यह होना चाहिये कि योग्यता प्राप्तकर केवल श्रीभगवान्‌की सेवामें उसका व्यवहार हो, स्वार्थमें नहीं।

यह सेवा भी तीन प्रकारकी है। जिस सेवासे केवल सांसारिक उपकार हो वह निम्नश्रेणीकी आधिभौतिक सेवा है, जैसे व्याधिसे पीड़ितोंकी सेवा-शुश्रूषा, निराश्रितोंके लिये अन्न-वस्त्र-गृह आदिका प्रबन्ध करना, दुःखितों और दरिद्रोंको द्रव्यदान देना आदि। ऐसी सेवा निम्नश्रेणीकी इसलिये है कि इससे तात्कालिक उपकार होता है किन्तु यह उपकार स्थायी नहीं रहता। सांसारिक कष्ट प्रायः प्रारब्धकर्मानुसार होनेके कारण विना भोग किये इससे छुटकारा पाना कठिन है। किन्तु जो हो, सेवाधर्म करनेवालेको सांसारिक कष्ट घटानेके लिये अवश्य यत्न करना चाहिये। किन्तु जो समझते हैं कि सांसारिक उपकार ही केवल उपकार है, अन्य नहीं और ऐसा मानकर चाहते हैं कि सब कोई इसी सांसारिक उपकारके करनेमें ही उद्यत हों, अन्य कार्यमें नहीं, वे ठीक नहीं समझते। मनुष्यको यथार्थ विद्या और ज्ञानके प्रकाशसे भूषित करना और उसके द्वारा उसे धर्मके मार्गमें प्रवृत्त करना जिससे अन्तमें भक्तिभावका लाभकर श्रीभगवान्‌की प्राप्ति करे यह मध्यम श्रेणीकी आधिदैविक सेवा है जो ऊपर कही आधिभौतिक सेवासे

कहीं उच्च है। जो जन-सेवाकी उपयोगिता, उच्चता और परमावश्यकता नहीं समझते, वे तत्त्वके ज्ञाता नहीं हैं। यथार्थमें सृष्टिका उपकार इसी सेवासे होता है, क्योंकि जब ज्ञान-भक्तिके उदय होनेसे लोग अधर्मके पथको त्यागकर धर्मपथका अनुसरण करेंगे और जब उनके लक्ष्य केवल श्रीभगवान् होंगे, तभी पापसे और अधर्मसे उनकी निवृत्ति होगी और जब पाप और अधर्मका अभाव होगा तभी सांसारिक कष्टका भी लोप होगा, क्योंकि अधर्म ही उसका कारण है। अतएव जो धर्म, ज्ञान और भक्तिका प्रचार करता है वह संसारका बहुत बड़ा यथार्थ उपकार करता है और यह उपकार सांसारिक उपकार-से अनेक गुना अधिक है और यह श्रीभगवान्की उच्च कोटिकी सेवा है। यह कार्य दो प्रकारसे होता है। प्रथम स्वयं आचरण करनेसे लोगोंमें इसका प्रचार होता है; क्योंकि आचरणका बहुत बड़ा प्रभाव लोगोंपर पड़ता है, और यह प्रभाव भूलोक तथा अन्तरिक्ष दोनों लोकोंमें पड़कर विशेष प्रभाव उत्पन्न करता है। जब ऐसे शुद्धाचरणके लोग अध्यापन, उपदेश, कथा, व्याख्यान, वार्तालाप, सत्सङ्ग आदि द्वारा इनका प्रचार करते हैं तो उनसे भी बहुत बड़ा लाभ होता है। इस सेवाका दूसरा प्रकार जो पहलेसे उच्च कोटिका है, वह नवधा-भक्तिकी साधना है; जिसका वर्णन आगेके प्रकरणमें होगा। इस नवधा-भक्तिके अन्तर्गत श्रीभगवान्के यशका श्रवण और कीर्तन, नामस्मरण, उनकी पूजा और ध्यान, उनकी स्तुति और गुणगान और उनमें भक्तिभाव अर्थात् प्रेमसम्बन्ध रखना, इन साधनाओंका प्रभाव सीधे श्रीभगवान्पर पड़ता है और इनसे सृष्टिका बहुत बड़ा उपकार होता है—शारीरिक कर्मसे मानसिक कर्मका अमित और अतुलनीय प्रभाव

स्पष्ट है। मानसिक भावनाका प्रभाव एक क्षणमें करोड़ों कोसतक सर्वत्र चारों ओर व्याप्त हो सकता है और अपनी शक्ति और प्रबलताके अनुसार प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। जो निष्काम भावना श्रीभगवान्‌से साक्षात् सम्बन्ध रखती है और उनके चरणकमलमें उनके कार्य विश्वहितके लिये अर्पित की जाती है (जैसे श्रीभगवान्‌का ध्यान, उनके नामका स्मरण, यशकीर्तन, गुणगान आदि) वह गङ्गाके समान त्रिभुवनपावन होती है जो श्रीभगवान्‌के चरणकमलसे प्रवाहित होकर प्रथम अन्तरिक्षलोकको पश्चात् इस मर्त्यलोकको और फिर इसके नीचे पाताललोकको भी पवित्र करती है। भक्तके भजनध्यानद्वारा प्रतिदिन इस पतितपावनी गङ्गाका प्रवाह तीनों लोकोंमें जारी रहता है और इससे तीनों लोकोंके प्राणी पवित्र होते हैं। ये सब भक्तिके उपहार जब श्रीभगवान्‌में निष्काम सेवाकी भाँति अर्पण किये जाते हैं और भक्त इनके बदलेमें कुछ नहीं चाहता और श्रीभगवान्‌से निवेदन करता है कि 'हे प्रभो! इस तुच्छ सेवाको ग्रहणकर अपनी सृष्टिके उपकारके कार्यमें इसे लगाकर त्रैलोक्यका मङ्गल कीजिये', तो श्रीभगवान् सादर उस सेवाको ग्रहणकर उसके द्वारा संसारका मङ्गल करते हैं और तीनों लोकको उससे लाभ पहुँचता है। ऐसे भक्त नित्यप्रति जो श्रीभगवान्‌का ध्यान और नामस्मरण करते हैं, पूजा करते हैं और उनके यश और नामका कीर्तन करते हैं, इनके द्वारा वे संसारका प्रतिदिन बड़ा ही उपकार करते हैं, जिसके द्वारा धर्म, ज्ञान और भक्तिकी वृद्धि और प्रचार स्वतः होते हैं और ऐसे ही महानुभाव भक्तके प्रभावके कारण अनेक लोग ईश्वरोन्मुख होते हैं। किन्तु यह

आवश्यक है कि भजननिष्ठ-साधक-भक्त परोपकार-सेवा करनेके भाव-को अपने चित्तमें अवश्य रक्खें और समझें कि परोपकार-सेवा करना श्रीभगवान्‌की यथार्थ पूजा है और जो कुछ ध्यान-स्मरण पूजा-वन्दनादि वे करें उनको श्रीभगवान्‌में इसी भावसे अर्पण करें जिनको श्रीभगवान् सृष्टिके उपकारके काममें व्यय करेंगे। यहाँ यह कहना परमावश्यक है कि जो लोग समझते हैं कि श्रीभगवान्‌का ध्यान, नामस्मरण, यशकीर्तन, पूजा आदि कर्म व्यर्थ हैं और कर्मयोगके अनुकूल नहीं हैं और इनसे कोई संसारका उपकार नहीं होता है जिसके कारण ये कर्तव्य कर्म नहीं हैं, वे यद्यपि बड़े क्यों न हों, किन्तु अवश्य बड़े भ्रममें पड़े हैं और उनकी ऐसी विवेचना नितान्त भ्रमपूर्ण है। यथार्थ भक्तके श्रीभगवान्‌का प्रेमपूर्वक भजन करनेसे संसारके सब प्रकारके उपकार होते हैं और उसके द्वारा ऐसे मङ्गलप्रद और स्थायी उपकार होते हैं कि सांसारिक उपकारी कर्ममें प्रवृत्त अनेक लोग उसका सहस्रांश उपकार भी नहीं कर सकते। इसलिये जो कोई कहते हैं कि श्रीभगवान्‌का भजन व्यर्थ है और भजननिष्ठ भक्त भजन छोड़कर केवल सांसारिक उपकारके काममें प्रवृत्त हों वे अवश्य अनभिज्ञताके कारण ऐसा सोचते हैं जिनके कारण उनका उक्त कथन कदापि ठीक नहीं है। संसारमें जो कुछ सुखशान्ति अबतक विराजमान है अथवा जो कुछ धर्म वर्तमान है वे सब इन्हीं भगवन्निष्ठ भक्तोंके भजनके प्रभावके कारण हैं अन्यथा वे लुप्त हो गये होते। भक्तोंके भजनकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है जिसके करनेमें श्रीभगवान् भी अपनेको असमर्थ मानते हैं।

शारीरिक कर्मसे मानसिक कर्मका प्रभाव बहुत बड़ा है और मनुष्यकी मानसिक भावनाओंका अच्छा अथवा बुरा दोनों प्रकार-का बहुत बड़ा प्रभाव संसारपर पड़ता है; किन्तु वह स्थूल जगत्में शीघ्र और विशेषरूपमें प्रकट न होकर प्रथम मानसिक क्षेत्रमें विशेष भावसे प्रकाशित होता है और फिर वह वहाँसे स्थूल संसारके कर्मोंका कारण होता है। भक्तसाधकगण जो श्रीभगवान्का चिन्तन, भजन, स्मरण और कीर्तन करते हैं और जिस प्रेमभावसे उनकी पूजा करते हैं उस निष्काम प्रेम-भाव आदिको श्रीभगवान् सादर ग्रहणकर उनको संसारके उपकारके कार्यमें व्यवहृत करते हैं और उनके द्वारा संसारका बहुत बड़ा कल्याण होता है और धर्म, ज्ञान तथा भक्तिकी वृद्धि होती है जो सांसारिक सुखका भी कारण है। भक्तके द्वारा श्रीभगवान्की किसी भी प्रकारकी निष्काम सेवा अर्पित होनेसे जगत्का परम कल्याण होता है, क्योंकि श्रीभगवान् उक्त सेवाभावको जगत्के कल्याणहीमें संयोजित करते हैं, जैसा कि अभी कहा जा चुका है। अतएव भक्तसाधक अपनी सेवा-पूजाद्वारा, जानकर अथवा अनजान, जगत्का कल्याण ही कर रहे हैं, अतएव वे वन्दनीय हैं। आध्यात्मिक सेवा आत्मार्पण है जिसका वर्णन पीछे होगा।

जो अयुक्त कर्म है और जो ईश्वरीय (सृष्टिके) नियमके विरुद्ध है उस कर्मका श्रीभगवान्में अर्पण नहीं हो सकता। जैसे कोई असत्य बोले, किसीको दुःख दे और ऐसे-ही-ऐसे अन्य अयुक्त कर्म करे और कहे कि इन कर्मोंको भी मैंने ईश्वरनिमित्त किया है वह पाखण्डी है, क्योंकि श्रीभगवान्के कार्य कभी असत्यभाषण,

पर-क्लेश-जनन इत्यादि अयुक्त कर्मोंसे सिद्ध नहीं हो सकते, किन्तु वे उनके सृष्टि-नियम (ईश्वरीय इच्छा) के विरुद्ध होनेसे ईश्वरके कार्य (सृष्टिकी ऊर्ध्वगति अथवा उन्नति) में उनसे बाधा पड़ती है। अतएव साधकको किसी कर्मके करनेके पहले विचारना चाहिये कि वह कर्म ईश्वरमें अर्पण करने योग्य है या नहीं अर्थात् ईश्वरीय इच्छा (नियम) के (जिससे सृष्टिकी उन्नति होती है) अनुकूल अथवा प्रतिकूल है। यदि अन्तरात्मा और सच्छास्त्र अनुकूल कहे तो उसे करना चाहिये, नहीं तो कदापि नहीं करना चाहिये, यद्यपि उससे सांसारिक लाभ भी होता हो। श्रद्धावान् साधकद्वारा अन्तरात्मा शुद्ध-भावसे पूछे जानेपर ठीक-ठीक बतला देगी अथवा शास्त्रावलोकनसे ठीक उत्तर मिलेगा। ऐसा भक्त जिसका उद्देश्य इष्टदेवतानिमित्त कर्म करना है, स्वार्थके लिये नहीं, उससे साधारणतः अयुक्त, अविहित और सृष्टिके नियमके विरुद्ध कोई कर्म हो नहीं सकता, यदि वह अपना भाव शुद्ध रक्खेगा और श्रीभगवान्‌पर पूरा निर्भर रहेगा।

ईश्वर सब प्राणियोंमें व्यापक, प्रकाशक और शक्तिदायक रूपसे वास करते हैं, किन्तु प्राणी अपनी आन्तरिक मलिनता, अज्ञानता और आवरणके कारण उनके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता। भक्तको चाहिये कि कदापि कोई ऐसा आचरण न करे और न कोई ऐसी भावना उत्पन्न करे जो ईश्वरके गुण और स्वाभाविक इच्छाके विरुद्ध हो। हिंसा, पाप, लोभ, असत्य, क्रोध, काम, मोह, स्तेय, असदाचार आदि अधर्म-कार्य ईश्वरकी इच्छा और नियमके, जो जीवको ऊर्ध्वगतिमें ले जानेके लिये हैं, विरुद्ध हैं; अतएव इनका आचरण करना मानो ईश्वरसे संग्राम करना है

और उनपर आघात करना है। अधर्म और अविहित कर्मके करने और कुत्सित भावनाकी उत्पत्ति करनेसे ईश्वरके सर्वव्यापी और अन्तर्व्याप्त हृदयस्थ शरीरमें अवश्य आघात पहुँचता है और उनके द्वारा ईश्वरके कार्यमें बड़ी बाधा पहुँचती है, अतएव ईश्वरके प्रेमीको कदापि कोई अधर्माचरण नहीं करना चाहिये। अधर्मके कार्यके विषयमें समझना चाहिये कि उसके करनेसे केवल कर्ताहीकी हानि न होगी, किन्तु संसारमात्रकी भी हानि होगी, क्योंकि कर्ता संसारसे पृथक् नहीं है, और इतना ही नहीं, उससे श्रीभगवान्के शरीरमें भी आघात पहुँचेगा, क्योंकि वे सर्वत्र व्याप्त और ओतप्रोत हैं, और सब काम उनकी दी हुई शक्तिद्वारा किये जाते हैं। वह शक्ति धर्मोपार्जन कर ईश्वरोन्मुख होनेके लिये दी गयी है न कि स्वतः ईश्वरके विरुद्ध कार्य करनेके लिये। पापकर्मोंका दुष्ट फल कर्ताको इसीलिये होता है कि वे कर्म ईश्वरीय इच्छा और उनके निर्धारित सृष्टिमें क्रमोन्नति करनेके नियमके विरुद्ध हैं। अतएव ईश्वरको सदा सभीके हृदयस्थ जान और अधर्मकर्मसे उनको स्वतः आघात पहुँचनेकी सम्भावना मान साधकको कदापि कोई अधर्मकर्म नहीं करना चाहिये। हमलोगोंके अज्ञानसे श्रीभगवान्को कष्ट पहुँचता है इसका प्रमाण श्रीमद्भगवद्गीतामें यों है—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

(१७। ५-६)

'दम्भ और अहंकारसे युक्त, काम और अनुरागके वेगसे युक्त होकर जो मूढ़जन शास्त्रविरुद्ध घोर तप करते हैं और शरीरस्थ पञ्चमहाभूत और उनके अन्तर्यामी मुझको क्लेश देते हैं, ऐसोंका आसुर निश्चय है, ऐसा तुम जानो।' श्रीभगवान् कपिलदेवजीके वाक्य जो पहले दिये गये हैं, उनमें इस विषयकी भलीभाँति पुष्टि है अर्थात् अधर्मद्वारा जो प्राणियोंको कष्ट दिया जाता है उससे श्रीभगवान्पर आघात पड़ता है, जो उनमें वास करते हैं, यह स्पष्ट वर्णित है।

भक्तलक्षण

(सर्वत्र समदृष्टि, भगवद्दृष्टि और परहितसाधन आदि)

भक्तका मुख्य लक्षण अहंता-ममताको श्रीभगवान्में समर्पण करके सर्वत्र एकात्मदृष्टि रखना तथा उस एकात्माको श्रीभगवान् समझ सर्वत्र सबमें भगवद्दृष्टि रखना और इसीके अनुसार व्यवहार करना है। सर्वत्र भगवद्दृष्टि ही दिव्यदृष्टि है जो श्रीभगवान्की कृपासे प्राप्त होती है। ऐसी दृष्टिका रखनेवाला दूसरेके दुःखको अपना दुःख और दूसरेके सुखको अपना सुख समझ (गीता ६। ३२) कर पर-दुःखनिवृत्ति और परहितसाधनको श्रीभगवान्की उत्तम सेवा समझ उसका सम्पादन करता है। इसके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवत-पुराणके ये वचन हैं—

यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम्।
प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात्तर्ह्येव कश्मलम्॥

यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः ।
स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यमृच्छति ॥
(३ । ९ । ३२-३३)

'जब मनुष्य काष्ठके भीतर नित्य अवस्थित अग्निके समान मुझको सब चेतनाचेतन प्राणियोंमें नित्य वर्तमान देखेगा तभी वह पापहीन और मोहसे मुक्त होगा । पञ्चभूत, दश इन्द्रिय, सत्त्वादि गुणत्रय और मनसे भिन्न जीवात्माको जब मनुष्य मेरे (श्रीभगवान्‌के) साथ स्वरूपसे अभिन्न तथा नित्ययुक्त समझेगा, तभी वह स्वराज्यसिद्धि अर्थात् जीवन्मुक्ति लाभ करेगा ।'

और भी—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥
मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्‌गतचेतसः ॥
(३ । २५ । २१-२३)

'जो साधु क्षमाशील, सहिष्णु, दयार्द्रहृदय, सब जीवोंके प्रति सुहृद्‌भाव रखनेवाले, निर्वैर, प्रशान्तचित्त और सर्वसद्‌गुण-विभूषित होकर अनन्यभावसे मुझ (श्रीभगवान्) में अचला भक्ति रखते हैं और मेरे लिये समस्त लौकिक कर्मों तथा स्वजन-बान्धवों-को त्यागकर मुझसे सम्बन्ध रखनेवाली मेरी पावन कथाका श्रवण-कीर्तन करते हैं उन मेरे गुणोंमें चित्त लगानेवाले साधुगणोंको

संसारके नाना प्रकारके संताप संतापित नहीं कर सकते हैं।'

पूर्वकालके श्रीप्रह्लाद, श्रीनारद, श्रीवेदव्यास, श्रीशुक आदि और इस युगमें गोस्वामी श्रीतुलसीदास, श्रीनानक, श्रीकबीर, श्रीरामकृष्ण परमहंस, श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी आदि भक्तप्रवरोंने अपने क्रिया-कलापद्वारा यह सिद्ध कर दिया कि श्रीभगवान्‌के नाम और यशका लोगोंमें प्रचारकर लोगोंको ईश्वरोन्मुख करना सर्वश्रेष्ठ भगवत्सेवा है। भक्तप्रवर श्रीप्रह्लादने अपने साथी दैत्यके बालकोंको ऐसा उपदेश दिया—

गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्ध्यार्पणेन च।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च॥
श्रद्धया तत्कथायां च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम्।
तत्पादाम्बुरुहध्यानात्तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः॥
हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत्॥
ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे॥

(श्रीमद्भा० ७। ७। ३०–३२, ५३)

'श्रद्धासे गुरुशुश्रूषा, सब लाभोंका श्रीभगवान्‌को अर्पण, साधु भक्तोंका संग, श्रीभगवान्‌की आराधना, उनकी कथामें श्रद्धा, उनके गुण और चरित्रोंके कीर्तन, श्रीभगवान्‌के चरणकमलका ध्यान और श्रीविग्रहके दर्शन-सेवन आदि करनेसे श्रीभगवान्‌में प्रीति होती है। सब प्राणियोंके भीतर सर्वदा श्रीभगवान् विराजमान हैं ऐसी भावना रखकर सब प्राणियोंको उनका अभीष्ट यथा-

साध्य साधन करके उनका सम्मान करना चाहिये। अतएव हे दनुजगण! सब प्राणियोंमें वर्तमान श्रीभगवान् हरिको जानकर उनको और सब प्राणियोंको अपना आत्मा मान सबके प्रति भक्ति करो।'

श्रीमद्भागवतपुराण, ११ वें स्कन्धके बारहवें अध्यायमें प्रथम श्लोकसे ९ तक श्रीभगवान्‌का यही कथन है कि योग, ज्ञान, तप, त्याग, स्वाध्याय, व्रत, तीर्थ आदिसे भगवत्प्राप्ति नहीं होती है, केवल सत्संगसे होती है। सत्संगसे दैत्य, पशु, पक्षी, जड़ पर्वत, शूद्र, स्त्री, अन्त्यज आदिको भी प्राप्ति हुई। इससे सिद्ध है कि भक्तोंका एकमात्र परमधर्म सदुपदेश, नामकीर्तन आदि द्वारा लोगोंको ईश्वरोन्मुख करना है। ईश्वरोन्मुख होनेमें संतजनोंसे बड़ी सहायता मिलती है।

उक्त स्कन्धका वचन है—

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एतस्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः॥
सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥

(२६।२६, ३४)

'इसलिये बुद्धिमान् पुरुष कुसंग छोड़कर सत्पुरुषोंमें अनुराग बढ़ावे, इससे वे संतजन अपने सदुपदेशसे उसके मनकी विषयासक्तिको छिन्न-भिन्न कर देंगे। आकाशमण्डलमें उदय हुआ सूर्य मनुष्यको केवल बाह्य नेत्र ही देता है, किन्तु संतजन उसे

ज्ञानरूपी आन्तरिक नेत्र देते हैं। अतः संतजन देवता और बन्धुरूप हैं तथा वे सबके आत्मा और साक्षात् मेरा स्वरूप ही हैं।'

और भी—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्
मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योऽन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

(३।२५।३४)

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः॥
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥

(११।३।३०-३१)

'श्रीभगवान्‌ने कहा—कितने ही, मेरे ही निमित्त सकल व्यापार करनेवाले भक्त, मेरे चरणोंकी सेवामें लगे हुए मुझसे सायुज्य मुक्ति पानेकी चाहना नहीं करते हैं किन्तु वे भक्त एक स्थानपर इकट्ठे होकर प्रेमपूर्वक मेरी लीलाओंका परस्पर वर्णन करते हैं। श्रीभगवान्‌के परम पावन गुणोंका परस्पर कथोपकथन करना तथा जिससे आपसमें प्रेम, सन्तोष और शान्तिका विस्तार हो उन सभी कर्मोंको सीखे। फिर पापपुञ्जहारी श्रीभगवान् हरिका स्वयं स्मरण करे और औरोंसे करावे, इस प्रकार (वैधी) भक्तिसे (प्रेमा) भक्तिका उदय होनेपर शरीर आनन्दसे पुलकित

हो जाता है।' श्रीमद्भगवद्गीता अ० १० में विशेष भक्तलक्षण यों वर्णित है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(९-१०)

'वे निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणों (चेष्टाओं) को अर्पण करनेवाले भक्तजन, सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन आपसमें करते हुए ही संतुष्ट होते हैं, और मुझ श्रीभगवान्‌में ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको, मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

श्रीरामचरितमानसमें भक्तके मुख्य लक्षण यों कथित हैं—

राम-भगत परहित निरत, पर दुख दुखी दयाल।
भगत सिरोमनि भरत तें, जनि डरपहु सुरपाल॥
(बृहस्पति-वचन बालकाण्ड)

श्रीमुखवचन श्रीनारदजीके प्रति—

निज गुन स्रवन सुनत सकुचाहीं। परगुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाव सबहिं सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु-गोविन्द-विप्र-पद-प्रेमा॥
स्रद्धा छमा मइत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥

बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना॥
दंभ मान मद करहि न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतुरहित पर-हित-रत सीला॥
(अरण्य०)
उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥
(सुन्दर०)

श्रीमुखवचन श्रीभरतजीके प्रति—

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखेपर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहिं मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रानसम मम ते प्रानी॥
बिगतकाम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मइत्री। द्विज-पद-प्रीति धरम जनयित्री॥
ये सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय, गुनमन्दिर सुखपुंज॥

श्रीशिववचन—

छमासील जे परउपकारी। ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी॥

उमा जे राम-चरन-रत, बिगत-काम-मद-क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं बिरोध॥

श्रीमद्भागवतपुराणका वचन है—

योऽध्रुवेणात्मना नाथा न धर्मं न यशः पुमान्।
ईहेत भूतदयया स शोच्यः स्थावरैरपि॥

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः।
यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति॥
(६।१०।८-९)

'हे नाथ! जो पुरुष प्राणियोंके ऊपर दया करके अपने अनित्य शरीरके द्वारा धर्म वा कीर्ति इनमेंसे कुछ भी प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करता है उसके लिये वृक्ष आदि स्थावर भी खेद करते हैं अर्थात् वह उन स्थावरोंकी अपेक्षा भी जड़ है। इस कारण प्राणियोंको दुःख प्राप्त होनेपर जिसको स्वयं भी दुःख होता है और प्राणियोंको हर्ष होनेपर जिसको हर्ष होता है उस पुरुषका धर्म ही अक्षय धर्म है क्योंकि सत्कीर्तिवाले सज्जन भक्तोंने उसी धर्मका सेवन किया है।'

श्रीप्रह्लादने यही दैत्यबालकोंको समझाया कि 'दूसरोंको कष्ट देकर अपना स्वार्थ साधन करना असुरभाव अथवा आसुरी प्रकृति है, तुम असुरभावको त्यागकर सब प्राणियोंको मित्र जान उनपर दया करो अर्थात् उनका हितसाधन करो जैसा कि भागवतपुराणका वचन है—

तस्मात्सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम्।
आसुरं भावमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः॥
(७।६।२४)

श्रीमद्भागवतपुराणका कथन है—

तप्यन्ते लोकतापेन प्रायशः साधवो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥

'साधुजन लोगोंके सन्तापसे अधिक सन्तप्त हो जाते हैं। क्योंकि वही (लोगोंके दुःखसे दुःखित होकर उनके दुःखकी निवृत्तिके निमित्त यत्न करना) सब भूतोंके आत्मस्वरूप श्रीभगवान्‌की सर्वोच्च पूजा-अर्चा है।'

उक्त पुराणके स्कन्ध ३ में श्रीकपिलभगवान्‌ने भक्तका लक्षण यों कहा है—

यमादिभिर्योगपथैरभ्यसञ्छ्रद्धयान्वितः ।
मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च ॥
सर्वभूतसमत्वेन निर्वैरेणाप्रसङ्गतः ।
ब्रह्मचर्येण मौनेन स्वधर्मेण बलीयसा ॥
यदृच्छयोपलब्धेन सन्तुष्टो मितभुङ्मुनिः ।
विविक्तशरणः शान्तो मैत्रः करुण आत्मवान् ॥
(२७। ६—८)

'भक्त साधक यम-नियम आदि योगमार्गोंके द्वारा विषयासक्त अन्तःकरणको वशमें करनेका अभ्यास करे, [परमेश्वर ही मुझे सब आवश्यक देंगे ऐसा] विश्वास रखकर मुझमें सत्य प्रेमभाव करता हुआ मेरी कथाओंको सुने। सकल प्राणियोंमें सम दृष्टि रक्खे, किसीके भी साथ वैरभाव न करे, किसी पदार्थमें भी आसक्त न हो, ब्रह्मचर्यका पालन करे, मौन रहे, [श्रीभगवान्‌को समर्पण करनेकी बुद्धिसे] अपने महान् धर्मका आचरण करे। अनायास जो कुछ मिल जाय उसीसे सन्तुष्ट रहे, परिमित आहार करे, मनन करनेका स्वभाव रखे, एकान्तवासी, शान्त, सबका शुभचिन्तक, दयालु और आत्मविजयी हो।'

स्कन्ध ११के दूसरे अध्यायमें सर्वत्र सत्रोंमें भगवद्दृष्टि रखनेवालेको उत्तम भक्त कहकर (जो पहिले कहा जा चुका है) उनके जो अन्य लक्षण कहे गये हैं वे ऐसे हैं—

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥
देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥
न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः ।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥
न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहम्भावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥
न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा ।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥
(४८—५२)

'इन्द्रियोंसे उनके अर्थको सेवन करते हुए भी जो इस संसारको विष्णुकी माया समझ अप्रियसे न द्वेष करता और न प्रियमें आसक्त होता, वही उत्तम भक्त है । जो श्रीभगवान्के स्मरणमें मग्न रहनेके कारण देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धिके धर्म, जन्म, विनाश, क्षुधा, भय, तृष्णा और कष्टसे थोड़ा भी क्षुब्ध नहीं होता, वही उत्तम भक्त है । जिसके चित्तमें कामना और कर्मके बीजोंका उद्भव नहीं होता, श्रीभगवान् ही जिसके एकमात्र सहारा हैं, वही उत्तम भक्त है । जिसका जन्म अथवा कर्मसे तथा वर्ण,

आश्रम अथवा जातिसे इस देहमें अहंभाव नहीं होता वही भगवान्‌का प्रिय भक्त है। जिसको धन और शरीरमें, अपने-परायेका भेद नहीं रहता और जो सब प्राणियोंको समान देखकर शान्त रहता है, वही उत्तम भक्त है।'

समदृष्टि सबके लिये आवश्यक है, विशेषकर भक्तके लिये, अतएव किसीके दोषपर दृष्टि करना बहुत बड़ा दुःस्वभाव है, जिसको समताके कारण अवश्य त्यागना चाहिये। आजकल हमलोगोंकी दूसरोंके दोषपर दृष्टि और व्यक्तिगत निन्दा आदिमें विशेष प्रवृत्ति रहती है जो बहुत ही हानिकर है। श्रीमद्भागवतके ११ वें स्कन्धमें श्रीभगवान्‌का इस विषयमें ऐसा कथन है—

पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक्।
कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा॥
तस्माद्युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत्।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे॥
ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम्।
आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे॥
दोषबुद्ध्यो भयातीतो निषेधान्न निवर्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥
सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः।
पश्यन्मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः॥

(७।८-१२)

'असंयतचित्त पुरुषको ही पदार्थोंके नानात्वका भ्रम होता है, इसलिये वही गुण-दोषका भागी होता है; गुण-दोषमयी बुद्धिके

ही कर्म, अकर्म और विकर्मरूप भेद हैं, इसलिये चित्त और इन्द्रियोंका संयमकर इस जगत्को अपने आत्मामें और अपने व्यापक आत्माको मुझ परमात्मामें देखो। इस प्रकार ज्ञान और विज्ञानसे युक्त होनेपर तुम समस्त देहधारियोंके आत्मारूप हो जाओगे तथा आत्मानुभवसे ही संतुष्ट होनेके कारण फिर विघ्नोंसे बाधित न होगे। इस प्रकार गुण-दोष-बुद्धिसे छूटे हुए ज्ञानी न तो द्वेष-दृष्टिसे निषिद्धका त्याग करते हैं और न गुण-बुद्धिसे विहितका अनुष्ठान करते हैं; वरं बालकके समान प्रारब्धवश जो कर्म उपस्थित होता है उसे ही अनासक्तभावसे करने लगते हैं। वे समस्त प्राणियोंके सुहृद् (शुभचिन्तक) शान्त और ज्ञान-विज्ञानके अटल निश्चयसे सम्पन्न होते हैं; तथा सम्पूर्ण जगत्को मेरा रूप देखते हुए फिर किसी विपत्तिमें नहीं पड़ते।' और भी—

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः॥
(११ । ११ । १६)

'गुण-दोषसे रहित समदर्शीको उचित है कि किसीके भला या बुरा कर्म करने अथवा वाणीसे भला या बुरा बोलनेपर न तो स्तुति ही करे और न निन्दा ही करे।'

किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः॥
(११ । १९ । ४५)

'गुण-दोषके अधिक लक्षण क्या बतलाये जायँ; इतनेहीमें समझ लो कि गुण-दोष देखना ही दोष है और इन दोनोंका न देखना ही गुण है।'

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ।
विश्वमेकात्मकं पश्यन्प्रकृत्या पुरुषेण च ॥
परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥
(११ । २८ । १-२)

'हे उद्धव ! विचारवान् पुरुषको चाहिये कि प्रकृति और पुरुषरूप विश्वको एकात्मक देखता हुआ किसीके स्वभाव अथवा कर्मकी न तो प्रशंसा ही करे और न निन्दा ही । जो कोई दूसरोंके स्वभाव या कर्मोंकी स्तुति या निन्दा करता है वह असत् (द्वैतप्रपञ्च) में अभिनिवेश (सत्यत्व बुद्धि) हो जानेसे शीघ्र ही परमार्थ-साधनसे पतित हो जाता है ।'

जैसे दूसरेके दोषपर दृष्टि करना ईश्वरको अप्रिय है उसी प्रकार अपनी निन्दा सुनकर भी सम-चित्त ही रहना चाहिये, कदापि उद्विग्न न होना चाहिये । उक्त पुराणके ११ स्कन्धका वचन है—

नोद्विजेत जनाद्धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु ।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ।
देहमुद्दिश्य पशुवद्वैरं कुर्यान्न केनचित् ॥

'वह धीर पुरुष अन्य लोगोंसे उद्विग्न न हो और न औरोंको ही उद्विग्न होने दे, निन्दा आदिको सहन करे, कभी चित्तमें बुरा न माने और इस शरीरके लिये पशुओंके समान किसीसे वैर न करे ।' मनुस्मृतिका भी वचन है कि अपमान और निन्दा सुननेसे प्रसन्न हो किन्तु सम्मान और प्रशंसाको विष समझे ।

श्रीमद्भागवत पुराण स्क० ११ अ० ११ में जो नीचे भक्तके २८ लक्षण श्रीभगवान्‌ने वतलाये हैं उनमें भी दया, परोपकार, निर्वैरता, क्षमा, समदर्शिता, स्वयं अमानी रहकर अन्यको मान देना, शान्तचित्तता, शरणापन्न होना, काम-क्रोधादिसे मुक्त होना आदि गुण मुख्य हैं—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥
(२९–३१)

श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें अध्यायमें १३ से १९ तक जो श्रीभगवान्‌ने स्वयं भक्तके लक्षणका कथन किया है वे बड़े महत्त्वके हैं जिनकी प्राप्तिपर विशेष ध्यान देना चाहिये। इनमें भी क्षमा, दया, मैत्री, करुणा, निर्ममता, निरहङ्कारपना, सन्तोष और समता मुख्य हैं। इन गुणोंमें दुःख-सुख, शुभ-अशुभ, शत्रु-मित्र, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदिमें समान रहना और इन्द्रिय-निग्रह आदि मुख्य हैं।

उन गुणोंके महत्त्वका वर्णन श्रीभगवान्‌ने इस प्रकार किया—

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥
(गीता १२ । २०)

'जो श्रद्धालु पुरुष मेरे परायण हो इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्कामभावसे सेवन करते हैं वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

भक्तिमें निष्कामभावसे सबमें श्रीभगवान्‌को जानकर परहित-साधनको भगवत्सेवा समझकर करना परमावश्यक है जिस कारण बार-बार कहा गया है।

दक्षिणमें एक महात्माके यहाँ एक साधु रहते थे। जब उक्त साधु श्रीभगवान्‌का भजन करते थे तो श्रीभगवान् कभी-कभी उनके समक्ष प्रकट होते थे। उक्त साधुने अपनी महत्ताको जनानेके लिये इस घटनाको महात्मासे कहा। महात्माने सुनकर कहा कि श्री-भगवान् आपको दर्शन देते हैं किन्तु आपको अपनाया नहीं है अर्थात् अपना जन नहीं बनाया है। साधुके श्रीभगवान्‌से पूछनेपर श्रीभगवान्‌ने स्वीकार किया कि मैंने तुमको अपना जन नहीं बनाया है। निष्काम परहित-साधन किये बिना मैं तुम्हें अपना नहीं सकता। तुमने अभीतक ऐसा नहीं किया है। यह जानकर साधु निष्कामभावसे गोसेवा आदि परहितसाधन कार्य करनेमें प्रवृत्त हुए जिसका यह परिणाम हुआ कि कुछ दिनोंके बाद पूर्वोक्त महात्माने भी उक्त साधुका निष्काम सेवात्याग देखकर स्वीकार किया कि उसे अब श्रीभगवान्‌ने अंगीकार कर लिया और वैसा ही यथार्थमें हुआ। भक्तका भाव क्या रहना चाहिये इसका उत्तम वर्णन श्रीमद्भागवत पुराण स्कन्ध ५ अ० १८ में यों है—

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।

मनश्च भद्रं भजतादधोक्षज
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥ ९ ॥

'विश्वका कल्याण हो; दुष्ट अपनी दुष्टताको त्यागकर सज्जनता ग्रहण करें; सब प्राणी परस्पर सब प्राणियोंके कल्याणकी भावना करें; हम सबोंका मन कुशल और शान्तिकी चाहना रक्खे; और हम सबोंकी बुद्धि निष्काम होकर श्रीपरमात्मामें प्रवेश करे।'

ऊपरके श्लोकमें यह भाव है कि प्रत्येकका कर्तव्य है कि अपनेसे नीचेके लोगमें जो बुराई हो उसको छुड़ानेका यत्न किया करे और प्रत्येक एक दूसरेका कल्याण चाहे और सब-के-सब अपने-अपने दोषोंको त्यागकर ईश्वरोन्मुख हो जायँ जिसमें सबका कल्याण हो। यही श्रीभगवान्‌का परम प्रिय कार्य है जिसमें वे स्वयं प्रवृत्त रहते हैं। भक्तका मुख्य कर्त्तव्य है इस महत् कार्यमें प्रवृत्त होना, यह पहले भी कहा जा चुका है। श्रीप्रह्लादने भी यही वर माँगा कि सब-के-सब ईश्वरोन्मुख हो जायँ। श्रीकुन्ती, श्रीरन्तिदेव आदि पूर्वके भक्तों और श्रीभगवान् बुद्धकी यही प्रार्थना थी कि संसारके दुःख उनको भोगनेके लिये मिले ताकि संसार दुःखसे मुक्त हो जाय। श्रीगौराङ्ग महाप्रभुका भी यही व्रत था। केवल इसीकी विशेष सफलताके निमित्त ही उन्होंने संन्यास-धारणका कष्ट उठाया। परम भक्तका यही लक्षण है कि श्री-भगवान्‌से कुछ पानेकी इच्छा न रख श्रीभगवान्‌के निमित्त त्याग करना और आवश्यक होनेपर सहर्ष कष्ट भी स्वीकार करना। द्रौपदीकी चीरहरणके समयकी पुकार, गजका ग्राहसे त्राण पानेकी प्रार्थना, श्रीअर्जुनका श्रीभगवान्‌को सारथी बनानेका काम,

इन सबकी निन्दा की गयी कि ये सब निष्कामभावके विरुद्ध हैं। जब वनमें युधिष्ठिरको द्रौपदीने कष्टसे त्राण पानेके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करनेका अनुरोध किया तब उन्होंने कहा कि मैं निष्काम-भावसे भक्ति करता हूँ और सांसारिक अर्थकी प्रार्थना करनेसे तो मेरा धर्म बनियेकी खरीद-बिक्रीका व्यवसाय हो जायगा।

एक बार श्रीभगवान्‌को असह्य शिर-व्यथा हुई जिसकी निवृत्तिके उपाय उन्होंने अपने भक्तके पद-रेणुका स्पर्श बतलाया। श्रीनारद स्वयं देना स्वीकार न कर साधारण भक्तोंसे लेकर ऋषि, मुनि, ब्रह्मा, शिव आदितकके पास गये किन्तु दोषके भयसे किसीने देना स्वीकार न किया। अन्तमें श्रीभगवान्‌ने उन्हें व्रजमें भेजा। जहाँ जानेपर श्रीराधाजीने अपने चरणके रेणुको सहर्ष दे दिया, ऐसा कहकर कि यदि इस रेणुके स्पर्शसे मेरे नरकमें जानेपर भी श्री-भगवान्‌के कष्टका निवारण हो तो मुझको नरक-यातनासे ही प्रसन्नता होगी। व्रजके अन्य गोपियोंने भी इसको स्वीकार किया। इस घटनाद्वारा भी श्रीभगवान्‌ने यह प्रकट कर दिया कि यथार्थ प्रेम वही है जिससे प्रेमी अपनी क्षतिकी परवा न करके प्रेमपात्रकी तुष्टि करनेसे ही प्रसन्न होता है।

सतत स्मरण भी परम भक्तका मुख्य लक्षण है। जिसका श्रीभगवान्‌ने गीतामें बार-बार उपदेश दिया है। श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको उपदेश दिया कि सतत मेरा स्मरण करो और युद्ध करते समय भी स्मरण करते रहो। हमलोगोंके लिये दैनिक व्यवसाय और कर्म, यदि कर्त्तव्यकी दृष्टिसे किये जायँ तो वही हमलोगोंके लिये युद्धकी भाँति हैं जिसे करते हुए भी श्रीभगवान्‌का

स्मरण करते रहना चाहिये। इस सतत स्मरणको श्रीभगवान्‌ने अपने मिलनेका सुलभ उपाय बताया। गीताका वचन है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८। ७, १४)

'अतएव हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन, बुद्धिसे युक्त हुआ निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा। हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्तसे स्थित हुआ, सदा ही मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

श्रीमद्भागवत पुराण स्क० ११ अ० २ में परम भक्तका लक्षण ऐसा कथित है कि वे श्रीभगवान्‌में प्रेमवश इस प्रकार संयुक्त रहते हैं कि उनका चित्त क्षणभरके लिये भी श्रीभगवान्‌के चरण-कमलसे विलग नहीं होता है, जैसा कि—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥५३॥

भक्तिके मार्गमें दो बड़े प्रतिबन्धकोंका यहाँ उल्लेख करना परमावश्यक जान पड़ता है, जिनसे बचनेके लिये साधक सदा

सावधान रह सके। प्रथम श्रीमद्भागवत पुराण स्क० ११ अ० ११ में भक्तके लक्षणका उल्लेख करके अन्तमें श्रीभगवान्‌ने ही इसको बतलाया है और उससे दूर रहनेकी चेतावनी दी है। इससे सिद्ध होता है कि यह दुर्गुण ऐसा है कि सद्‌गुणोंका भी नाश कर देता है। उक्त चेतावनी यों है—

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः॥
न तथास्य भवेत्क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।२९-३०)

'विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह स्त्री और स्त्रीसंगियोंका संग दूरसे ही त्यागकर निर्भय और निर्जन एकान्त स्थानमें बैठकर आलस्यरहित होकर मेरा चिन्तन करे। किसी अन्यके संगसे इस (मुमुक्षु) पुरुषको ऐसा क्लेश और बन्धन नहीं होता जैसा कि स्त्री अथवा उसके संगियोंके संगसे होता है।' और भी उसी स्कन्धका वचन है—

नाधिगच्छेत्स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः।
बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा॥

(८।१४)

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि साक्षात् अपनी मृत्युरूप-समान पर-स्त्रीके पास कामोपभोगकी लालसा रख कभी न जाय; क्योंकि जो कोई इस प्रकारका स्त्री-संग करता है उसे सबल पुरुष उसी प्रकार मारते हैं जैसे हथिनीके पीछे लगे हुए हाथीको दूसरे हाथी मारते हैं।'

यदि गृहस्थ केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये ही स्त्री-संग करे तो उसे कोई बाधा न होगी, क्योंकि गृहस्थके वास्ते स्त्री-सहवास सन्तानोत्पत्तिके निमित्त कर्त्तव्य है किन्तु विषयभोगके निमित्त कदापि नहीं। जैसा कि पूर्वोक्त स्कन्धमें वचन है—

एवं व्यवायः प्रजया न रत्या।

स्मरण रहे कि स्त्रीमात्र तो जगन्माताका रूप और पूज्या हैं किन्तु जो उनके प्रति पूज्यभाव न रख कुदृष्टि करता है, वह अपनी कुत्सित भावनाके कारण नष्ट होता है।

दूसरा प्रतिबन्धक रसना-इन्द्रियकी लोलुपता है। श्रीमद्भागवत पुराण स्कन्ध ११ अ० ८ में इस विषयमें भी चेतावनी है—

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा॥
इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते॥
(१९-२०)

'अति दुर्जय जिह्वाके रससे सेवनमें आसक्त हुआ दुर्बुद्धि मनुष्य, जैसे मांसके रसमें आसक्त हुआ मत्स्य, उस मांसमें चुभे हुए लोहेके काँटोंसे मरणको प्राप्त होता है, वैसे ही मरणको प्राप्त होता है। रसना-इन्द्रिय ऐसी दुर्जय है कि आहारका त्याग करनेवाले विचारवान् पुरुष, रसना-इन्द्रियको छोड़कर शेष सब इन्द्रियोंको जीत लेते हैं परन्तु अन्नरहित पुरुषकी वह रसना-इन्द्रिय वृद्धिको प्राप्त होती है; तब यदि आहारका सेवन किया जाय तो फिर रसकी आसक्तिसे सब इन्द्रियाँ चलायमान हो जाती हैं, इससे

रसकी आसक्तिको छोड़कर केवल ओषधिके समान भोजन शरीर-की रक्षाके लिये करना चाहिये ।'

भक्तमहिमा

श्रीमद्भागवत पुराणके तृतीय स्कन्धके अ० २५ के ३५, ३७ से ३९ श्लोकोंमें, स्क० ४ के अ० २० के ७ श्लोकमें और स्क० ६ के अ० १ के १७ श्लोकमें श्रीभगवान्‌का कथन है कि मेरे अनन्य भक्तका विनाश नहीं होता, क्योंकि वे मेरे स्वरूपमें स्थित रहते हैं । इस कारण काल-चक्र उनको स्पर्श नहीं कर सकता है; मेरे बिना दूसरा कोई उपाय मृत्युके भयसे त्राण पानेका नहीं है, क्योंकि मृत्यु आदि सभी मेरे भयसे अपना-अपना कार्य करते हैं; मेरे भक्त मृत्युसे पार हो जाते, उनको यमका त्रास नहीं रहता; और शरीर धारण करते रहनेपर भी उनको त्रिगुण लिप्त नहीं कर सकता । देवीभागवत पुराणमें कहा है कि जो अपने इष्टका सतत स्मरण करता है वह मृत्युको जीत लेता है । श्रीभगवान्‌का और भी वचन है—

> न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः ।
> यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया ॥
> सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः ।
> सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः ॥
> (६ । १ । १६-१७)

'हे राजन् ! श्रीभगवान्‌में अर्पितात्मा भक्तकी सेवासे पापात्मा भी कृष्णार्पित होकर जैसे पापसे मुक्ति पाकर शुद्ध हो जाता है, वैसा तप आदिसे नहीं होता । भक्तिमार्ग ही इस संसारमें परम

श्रेयस्कर मार्ग है जिसमें कोई विघ्न-बाधाका भय नहीं है, क्योंकि करुणाशील भगवत्परायण भक्तगण इस मार्गमें विद्यमान रहते हैं। वे ही इस पथके पथिकोंकी सहायता करते हैं।'

श्रीभगवान् कहते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥
(९।४।६३-६४, ६६, ६८)

'हे ब्राह्मण! मैं परतन्त्र-सा अपने भक्तके वशमें रहता हूँ। साधु-भक्तोंने मेरे हृदयको बाँध रक्खा है। मैं भक्तोंका प्रिय हूँ। हे द्विज! जिनकी मैं परमगति और एकमात्र आश्रय हूँ, ऐसे अनन्यशरण साधुजनोंको छोड़कर मैं अपनी आत्मा और अपनी निजशक्ति लक्ष्मीको भी प्रिय नहीं समझता। जिस समदर्शी भक्तका हृदय मुझमें आविद्ध है उसने मुझको उसी प्रकार वशमें कर लिया है जैसे सती स्त्री अपने पतिको वशमें करती है। भक्त-साधु मेरे हृदय हैं और साधुओंका हृदय मैं हूँ। वे मुझको छोड़कर अन्य किसीको न जानते और मैं भी उन्हें छोड़ अन्यको तनिक भी नहीं जानता।'

श्रीभगवान्‌का ११ वें स्कन्धमें वचन है—

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः ।
मयात्मना सुखं यत्तत्कुतः स्याद्विषयात्मनाम् ॥
अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥
न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥
न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥
(१४ । १२-१६)

'हे सौम्य ! मुझमें चित्त लगाकर सर्वथा अनासक्तबुद्धिसे मुझहीमें लीन रहनेसे जो नित्य सुख प्राप्त होता है वह विषय-लोलुप व्यक्तियोंको कैसे मिल सकता है ? जो अकिञ्चन, जितेन्द्रिय, शान्त, सबोंको समान देखनेवाले और मेरी प्राप्तिसे ही संतुष्ट हैं उनके लिये सब ओर आनन्द-ही-आनन्द है। जिसने अपने चित्तको मुझमें ही लगा दिया है वह मुझको छोड़कर ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, लोकान्तरोंका आधिपत्य, योगकी सिद्धियाँ अथवा मोक्ष आदि किसीकी भी कामना नहीं करता। (इसलिये) हे उद्धव ! आप भक्तलोग मुझे जैसे प्रिय हैं वैसे ब्रह्मा, शङ्कर, बलभद्र, लक्ष्मी और अपना आत्मा भी (प्रिय) नहीं है। निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर और

सर्वोंको समान दृष्टिसे देखनेवाले मुनिकी चरणरेणुसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा ही उनके पीछे फिरा करता हूँ।'

स्क० १० अ० ४८ में श्रीभगवान् भक्तोंकी महिमाका परिचय देते हुए अक्रूरसे कहते हैं—

भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः।
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः॥
न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥
(३०-३१)

'वे ही कल्याणके चाहनेवाले मनुष्योंको आप-जैसे महाभाग पूज्यतम महात्माओंकी ही सेवा करनी चाहिये न कि देवताकी, क्योंकि देवता स्वार्थपरायण होते हैं। किन्तु साधु स्वार्थी न होकर परोपकारी होते हैं। मृण्मयी, शिलामयी प्रतिमाके देवता और तीर्थ बहुत समयपर्यन्त सेवा करनेसे पवित्र करते हैं किन्तु साधु पुरुष दर्शनमात्रसे ही पवित्र कर देते हैं।'

श्रीमद्भागवत पुराणका कथन है कि बिना भक्तकी कृपा और संगके भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती है—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं
स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं
निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥
(७।५।३२)

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।

सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥
(१०।५१।५४)

'जबतक जीव निष्किञ्चन, महात्मा भगवद्भक्तोंके पादरजसे अभिषेक स्वीकार न करेगा, तबतक समस्त अनर्थके अपगम-स्वरूप श्रीभगवान्‌के चरणोंमें उसकी प्रीति न होगी। हे अच्युत! संसारचक्रमें भटकते हुए जीवके छूटनेका समय आता है तब उसे सत्संग प्राप्त होता है और जिस समय सत्संग प्राप्त होता है उसी समय साधुजनोंके आश्रय आप परावरेश्वरमें मन लगता है।

एक कथा है कि कोई एक गौको जिसको हालका बछड़ा था, एक स्थानसे दूसरी जगह ले जाना चाहता था किन्तु अनेक चेष्टा करनेपर भी गौ राजी न हुई। एक साधुने उसकी दिक्कतको देखकर उसे सम्मति दी कि तुम बछड़ेको कन्धेपर रखकर चलो और तब देखो कि गाय क्या करती है? उसने ऐसा ही किया जिसके बाद गाय बछड़ेके पीछे-पीछे स्वयं बिना यत्न चलने लगी। भक्त बछड़ा है और श्रीभगवान् गाय। बिना बछड़ेको आश्रय किये अनेक यत्न करनेपर भी गायरूप श्रीभगवान् आकर्षित अथवा संग न देंगे, किन्तु उनके बछड़े जो भक्त हैं उनका आश्रय करनेसे, उनसे संगति करनेसे और उनको तुष्ट करनेसे श्रीभगवान् गौकी भाँति स्वयं पीछे-पीछे चलेंगे।

नवधा भक्ति

श्रीमद्भागवत पुराणमें नवधा भक्तिका यों वर्णन है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥
(७।५।२३-२४)

श्रीप्रह्लादका वचन है—'श्रीभगवान्‌के गुणोंका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरणसेवा, पूजा, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मार्पण—यह नौ प्रकारकी भक्ति श्रीभगवान्‌में अर्पण की जावे तो उसको मैं उत्तम अध्ययन समझता हूँ।' यह नवधा भक्तिकी निष्ठा निष्काम भक्ति है। ये नौ यथार्थमें तीनके रूपान्तर हैं। श्रवण, कीर्तन और स्मरण श्रीउपास्यदेवके 'नाम' साधनके अन्तर्गत हैं अर्थात् एक 'नाम' के ये तीन विभाग हैं। उसी प्रकार पादसेवन, अर्चन और वन्दन उपास्यदेवके 'रूप' के अन्तर्गत हैं और 'दास्य', 'सख्य' और आत्मनिवेदन—ये उपास्यदेवके 'भाव' अर्थात् 'सम्बन्ध' के भिन्न-भिन्न रूप हैं। अतएव ये नौ यथार्थमें 'नाम', 'रूप' और 'भाव' हैं। ये नौ स्वतन्त्र साधना नहीं हैं, किन्तु भक्तिकी सीढ़ीकी क्रमशः नौ पटरियाँ हैं और इसके द्वारा ऊपर उठनेके लिये क्रमशः एकके पश्चात् दूसरेके ऊपर चलकर जाना होगा। साधकको प्रथम श्रवणकी प्राप्ति करनी होगी, उसके बाद कीर्तन, तत्पश्चात् स्मरण, बाद उसके पादसेवन, फिर अर्चन, फिर वन्दन, तब दास्य, उसके होनेपर सख्य और अन्तमें आत्मनिवेदन। यही प्रकार क्रमशः इस मार्गपर अग्रसर होनेका है। ऐसा नहीं कि ऊपरकी साधनाकी प्राप्ति होनेपर नीचेकी साधनाको त्यागना पड़ता है; किन्तु अग्रसर होनेपर नीचेकी साधना भी किसी रूपमें वर्तमान रहती है किन्तु, उसके बादकी साधनाकी प्राप्ति

होनेपर दोनों मिलकर, परिवर्धित हो जाती है । केवल इन नौ निष्ठाओंके प्रति स्वतन्त्र दृष्टि की जाय तो बोध होगा कि प्रथम तीन जो 'नाम' के अन्तर्गत हैं वे अधिभूत हैं, दूसरे तीन 'रूप' के अन्तर्गत 'अधिदैव' हैं और अन्तिम तीन 'भाव' के अन्तर्गत 'अध्यात्म' हैं । शास्त्रानुसार वर्णाश्रमधर्म और अपने कर्तव्यके अनुसरण करनेपर (जो प्रवृत्तिमार्ग है) और उनके द्वारा इन्द्रिय और मनको अपने वशमें करनेपर और सत्यके ज्ञानकी प्राप्तिकी तीव्र लालसाके कारण शास्त्रके अध्ययन और मनन करनेपर जब जीवात्मा श्रीभगवान्‌के स्वरूप, सम्बन्ध और अकारण करुणाका परिचय पाकर उनके निमित्त लालायित होता है तब भक्तिभाव उसमें आता है । यह इस ग्रन्थके प्रकरणद्वारा भी प्रदर्शित किया गया है ।

श्रवण

भक्तिका श्रवण प्रथम पाद है । उपास्य देवकी कीर्ति, महिमा, कथा, यश, सामर्थ्य, चरित्र, ज्ञान, गुण, पावन नाम आदिका श्रद्धा-भक्तिसे सुनना श्रवण है । सब काम प्रथम श्रवणसे प्रारम्भ होता है अर्थात् श्रवणद्वारा जानकर ही उसमें प्रवृत्ति होती है, यहाँतक कि वेदका भी प्रादुर्भाव सुनकर ही हुआ, जिसके कारण उसे श्रुति कहते हैं । इस श्रवणका अर्थ केवल सुनना नहीं है; किन्तु सुनकर उसको हृदयमें अंकित करना भी है । यह ऐसी अवस्था है जब कि जीवात्मा श्रीभगवान्‌के गुण और चरित्र सुननेके लिये ऐसा व्याकुल हो जाता है जैसा कि तृषित पुरुष जलके लिये रहता है जब कि उसकी तृप्ति केवल श्रीभगवान्‌की महिमा, पवित्र

यश और पावन नामके सुननेसे ही होती है, जिसको सुनकर वह परम प्रसन्न हो जाता है। दूसरेके द्वारा सुनकर अथवा स्वतः जानकर किसी विषयको हृदयमें अंकित करना ये दोनों श्रवणके अन्तर्गत हैं। भक्तोंके मुखसे जो श्रीभगवान्‌का गुण और यश सुना जाता है उसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है जो अन्य प्रकारसे सम्भव नहीं है, अतएव सत्संगद्वारा इस 'श्रवण' के लाभके लिये साधकको यत्न अवश्य करना चाहिये।

इस प्रकार श्रवणका अर्थ यहाँ केवल सुनना ही नहीं है; किन्तु सुनकर सुने हुए श्रीभगवान्‌के विषयको हृदयमें अंकित करना और उनपर पूरा आरूढ़ हो जाना और तदनुसार आचरण करना है। श्रीमद्भागवैत पुराणका वचन है—

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य
नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः।
यत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द-
पादारविन्दं हृदयेषु येषाम्॥
(३।१३।४)

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄंस्तत्पादसलिलं यथा॥
(१०।१।१६)

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्॥
(१०।१४।३)

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥
(१०।३१।९)

इत्थं परस्य निजवर्त्मरिरक्षयात्त-
लीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि।
कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य
श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन्॥
(१०।९०।४९)

शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्यदुराशयानां
विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः
सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध-
सच्छ्रद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात्॥
(११।६।९)

'जो मनुष्य बहुत परिश्रम करके वेदादिका अध्ययन करता है उसका प्रयोजन यही कहा गया है कि ऐसे भगवद्भक्त जिनके हृदयमें भगवान्‌के चरणकमल विराजमान हैं उनके मुखसे श्री-भगवान्‌के गुणोंका श्रवण करना। श्रीभगवान्‌की कथाके विषयमें प्रश्न उनके चरणकमलसे निकली गंगाकी भाँति तीनोंको अर्थात् वक्ता, प्रश्नकर्ता और श्रोता स्त्री-पुरुषोंको पवित्र करता है। यद्यपि अजित आप (श्रीभगवान्) को दूसरा कोई तीनों लोकोंमें जीत नहीं सकता तथापि ज्ञानलाभ करनेमें परिश्रम त्यागकर जो लोग अपने स्थानमें बैठकर साधुओंके मुखसे आपकी कथा सुननेमें कर्म,

वचन और हृदयसे लगे रहते हैं वे आपको वशीभूत कर लेते हैं। आपका कथामृत दुःखियोंको सजीव कर देता है, पापको नष्ट करता है और सुननेसे कल्याण करता है। कविलोग ऐसी प्रशंसा करते हैं। इसको पाकर पृथ्वीमें जो इसे फैलाते हैं वे बड़े दाता हैं। जो मनुष्य भगवत्पाद पानेकी चाह रखता है उसको चाहिये कि श्रीभगवान्ने जो धर्मकी रक्षाके लिये शरीर धारण किया है उनकी लीलाको सुना करे जिसके सुननेसे कर्म छूट जाता है। हे पूज्य ऋषभदेव ! दुष्ट मनुष्योंके हृदयकी शुद्धि विद्या, वेदाध्ययन, दान, तप, योग-क्रियादिसे वैसी नहीं होती, जैसा कि आपके यशके श्रवणद्वारा भक्तिके बढ़नेसे।' इस श्रवणमें रुचि पुरुषार्थसे ही साधकको प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। लिखा है—

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥
शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥

(श्रीमद्भा० १। २। १६-१७)

'हे ब्राह्मणगण ! पवित्र करनेवाले तीर्थोंके सेवनसे पापरहित पुरुषको महात्माओंकी सेवा करनेका अवसर प्राप्त होता है, तब उसकी धर्ममें श्रद्धा उत्पन्न होती है, इसके बाद श्रवण करनेकी इच्छा होती है, तब उस पुरुषको श्रीभगवान्की कथामें रुचि होती है। जिनका श्रवण और कीर्तन पुण्यरूप है, वह सत्पुरुषोंके हितकारी श्रीभगवान् अपनी कथा श्रवण करनेवाले पुरुषके हृदयमें स्थित होकर उसकी कामादि वासनाओंका नाश करते हैं।'

साधक श्रवणद्वारा भी श्रीभगवान्‌की सेवा ही करता है अर्थात् संसारके उपकाररूपी श्रीभगवान्‌की सेवा भी इसके द्वारा की जाती है। साधक श्रीभगवान्‌के भक्तोंके साथ सत्संग और उनसे प्रश्नादि करके श्रीभगवान्‌के पावन यश और अनुपम नामको श्रवणकर भक्तोंको प्रार्थनाकर उनके द्वारा भी भजन, गान, कथा आदिके द्वारा इस श्रवण-धर्मका प्रचार करवाता और करता है जिसको केवल अकेले ही वह नहीं सुनता, किन्तु अन्योंको भी सुनाता और सुनवाता और उनको उसके द्वारा लाभ पहुँचाता है। साधक भी श्रवणमें इस निमित्त भी प्रवृत्त होता है कि मैं श्रीभगवान्‌के यश-माहात्म्य आदिको सुनकर उसे अन्यको सुना सकूँ और प्रचार कर सकूँ ताकि दूसरोंको उसद्वारा लाभ पहुँचे। अतएव साधक स्वतः भी श्रवण करता है और योग्यता प्राप्तकर दूसरोंको भी सुनाता है और इस प्रकार प्रचारद्वारा श्रीभगवान्‌की सेवा करता है। श्रीभगवान्‌के गुण, यश, कीर्ति, लीला आदिके सुननेसे प्रेमाश्रुका बहना भक्तिके बीज हृदयमें प्रकट होनेका लक्षण है और वे धन्य हैं जिनमें यह लक्षण स्वाभाविक भावसे प्रकट होता है।

यह श्रवण भी तीन प्रकारका है। भक्तों और सत्पुरुषोंके मुखसे सुनना अधिभूतश्रवण है। श्रीसद्गुरुकी कृपासे अभ्यन्तरमें उपदेश लाभ करना और नामध्वनि सुनना अधिदेवश्रवण है। यह श्रवण कानको बंद करनेसे जो भूताकाशके सूक्ष्म भागकी ध्वनि सुन पड़ती है (जिसको कोई-कोई अनाहत शब्द कहते हैं, किन्तु वह यथार्थ अनाहत नहीं है) उससे विलक्षण और पृथक् है। जब श्रीभगवान् और श्रीसद्गुरुकी कृपासे उनकी साक्षात्

प्राप्ति होती है और तब जो आन्तरिक अनुभव होता है वह आध्यात्मिकश्रवण है जो स्थूल कर्णसे न सुनकर अन्तरमें सुना जाता है अर्थात् प्रकाशित होता है और उसकी प्राप्ति होनेपर कोई सन्देह नहीं रह जाता। यह मनके शान्त और शुद्ध होनेपर होता है। जैसा कि अर्जुनने गीतामें कहा है—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥
(११।१)

अर्जुनने कहा—'आपने मेरे प्रति कृपा करके परम अतिगुह्य आत्मतत्त्वको प्रकाशित कर दिया उससे मेरा मोह नष्ट हो गया।' राजा परीक्षित और शबरीको श्रवणसे ही भगवत्प्राप्ति हुई और श्रीरुक्मिणीजी श्रीभगवान्‌के यशको श्रवणकर ही अनुरक्त हुई और प्राप्ति की।

कीर्तन

चूँकि श्रवणधर्मका भी मुख्योद्देश्य श्रीभगवान्‌की सेवा ही है अतएव साधक श्रवणकर ही सन्तुष्ट नहीं हो सकता है और न उसके विषयमें मौन धारण कर सकता है। श्रवणसे जो कुछ प्राप्त होता है वह श्रीभगवान्‌की सेवाके लिये उद्‌गारकी भाँति कीर्तन-रूपमें प्रकट करता है अर्थात् साधकमें ऐसी अवस्था आ जाती है कि श्रीभगवान्‌के यश और माहात्म्य और नामको बिना कीर्तन अर्थात् प्रकाशित किये वह रह नहीं सकता है। श्रीभगवान्‌के यश, लीला, कीर्ति, माहात्म्य, चरित्र, पावन नाम आदिका कीर्तन अर्थात् भजन, स्तुति, गान, कथा अथवा पाठ आदिद्वारा श्रद्धासे

प्रकाशित करना यह द्वितीय कीर्तन-साधना है। श्रद्धा-भक्तिसे श्रीभगवान्‌की सेवाके निमित्त कीर्तन करनेपर कीर्तन-कर्ता, श्रोता और स्थान भी जहाँ कीर्तन किया जाय वे सब पवित्र हो जाते हैं। यह कीर्तन भक्तिके प्रचारमें बहुत बड़ी सहायता देनेवाला है। यह कीर्तनरूपी सेवा छोटे-बड़े सबसे हो सकती है। कोई ऐसा नहीं है जिससे यह कीर्तन नहीं हो सकता है, सबसे हो सकता है। श्रद्धासे केवल श्रीभगवान्‌के प्रीत्यर्थ श्रीभगवान्‌के नाम अथवा यशका कीर्तन करनेसे संसारका बड़ा उपकार होता है और यह श्रीभगवान्‌की बड़ी सेवा है, क्योंकि श्रीभगवान्‌के नाम और यशके कीर्तनका प्रबल और उत्तम प्रभाव केवल श्रोताहीपर नहीं पड़ता, किन्तु इस भूताकाशपर भी अवश्य पड़ता है और उसका परिणाम स्थायी होकर और भक्तिके प्रचारका बीज बनकर कालान्तरमें प्रकट होता है और इस प्रकार जगत्‌का उपकार होता है। यह तो कीर्तनका अदृष्ट प्रभाव हुआ। अब दृष्ट प्रभावको लीजिये। श्रीभगवान्‌का कीर्तन यदि श्रद्धावान्‌को कर्णगोचर होता है तो वह उसके भीतर प्रवेशकर बीज बन यथासमय बढ़ता है, किन्तु अश्रद्धावान्‌के कर्णगोचर होनेपर भी व्यर्थ नहीं जाता किन्तु बीज-रूपमें रहकर कालान्तरमें अङ्कुरित होता है। इस प्रकार कीर्तन-द्वारा वक्ता-श्रोता दोनोंको उपकार पहुँचता है जिस कारण यह श्रीभगवान्‌की परम तुष्टि करनेवाला कार्य और सेवा है। श्रीमद्भागवतका वचन है—

यस्याखिलामीवहभिः सुमङ्गलै-
वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः।

प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जग-
द्यास्तद्विरक्ताः शवशोभना मताः ॥

'जो वाक्य भगवदवतारोंकी कथासे भरा है वह कहनेवाले, सुननेवाले आदि सबोंको अर्थात् जगत्‌भरका जीवन सार्थक करता है और पवित्र करता है। जो वाक्य उन कथाओंसे शून्य हैं वे वस्त्रादिकोंसे शोभित मुर्दोंकी भाँति हैं।' इस द्वितीय कीर्तनकी अवस्थामें साधक श्रीभगवान्‌के सम्बन्धी श्रवणके आनन्दसे पूरित होकर चाहता है कि उस आनन्दको दूसरोंको प्रदान करे और उस कारण वह अपने समान साधकोंकी संगतिको खोजकर उनको कीर्तनके आनन्दमें सम्मिलित करता है और इस प्रकार भक्ति-सञ्चालित हृदयसे प्रेरित होकर वह श्रीभगवान्‌का कीर्तन करता है। इस अवस्थामें कीर्तनद्वारा श्रीभगवान्‌के पावन यश और नामका सर्वत्र प्रचारकर लोगोंका उपकार करना साधकका मुख्य कर्तव्य होता है। जैसा कहा है—

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्।
स्मरन्ति स्मारयन्तो ये हरेर्नाम कलौ युगे ॥
(श्रीमद्भागवत)

'हे राजन्! मनुष्योंमें वे भाग्यशाली और धन्य हैं जो कलियुग-में हरिनामका स्वतः स्मरण करते हैं और दूसरोंसे स्मरण करवाते हैं।' श्रीनारदजीने इस कीर्तनद्वारा जगत्‌में श्रीभगवान्‌के नाम और यशको फैलाकर संसारका बहुत बड़ा उपकार किया और वे अन्तरिक्षभावसे अबतक कर रहे हैं। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवजी-

ने कलियुगमें इस कीर्तनका विशेष प्रचारकर संसारका बहुत बड़ा उपकार किया और इसके द्वारा भक्तिका प्रचार देश-देशान्तरमें हुआ। बाबा श्रीगुरुनानक साहबने केवल कीर्तनद्वारा सम्पूर्ण पंजाबमें श्रीभगवान्‌के नामका प्रचारकर जागृति कर दी और उसके द्वारा लोगोंको धर्म और भक्तिके पथमें प्रवृत्त किया। यदि आवश्यक दीख पड़े तो संगीतकी योग्यतावाले साधक कीर्तन-द्वारा सेवा करनेके निमित्त संगीतविद्याको भी सीखें और ऐसा करके सुन्दर, मधुर और हृदयग्राही स्वरसे भक्तिपूर्वक श्रीभगवान्‌के यशका भजन-कीर्तन करें, जिससे भक्तिके प्रचारमें बड़ी सहायता होती है और सुननेवालेके हृदयपर बहुत उत्तम प्रभाव पड़ता है।

समय-समयपर विशेषरूपसे एकत्र संकीर्तन और नगरसंकीर्तन-द्वारा भी, जिसमें भक्तगण मण्डली बाँधकर श्रीभगवान्‌के यशको एकत्र गाते हैं अथवा गाते हुए घूमते हैं, लोगोंका बड़ा उपकार होता है और यह आजकल परम सहज और उत्तम उपाय लोगोंको श्रीभगवान्‌के कीर्तनमें प्रवृत्त करनेका है जिससे बड़ा लाभ होता है। इस कलियुगमें तो लोगोंके कल्याणका यह एकमात्र सुगम उपाय है। श्रीमद्भागवत पुराणमें लिखा है—

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते॥
(११।५।३६)

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(१२ । ३ । ५१-५२)

'मान्य, गुणज्ञ और सारग्राही जन कलियुगकी प्रशंसा करते हैं, क्योंकि श्रीभगवान्‌के कीर्तनहीसे सम्पूर्ण स्वार्थोंकी सिद्धि हो जाती है । कलियुग दोषोंसे भरा हुआ है, किन्तु उसमें एक बड़ा गुण यह है कि श्रीभगवान्‌के कीर्तनसे मनुष्य बन्धनसे छूटकर परमधामको चला जाता है । जो कुछ फल सत्ययुगमें विष्णुके ध्यान करनेसे, त्रेतायुगमें यज्ञ करनेसे और द्वापरमें सेवासे मिलता है वे सब फल कलियुगमें हरिकीर्तनसे मिलते हैं ।' आजकल परमावश्यक है कि घर-घर और नगर-नगरमें कीर्तनका विशेष प्रचार किया जाय, क्योंकि इससे लोगोंको बहुत बड़ा लाभ होता है और इसके द्वारा श्रीभगवान्‌में लोगोंकी रुचि और भक्ति शीघ्र उत्पन्न होती है जिससे शान्ति और कल्याण मिलते हैं । सन्ध्याके समय लोगोंको एकत्र होकर प्रेमसे नामकीर्तन करना चाहिये और रामायणादि ग्रन्थोंका गान और भजन भी करना चाहिये । सम्मिलित होकर कीर्तन करनेसे बहुत बड़ा प्रभाव उत्पन्न होता है और वह विशेष उपकारी होता है ।

कीर्तनकी उच्च अवस्थाका श्रीगीतामें यों वर्णन है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
(१० । ९)

'(साधक) मेरे (श्रीभगवान्) में मन, हृदय, प्राणों और सब शक्तियों और इन्द्रियोंको समर्पणकर आपसमें मेरा विचार

और कीर्तन करते हुए और भक्तिभावको प्रकाशित करते हुए सदा सन्तोषको पाते हैं और रमते हैं।' इस गीताके श्लोकमें जो 'बोधयन्तः' है और जिसका अर्थ है बोध अर्थात् प्रकाशन करना वह साधकके अपने समानके लिये है और 'कथयन्तः' अर्थात् कीर्तन करना है वह ऐसेके लिये है जिनकी पूरी अभिरुचि कीर्तनके निमित्त नहीं हुई है किन्तु जिनको उसमें प्रवृत्त करना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि साधक अपने समानके साथ कीर्तनद्वारा परस्परमें बोध प्रदान करे अर्थात् स्वतः भी बोध प्राप्त करे और दूसरेको भी बोध होनेमें सहायता देवे और अन्य दर्जेके लोगोंको कीर्तन और कथाद्वारा सहायता करे। जैसा श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोङ्कितानि य-
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥
इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्॥
(१।५।११, २२)

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि॥
(१।६।३४)

नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते
मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे ।
तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतां हरे-
र्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः ॥
(६।२।१२)

गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम् ।
मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः ॥
(४।३०।१९)

'वही 'वाक्योच्चारण' लोगोंका पापनाशक है, जिसमें हरिके नाम और गुण आते हैं, चाहे वह वाक्यरचना असंस्कृतादि दोष-युक्त भी होवे तो क्या ? उसीको साधुलोग सुनते हैं, रटते हैं और गाते हैं। कवियोंने यही निश्चय करके कहा है कि नारायणका गुणकीर्तन मनुष्योंके तप, शास्त्राध्ययन, यज्ञ, स्वाध्याय, पाण्डित्य और दानका पूरा-पूरा फल है। (नारदजी कहते हैं कि) श्रीभगवान्, जिनका चरण ही तीर्थ है, अपने यशका सुनना बहुत प्रिय समझते हैं। जब मैं गान करता हूँ तब मानो बुलाये गयेकी नाईं शीघ्र हृदयमें उपस्थित होकर दर्शन देते हैं। प्रायश्चित्त पूर्णरूपसे शोधक नहीं होता, क्योंकि प्रायश्चित्तके करनेके पीछे फिर भी कदाचित् कुमार्गमें मन दौड़ता है। अतएव जड़से पापको नष्ट करना चाहे तो हरिगुण गावे। हरिनाम हृदयको शुद्ध कर देता है। चाहे घरमें वासकर गृहस्थीका काम अच्छी तरह किया करे पर उसका समय यदि मेरे (श्रीभगवान्के) कीर्तनमें बीतता है तो उसको गृहस्थी-का बन्धन नहीं होता।' भक्त साधक अपने अवशेष दुर्गुणोंका

दमन श्रवण-कीर्तनद्वारा करता है जो उसके द्वारा बड़ी सुगमतासे अनायास सम्पादित हो जाता है।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, श्रद्धा-भक्तिसे श्रीभगवान्‌के नामका उच्चारण करना अथवा उनके यश आदिका गान करना और मनन करना अथवा श्रीभगवान्‌के सम्बन्धी ग्रन्थोंका पाठ करना अथवा कथा कहना अथवा श्रीभगवान्‌की स्तुति करना अथवा स्तोत्रपाठ करना अथवा श्रीभगवान्‌के विषयमें वार्तालाप, कथोपकथन आदि करना और इनके द्वारा दूसरोंको इसमें प्रवृत्त करना, ये सब कीर्तनके अन्तर्गत हैं। किन्तु भाव ऐसा हो कि ये सब श्रीभगवान्‌के प्रीत्यर्थ और उनके कार्यके सम्पादनार्थ किया जाय जिससे संसारका उपकार होता है। साधक कदापि ऐसा न समझे कि मैं किसीका उपकार कर रहा हूँ किन्तु वह अपने कार्यको श्रीभगवान्‌की शक्तिद्वारा सञ्चालित समझ श्रीभगवान्‌को समर्पण करे और इसीमें धन्य माने कि श्रीभगवान्‌की कृपासे मैं इस कार्यमें प्रवृत्त हो सका हूँ जिसके द्वारा उपकार तो केवल श्रीभगवान्‌द्वारा होगा, कदापि उसके द्वारा नहीं; किन्तु मैं निमित्त-मात्र होनेके लिये अपनेको समर्पण करता हूँ।

स्मरण

श्रवणादि प्रथम त्रितयका अन्तिम साधना स्मरण है अतएव यह इनमें उच्च और सूक्ष्म है। कीर्तनद्वारा श्रीउपास्यदेवके प्रति श्रद्धा-भक्तिकी वृद्धि होकर वह प्रगाढ़ होती है और तब वह स्मरणका सूक्ष्म रूप धारण करती है। जिह्वाद्वारा प्रकाशितभावमें श्रीउपास्यदेवका

यश, लीला, नाम आदिको प्रकट करना कीर्तन है जिसका विशेषकर स्थूल जगत्पर प्रभाव पड़ता है किन्तु चित्तद्वारा केवल श्रीभगवान्‌का ही स्मरण करना, जिसमें श्रीभगवान्‌के नामका मुख्य आश्रय रहता है, स्मरण है जिसका प्रभाव स्थूल जगत्‌के सिवा विशेषकर सूक्ष्म अन्तरिक्ष और मानसिक जगत्पर भी पड़ता है जिससे श्रीभगवान्‌की विशेष सेवा होती है और जगत्‌का बहुत बड़ा कल्याण होता है। यह साधारण नियम सर्वत्र है कि स्थूलसे सूक्ष्मका विशेष प्रभाव होता है। इस अवस्थामें साधक श्रीउपास्यदेवके विशेष सन्निकट होना चाहता है ताकि विशेष सेवा कर सके जिसके कारण वह अपनेको विशेषकर श्रीउपास्यदेवमें संलग्न करना चाहता है और कदापि उनसे पृथक् होना नहीं चाहता। किन्तु प्रारम्भमें इसमें उसे सफलता नहीं होती है। वह श्रीउपास्यदेवमें अपने चित्तको निरन्तर संलग्न रखना बड़ा कठिन प्रतीत करता है। तब वह 'नाम' के महत्त्वको समझता है और 'नाम' और 'नामी' का अभेद ज्ञान उसे होता है। इस कारण तब वह 'नाम' का आश्रय लेता है और निरन्तर नामके जपद्वारा श्रीभगवान्‌का स्मरण करता है। जप तीन प्रकारका है। 'उच्च स्वर', 'उपांशु' और 'मानसिक'। उच्च स्वर जप नाम-कीर्तन है। नीच स्वरसे जिसमें जिह्वा और ओष्ठ तो हिले किन्तु शब्द भीतर ही रहे, यहाँतक कि समीपमें बैठे हुए लोग भी स्पष्ट न सुनें, वह उपांशु जप है। मानसिक जपमें ओष्ठ और जिह्वा नहीं हिलतीं किन्तु केवल मन-ही-मन जप होता है। उच्च स्वरसे उपांशु जप उत्तम है और उपांशुसे मानसिक उत्तम है। लिखा है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः सहस्रो मानसः स्मृतः ॥
जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥

(मनुस्मृति २ । ८५, ८७)

'दर्शपौर्णमासादि विधियज्ञसे साधारण (उच्च स्वर) जप दशगुण श्रेष्ठ है, उपांशु जप सौगुण और मानसिक जप हजार-गुण श्रेष्ठ है । ब्राह्मण केवल जपसे सिद्धिकी प्राप्ति करते हैं— इसमें कोई सन्देह नहीं है और सिवा इसके दूसरा कुछ करें अथवा न करें, ब्राह्मण सबके मित्र (उपकारी) होते हैं ।'

इस नामस्मरणमें दो मत है । कोई तो प्रथम अवस्थामें केवल नामका मानसिक जप करते हैं और जपके साथ केवल भावना उपास्यदेवकी रखते हैं अर्थात् नामके उच्चारण होते ही वह जिसका नाम है उसकी, अर्थात् 'नामी' की, भावना उनके चित्तमें आती है और नाम और नामीको अभेद समझकर केवल नामहीपर निर्भर रहते हैं किन्तु उपास्यदेवकी भावनामात्र उसके साथ रखते हैं किन्तु उनकी स्पष्ट मूर्तिका ध्यान नहीं करते । जब ऐसे साधकको इस प्रकारके जपका अभ्यास करते-करते उपास्यदेवकी मूर्ति अथवा ज्योतिके दर्शन हृदयमें होते हैं तबसे वे मूर्ति अथवा ज्योतिका ध्यान करना प्रारम्भ करते हैं । दूसरा जो उत्तम पक्ष है वह यह है कि नामके जपके साथ-साथ श्रीउपास्यदेवके मूर्तिका ध्यान भी करना किन्तु स्मरणकी अवस्थामें जप विशेष और मुख्य रहेगा और मूर्तिका ध्यान गौण रहेगा अर्थात् जपके ऊपर चित्त विशेष

संलग्न रहेगा और मूर्तिका ध्यान पूर्णतया स्पष्ट और उत्तम प्रकारसे प्रारम्भमें न होगा किन्तु स्पष्ट होनेके लिये चेष्टा करना पड़ेगा। यद्यपि उपास्यदेवके किसी नामके स्मरण करनेसे उनकी उपासना हो सकेगी किन्तु इस अवस्थामें यह भी आवश्यकता होती है कि साधक अपने श्रीउपास्यदेवके गौण नामके सिवा उनके बीजमन्त्रकी दीक्षा किसी उत्तम योग्य गुरुसे लेवे यदि ऐसी मन्त्रदीक्षा उसे न मिली हो। इस प्रकार दीक्षाद्वारा प्राप्त मन्त्रके जपका अभ्यास श्रीउपास्यदेवकी मूर्तिके ध्यानके साथ-साथ स्नानके बाद प्रातः-सन्ध्या नियमितरूपसे नियत समयमें किया करे। प्रातःकालका ब्राह्म मुहूर्त अर्थात् सूर्योदयसे एक घड़ी पूर्वका समय जब कि तारा आकाशमें देखा जाय उससे प्रारम्भकर सूर्योदयके बादतक एक घड़ी, दोनों मिलाकर प्रायः दो घड़ी, समय इस जप-ध्यानके लिये परमोत्तम समय है। साधक इस समयको शयनादि दूसरे कार्यमें न लगाकर केवल जप-ध्यानमें व्यतीत करे। श्रीउपास्यदेवके गौण नामका स्मरण तो सदा-सर्वदा, चलते-फिरते, सोते-बैठते, सब अवस्थामें कर सकता है और अवश्य करना भी चाहिये। लिखा है—

सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन्ब्राह्मणः सलोकतां समीपतां सरूपतां सायुज्यतामेति।

(कलिसंतरणोपनिषद्)

'ब्राह्मण सदा पवित्र अथवा अपवित्र भावमें नामका स्मरण करनेसे सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्तिको पाता है।' किन्तु गुरुप्रदत्त बीजमन्त्रका जप केवल स्नानके अनन्तर पवित्र रहनेके समयमें ही करना उत्तम है, अन्य अशुचि रहनेके कालमें

नहीं। दोनोंका अभ्यास रखना चाहिये अर्थात् पवित्र अवस्थामें बीजमन्त्रके जपका अभ्यास और अन्य कालमें किसी ऐसे गौण नाम-के स्मरणका अभ्यास जो उसे मधुर और चित्ताकर्षक और प्रेमप्रद बोध हो। श्रद्धा-भक्तिसे नामका स्मरण करना चाहिये और चित्तको एकाग्र करनेका निरन्तर यत्न करना चाहिये। बिना श्रद्धा और एकाग्रताके जप करनेसे उसका परिणाम बहुत थोड़ा होता है। शरीर और चित्तकी शुद्धिके साथ-साथ बीज-मन्त्रके जपके अभ्यास-की मात्रा अवश्य बढ़ावे किन्तु बिना इनकी शुद्धिके अधिक मात्रामें अभ्यास करना अच्छा नहीं, क्योंकि अशुद्ध और असमाहित शरीर और चित्त अधिक जपके बोझेको बरदाश्त नहीं कर सकते हैं। किसीपर क्यों न हो, बोझ इतना ही देना चाहिये जो बरदाश्त हो सके। हाँ, विशेष बोझके बरदाश्त करनेकी सामर्थ्य शरीर और चित्तमें उत्पन्न कर देनेपर बड़ा बोझ उठाया जा सकता है। किन्तु गौण-नामके मन्त्रके जपमें कोई हद नहीं है—जितना जी चाहे उतना किया जाय किन्तु निष्कामपना और चित्त-शुद्धिपर ध्यान रखना आवश्यक है। इस नामस्मरण अर्थात् जपद्वारा श्रीउपास्यदेवकी उत्तम सेवा होती है और केवल उनके निमित्त निःस्वार्थ भावसे जप करनेपर श्रीभगवान् इसको सृष्टिकी भलाईके निमित्त व्यवहार करते हैं और इस प्रकार इस जपद्वारा सृष्टिकी बहुत बड़ा उपकार होता है। नाम-नामीमें अभेदके कारण प्रेम और एकाग्रतापूर्वक नाम-स्मरणरूपी श्रीउपास्यदेवकी सेवासे उनकी कृपाकी प्राप्ति अवश्य होती है और यह 'नाम' जापकको 'नामी'से अवश्य युक्त करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। यह नामस्मरण सब

किसीसे किया जा सकता है। ऐसा कोई भी नहीं है जो नामके स्मरण करनेमें असमर्थ हो—इसी कारण कहा गया है कि भक्तिका पथ सुगम है, क्योंकि नामस्मरण इसमें मुख्य और परमोपयोगी है जो परम सुलभ है। श्रीभगवान्‌की असीम कृपा जो प्राणियोंपर है उसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। किन्तु शोक है कि श्रीभगवान्‌के अपने मिलनेके मार्गको सुगम करनेपर भी लोग इस मार्गका अवलम्बन नहीं करते हैं, बल्कि निरादर करते हैं। हृदयदेशमें चित्तको धारणकर वहाँ ही यह नामस्मरण करना चाहिये। स्मरणका मुख्योद्देश्य यही है कि श्रीउपास्यदेवमें चित्त सदा संलग्न और संनिवेशित रहे और अन्य कोई भावना नहीं आवे।

सृष्टिक्रमके विचारनेसे बोध होगा कि प्रथम विकास शब्द अर्थात् केवल ध्वनिके समान था जिसको शब्दब्रह्म कहते हैं और वह पीछे व्यक्त अर्थात् वर्णात्मक हुआ। इस शब्द (गायत्री) से ही रूप-जगत्‌की सृष्टि हुई, अर्थात् यही नाम-रूपका कारण है। लिखा है—

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव। (माण्डूक्योपनिषद् १)

‘ॐ इस अक्षरके रूपमें यह सब है, भूत, वर्तमान और भविष्य सब उसके अर्थरूपी हैं और सब ओंकार ही है। इसके परे जो त्रिकालसे अतीत है वह भी ओंकार ही है। सब मन्त्र और नाम इसी एक ॐके रूपान्तर हैं।’ अतएव यह नामस्मरण सब साधनाका मूल है और भक्तिमार्गकी तो भित्ति ही है; बिना इस मूलको

गहे और दृढ़ किये आगे बढ़ना कठिन है। इसी कारण शास्त्र और महात्माओंने नामकी बड़ी महिमा गायी है और इसको श्री-उपास्यदेवके मिलनेका परमावश्यक और एकमात्र उपाय माना है। नामकी डोरीको पकड़नेसे फिर यह आप-से-आप साधकको श्रीभगवान्‌की ओर ले जायगा और आगे जो कुछ साधन हैं वे नामस्मरणहीके रूपान्तर हैं। सबका मूल कारण यही है जैसा कहा जा चुका है। इस नामके भी तीन भेद हैं। अधिभूतमें नामका वर्णात्मक रूप रहता है जिसको वैखरी कहते हैं और जिसके अभ्यासमें पूर्णता होनेपर मध्यमाकी अवस्था अधिदैवमें वह भावना-रूपमें परिवर्तित हो जाता है, अर्थात् 'नाम' 'नामी' में लय हो जाता है और नामी भावना अथवा अन्य रूपमें प्रत्यक्ष हो जाता है और वही वर्तमान रहता है जो शब्दका मध्यम रूप है। इसके बादके अध्यात्मभावको 'पश्यन्ती' भाव कहते हैं जो 'ओंकार', 'गायत्री' पराशक्तिका यथार्थ रूप है और श्रीभगवान्‌की यथार्थ आध्यात्मिक वंशी-ध्वनि है जिसको सद्‌गुरुकी कृपाहीसे कोई सुनता है। इस अवस्थामें साधकको इष्टदेवका प्रत्यक्ष दर्शन होता है और त्रिपुटीका एकमें लय होता है।

स्मरणका यथार्थ तात्पर्य सतत चिन्तन है अर्थात् ऐसी अवस्था-की प्राप्ति करनी जिसमें चित्त निरन्तर और अविच्छिन्न श्रीउपास्यदेवमें संनिवेशित रहे, कदापि पृथक् न जाय। जैसा कि कोई एक जन्तु कछुआ अपने अण्डेको उदरसे बाहरकर केवल चिन्तनद्वारा उसका पालन और वृद्धि करता है; गाय जैसे चरते-घूमते भी अपने चित्तको अपने बछड़ेमें रखती है और उस चिन्ता-

द्वारा उसकी रक्षा करती है; पनिहारी चलते-बोलते भी अपने चित्तको अपने शिरके ऊपरके घड़ेपर रखनेसे उसके स्मरणद्वारा उस घड़ेके पानीको छलकनेसे और घड़ेको गिरनेसे बचाती है,—इन कामोंमें स्मरणका विशेष प्रभाव प्रत्यक्ष है,—इसी प्रकारसे श्रीउपास्यदेवका निरन्तर स्मरण साथ-साथ सांसारिक कर्मोंके करते भी रखना चाहिये जो नामके आश्रय लेनेसे सम्भव है, अन्यथा नहीं। चलते-फिरते, काम करते, बात करते, मनमें ऐसी भावना रखनेसे कि ये सब कार्य श्रीउपास्यदेवके हैं और उन्हींके निमित्त किये जाते हैं और भी उनके नामका मानसिक जप निरन्तर हृदयमें करते रहनेसे स्मरणकी ठीक उच्च अवस्थाकी प्राप्ति हो सकती है। अतएव साधकको चाहिये कि नामके मानसिक जप और स्मरणका अभ्यास निरन्तर सांसारिक कार्यमें प्रवृत्त रहते भी और भी चलते, फिरते, बैठते, सोते किया करे। अभ्यास दृढ़ होनेपर किसीसे बात और काम करते रहनेपर भी मनमें स्मरणका भाव बना रह सकता है। महात्मा कबीर साहबका वचन है—

सुमिरनकी सुधि यों करो, जैसे कामी काम।
एक पलक बिसरै नहीं, निसदिन आठो जाम॥
सुमिरनकी सुधि यों करो, ज्यों सुरभी सुत माहिं।
कहे कबीर चारो चरत, बिसरत कबहूँ नाँहि॥
सुमिरनकी सुधि यों करो, जैसे दाम कँगाल।
कहे कबीर बिसरै नहीं, पल पल लेत सम्हाल॥
सुमिरन सो मन लाइये, जैसे नाद कुरंग।
कहे कबीर बिसरे नहीं, प्राण तजे तेहि संग॥

सुमिरन सो मन लाइये, जैसे दीप पतंग।
प्राण तजै छिन एकमें, जरत न मोड़ै अंग॥
सुमिरन सो मन लाइये, जैसे कीट भिरंग।
कविर विसारे आपको, होय जाय तेहि रंग॥
सुमिरन सो मन लाइये, जैसे पानी मीन।
प्राण तजै पल बीछुड़े, सत कबीर कह दीन॥

ऊपरके वचनोंमें जो स्मरणका वर्णन है, वही इसकी उच्च अवस्था है, जब कि स्वाभाविक रूपसे विना प्रयास चित्त श्री-उपास्यदेवमें निरन्तर संलग्न और मग्न रहे और कदापि पृथक् न हो। इस अवस्थाका गीतामें यों वर्णन है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८। ६-७)

'हे कौन्तेय! जो जिस पदार्थको स्मरण करता हुआ मरण-कालमें शरीरको छोड़ता है वह उसीको पाता है, क्योंकि सदा उसने वही भावना की थी (जिसके कारण मरणसमयमें भी वही आ गयी)। इसलिये सब कालमें मुझमें मन और बुद्धिको लगाये हुए मेरा चिन्तन कर और युद्ध (कर्तव्य कर्म) भी कर, (ऐसा करनेसे) मुझको अवश्य प्राप्त होगा; इसमें कोई सन्देह नहीं।' लिखा है—

भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवति। नारदः पुनः पप्रच्छ तन्नाम किमिति। स होवाच हिरण्यगर्भः—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम्।
नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते॥
(कलिसन्तरणोपनिषद्)

'आदिपुरुष श्रीभगवान् नारायणके नामके उच्चारणमात्रसे कलिका कल्मष नाश हो जाता है। नारदने फिर (ब्रह्मासे) पूछा कि वह नाम क्या है ? ब्रह्माने कहा, वह यह है—'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' यह सोलह अक्षरका नाम कलि-कल्मषका नाश करनेवाला है और सब वेदोंमें इससे उत्तम अन्य कोई उपाय नहीं देखता हूँ।' और भी लिखा है—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम्॥
(श्रीमद्भा० १२। १२। ५४)

'श्रीभगवान्‌के चरणकमलका स्मरण अमङ्गलको दूर करता है, कल्याण करता है और परमात्मामें भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य उत्पन्न करता है।' इस स्मरणद्वारा प्रह्लाद, ध्रुव और वाल्मीकि आदिने श्रीभगवान्‌की प्राप्ति की थी।

आजकल अनेक साधक भगवद्दर्शनके निमित्त लालायित रहते हैं किन्तु उनको समझना चाहिये कि सतत स्मरण भगवद्दर्शन-

से विशेष उपादेय है । सतत स्मरण भगवत्कृपा और भगवत्प्राप्ति-का ही सूचक और परिणाम है । स्थायी भगवत्कृपा बिना सतत स्मरणकी प्राप्ति के मिल नहीं सकती है और सतत स्मरण रहनेपर अचल भगवत्कृपा अवश्य होती है । सतत स्मरण ही यथार्थ भगवत्प्राप्ति है । यह अटल नियम है कि जो जिसका सतत स्मरण करता है वह उसको पाता है । श्रीमद्भागवत पुराणमें श्रीभगवान्‌का कथन है—

विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥
(११ । १४ । २७)

'जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है । इसी प्रकार जो मेरा स्मरण करता है वह मुझमें लीन हो जाता है ।' इसी कारण भक्तोंने केवल सतत स्मरणका वर माँगा, कदापि दर्शनका नहीं । दर्शन अनेक प्रकारके हैं और अनेक कारणोंसे मिल सकते हैं किन्तु दर्शन भगवत्कृपाका अवश्य द्योतक नहीं है । अर्जुन श्रीभगवान्‌के समीप रहकर भी अज्ञानमें पड़े थे जो गीताज्ञानके कारण सतत स्मरणके उपदेश और अभ्यासद्वारा निवृत्त हुआ । दर्शनकी लालसा भी सकाम-निष्काम दोनों हो सकती है किन्तु सतत स्मरण सर्वदा निष्काम-भाव है जो श्रीभगवान्‌की उत्तमोत्तम साक्षात् सेवा है । यह सतत स्मरण स्वसाध्य और सुखसाध्य है अर्थात् तीव्र मनोयोग और अनुरागसे इसकी प्राप्ति सबोंको हो सकती है यदि प्रबल इच्छा रहे । इसमें न कोई व्यय, न शरीरद्वारा कष्ट, न यात्रा, न व्रत

आदिकी आवश्यकता है। इन्द्रिय और मनका निग्रहकर केवल उपयुक्त ध्यान (अनुराग) और भावकी तीव्र इच्छा रखनेपर, सबोंको सहजमें प्राप्त हो सकता है। श्रीमद्भागवत पुराण स्कन्ध १ अ० ६ में श्रीभगवान्‌का वचन है कि जिनके इन्द्रिय और मनका निग्रह नहीं हुआ है ऐसे कुयोगीको मेरा दर्शन नहीं होता है। जैसा कि—

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ॥२२॥

पादसेवा अथवा ध्यान

यद्यपि स्मरणके समय भी श्रीउपास्यदेवका ध्यान किया जाता है किन्तु उस अवस्थामें नामस्मरण मुख्य रहता है और मूर्तिका ध्यान गौण होता है। जब नामस्मरण और सेवाद्वारा अन्तःशुद्धि हो जाती है और प्रेमका बीज अंकुरित हो जाता है तो श्रीभगवान्‌के रूपरसके आस्वादन करनेकी प्रबल उत्कण्ठा उत्पन्न होती है और साधक श्रीभगवान्‌के निकटवर्ती होकर उनकी सेवा करना चाहता है। यथार्थ साकारोपासना यहींसे प्रारम्भ होती है और इसी कारण इस अवस्थाका नाम चरणसेवा है। यद्यपि बीजरूपसे वह उपासना स्मरणकी अवस्थामें प्रारम्भ होती है किन्तु इसका विकास इसी अवस्थामें होता है, अतएव इसकी प्रथमावस्थाका वर्णन यहाँ ही करना उत्तम समझा गया। इस अवस्थामें नामस्मरण अर्थात् जप बना रहता है किन्तु श्री-उपास्यदेवकी मूर्तिका सांगोपांग ध्यान इसमें मुख्य हो जाता है। इस अवस्थामें ध्यान मुख्य है और जप केवल ध्यानकी स्थिरताके निमित्त किया जाता है। इस अवस्थामें मनका पूरा एकाग्र हो जाना और प्रेमके अंकुरका स्फुटित होना आवश्यक है जो बिना

श्रीउपास्यदेवकी साकारोपासना अर्थात् मूर्ति-ध्यानके बहुत कठिन अथवा प्रायः असम्भव है। श्रीउपास्यदेवके भिन्न-भिन्न प्रकारके आकारका जो शास्त्रमें वर्णन है वह आनुमानिक नहीं है, उनके धाममें पहुँचनेसे वैसा स्वरूप यथार्थमें दिव्यदृष्टिसे देखनेमें आता है। भक्त ऋषीश्वरोंने जैसी उनकी मूर्ति वहाँ (परम धाममें) देखी है वैसा ही वर्णन किया है, और आजकल भी जो भक्तिकी उच्च अवस्थामें पहुँचते हैं उनको वैसे दर्शन होते हैं। ऐसे भक्त लोग इस समयमें भी हैं जो श्रीउपास्यदेवकी मूर्ति और उनके तेजका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। उपासनाका परिणाम प्रत्यक्षमें देखा जाता है अर्थात् उसमें परिपक्वताकी प्राप्ति होनेसे स्थूल शरीरके रहते ही दिव्यदृष्टि खुलकर श्रीउपास्यदेवके दर्शन, विशेषकर उनके दिव्य तेजपुञ्जका रसास्वादन, उनके अनुग्रहसे अवश्य होते हैं। जिसको स्थूल शरीरके रहते अपने इष्टदेवताके दर्शन अथवा उनके दिव्य तेज-पुञ्जका अनुभव न हुए, उसको समझना चाहिये कि उसकी भक्ति-सेवामें न्यूनता है जिसको पूरी करनेके लिये उसे फिर जन्म लेना पड़ेगा। इष्टदेवका साक्षात् दर्शन अथवा उनके तेजपुञ्जका दिव्य स्पर्श पहले-पहल जब होगा तब इसी जन्ममें, इस भूलोकमें, स्थूल शरीरके रहते ही अपने हृदयमें ही होगा। गोपालतापिनी उपनिषद्का वचन है—

एतद्विष्णोः परमं पदं ये
नित्योद्युक्तास्तं यजन्ति न कामात्।
तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात्
प्रकाशयेदात्मपदं तदेव॥

ओङ्कारेणान्तरितं ये जपन्ति
गोविन्दस्य पञ्च पदं मनुम् ।
तेषामसौ दर्शयेदात्मरूपं
तस्मान्मुमुक्षुरभ्यसेन्नित्यशान्त्यै ॥

'जो लोग सर्वदा यत्नपूर्वक श्रीविष्णुके इस परमपदकी आराधना करते हैं और विषयवासनासे प्रीति नहीं रखते, उनके पुरुषार्थके कारण श्रीविष्णुभगवान् गोपवेषमें उन लोगोंके निकट अपना स्वरूप प्रकाश करते हैं। जो कोई ओंकारयुक्त श्रीगोविन्दके पञ्चपदी मन्त्रका जप करते हैं, उनको श्रीगोविन्द अपना रूप दिखलाते हैं, अतएव मुमुक्षुको शान्ति प्राप्त करनेके निमित्त गोविन्दमन्त्रका बार-बार जप करना चाहिये ।'

श्रीभगवान्के आकारमें और मनुष्यके आकारमें यह भेद है कि मनुष्यके आकार मूल प्रकृतिके विकारोंके (शरीर पञ्चमहाभूतके और अन्तःकरण मलिन सत्त्वगुणके) बने हुए हैं और कर्माधीन हैं किन्तु ईश्वरका आकार उनकी शक्ति, दैवी प्रकृति (जो विशुद्ध विद्यारूपिणी है) का बना हुआ है और उनकी इच्छाके अधीन है ।

जिस उपास्यदेवपर जिसकी रुचि हो उसको उसी देवकी भक्ति करनी चाहिये, अन्तिम परिणाम सबोंका एक ही है, क्योंकि यथार्थमें भिन्न-भिन्न उपास्यदेव (जैसे विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य,*

---

* उपास्यसूर्य इस प्रकाशसूर्यके अन्तरमें हैं जिनकी यह दृश्यमान मूर्ति केवल आवरण है । आदित्यहृदयमें लिखा है—

'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।'

गणपति आदि) एक ही परम पुरुषके नाना रूप हैं, अतएव सब एक ही हैं, भिन्न-भिन्न नहीं हैं, जैसा पहले भी कहा जा चुका है। उपासकका सम्बन्ध श्रीउपास्यदेवके साथ कृत्रिम नहीं है किन्तु स्वयंसिद्ध, स्वाभाविक और अनादि है। प्रत्येक जीवको उपास्यदेवोंमेंसे एक-न-एकसे सनातन सम्बन्ध रहता है जो उस जीवका आवश्यक रक्षण और निरीक्षण करते हैं, यद्यपि अज्ञानवश वह उनको न जानता और न मानता हो। यथार्थ दीक्षा वही है जब कि परम गुरुदेव शिष्यको उसके इष्टदेवके साथ प्रकटरूपमें सम्बन्ध करवा देते हैं।

ध्यानके निमित्त हृदयमें सांगोपांग मूर्ति श्रीइष्टदेवताकी ऐसी बनानी अत्यन्तावश्यक है जो अधिक कालतक ज्यों-की-त्यों बनी रहे जिसका होना बिना किसी आदर्शके सहाराके कठिन है अतएव ध्यानके समय हृदयमें सांगोपांग मूर्ति बनानेमें सहायता पानेके लिये इष्टदेवताका एक सुन्दर चित्ताकर्षक चित्र सामने रखना चाहिये और उसी चित्रकी-सी मूर्ति हृदयमें बनानी चाहिये और उस हृदयस्थ मूर्तिपर मनको बाँधना चाहिये। अभ्यासके प्रारम्भमें ऐसी मूर्ति पूर्णरूपसे बनानेमें और उसको ज्यों-की-त्यों बनाये रखनेमें बहुत कठिनाई जान पड़ेगी, सर्वांग एकाएक बनना और वैसे ही बना रहना कठिन होगा। जैसे कभी पग नहीं दीख पड़ेगा, यदि पग बनाया जायगा, तो बाहु नहीं दीख पड़ेगा इत्यादि, इत्यादि। किन्तु इस कठिनाईको दूर करनेमें

'सूर्यमण्डलके भीतर रहनेवाला कमललोचनस्र नारायणका सदा ध्यान करना चाहिये।'

चित्रको देख लेनेसे बड़ी सहायता मिलेगी और कुछ कालके अभ्यासके बाद यह कठिनाई जाती रहेगी। पहले यह कार्य सुन्दर प्रतिमाद्वारा लिया जाता था किन्तु चित्र प्रतिमासे अधिक सुन्दर और मनोहर होनेके कारण और सुगमतासे प्राप्य और रखने और अन्यत्र ले जानेमें सुलभ होनेके कारण अब चित्रका व्यवहार करना उचित है और किया जाता है।

ध्यानकी प्रथम अवस्था यथार्थमें चित्राङ्कित करना अथवा मूर्तिको हृदयमें चित्रित करना है। जैसा चित्रकार अथवा शिल्पी चित्र बनानेका कार्य सावधानीसे मनको एकाग्र करके करता है उसी प्रकार ध्यानमें मूर्तिको, चित्रकी सहायतासे, हृदय-पटमें अंकित करना पड़ता है। क्रम यह है कि पहले हृदयमें श्रीउपास्यदेवके चरणकमलको बनावे, फिर जंघा, फिर कटि, उदर, वक्षःस्थल, मुख आदि क्रमशः बनावे और सर्वांग बन जानेपर तीव्र धारणाके बलसे उस मूर्तिको स्थिर रखे। और उसीपर मन संलग्न करे और साथ-साथ मानसिक जप भी हृदयक्षेत्रमें ही होता रहे।

श्रीमद्भागवत पुराणमें लिखा है—

एकैकशोऽङ्गानि धियानुभावयेत्
पादादि यावद्धसितं गदाभृतः।
जितं जितं स्थानमपोह्य धारयेत्
परं परं शुद्ध्यति धीर्यथा यथा॥

(२। २। १३)

'तदनन्तर उन श्रीभगवान्‌के चरणकमलसे लेकर हास्ययुक्त मुखपर्यन्त प्रत्येक अङ्गका बुद्धिसे ध्यान करे, चरण आदि जो-जो

अङ्ग विना यत्नके ध्यानमें आ जाय उन-उनको त्यागकर आगे-आगेके जंघा, जानु आदि अङ्गोंका ध्यान करे, अपनी बुद्धि जिस प्रकार भगवत्स्वरूपमें स्थित रहे उसी रीतिसे करे।' जिस रूप और भावमें श्रीउपास्यदेवके ध्यान करनेकी रुचि हो उसी रूप और भावमें ध्यान करना चाहिये। क्योंकि वे सर्वत्र हैं। यथाभिमत ध्यानका उल्लेख पहले भी हो चुका है। श्रीभगवान् जिस रूप और भावद्वारा साधकके चित्तको आकर्षण करें उसीमें शुद्ध निष्काम-भावसे उसके अभ्यन्तरमें श्रीभगवान्‌को जान ध्यान करना चाहिये जो स्वाभाविक होनेके कारण शीघ्र फलीभूत होगा। श्रीमद्भागवत पुराण, स्क० ११ अ० २७ का वचन है—

अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत्।
सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माहमवस्थितः॥ ४८॥

जब और जहाँसे उपासककी श्रद्धा हो तब और उसीमें मेरी उपासना-ध्यान करे। क्योंकि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें और अपने स्वरूपमें सर्वात्मभावसे विराजमान हूँ। प्रथम अवस्थामें चित्तको श्रीउपास्यदेवके सांगोपांग (अर्थात् सब अवयवयुक्त) मूर्तिपर सन्निवेशित करे और उसीमें संलग्न करे और ध्यानद्वारा देखता रहे। किन्तु जब यह ध्यान दृढ़ हो जाय तो एक-एक अङ्गके ध्यानमें क्रमशः नीचेके अङ्गसे प्रवृत्त हो। इसमें प्रथम चरणका ध्यान है। इसी कारण इस साधनाका नाम चरणसेवा है। श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम्।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा॥

तस्मिन् लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम्।
विलक्ष्यैकत्र संयुज्यादङ्गे भगवतो मुनिः॥
सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्॥
यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्॥

(३।२८।१९-२२)

'अपनेको जैसा प्रिय हो वैसे, खड़े हुए, चलते हुए, सिंहासनपर बैठे हुए, शेष-शय्यापर शयन करते हुए, अनेकों प्रकारकी देखने योग्य लीलाएँ करते हुए और हृदयगुहामें विराजमान श्रीइष्टदेवका शुद्ध भक्तियुक्त अन्तःकरणसे ध्यान करे। तदनन्तर उन श्रीभगवान्के स्वरूपपर चित्त स्थिर होनेपर तथा उनके सकल अवयव एक साथ चित्तमें चित्रित होने लगे तब वह ध्यान करनेवाला योगी, अपने मनको श्रीभगवान्के एक-एक अवयवमें लगावे। प्रथम तो उत्तमतासे श्रीभगवान्के चरणकमलका ध्यान करे, जो चरणकमल वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमलके चिह्नोंसे युक्त है तथा जो ऊँचे, रक्तवर्ण और शोभायमान नखोंकी पाँतिकी किरणोंसे, ध्यान करनेवाले सत्पुरुषोंके हृदयके अज्ञानरूप अन्धकारका नाश करता है। जिसके धोनेसे उत्पन्न हुई भागीरथीके

जलको जो संसारको तारनेवाला है, मस्तकपर धरकर श्रीशङ्कर-भगवान् शिवरूप हुए हैं और जो चरणकमल, ध्यान करनेवाले पुरुषोंके मानसिक पापरूप पर्वतपर वज्रके समान छूटता है उस श्रीभगवान्‌के चरणकमलका चिरकाल पर्यन्त ध्यान करे।' श्रीमद्भागवत पुराणमें यों आदेश है—

> नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान्मनसा बुद्धिसारथिः।
> मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद्धिया॥
> तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा।
> मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत्।
> पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति॥
> (२।१।१८-१९)

'निश्चयात्मक बुद्धिकी सहायतासे मनके द्वारा इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर अन्तर्मुख करे, कर्मवासनासे विषयोंमें दौड़नेवाले मनको निश्चयात्मक बुद्धिसे भगवत्-स्वरूपमें लगावे। तदनन्तर ध्यानगत मूर्तिके प्रत्येक अङ्गका ध्यान करे, ऐसे विषयवासनारहित अपने मनको श्रीभगवान्‌के स्वरूप-चिन्तनमें लगाकर अन्य किसी वस्तुका भी स्मरण न करे; जहाँ मन प्रसन्न होता है वही विष्णु-भगवान्‌का उत्तम स्थान है।'

हृदयके चिदाकाशमें जो चिन्मय कमल है उसमें इष्टदेवको विराजमान जान ध्यान करना चाहिये। साधारण लोगोंमें उस कमलका नाल ऊपर है और दल नीचे किन्तु ध्यान करते समय चिन्तन करना चाहिये कि कमलका दल ऊपर है नाल नीचे,

ऐसे अष्टदल कमलमें इष्टदेव हैं। श्रीमद्भागवत पुराण, स्कं० ११ अ० १४ में इस कमलका उल्लेख यों है—

हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम् ।
ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥ ३६ ॥

श्रीभगवान्‌की प्रतिमा अथवा चित्रका पूजन भी इसी अवस्थाके अन्तर्गत है। विग्रहमूर्ति अथवा चित्रपटको दीर्घकालतक श्रद्धा और प्रेमसे पूजा करनेसे उसमें ऐसी शक्ति आ जाती है कि उसके दर्शनसे ही पूजा करनेवालेके मनकी अवस्था बदल जाती है और श्रीउपास्यदेवका हृदयमें स्फुरण होता है और उनके निमित्त प्रेम उत्पन्न होनेपर चित्त स्वभावतः श्रीउपास्यदेवमें संलग्न और लीन हो जाता है। स्वयं श्रीउपास्यदेवके निमित्त शारीरिक सेवा करनेकी अभिलाषा जो उपासकमें रहती है जो प्रारम्भिक अवस्थामें स्वाभाविक और आवश्यक है उसकी पूर्ति मूर्तिपूजाद्वारा होती है। श्रीउपास्यदेव भक्तके अधीनमें ऐसे रहते हैं कि जिस-जिस प्रकारसे उपासक उनकी पूजा करना चाहता है, उसी-उसी प्रकारसे वह उसको स्वीकार करते हैं। किन्तु मूर्तिपूजाका मुख्य आधिदैविक तात्पर्य साक्षात् सेवा अथवा ध्यानद्वारा भगवान्‌की सेवा करना है। जिसकी सिद्धिमें सुन्दर मनोहर चित्ताकर्षक मूर्ति अथवा चित्र परमावश्यक है, बल्कि यों कहना चाहिये कि बिना इनके आश्रयके ध्यानकी सिद्धि होना बहुत ही कठिन है। चित्तका स्वभाव है कि सुन्दर और मनोहरपर आसक्त हो और यथार्थमें श्रीउपास्यदेवकी मूर्ति ही परम सुन्दर और मनोहर उपासकके निमित्त है। अतएव श्रीउपास्यदेवकी विग्रह मूर्ति अथवा चित्र सब प्रकारसे परम सुन्दर और

चित्ताकर्षक लब्ध की जाय और सुन्दर स्थानमें आदरसे रहे और पूजित हो जिसके होनेसे और जिसकी सहायतासे ध्यानमें सुगमता होगी। अनेक साधक बाह्य पूजा न कर केवल मानसिक पूजा करते हैं और उनको उसीसे लाभ भी होता है। भक्तिमार्गमें विग्रहमूर्तिकी पूजा-सेवासे अनेक सहायता मिलती है और संसारका भी उपकार होता है, क्योंकि साधारण लोगोंके चित्तमें श्रीभगवान्‌का भाव प्रायः केवल विग्रहमूर्तिहीके देखनेसे होता है और विग्रहकी सेवा-पूजासे उनमें भक्तिभावका सञ्चार होता है। प्रतिमा और उनकी पूजाका स्थान भी, यदि भक्ति-भावसे सेवा हो तो, तेजपुञ्जका केन्द्र (खजाना) हो जाता है जहाँसे उक्त तेज सर्वत्र फैलता है और संसारका उपकार करता है। जहाँ भक्तिभावसे प्रतिमाकी पूजा होती है, उस तेजपूरित प्रतिमाके भक्तिभावसे दर्शन करनेसे जो तात्कालिक चित्तमें शान्ति प्राप्त होती है वह प्रत्यक्ष ही है। प्रतिमाकी पूजाके निमित्त जो सुगन्ध द्रव्यादि व्यवहार होते, शङ्ख आदि बजाये जाते, धूप-दीप दिये जाते, स्तुति-पाठ-भजन किये जाते, उन सबसे आधिदैविक उपकारके सिवा संसारका आधिभौतिक उपकार भी होता है।

प्रतिमापूजा सब साधकोंके लिये अत्यन्तावश्यक नहीं है, क्योंकि किसी-किसीको मानसिक पूजाद्वारा भी उद्देश्यसाधन हो जाता है। मूर्तिपूजा मुख्य करके साधकके लिये प्रेमके उपजानेमें सहायता देनेके निमित्त है जिसमें उत्कृष्ट सहायता उसके द्वारा मिलती है। किन्तु यदि प्रेम और अनुरागके सञ्चार करनेका

उद्देश्य न रखकर ऐसी पूजा केवल राजसिक भावसे की जाय तो वह भक्तिमार्गके साधकको विशेष उपकारी नहीं है।

सेवासाधनमें उन्नति करनेपर साधक ऐसी अवस्थामें प्राप्त होता है जब कि उसको यथार्थ अदृश्य श्रीसद्गुरुके अस्तित्वमें तनिक भी सन्देह नहीं रहता और किसी सत्पुरुषके सत्संगसे श्रीसद्गुरुका ज्ञान उसको प्राप्त हो जाता है। श्रीउपास्यदेवकी कृपासे साधक श्रीसद्गुरुको जानता है और उनके प्रति उसके चित्तमें प्रेम उत्पन्न होता है। वह तब श्रीसद्गुरुका आश्रय लेता है और उनको अपना सद्गुरु करके वरण करता है और जानता है कि बिना श्रीसद्गुरुकी कृपाके श्रीउपास्यदेवकी प्राप्ति उसको हो नहीं सकती है। वह दोनों (श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्यदेव) में अभेद समझता है और दोनोंकी सेवामें सदा प्रवृत्त होता है। ध्यानके प्रथम भागमें वह श्रीसद्गुरुका ध्यान करता है और जब-तक किसी प्रकार श्रीसद्गुरुके रूपका ज्ञान उसको नहीं होता (जो उपयुक्त समयपर अवश्य होता है) तबतक वह श्रीसद्गुरुके केवल चरणका ध्यान हृदयमें करता है। वह अपने हृदयमें श्रीसद्गुरुके चरणकमलको अङ्कितकर उसीमें चित्तको संलग्नकर प्रेमसे उसी चरणकमलका ध्यान करता है। श्रीसद्गुरुके ध्यानके बाद श्रीउपास्यदेवका ध्यान किया जाता है। चूँकि श्रीसद्गुरु श्रीउपास्यदेवके साथ साधकको युक्त कर देते हैं, अतएव साधककी दृष्टिमें श्रीसद्गुरुका स्थान ऊँचा है और इसी कारण उनकी पूजा और ध्यान पहले किये जाते हैं, पश्चात् श्रीउपास्यदेवकी। जब श्रीउपास्यदेव कृपाकर श्रीसद्गुरुके रूपको साधकके हृदयमें अथवा

अन्य प्रकार दृष्टिगोचर करा देते हैं तबसे साधक श्रीसद्गुरुके उसी रूपका ध्यान करता है।

भक्तिमार्गके ध्यानके लक्ष्य केवल श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्यदेव हैं, अन्य कोई नहीं और यह ध्यान हृदयका कार्य है, केवल बुद्धिका कार्य नहीं। स्मरणादि निःस्वार्थ सेवाद्वारा हृदयके शुद्ध होनेसे जब प्रेमका अङ्कुर हृदयमें जागृत होता है तभी यथार्थ ध्यानकी प्राप्ति सम्भव है जो हृदयमें बिना अनुराग और स्नेहके उत्पन्न हुए हो नहीं सकता। इस अवस्थाका ध्यान स्मरणकी अवस्थाके ध्यानसे अवश्य उच्च है और इसमें हार्दिक प्रेमसे ध्यानमें प्रवृत्त होना मुख्य है। यह वही अवस्था है जब कि साधकमें श्रीउपास्यदेवके प्रति ऐसा प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न होता है कि वह उनसे पृथक् रहना नहीं चाहता, किन्तु अत्यन्त समीप होना चाहता है ताकि वह श्रीभगवान्-के तेजःपुञ्जकी कणमात्रको भी प्रथम अपने हृदयमें धारण करे, फिर वहाँसे बाह्य जगत्में फैलाकर संसारका उपकाररूप भगवत्-सेवा कर सके। भक्तिमार्गका ध्यान ही प्राण है और यही श्री-उपास्यदेवकी प्राप्ति करानेवाला है।

ध्यान ध्येय वस्तुके लगातार स्मरण—चिन्तनको कहते हैं जिसका प्रवाह तेलकी अखण्ड धाराके समान (जब कि एक पात्रसे दूसरे पात्रमें डाला जाता है) अपरिच्छिन्न होना चाहिये। ध्यानके समय श्रीउपास्यदेवके मन्त्रका जप करना परम आवश्यक है। मूर्तिका ध्यान मनके विक्षेप (चञ्चलता) को नाश करेगा और मन्त्र-जप मनको लय होनेसे अर्थात् निद्रितावस्थामें जानेसे रोकेगा। ध्यानकालमें मन जब कभी ध्येयको छोड़कर अथवा अन्य

प्रकारसे दूसरी ओर जाय, जो अभ्यासके प्रारम्भमें अवश्य होगा, तो मनको ध्येयसे अन्य किसी ओर जाने न देना चाहिये और मनमें आयी हुई भावनासे शीघ्र मनको हटाकर मन्त्र और देवतापर एकाग्रभावसे लगाना चाहिये, और सतत ऐसी सावधानी रखनी चाहिये कि मन उस कालमें मन्त्र और देवतासे हटके अन्य किसी वस्तु अथवा विषयपर न चला जाय अर्थात् कोई अन्य भावना मनमें न आ जाय। श्रीमद्भागवत पुराण स्क० ११, अ० १४ में कथन है—

> सुकुमारमभिध्यायेत्सर्वाङ्गेषु मनो दधत्।
> इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः।
> बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥
> तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
> नान्यानि चिन्तयेद्भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम्॥
>
> (४२-४३)

'मेरे सम्पूर्ण अङ्गोंमें मनको स्थिर करते हुए मेरी सुकुमार मूर्तिका ध्यान करे। मनके द्वारा इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे खींचकर, उस मनको धीर पुरुष बुद्धिरूपी सारथिकी सहायतासे सर्वथा केवल मुझमें ही लगा दे। सब ओर फैले हुए चित्तको खींचकर एक स्थानमें स्थिर करे और फिर कुछ और चिन्तन न करता हुआ मेरे मधुर मुसकानयुक्त मुखका ही ध्यान करे।'

बिना मनके निग्रहके ध्यानकी सिद्धि हो नहीं सकती है। वैराग्य और अभ्याससे मनोनिग्रह होता है। वैराग्य, आत्मा और अनात्माके ज्ञानद्वारा, अनात्मामें आसक्ति छोड़नेसे प्राप्त होता है।

यह ज्ञान-वैराग्य भी भगवत्कृपासे भक्तिकी साधनासे प्राप्त होता है। अतएव मन-निग्रह मुख्य है। श्रीमद्भागवत पुराण स्क० ११ में लिखा है कि मनका निग्रह परम योग है और दान, स्वधर्म, यम, नियम, वेदाध्ययन, शुभ व्रत तथा अन्य उत्तमोत्तम कर्मोंका फल मननिग्रह ही है और उसीसे समाधि मिलती है। जैसा कि—

एष वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः।
(२०।२१)

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतानि कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनो निग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥

यह मन-निग्रह मनके प्रवाहको एकदम रोकनेसे कठिन है किन्तु उपयुक्त भाव-भक्तिसे श्रीभगवान्‌में, उनकी असीम अकारण कृपा और जीवात्माके मूल कारण और परम सुहृद् होनेके ज्ञानके कारण, मनको सन्निवेशित और अर्पित करनेसे मनका निग्रह सहज है। मनके प्रवाहको श्रीभगवान्‌की ओर कर उन्हींमें संन्यस्त करना ही मुख्य ध्यान है और यही परम भगवत्सेवा है। जिसमें मन-बुद्धिका अर्पण मुख्य है।

इस प्रकार सदा मनको एकाग्र ही रखनेका यत्न करना और किसी दूसरी ओर नहीं जाने देना, यदि जाय तो वहाँसे हटाकर फिर पूर्ववत् एकाग्र ही रखना, एकहींमें लगाये रखना, अर्थात् किसी अन्य भावनाको मनमें नहीं आने देना, आवे तो उसे

स्थान नहीं देकर शीघ्र बाहर कर देना, ऐसा बार-बार करते रहनेको अभ्यास कहते हैं। ऐसा ही अभ्यास अनेक काल-तक करनेसे मनको एकाग्र रखनेकी शक्ति प्राप्त होती है *। महाभारतमें कहा है—

समाहितं क्षणं किञ्चिद्ध्यानवर्त्मनि तिष्ठति।
पुनर्वायुपथं भ्रान्तं मनो धावति वायुवत्॥
अनिर्वेदो गतक्लेशो गततन्द्रो ह्यमत्सरी।
समादध्यात् पुनश्चेतो ध्यानेन ध्यानयोगवित्॥

(शान्तिपर्व अध्याय १९५। १३-१४)

'जब मन समाहित होता है तो किञ्चित् कालके लिये ध्यान-मार्गमें स्थित रहता है; किन्तु जब कि वह फिर वायुमार्गमें विक्षेप-के कारण जाता है तब वायुसमान द्रुतगामी हो जाता है। ध्यान-योगकी साधनाओंको जाननेवाले पुरुषको उस (विक्षेप) से हतोत्साह न होकर कुछ कष्ट न मान आलस्य और द्वेषको त्याग-कर अपने मनको ध्यानावस्थित करना चाहिये।' † जब साधक-को प्रेम और अभ्यासद्वारा मनके एकाग्र रखनेकी शक्ति प्राप्त हो

---

* ऐसा नहीं कि सर्वदा एक ही वस्तुपर चित्तको रखना चाहिये किन्तु जब कोई भावना करना अथवा कोई कर्म करना तो उस समय उसी भावना अथवा कर्ममें चित्तको एकाग्र किये रहना चाहिये, अन्य ओर जाने नहीं देना चाहिये। प्रत्येक व्यावहारिक और पारमार्थिक कर्मको एकाग्रभावसे ही करना चाहिये।

† इस वाक्यसे यह सिद्ध होता है कि जो साधक कुछ समयतक चित्तके एकाग्र होनेमें कृतकार्य न होनेपर भी यदि अभ्यासमें शिथिलता न कर उसमें प्रवृत्त ही रहेगा तो कभी-न-कभी अवश्य कृतकार्य होगा।

जाय जिसके कारण श्रीउपास्यदेवमें मन ऐसा संलग्न हो जाय कि उनको छोड़कर और किसी वस्तुका ज्ञान नहीं रहे, बल्कि अपनेको भी भूल जाय, केवल एक ध्येयहीका ज्ञान रह जाय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीनों एक हो जायँ, तब समझना चाहिये कि वह ध्यानकी पराकाष्ठाको पहुँचा है और तब ही ध्येयकी प्राप्ति होती है। लिखा है—

ध्येये सक्तं मनो यस्य ध्येयमेवानुपश्यति।
नान्यं पदार्थं जानाति ध्यानमेतत्प्रकीर्त्तितम्॥

(गरुडपुराण)

'जिसका मन ध्येयमें ऐसा संलग्न हो कि केवल ध्येयहीको देखे और सिवा उसके किसी अन्य पदार्थकी भावना उस समय चित्तमें न आवे और न जान पड़े तो ऐसी अवस्थाको ध्यान कहते हैं।' यथार्थ ध्यान वही है जिसमें हृदय प्रेमसे पूर्ण होकर स्वभावतः श्रीउपास्यकी ओर प्रवृत्त होवे और लगातार उन्हींमें अविच्छिन्नभावसे लगा रहे। इस प्रकार मनको एकाग्र रखनेका अभ्यास ध्यान-कालके सिवा अन्य कर्मोंके करते समयमें भी करना चाहिये अर्थात् जो काम किया जाय उसीमें भलीभाँति मनको एकाग्र रख किया जाय, जैसा कि नोटमें कहा गया है।

ध्यानमें ऐसी शक्ति है कि अन्ततोगत्वा ध्याताको ध्येयसे युक्त कर देती है। लिखा है—

ध्यायन्ति पुरुषं दिव्यमच्युतञ्च स्मरन्ति ये।
लभन्ते तेऽच्युतस्थानं श्रुतिरेषा पुरातनी॥

(पद्मपुराणान्तर्गत वैशाखमाहात्म्य)

यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद् द्वेषाद्भयाद्वापि याति तत्तत्स्वरूपताम् ॥
कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्साम्यतां राजन् पूर्वरूपमसन्त्यजन् ॥
(श्रीमद्भा० ११।९।२२-२३)

'जो व्यक्ति दिव्यपुरुष श्रीभगवान्का ध्यान और स्मरण करते हैं वे श्रीभगवान्के स्थानको प्राप्त करते हैं यह प्राचीन श्रुति है। देही जिस-जिसपर स्नेहसे, द्वेषसे अथवा भयसे जिस किसीमें भी सम्पूर्णरूपसे अपना मन लगा देता है अन्तमें वह तद्रूप हो जाता है। हे राजन्! इसका दृष्टान्त यह है कि भ्रमरके द्वारा दीवार आदिमें छिद्र करके उसमें बन्द किया हुआ एक प्रकारका कीड़ा भयसे उस भ्रमरका ध्यान करता हुआ पहले रूपको छोड़कर उसीके समान रूपको प्राप्त होता है।'

यह प्रसिद्ध है कि श्रीभगवान्का साक्षात् मिलन ध्यानद्वारा ही होता है। अष्टाङ्गयोगमें भी ध्यानका फल समाधि (साक्षात् प्राप्ति) है। गीताके भी अन्तिम अठारह अध्यायकी अन्तिम साधनामें भी, जिससे पराभक्ति और ब्रह्मकी साक्षात् प्राप्ति कथित है ध्यान-योग ही मुख्य है (१८।५२) और भी उसमें साथ-साथ सद्गुणोंका अनुष्ठान और दुर्गुणोंका त्याग कथित है। उपनिषदोंमें भी ब्रह्मप्राप्तिका साक्षात् साधन ध्यान ही कहा गया है। जैसा कि—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवञ्चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥

और भी कहा गया है—

पूजाशतगुणं स्तोत्रं स्तोत्राच्छतगुणो जपः ।
जपाच्छतगुणं ध्यानं ध्यानाच्छतगुणो लयः ॥

'पूजासे सौ गुना अच्छा स्तोत्रपाठ है, उसी प्रकार स्तोत्रपाठसे जप, जपसे ध्यान और ध्यानसे लय सौ गुना है।' लय ध्याता, ध्येय, ध्यान तीनोंका एक होना है जो ध्यानका परिणाम है, कोई साधना नहीं है। अतएव अन्तिम साधन उपयुक्त ध्यान ही है।

मनका यथार्थ और स्थायी निग्रह, शुद्धि, उपशम, समता आदि श्रीभगवान्‌के ध्यानद्वारा ही होता है, क्योंकि यह शक्ति उन्हींमें है, अन्य प्राकृत ध्येयमें नहीं। अन्य प्राकृत ध्येयपर ध्यान करनेसे किञ्चित् कालके लिये कुछ एकाग्रता हो सकती है किन्तु यह भाव स्थायी नहीं रह सकता है और चित्तका शान्त, स्वच्छ और निर्मल होना केवल श्रीभगवान्‌के निरन्तर ध्यानसे सम्भव है अन्यथा नहीं। श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः ।
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम् ॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥
(३ । २५ । ४३-४४)

'इस कारण योगी पुरुष अपना कल्याण करनेके निमित्त ज्ञानवैराग्ययुक्त भक्तिके द्वारा मेरे निर्भय चरणकी शरण लेते हैं। इस लोकमें तीव्र भक्तिके द्वारा मेरे विषय अर्पण किया हुआ मन स्थिर हो जाता है, इतना होना ही पुरुषोंकी मोक्षप्राप्तिका उदय है।'

श्रीभगवान्‌के चरणका प्रेमपूर्वक ध्यान उनकी यथार्थ चरण-सेवा है, क्योंकि इस ध्यानके प्रभावसे संसारका बड़ा उपकार और कल्याण होता है और ध्यानके बलसे ध्याता केन्द्र बनकर अपने ध्येय श्रीभगवान्‌के तेजपुञ्जको संसारमें लोगोंके कल्याणके वास्ते फैलाता है अर्थात् अदृष्ट प्रकारसे उक्त प्रभाव उत्तम जिज्ञासुओंके चित्तपर विशेषकर किन्तु अन्योंपर साधारण रूपमें पड़ता है और उनको ईश्वरोन्मुख प्रेरण करता है। जिस स्थानमें कोई साधक निष्काम सेवाके निमित्त श्रीभगवान्‌के ध्यानमें प्रवृत्त होगा वहाँ अवश्य केवल उसकी साधनाके प्रभावसे सदाचार, भक्ति आदिकी वृद्धि आप-से-आप लोगोंमें होगी और इससे जैसा उपकार होगा वैसा बड़े-बड़े उपदेशकगणोंके व्याख्यान और उपदेशसे नहीं हो सकता है। अतएव यथार्थ ध्याननिष्ठ लोगोंसे संसारका बड़ा ही उपकार होता है। संसारकी सब विभूतियाँ श्रीभगवान्‌के एक पादमें सन्निहित हैं और उसी चरणसे शान्त और आनन्द निरन्तर निकलकर संसारको प्लावित करते हैं। विभूतियोंका गीतामें वर्णन करके श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(१०।४२)

'अथवा हे अर्जुन ! बहुत जाननेसे क्या है, मैं इस सारे जगत्‌को एक अंश (पाद) से व्याप्त करके स्थित हूँ' और भी श्रुतिका वचन है 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' अर्थात् श्रीभगवान्‌के एक चरणमें यह सम्पूर्ण विश्वसंसार है ! अतएव ध्यानद्वारा उस चरणकी सेवा करना मानो विश्वकी सेवा करना है अर्थात् संसार-मात्रका उपकार करना है।

ध्यानकी भी तीन अवस्थाएँ हैं। प्रथम अवस्थामें हृदयमें श्रीउपास्यदेवके रूपपर मनको ऐसा स्थित किया जाता है कि वह अन्यत्र नहीं जाता किन्तु यह स्थिति केवल प्रेमके बलसे हो सकती है और होती है अन्यथा कदापि नहीं। दूसरी अवस्थामें श्रीगुरुदेव और तत्पश्चात् श्रीउपास्यदेवकी मूर्तिकी झलकका किसी प्रकार उसको बोध होता है जिसका वर्णन पहले भी हो गया है। श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

सकृद्यद्दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ।
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान्मुञ्चति हृच्छयान्॥
(१।६।२३)

'(श्रीभगवान्‌ने कहा कि) हे निष्पाप नारद ! मेरे स्वरूपमें स्थिर प्रीति रहनेके निमित्त, मैंने यह स्वरूप तुझे एक बार दिखाया है, क्योंकि मेरे स्वरूपमें प्रीति करनेवाला साधु पुरुष अपने अन्तःकरणकी सकल वासनाओंको धीरे-धीरे त्याग देता है।' किञ्चित् साधनामें अग्रसर होनेपर इस अवस्थामें श्रीउपास्य-देवके दिव्य तेजके प्रथम स्पर्शका उपासकको अनुभव होता है जिसमें ऐसी शान्ति और आनन्द है जिसका वर्णन होना कठिन

है। जो अनुभव करता है वही जानता है, शब्दमें उसका पूरा वर्णन हो नहीं सकता । यह विषय यहाँ केवल अनुमान अथवा शास्त्रप्रमाणपर ही नहीं लिखा गया किन्तु ऐसे सत्पुरुष अब भी विद्यमान हैं जिनको इसका अनुभव है और उनके प्रत्यक्ष ज्ञानके प्रमाणपर यह लिखा गया है जो ज्ञान दूसरेको भी हो सकता है। इस तेजके स्पर्शसे उक्त साधक ऐसा आकर्षित हो जाता है कि वह उसीमें सन्निवेशित होना चाहता है; पृथक् रहना नहीं चाहता। यहाँसे यथार्थ प्रेम और उसके अभावमें विरहका बीज प्रारम्भ होता है। उसने जिस प्रेम-शान्तिका आस्वादन किया उससे पृथक् रहना नहीं चाहता और पृथक् होनेसे वह विरह-ज्वालासे दुःखित होता है। किन्तु विरह आवश्यक है जिससे प्रेम-की वृद्धि होती है। ब्रजगोपियोंको यह आन्तरिक अनुभव श्रीभग-वान्के दर्शनस्पर्शसे होता था, क्योंकि वहाँ श्रीभगवान् स्वयं बाह्य-में प्रकट थे और जब दर्शनाभावसे यह परम प्रेमास्वादन और आनन्दका अनुभव उनका लुप्त हो जाता तो वे विरहके कारण व्याकुल हो जाती थीं। श्रीभगवान्के मथुरा जानेपर विरहके कारण श्रीगोपियोंका प्रेम सतत अभ्यन्तरमें ध्यान स्थित रहनेके कारण अधिक प्रगाढ़ और विशुद्ध होकर परम प्रेममें परिणत हो गया जो बिना अभ्यन्तरके ध्यानके सम्भव नहीं था। ऐसी उच्च अवस्था शुद्ध आन्तरिक भाव है, बाह्य कदापि नहीं। साधकको चाहिये कि इस अवस्था अथवा किसी उच्च अवस्थाके आन्तरिक अनुभवको कदापि दूसरोंपर विदित न करे; क्योंकि इसे विदित करनेका मुख्य तात्पर्य स्वार्थकामना रहती है अर्थात् साधक अपने अनुभवको प्रकाशितकर अपनी

सुख्याति, मान और बड़ाई चाहता है अथवा अहंकारके कारण अपनेको औरोंसे विशेष समझता है और उसकी पुष्टिके लिये अनुभवको दूसरेके कर्णगोचर करता है। चूँकि किसी प्रकारकी स्वार्थकामना इस मार्गमें बड़ी हानि करती है, जैसा कि कहा जा चुका है, इस कारण साधकके अनुभव प्रकाशित करनेका परिणाम यह होता है कि ऐसे आन्तरिक अनुभवका होना एकदम बंद हो जाता है। साधकके लिये तो यह अटल नियम है किन्तु सत्पुरुष जिनमें स्वार्थकामना कुछ भी नहीं रहती है वे जानते हैं कि किस साधकको क्या उपदेश करना चाहिये और उनके उपदेश अथवा अन्य कार्योंमें स्वार्थका किञ्चित् भी लेश नहीं रहता है और वे योग्य साधकको अनुभवका कुछ आभास दे सकते हैं। यहाँ सत्पुरुषसे तात्पर्य ऐसे साधकसे है जिनका श्रीसद्गुरुसे साक्षात् सम्बन्ध है। ध्यानकी अवस्थामें हृदयमें कोई उच्च साधक अपने श्रीउपास्यदेवको अपने श्रीसद्गुरुके हृदयमें देखते हैं अथवा श्रीइष्टदेवके दक्षिण भागमें श्रीसद्गुरुको और श्रीसद्गुरुके दक्षिण भागमें सत्पुरुषको और इष्टदेवके वाम भागमें उनकी शक्तिको देखते हैं। कोई प्रत्यक्ष दर्शनके पूर्व अपने हृदयमें श्रीसद्गुरुकी स्थापना करते और श्रीसद्गुरुके हृदयमें श्रीउपास्यदेवकी स्थापना कर ध्यान करते हैं। श्रीउपास्यदेव पूर्ण स्वच्छ, निर्मल और विशुद्ध हैं, इस कारण बड़े उन्नत साधकके हृदय भी ऐसे पवित्र नहीं हैं जो श्रीउपास्यदेवको पूर्ण तेजमें धारण कर सकें। केवल श्रीसद्गुरुका हृदय ही श्रीउपास्यदेवको इस प्रकार धारण कर सकता है। अतएव उन्नत साधक भी ध्यानमें श्रीउपास्यदेवकी मूर्तिको श्रीसद्गुरुके हृदयमें ही स्थापन कर

दोनोंकी उसी अवस्थामें अपने हृदयमें ध्यान करता है। क्योंकि अकारण कृपाका फल दिव्य दर्शन है अतएव साधक अपने हृदयमें भी श्रीइष्टदेवको देखते हैं और श्रीइष्टके दक्षिण भागमें श्रीसद्गुरुको जैसा कि कहा जा चुका है। ध्यानकी तृतीय अवस्थाका वर्णन पीछे होगा; क्योंकि ध्यानकी पराकाष्ठा जो त्रिपुटीकी एकता है वह आत्मनिवेदन करनेपर ही होती है। इसका अन्तिम परिणाम जो परम भाव है उसका दिग्दर्शन श्रीभागवत पुराण स्क० ११ अ० १४ में सगुण साकारके ध्यानके वर्णनके पश्चात् यों है—

तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि।
विचष्टे मयि सर्वात्मञ्ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम्॥
(४४-४५)

श्रीभगवान्‌ने कहा—'मेरे मुखारविन्दमें चित्तके स्थिर हो जानेपर उसे वहाँसे हटाकर सर्वाधार (हृदयके) चिदाकाशमें स्थिर करे, तदनन्तर उसको भी त्यागकर मेरे शुद्ध स्वरूपमें जोड़ दे और कुछ भी चिन्तन न करे। इस प्रकार चित्तके वशीभूत हो जानेपर जिस प्रकार एक ज्योतिमें दूसरी ज्योति मिलकर एक हो जाती है उसी प्रकार अपनेमें मुझको और मुझ सर्वात्मामें अपने-आपको देखे।'

बड़े भाग्यसे साधकको यह यथार्थ चरणसेवा करनेका सौभाग्य प्राप्त होता है जिसमें श्रीलक्ष्मीजी सदा प्रवृत्त हैं। श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥
(३।९।६)

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः।
क्षेमाय पादमूलं ते प्रविशन्त्यकुतोभयम्॥
(३।२५।४३)

त्वत्पादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्त्वान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

'हे भगवन्! जबतक प्राणी तुम्हारे चरणोंका आश्रय नहीं करता है तबतक उसको द्रव्य, स्थान और मित्र आदिके कारणसे भय, शोक, इच्छा, तिरस्कार और अतिलोभ, यह सब सताते हैं और सकल दुःखोंका मूल कारण 'यह मेरा है' इस प्रकारका दुराग्रह भी होता है। ज्ञानवैराग्ययुक्त भक्तियोगसे योगी लोग निर्भय होकर आपके चरणके आश्रित होते हैं और इसीसे उनका कल्याण होता है। अन्य उपासनाको छोड़ जो मनुष्य हृदयस्थ श्रीभगवान्‌के चरणसेवक हैं, ऐसे प्रिय भक्तोंके सब आचार और विहित कर्मोंकी त्रुटियोंको और दोषोंको श्रीभगवान् नष्ट कर देते हैं।'

हृदय अथवा प्रेमतत्त्व

इस साधनाका मुख्योद्देश्य श्रीउपास्यदेवके प्रति प्रेमका सञ्चार करना है जिसके बिना इस साधनाकी पूर्ति हो नहीं सकती। मनुष्यका शरीर पिण्ड अर्थात् छोटा ब्रह्माण्ड है और ब्रह्माण्डके सब पदार्थोंके प्रतिरूप इसमें हैं। शरीरके छः चक्र छः विशेष दिव्य पीठ, शक्ति और भावके केन्द्र हैं और उन पीठ, शक्ति और भावकी जागृतिमें उपयुक्त केन्द्रपर धारणा करनी बहुत बड़ी सहायता देती है। शरीरमें हृदयचक्र श्रीउपास्यदेवके निवासका स्थान है और यही प्रेमभावका भी केन्द्र है, क्योंकि श्रीउपास्यदेव प्रेमरूप हैं और प्रेमहीमें उनका वास रहता है। यह हृदय ही कारणशरीरके अभिमानी 'प्राज्ञ' (जो यथार्थ जीवात्मा है) के वासका स्थान है। साधनाका एक प्रधान उद्देश्य यह है कि उस प्राज्ञकी जागृति हो तथा 'विश्व' और 'तेजस्', उसके प्रतिबिम्ब, जो सूक्ष्म और स्थूल शरीरके अभिमानी हैं, वे अपने बिम्ब 'प्राज्ञ' के साथ एकता प्राप्त करें। साधारण लोगोंमें प्राज्ञकी अवस्था सुषुप्तिकी है और इस सुषुप्तिका हृदयसे सम्बन्ध है। लिखा है—

नेत्रे जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समादिशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं तद्विलक्षणम्॥

(ब्रह्मोपनिषद्)

'जागृत अवस्थामें शरीराभिमानीका नेत्रमें, स्वप्नके समय कण्ठमें, और सुषुप्तिकालमें हृदयमें वास रहता है किन्तु तुरीयावस्थामें इससे विलक्षण स्थिति रहती है।' अतएव यह परमावश्यक है कि श्रीउपास्यदेवका ध्यान हृदयहीमें किया जाय; इसके विपरीत

अन्यत्र भ्रूमध्य आदिमें करना उत्तम पक्ष नहीं है क्योंकि हृदय ही उनके वासका और प्रेमका स्थान है, जैसा कि कहा जा चुका है। शरीरमें हृदय ही 'गोलोक', 'वैकुण्ठ', 'साकेत', 'वृन्दावन', 'चित्रकूट', 'कैलास', मणिद्वीप आदि हैं जहाँ श्रीउपास्यदेव सदा-सर्वदा वर्तमान रहकर विहार करते हैं और जिस स्थानको कदापि नहीं त्यागते। अतएव यह हृदय एक बड़ा रहस्यका स्थान है और साधकको श्रीउपास्यदेवहीकी कृपासे इस हृदयमें स्थिति होती है, अन्यथा नहीं। इस हृदयमें अष्टदल कमल है जिसका शास्त्रमें अनेक स्थानमें प्रमाण है। बारह दलके कमलके हृदयचक्रका जो हठयोगके ग्रन्थमें वर्णन है वह इस हृदयसे पृथक् है। प्रायः हठयोगी इस अष्टदल कमलवाले हृदयचक्रमें न प्रवेश कर सकते और न इसे देख सकते, क्योंकि यह श्रीउपास्यदेवका साक्षात् विशेष वासस्थान है और यहाँ केवल प्रेम-भक्तिके बलसे और निष्काम सेवाद्वारा ही श्रीउपास्यदेवकी कृपा प्राप्त करनेपर केवल उपासक पहुँच सकता है, अन्य नहीं। यथार्थ हृदयमें जहाँ श्रीउपास्यदेवका सदा वास है उसमें अष्टदलका ही कमल है, इसके प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—

श्रीमद्भागवतपुराण स्क० ११ में ध्यानके प्रकरणमें ऐसा कथन है—

> हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम्
> ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥
> (१४।३६)

> पिण्डे वाय्वग्निसंशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम।
> अण्वीं जीवकलां ध्यायेन्नादान्ते सिद्धभाविताम् ॥

तयात्मभूतया पिण्डे व्याप्ते सम्पूज्य तन्मयः।
आवाह्यार्चादिषु स्थाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत्॥
पाद्योपस्पर्शार्हणादीनुपचारान्प्रकल्पयेत्।
धर्मादिभिश्च नवभिः कल्पयित्वासनं मम॥
पद्ममष्टदलं तत्र कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम्।
उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मह्यं तूभयसिद्धये॥
(२७। २३-२६)

अन्यत्र भी—

हृदि स्थितं पङ्कजमष्टपत्रं
सकेसरं कर्णिकमध्यनालम्।
अङ्गुष्ठमात्रं मुनयो वदन्ति
ध्येयञ्च विष्णुं पुरुषं पुराणम्॥

ऊपरके प्रथम श्लोकका अर्थ ध्यानके प्रकरणमें दिया गया है और अन्य श्लोकोंका भाव यह है कि 'प्रणवकी अर्धमात्रारूप जो श्रीभगवान्‌की कला इस मनुष्यशरीरमें हृदयपद्ममें मुख्य रूपसे अवस्थित रहकर अपने तेजसे समस्त शरीरमें व्याप्त है उसकी मानसिक पूजा आवाहन, न्यासद्वारा मूर्तिमान्-भावमें आसन आदिकी कल्पनाकर हृदयके अष्टदल कमलमें वैदिक अथवा तान्त्रिक रीतिसे विधिपूर्वक करे। हृदयमें जो अष्टदलका पद्म है उसमें अङ्गुष्ठमात्र विष्णु रहते हैं, ऐसा मुनिगण कहते हैं, उनका वहाँ ध्यान करे।' जो अन्य चक्रमें धारणाध्यान करते हैं, हृदयका निरादर करते हैं, वे अवश्य भूल करते हैं। भ्रूमध्यमें धारणा करनेसे वहाँ प्रकाशका देखना और उस प्रकाशमें अनेक मूर्तियों-

का देखना आदि अनेक आन्तरिक अनुभव शीघ्र प्राप्त हो सकते हैं किन्तु उक्त प्रकाश भुवर्लोकका है जो लोक इस भूलोककी अपेक्षा मायासे अधिक आच्छन्न है और तमोगुणी, रजोगुणी देव-देवियोंसे परिपूर्ण है। अतएव उक्त लोक और उसके निवासियों-से सम्बन्ध होनेपर साधककी पारमार्थिक हानि होना पूरा सम्भव है और उसके द्वारा किञ्चित् भी पारमार्थिक लाभ हो नहीं सकता है। साधकको प्रारम्भमें भ्रूमध्यमें धारणा करना प्रायः बड़ा हानि-कर हो सकता है। यह निश्चित है कि श्रीभगवान्की प्राप्तिका मार्ग हृदयमें धारणा-ध्यानद्वारा है, अन्यत्र नहीं। जब कभी श्री-उपास्यदेवके यथार्थ दर्शन-स्पर्श होंगे वे हृदयहीमें होंगे और ऐसा ही होते हैं और यही यथार्थ हैं। दर्शन-स्पर्श इसलिये लिखा गया कि यथार्थ शान्तिप्रद दर्शन वही है जब कि श्रीउपास्यदेवका तेजः-पुञ्ज उस उच्च साधकके हृदयमें प्रवेश करता है जिसका उसको स्पष्टरूपसे स्पर्शकी भाँति प्रत्यक्ष अनुभव होता है और वह शान्ति और आनन्दका अनुभव करता है, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। अतएव उपासकको हृदयहीमें धारणा-ध्यान करना चाहिये, अन्यत्र नहीं। यदि वह अन्यत्र करेगा तो कठिनाई-में पड़ सकता है। बिना हृदयके आश्रय लिये उसको श्रीउपास्य-देवका आन्तरिक यथार्थ अनुभव न होगा। यह हृदयका दर्शन-स्पर्शन आनुमानिक कदापि नहीं है, यथार्थ है, किन्तु इसका यथार्थ स्थान स्थूल शरीरमें नहीं होकर ऊपरके शरीरमें है, और स्थूल शरीरमें केवल इसका प्रतिरूप गोलक है। स्थूल शरीरमें जो धड़कनका स्थान है और जहाँ सर्वदा स्पन्दन होता रहता है

वह यथार्थ हृदय नहीं है और न वह स्थान इस शरीरमें हृदयकी समानतामें है। उस धड़कनके स्थानपर कदापि धारणा-ध्यान नहीं करना चाहिये, वहाँ करनेसे उस धड़कनका वेग बढ़ जायगा और उससे हानि होगी। उपासक जब साधनाके मार्गमें अग्रसर होता है तो उसको अपने श्रीउपास्यदेवकी पराशक्तिकी कृपासे उनके प्रकाशकी प्राप्ति होती है और उस समय उसकी हृदय-गुहा उक्त प्रकाशकी जागृति और प्रादुर्भावद्वारा प्रकाशित होती है, इसके बाद उसको यथार्थ हृदय-चक्र देख पड़ता है। ऐसी दृष्टि होनेके पहले साधकको वक्षःस्थल और उदरके बीचमें जो गोलक है उसके अभ्यन्तरमें चेतन हृदयाकाश मानकर वहाँ धारणा-ध्यान करना चाहिये। किन्तु स्मरण रहे कि ध्यान स्थूल शरीरके मांसमय स्थानमें नहीं किया जाय किन्तु अन्तरमें चैतन्यरूप हृदयाकाशका होना चिन्ता करके उसमें धारणा की जाय। उस गोलकके भीतर चिन्मय हृदयाकाशमें धारणा की जाय किन्तु स्थूल शरीरके मांसमय हृदयकी भावना उसमें एकदम न रहे। अष्टदल कमल साधारण रीतिमें उलटा अर्थात् नाल ऊपर और दल नीचे करके रहता है किन्तु साधनाद्वारा उस उलटेको सीधा करना पड़ता है जिसमें कि मूल नीचे और दल ऊपर हो। यदि श्री-उपास्यदेवको हृदय-कमलमें स्थित मानकर ध्यान किया जाय तो कमलका आकार सीधा समझकर करना चाहिये अर्थात् दल ऊपर और नाल नीचे।

हृदयका अर्थ ही है कि 'हृदि अयं हृदयम्' अर्थात् श्रीउपास्य-देव हृत्स्थानमें वास करते हैं, अतएव उसकी हृदयसंज्ञा हुई। लिखा है—

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमिति तस्माद्हृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ।

(छान्दो० ८ । ३ । ३)

'निश्चय ही यह परमात्मा हृदयमें है उसका यही निरुक्त है । हृदयमें यह आत्मा है इसीलिये इसका हृदयम् यह नाम है । ऐसा जाननेवाला (हृदयमें पहुँचनेवाला) ब्रह्मको प्राप्त करता है ।' शास्त्रमें सर्वत्र प्रमाण है कि श्रीउपास्यदेवका स्थान हृदय है और श्रीभगवान् भक्तोंको दर्शन देनेके लिये प्रायः हृदयहीमें कृपाकर प्रकट होते हैं । कुछ प्रमाण दिये जाते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

(गीता १८ । ६१)

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एन-
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

(श्वेता० ४ । २०)

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ॥

(कठ० ६ । १७)

तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किं च ।

(बृह० १५ । ६ । १)

'हे अर्जुन ! श्रीभगवान् अपनी मायासे देहाभिमानी प्राणियोंको अपने-अपने कर्मोंमें नियुक्त करते हुए सम्पूर्ण भूतोंके

हृदयमें निवास करते हैं । उस परमात्माका रूप प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, उसे कोई नेत्रोंसे नहीं देख सकता किन्तु शुद्ध मनसे उस हृदयस्थको शुद्ध हृदयमें पाकर अमर हो जाता है । अङ्गुष्ठ-समान अन्तरात्मा पुरुष सदा लोगोंके हृदयमें संनिवेशित रहता है । उस हृदयके बीचमें अति सूक्ष्म ब्रह्म व्याप्त है, वह ब्रह्म सबोंका ईश सर्वाधिपति है और जो कुछ है सबका शासन वही कर रहा है ।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने हृदयमें ईश्वरके रहनेकी बात कह अर्जुनको उसी हृदयस्थ ईश्वरकी शरणमें जानेका उपदेश दिया जिससे प्रकट है कि हृदय ही श्रीभगवान्‌की उपासना और प्राप्तिका यथार्थ स्थान है । जैसा कि लिखा है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(गीता १८ । ६२)

श्रीमद्भागवतपुराणमें भी यही उपदेश है ।

अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम् ।
श्रुतानुभावं शरणं व्रज भावेन भामिनि ॥
(भागवत ३ । ३२ । ११)

'हे भारत ! सब प्रकारसे उस (हृदयस्थ) परमेश्वरकी शरण-में तू जा और उसके प्रसादसे परम शान्ति और नित्यस्थानको पावेगा । (श्रीकपिल भगवान् अपनी मातासे कहते हैं) कि हे मातः ! सकल भूतोंके हृदयकमलमें जिन्होंने वास किया है, जिनका पराक्रम तूने मुझसे सुना है उन श्रीभगवान्‌की शरणमें तू प्रेमके साथ जा' । शास्त्रके प्रमाणसे और भी आजकलके सत्पुरुषोंके

प्रत्यक्ष अनुभवसे यही सिद्ध है कि श्रीउपास्यदेवके दर्शन-स्पर्श हृदयहीमें होते हैं अन्यत्र नहीं। और वही यथार्थ दर्शन है। श्रीमद्भागवतपुराणमें लिखा है—

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकुलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥
(१।६।१७)

'भक्तिपूर्वक स्वाधीन चित्तसे चरणकमलोंका ध्यान करनेवाले और उत्सुकतासे जिसके नेत्रोंमें आनन्दके अश्रु भर आये हैं ऐसे महर्षि (नारद) के हृदयमें श्रीभगवान् धीरे-धीरे प्रकट होने लगे।'

श्रीभागवतपुराणके अनेक स्थलोंमें भगवान्के हृदयमें निवास और यथार्थ दर्शनका प्रमाण मिलता है। जैसे—

सृष्टिके प्रारम्भमें कमलसे निकलनेपर जब ब्रह्माजीको अपने आधार (परम कारण) का अनुसन्धान करनेपर भी जब पता न लगा, तब वे श्वासको जीतकर चित्तको एकाग्रकर समाधिस्थ हुए। सौ वर्षके बाद उनको ज्ञान प्राप्त हुआ और तब जो पहले खोजनेसे भी न मिले थे उन श्रीभगवान्को उन्होंने अपने हृदयमें स्वयं प्रकट हुआ देखा (३।८।१९ से २२ तक)। सृष्टि-कालमें श्रीब्रह्माजीने रुद्रसे कहा कि तपद्वारा सबोंके हृदयमें बसनेवाले श्रीभगवान् अनायास मिलते हैं अर्थात् हृदयमें मिलते हैं (३।१२। १९)। श्रीध्रुवने भी तप-कालमें अपने हृदयमें श्रीभगवान्का ध्यान किया और अन्तमें उन्हें प्रथम हृदयहीमें श्रीभगवान्के दर्शन हुए, उस समय जब श्रीभगवान्ने बाहर दर्शन देना चाहा, तो हृदयस्थ मूर्ति अन्तर्धान हो गयी, फिर नेत्र खोलनेपर उन्होंने श्रीभगवान्की

उसी मूर्तिको बाहर देखा (४ । ८, ७५, ७८ और ९ । २) । यही दशा श्रीरामावतारमें वनगमनसमय दण्डकारण्यमें श्रीअगस्त्य मुनिके शिष्य सुतीक्ष्ण ऋषिकी हुई, जिनके हृदयमें श्रीभगवान्‌के दर्शन देनेपर वे ऐसे तन्मय हो गये कि श्रीभगवान्‌के द्वारा जगानेकी चेष्टा करनेपर भी नहीं जगे । जब श्रीभगवान्‌ने द्विभुजमूर्ति हृदयसे विलगकर चतुर्भुजमूर्तिके दर्शन दिये, तब उन्होंने ध्यान-का त्याग किया । श्रीप्रह्लादने भी दैत्य-बालकोंको यही उपदेश दिया कि हृदयमें विद्यमान हृदयेश्वर श्रीभगवान्‌की उपासना करो (७ । ७ । ३७-३८) । श्रीप्रह्लादजीने श्रीनृसिंह भगवान्‌के दर्शन पाकर उनके चरण-कमलको अपने हृदयहीमें धारण किया (७ । ९ । ६) । इसी प्रकार श्रीभागवतपुराणके अन्य स्थलोंमें भी श्रीभगवान्‌के ध्यान-उपासनाका स्थल हृदय ही कहा गया है । श्रीभागवतपुराणके भावुक रसिक इससे अनभिज्ञ न होंगे । इस प्रकार श्रीभगवान्‌के अत्यन्त समीप हृदयमें रहनेपर भी उनकी प्राप्ति इतना सुलभ होनेपर भी लोग उनकी उपेक्षाकर उनके विरुद्ध कर्मका सम्पादन ही उत्तम समझ, बन्धनमें पड़ते हैं । इसका उत्तम वर्णन यहाँ ही एकादश स्कन्धमें श्रीभगवान्‌की उक्तिमें यों है—

> न ते मामङ्ग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः ।
> उक्थशस्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुषः ॥
> (२१ । २८)

'हे प्रिय उद्धव ! जिस प्रकार आँखोंमें धुँधली छा जानेके कारण लोग कुछ नहीं देख पाते वैसे ही वे कर्मकुशल प्राणपोषक पुरुष

अपने अन्तःकरणमें स्थित संसारके कारणभूत मुझ जगन्मय परमात्माको नहीं देख पाते ।'

महाभारतके द्रोणपर्व अ० २९में भी श्रीभगवान्‌का श्रीअर्जुनके प्रति ऐसा ही कथन है ।

चतुर्मूर्तिरहं शश्वल्लोकत्राणार्थमुद्यतः ।
आत्मानं प्रविभज्येह लोकानां हितमादधे ॥
एका मूर्तिस्तपश्चर्यां कुरुते मे भुवि स्थिता ।
अपरा पश्यति जगत् कुर्वाणं साध्वसाधुनी ॥
अपरा कुरुते कर्म मानुषं लोकमाश्रिता ।
शेते चतुर्थी त्वपरा निद्रां वर्षसहस्रिकीम् ॥
(२६-२८)

'मैं लोकके त्राण करनेके लिये चार मूर्तियोंमें अपनेको विभाग करके लोगोंका हित कर रहा हूँ । एक मूर्ति भूलोकमें (नर-नारायणरूप-से) तपस्या करती है, दूसरी संसारमें जो पुण्य-पाप होते हैं उनका (साक्षीकी भाँति) निरीक्षण करती है, तीसरी जीवरूपमें मनुष्य-लोकका आश्रय करके कर्म करती है और चौथी (दिव्य) हजार वर्षतक (क्षीरसागरमें) सोती है ।' ऊपरके कथनसे सिद्ध है कि श्रीभगवान् एक मूर्तिसे संसारमें चराचर हो गये हैं और अन्य मूर्ति-से हृदयमें रहकर पाप-पुण्यके साक्षी हैं । इस कारण प्रथम विश्व-व्यापी श्रीभगवान्‌की विभूतियोंमें उपासना करनी चाहिये और उसके बाद हृदयस्थकी उपासना करनी चाहिये ।

उपर्युक्त हृदयस्थ ईश्वर और जीवात्माका ही श्रुतिने 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' इस श्वेताश्वतरो-

पनिषद्के वचनमें दो पक्षीकी भाँति वर्णन किया है, जो एक ही वृक्षपर वैठे हुए आपसमें सखा हैं। वस्तुतः इन दोनोंमें सखासे भी अधिक निकट और घनिष्ठ प्रेम-सम्बन्ध है।

जिस प्रेमको व्रजकी गोपियों, नवद्वीप-चन्द्र श्रीगौराङ्ग महाप्रभु, नारदादि महर्षियों और श्रीमती मीराबाई आदि अनेक प्रेमी-प्रेमिकाओंने संसारके कल्याणार्थ प्रकाशित किया उसका मुख्य अधिष्ठान आध्यात्मिक हृदय ही है। उस हृदयमें हृदीश्वर प्रेमनिधिका सदा वास है जिनके चरणकमलमें ही यह परागपूर्ण प्रेम-किंजल्क विद्यमान है। बाह्यमें जहाँ कहीं प्रेमका प्रकाश गुप्त अथवा प्रकट पाया जाय, सबको अपने हृदयस्थ परम प्रेमके केन्द्र हृदीश्वरका ही प्रतिरूप अथवा आभास समझना चाहिये। जब-जब जहाँ कहीं शुद्ध निःस्वार्थ प्रेमाकर्षण हो, तो समझना चाहिये कि यह प्रेम-प्रवाह अपने अभ्यन्तरमें प्रेमके मूलस्थान हृदयकेन्द्रसे प्रवाहित हुआ है और जबतक वह फिरकर अपने मूलमें न आयेगा तबतक प्रेमके यथार्थ रूपका परिचय न होगा और न उसकी पूर्ति होगी। पूर्ति होनेपर ही प्रेमकी ज्योति प्रकाशित होगी जो केवल अविद्याका ही नाश न करेगी किन्तु अपने अमृतमय प्रकाशसे सर्वत्र अध्यात्मजीवनका अमरत्व तथा परमानन्द प्रदान करेगी। प्रेमोत्पादन हृदयकी शुद्धि, जागृति, अनुराग और उपर्युक्त प्रकारसे हृदयमें ध्यानरूपी रगड़से ही होता है क्योंकि यह केवल हृदयसे सम्बन्ध रखता है और हृदयके भावमय स्पन्दनसे ही प्रकट होता है। इसी कारण वियोगमें चित्तके हृदयस्थ होकर हृदयमें प्रेम-

पात्रको स्थान देनेसे यह शीघ्र प्रस्फुटित होता है और तभी इसमें यथार्थ मधुरता अनुभूत होती है ।

भ्रूमध्यमें जो अदृश्य चक्षु है वह ज्ञानचक्षु है । उसके द्वारा श्रीभगवान्के गुणातीत रसमय परम दिव्य मूर्तिका दृष्टिगोचर होना कठिन है । इस दिव्य चक्षुका सत्यलोकतक ही गोचर हो सकता है किन्तु श्रीभगवान्का परमधाम सत्यलोकसे भी परे है । आध्यात्मिक हृदयमें प्रेमचक्षु है जिसके खुलनेसे ही श्रीभगवान् हृदयमें प्रत्यक्ष होते हैं । इन दो चक्षुओंके विषयमें आगे उपयुक्त स्थानमें चर्चा की जायगी । अहंता-ममता त्यागकर और आत्माके सहित सर्वस्वको प्रभुके पादपद्मोंमें अर्पणकर जब साधक भक्त हृदयके प्रेमसरोवरमें स्नान करता है और जब अपनेको श्रीभगवान्की दिव्य शक्तिके भावमें परिवर्तन करता है, तभी इस प्रेमचक्षुकी प्राप्ति होती है जिससे वह सर्वत्र श्रीभगवान्को ही देखता है । इस भावकी प्राप्ति होनेपर व्रजके गोपियोंने सर्वत्र श्रीकृष्ण भगवान्को ही देखा । कहा भी है कि—

विरहीव विभो प्रियामयं परिपश्यामि भवन्मयं जगत् ।

'प्रभो ! विरही जिस प्रकार संसारको प्रियामय देखता है, वैसे ही मैं इस जगत्को आपमें ही ओतप्रोत देखता हूँ ।'

ऊपरके कथनानुसार जीवात्मा और परमात्माका सम्बन्ध अत्यन्त निकटतम है तथापि शोक है कि अनेक लोग यह नहीं जानते और जानकर भी यह विश्वास नहीं करते कि श्रीभगवान् हृदयमें बैठे हुए हैं और यदि बुद्धिद्वारा विश्वास भी करते तो

व्यवहारमें इसका ध्यान नहीं रखते। यदि कोई भी यह दृढ़ विश्वास रखेगा कि श्रीभगवान् हृदयमें अवश्य विराजमान हैं तो वह उनके हृदयमें रहते कदापि कोई कुत्सित कर्म कर नहीं सकता है। जब कि कोई साधारण लोगोंके समक्ष भी कुत्सित कर्म करना नहीं चाहता तो श्रीभगवान्के अत्यन्त समीप रहते और उनके समक्ष कैसे कोई कुत्सित कर्म करेगा? अनेक लोग हृदयस्थ श्रीभगवान्-पर विश्वास न कर श्रीभगवान्के दर्शन बाह्यमें पानेके लिये यत्न करते हैं जिसमें प्रायः सफलमनोरथ न होनेपर पीछे अविश्वास भी करने लगते हैं। प्रथम तो केवल दर्शनके लिये उत्सुक रहना ठीक नहीं है। साधकको तो केवल सेवा करनेकी कामना रखनी चाहिये अन्य किसी बातकी नहीं। साधकका कर्तव्य है कि वह अपने हृदयको, जहाँ श्रीभगवान्का वासस्थान है, विशुद्ध, निर्मल और पवित्र करे, मनको शान्त करे, स्वार्थ, काम, क्रोधादिका नाश करे और केवल श्रीउपास्यदेवकी सेवा करनेकी वाञ्छा रक्खे। ऐसा होनेपर हृदयगुहा प्रकाशित हो जायगी और तभी श्रीउपास्य-देवके दर्शन होंगे। केवल स्थान-स्थानमें और जङ्गल-पहाड़ आदिमें भ्रमण करनेसे दर्शन कदापि नहीं होंगे।

श्रीउपास्यदेवका हृदयमें प्रेमपूर्वक उपर्युक्त रीति और निःस्वार्थ सेवा-भावसे ध्यान करते-करते जब मन एकाग्र, शान्त और शुद्ध हो जाता है, प्रेमकी उत्पत्ति होती है और ध्यान ऐसा परिपक्व हो जाता है कि ध्येयको छोड़ चित्त अन्य किसी ओर स्वभावतः नहीं जाता, तो ऐसा होते-होते श्रीउपास्यदेवकी एक मूर्ति अदृश्य लोकमें बन जाती है और श्रीउपास्यदेव उस भक्तके उपकारके लिये उस

मूर्तिको अपनी शक्तिसे पूर्ण कर देते हैं। वह शक्ति वहाँसे भक्तमें आती है और इस प्रकार वह मूर्ति श्रीउपास्यदेव और उपासकके बीच मध्यवर्ती केन्द्र होकर दोनोंमें सम्बन्ध स्थापित करती है।

श्रीमद्भागवत पुराणमें लिखा है—

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥
(३।९।११)

'हे श्रीभगवान्! श्रवणके द्वारा जिनका मार्ग देखा है ऐसे तुम भक्त पुरुषोंके भक्तिसे शुद्ध हुए हृदय-कमलमें निःसन्देह निवास करते हो। हे महान् कीर्तियुक्त! वे तुम्हारे भक्त अपने मनमें तुम्हारा जैसा-जैसा स्वरूप चिन्तन करते हैं उसी स्वरूपको तुम भक्तोंपर अनुग्रह करनेके निमित्त प्रकट करते हो।' इस साधनकी प्रारम्भिक अवस्थामें ऐसे मध्यवर्ती केन्द्रका होना आवश्यक है, क्योंकि श्रीउपास्यदेव इतने पवित्र और हमलोग ऐसे अपवित्र हैं कि दोनोंमें एकदम सीधा सम्बन्ध होनेसे श्रीभगवान्से आये सीधे तेजको हमलोग सह्य नहीं कर सकेंगे और तब उससे हानि हो सकती है, अतएव मध्यवर्ती केन्द्रकी आवश्यकता होती है जिसके द्वारा आनेसे तेज सह्य हो सकता है। कोई-कोई साधक इस मानसिक मूर्तिको भी किसी अवस्थामें देखते हैं। साधनामें अग्रसर होनेपर साक्षात् सम्बन्ध हो जाता है और तब मध्यवर्ती केन्द्रकी आवश्यकता नहीं रहती है। इस अवस्थामें ध्यानके लिये हृदयमें

ही धारणा करना आवश्यक है, अन्यत्र नहीं; जिसको सब लोग नहीं मानते, कुछ लोग भ्रूमध्यसहस्रारकी धारणाको हृदयकी धारणासे श्रेष्ठ समझते हैं—इसी कारण इस प्रसङ्गमें हृदयके रहस्यका वर्णन करना आवश्यक हुआ ।

ध्यानद्वारा दोषनाश

अब ध्यानके अवशेष विषयकी चर्चा की जाती है। मानसिक भावनाका प्रभाव बहुत बड़ा है और वह भी मनकी एकाग्रता-शक्तिकी प्राप्ति होनेपर और भी विशेष हो जाता है; यदि ऐसा मन श्रीभगवान्‌की सेवामें नियुक्त किया जाय तो उसके प्रभाव और शक्तियाँ और भी अधिक बढ़ जाती हैं । अतएव इस अवस्थामें साधक अपने अवशेष दोषोंके दमनके लिये ध्यानयोगकी सहायता लेता है अर्थात् ध्यानद्वारा उनको नष्ट करना चाहता है । अवशेष दुर्गुणोंके दमन करनेका बार-बार उल्लेख करनेका तात्पर्य यही है कि दुर्गुणोंका पूरा-पूरा दमन होना बड़ा कठिन है और बिना इनको दमन किये साधक श्रीभगवान्‌का यथार्थ सेवक हो नहीं सकता है, जो इस मार्गका मुख्योद्देश्य है । बिना दोषोंके दमन किये ध्यानयोगमें प्रवृत्त होकर शक्ति-लाभ करनेसे बड़ी हानि होती है । दोषोंकी मात्रा बढ़ जाती है और अन्तमें रावणादि साधकोंके समान सर्वनाश होता है । अतएव प्रारम्भिक अवस्थामें ध्यानका दूसरा भाग दोषोंका नाश करना और आचरणको पूर्ण शुद्ध करना है, जिसके निमित्त साधनके दूसरे अवशेष भागमें साधकको अपने अवशेष अवगुणोंकी पूरी-पूरी खोज करनी चाहिये । कौन-कौन दोष

उसमें अवशेष रह गये हैं इसका अनुसन्धान करके, एक-एक दोषको पृथक्-पृथक् लेकर, उससे क्या हानि होती है? उसके त्यागसे क्या लाभ होगा? वह दोष अबतक क्यों है? कैसे दूर होगा? इन सब बातोंका विचार करना चाहिये और अन्तमें दोषों-के त्याग करनेका दृढ़ निश्चय करना चाहिये। इस मार्गमें केवल कर्म ही नहीं देखा जाता किन्तु आन्तरिक भाव और वासना मुख्य समझे जाते हैं। यदि कोई आचरणद्वारा किसी निन्दित कर्मको नहीं करता है किन्तु उसकी वासना उसके भीतर बनी है अथवा कुत्सित भावना उसमें आती है तो वह कलुषित ही समझा जायगा। इस मार्गमें हृदयकी शुद्धिको ही शुद्धि कहते हैं, जो हृदय कुत्सित भावना और वासनासे बड़ा ही कलुषित होता है। इस वासनाका ठीक-ठीक ज्ञान होना बड़ा कठिन है, क्योंकि प्रथम तो अनेक कुवासना पूर्वजन्मके संस्कारके कारण आती हैं और इनमें कितनी भीतरमें ऐसी छिपी रहती हैं कि उनकी स्थिति जान नहीं पड़ती। लोग समझते हैं कि अमुक दोष उनमें नहीं है और अन्दरमें उसकी वासनाका भी पता नहीं लगता किन्तु कालान्तरमें कुसंसर्गके कारण छिपी हुई वासना उमड़ जाती है और अपने अनुकूल कर्म करनेमें बाध्य करती है। ऐसी छिपी हुई वासना बड़ी भयावह होती है। साधकको इनसे छुटकारा इस प्रकार होता है कि स्वप्नमें उक्त दोष उस छिपी हुई वासनाके कारण प्रकट हो जाता है और वहाँ वह अपनेको उक्त दोषमें नियुक्त पाता है। जब स्वप्नमें ऐसी घटना हो तो समझना चाहिये कि उसके भीतर उक्त दोषकी छिपी हुई वासना

वर्तमान है जिसके समूल नष्ट करनेका उसको यत्न करना चाहिये। जैसा कि कोई साधक ऐसा समझे कि असत्य भाषणका स्वभाव उसमें है, तो उसको उस दोषपर ऐसा विचारना चाहिये कि असत्यसे यदि कोई सांसारिक लाभ होता है तो वह लाभ नाशवान् होनेके कारण तुच्छ है और असत्यसे जो हानि होती है वह बहुत बड़ी है; क्योंकि सृष्टिके सम्पूर्ण पदार्थ सत्यपर निर्भर हैं। जैसे आमके बीजको रोपनेसे आमहीका वृक्ष उत्पन्न होता है, अन्य नहीं। जल सदा स्वाभाविक शीतल ही रहता है, अग्नि कभी ठंडी नहीं होती। ऋतुएँ अपने समयपर आती हैं, सूर्य-चन्द्र ठीक समयपर उदय-अस्त होते, अतएव असत्यका भाषण और व्यवहार करना मानो सृष्टिके नियमके विरुद्ध चलना है, जो अवनतिका परम कारण है। ईश्वर सत्यरूप हैं, अतएव असत्यका अभ्यास ईश्वरके विरुद्ध कर्म है। ऐसा ध्यानके समय चिन्तन और विचार करके उसको असत्यके अभ्यासको छोड़नेकी और सत्यका ही अभ्यास रखनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिये। ऐसे ही अन्य अवगुणोंपर दृष्टि करके और उनके दोषोंका विचार करके उनके त्यागनेका दृढ़ निश्चय करना चाहिये। साधकको प्रायः एक समयमें मनन-ध्यानद्वारा केवल एक ही दोषोंके त्यागनेमें विशेष यत्नवान् होना चाहिये जिसमें कृतकार्य होनेपर फिर अन्य दोषोंकी ओर एक-एक करके ध्यान देना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय सोलहके प्रथम श्लोकसे लेकर तृतीयतकमें जो दैवी सम्पत्तिके गुणोंका वर्णन है उनका एक-एक करके चिन्तन, मनन और ध्यान करना चाहिये जिसमें उनकी प्राप्ति हो और उनके विरुद्ध आसुरी सम्पत्ति-

का अभाव हो। तत्पश्चात् श्रीउपास्यदेवके स्तोत्रका पाठ करना चाहिये और भक्तिविषयक पुस्तकोंका पारायण अर्थात् पाठ करना चाहिये और उनके तात्पर्योंका अच्छी तरह मनन करना चाहिये। पूजाकालके चित्तके भावको सदा-सर्वदा बनाये रखनेका यत्न करना चाहिये अर्थात् जो काम करना हो उसको निःस्वार्थभावसे ईश्वरका काम समझकर शान्त, स्थिर और एकाग्रचित्त हो करना चाहिये। अवगुणोंके त्यागकी और सद्गुणोंके अभ्यासकी जो प्रतिज्ञा पूजा-कालमें की गयी उसको व्यवहार-कालमें सदा स्मरण रखना चाहिये और उसीके अनुसार कार्य करनेकी चेष्टा करनी चाहिये, क्योंकि सद्गुणोंका केवल चिन्तन करना यथेष्ट नहीं है; उनका चिन्तन और उनको व्यवहारमें अभ्यास करनेकी चेष्टा, इन दोनोंसे उन सद्गुणोंकी प्राप्ति होती है। प्रारम्भमें किञ्चित् कालतक पूजा-कालके निश्चयको व्यवहारमें स्मरण रखना कुछ कठिन मालूम होगा, जिसके निमित्त विशेष चेष्टा करनी पड़ेगी किन्तु कुछ कालतक चेष्टा करनेके बाद वह स्वाभाविक हो जायगा और तब स्वतः स्मरण रहेगा। इस अवस्थामें ध्यानद्वारा विशेषकर अवगुणोंकी वासना नष्ट की जाती है, क्योंकि उनकी वासना ही दुष्ट कर्मका कारण है। अतएव बिना दुष्ट वासनाको नष्ट किये हृदय शुद्ध नहीं हो सकता और अपवित्र हृदयपर श्रीभगवान्‌का प्रकाश नहीं पड़ता जिसके कारण श्रीभगवान् अत्यन्त समीप रहनेपर भी अत्यन्त दूर हो जाते हैं। अतएव ध्यानकी सहायता इसमें लेनी चाहिये। श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

कांश्चिन्ममानुध्यानेन नामसङ्कीर्तनादिभिः ।
योगेश्वरानुवृत्त्या वा हन्यादशुभदाञ्छनैः ॥
(११।२८।४०)

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषान् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥
(३।२८।११)

'कोई कामादि दोषोंका नाश, मुझ श्रीभगवान्के निरन्तर ध्यान, नामसङ्कीर्तन आदिद्वारा करे और दम्भ, मान आदि अमङ्गलकारी शत्रुओंका योगेश्वर सद्गुरु सत्पुरुषकी सेवा करके नाश करे। प्राणायामसे वात, कफ आदि दोषोंको शान्त करे, धारणासे पापोंको नष्ट करे, प्रत्याहारसे विषयोंका सम्बन्ध और आसक्ति आदि छोड़े और ध्यानसे राग, लोभ आदि दुष्ट वासनाओं-को नष्ट करे।'

योगसूत्र और अन्य ग्रन्थोंमें कहा है कि दोषोंका नाश उनके विपरीत गुणोंकी भावना और मनन-चिन्तनद्वारा करे। ऊपर जो कुछ लिखा गया है वह इसी सिद्धान्तके आधारपर है।

अर्चन

जब श्रीउपास्यदेवके निःस्वार्थभावसे सतत चिन्तन, स्मरण और ध्यान करनेसे साधकके हृदयसरोवरकी मलिन और कुत्सित वासनारूपी झाड़, और विक्षेप, अहङ्कार तथा ममता आदि रूपी सेवार दूर होते हैं तभी भक्तिपद्मका बीज जो उसमें निहित रहता है वह श्रद्धा, स्नेह और निःस्वार्थ सेवारूपी स्वच्छ जलके स्पर्शसे

अङ्कुरित और परिवर्धित होता है और उसमें प्रेमकुसुम प्रस्फुटित होता है, और जब स्मरण-ध्यानके द्वारा श्रीउपास्यदेवरूपी सूर्यकी तेजःपुञ्जरूपी निर्मल किरण उसपर पड़ती है तभी वह कुसुम विकसित होता है और तब वह अपनेको अपने प्रियतम श्रीसूर्य-भगवान्‌रूपी श्रीउपास्यदेवको अर्पण करता है। यह हृदयसरोवर-का प्रेमपद्मपुष्प केवल श्रीसूर्यभगवान्‌की निर्मल किरण (श्री-उपास्यदेवके तेजःपुञ्ज) के स्पर्शसे ही, यद्यपि वे स्वतः बहुत ही दूर क्यों न हों, प्रफुल्लित होता है और उसके अन्तर्हित (अभाव) होनेपर विरहसे मुरझा जाता है जो मुरझाना फिर केवल श्रीसूर्य-भगवान् (श्रीउपास्यदेव) की किरण (तेजःपुञ्ज) के स्पर्शसे ही छूट सकता है, अन्य प्रकारसे कदापि नहीं।

श्रीउपास्यदेवरूपी सूर्यकी तेजःपुञ्जरूपी किरण यद्यपि तीक्ष्ण और जाज्वल्यमान (अज्ञानरूपी तिमिरको नाश करनेवाली) है, क्योंकि जैसे पद्मपुष्पके बाह्य भागका रंग सूर्यकी किरणके निरन्तर पड़नेके कारण किञ्चित् फीका पड़ जाता है, उसी प्रकार श्री-उपास्यदेवका तेजःपुञ्ज साधककी गुप्त अथवा प्रकट बाह्य आसक्तियों-में ताप देकर और उनको मुरझाकर उनको शुद्ध करता है; और उसकी पूर्तिमें बाह्य दृष्टिसे साधक प्रायः बड़े कष्टमें पड़ जाता है, तथापि इस प्रेमकुसुमका बाह्य भाग तापित होनेपर भी गुणमयी विषयरूपी चन्द्रमाकी शीतल किरण (विषयसुख) को कदापि नहीं चाहता, किन्तु उसके आनेपर उसको तिरस्कार ही करता अर्थात् मुकुलित (अन्तर्वृत्ति) रहकर उससे आन्तरिक सम्बन्ध नहीं स्थापन करता, यद्यपि बाह्य सम्बन्ध रहता है। फिर भी यह हृदय-कुसुम

श्रीउपास्यदेवरूपी सूर्यके तेजपुञ्जके स्पर्शसे ही खिलता है, अन्यथा कदापि नहीं। अर्चनकी अवस्था ऊपर कथित अवस्थाके बहुत अंशमें समान है। अर्चनकी अवस्थामें साधकको केवल अपने प्रियतम श्रीउपास्यदेवकी तुष्टिके निमित्त ही सब प्रकारका त्याग करना मुख्य होता है और उसके विशुद्ध प्रेमके अमूल्य रत्न श्रीउपास्यदेव अब उसके हृदयेश्वर बन जाते हैं। उसकी अवस्था ऐसी होती है कि जगत्में जितने उत्तम और पवित्र पदार्थ हैं उनको वह अपने प्राणेश्वरको ही अर्पण करता है जिसके किये बिना उसकी शान्ति नहीं होती। ऐसा प्रेमी अपने प्रेमके आवेगसे प्रेरित होकर जो कुछ प्रिय और परमोत्तम समझता है उसको अपने स्वयं न भोगकर अपने प्रियतम श्रीइष्टदेवको समर्पण करता है। इस अवस्थामें श्रीउपास्यदेव साधकके परम प्रियतम हृदयरत्न हो जाते हैं, उनकी झाँकी साधकको मिल जाती है और उनके तेजपुञ्जके स्पर्शके आनन्दका रस वह अनुभव करने लगता है। अतएव उसकी प्रेमकी दृष्टिमें वे स्नान, भोजन, वार्तालाप, आमोद-प्रमोद, शयन आदि कार्यके करनेवाले हो जाते हैं और ऐसा जानकर वह उनकी परिचर्यामें प्रवृत्त होता है और इस प्रकार उसका चित्त दिनरात बिना विराम हृदयेश्वरकी ओर लगा रहता है, अन्य ओर नहीं। यह उच्च अर्चन अष्टयाम (आठों पहर) चलता है। प्रेमी साधक श्रीउपास्यदेवकी सेवाके निमित्त प्रातःकाल बहुत सवेरे उठता है और स्नानादि नित्यक्रिया समाप्त कर प्रातःकाल रहते ही अपने प्राणप्रिय श्रीउपास्यदेवकी परिचर्यामें प्रवृत्त होता है। यह अर्चन स्थूल अथवा मानसिक दोनों रूपमें होता है। इस

अर्चनका यथार्थ स्थान हृदय-मन्दिर है और इसमें मुख्य सामग्री प्रेम-पुष्प है अर्थात् यह सब प्रकारसे हृदयका कार्य है और बाह्य स्थूल क्रिया केवल उसका अनुकरणमात्र उसमें सहायता और दृढ़ता देनेके लिये है। सेवा और त्यागद्वारा श्रीउपास्यदेवकी तुष्टि इसमें मुख्य है। इसकी भी तीन अवस्था है। अधिभूत परिचर्या यों है। स्नान, शौचादि जैसे साधक सबके लिये आवश्यक समझता है उसी प्रकार अपने श्रीइष्टदेवकी बाह्य अथवा मानसिक प्रतिमाके स्नान, शौचादि करानेमें भी भक्ति-भावसे प्रवृत्त होता है। फिर वस्त्र अर्पण करता है, सुगन्ध चन्दनसे उनके कोमल अङ्गोंको चर्चित करता है, फिर वह पत्र जो उसके श्रीउपास्यदेवके प्रिय हैं उनको अर्पण करता है। तत्पश्चात् उत्तम गन्धयुक्त मनोहर पुष्प समर्पण करता है। फिर उत्तम गन्ध भेंट करता है, और भी उत्तम और पवित्र सुस्वादु नैवेद्यका उपहार देता है और अन्तमें वाद्यके साथ सुवासित आरती करके अर्घ-आचमनीय अर्पण करता है। इस अवस्थामें साकार अथवा रूपोपासना, आवश्यक होनेपर, साधककी स्वयं ऐसी अर्चनामें प्रवृत्ति होती है जिसके करनेसे ही उसको यह प्रसन्नता होती है कि उसने अपने प्रियतमकी किसी प्रकार कुछ सेवा की, यद्यपि वह परम तुच्छ ही क्यों न हो। इस अवस्थामें परिचर्याधर्म निःस्वार्थ प्रेमके आवेगसे किया जाता है, अन्य किसी स्वार्थसम्बन्धी भावसे नहीं। ऐसा प्रेमी साधक अपने प्राणप्रिय प्रियतमकी तुष्टिके कार्यमें बिना प्रवृत्त हुए रह नहीं सकता। संसारके किसी उत्तम और मनोहर पदार्थके मिलनेपर उसकी भावना केवल अपने प्रियतमके

प्रति जायगी और वह उस पदार्थको उन्हें अर्पण करनेहीपर निश्चिन्त होगा, अन्यथा नहीं। उत्तम पुष्प, उत्तम गन्ध, उत्तम भोज्य पदार्थ, उत्तम वस्त्र, उत्तम सवारी आदि मिलनेहीपर उसको स्वभावतः अपने श्रीउपास्यदेवकी भावना आवेगी और वह प्रथम उन्हींको अर्पण करेगा। इस अवस्थामें परिचर्याके सिवा अन्य कालमें भी प्रेमीका चित्त सर्वदा अपने हृदयेश्वरमें संलग्न रहता है। इस अवस्थामें प्राप्त भक्त राजा अम्बरीषके विषयमें श्रीमद्भागवत पुराणमें यों लिखा है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥
एवं सदा कर्मकलापमात्मनः
परेऽधियज्ञे भगवत्यधोक्षजे।
सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां
तन्निष्ठविप्राभिहितः शशास ह॥
(९।४।१८—२१)

'उस राजा (अम्बरीष) ने अपना मन श्रीभगवान्के चरण-कमलोंके ध्यानमें, वचन श्रीभगवान्के गुणोंके वर्णनमें, हाथोंको श्रीभगवान्के मन्दिरको स्वच्छ करने आदिके उद्योगमें, और कानको संसार-दुःखको दूर करनेवाली श्रीभगवान्की कथाओंके सुननेमें लगाया था। उसने अपनी दृष्टि मुक्तिदाता श्रीभगवान्की मूर्तियों और स्थानोंके देखनेमें, त्वचा इन्द्रिय (शरीरका चर्म) श्रीभगवान्के भक्तोंके अङ्गके स्पर्श करनेमें, नासिकाको भगवान्के चरणारविन्दोंकी सुगन्ध लेनेमें और जिह्वा इन्द्रियको श्रीभगवान्को निवेदित किये हुए नैवेद्य अन्न आदिके रस ग्रहण करनेमें लगाया था। उसने अपने चरणोंको श्रीभगवान्के जो मथुरा, वृन्दावन आदि क्षेत्र तथा अन्य भी जो ऐसे स्थान हैं उनकी बार-बार यात्रा करनेमें और मस्तक हृषीकेश श्रीभगवान्के चरणोंकी वन्दना करनेमें लगाया था; विषय-सेवन भी वह दासभावसे ही भगवान्का प्रसाद समझकर करता था, विषयभोगकी इच्छासे नहीं। वह सदा ऐसा ही कर्म करता था जिससे भक्तोंमें प्रेम हो। इस प्रकार उस अम्बरीषने प्रतिदिन अपने सब कर्म, यज्ञपति श्रीभगवान्को अर्पण करके, सर्वत्र आत्मा ही है ऐसी भावना करता हुआ भगवत्परायण श्रीवसिष्ठ आदि महर्षियोंके आदेशानुसार इस पृथ्वीकी रक्षा की।'

इस अवस्थाका साधक सामर्थ्य रहनेपर अपने सामर्थ्यानुसार अपने प्रियतम श्रीइष्टदेवके निमित्त मन्दिर, धर्मशाला, चिकित्सालय, विद्यालय, तड़ाग, कूप, कुष्ठयाश्रम, अनाथालय, अन्नक्षेत्र आदि जन-हित कार्य करेगा। दरिद्र और असहायको अन्न-वस्त्र देगा, रोगीकी परिचर्या और चिकित्साका प्रबन्ध करेगा,

दीन-दुखियोंके अभावको यथासामर्थ्य पूर्ण करनेका यत्न करेगा, अनाथ आदिके भरण-पोषण यथासामर्थ्य करनेकी चेष्टा करेगा, नाम, कीर्तन, कथा आदिके प्रबन्धद्वारा लोगोंको ईश्वरोन्मुख करनेका विशेष यत्न करेगा इत्यादि इत्यादि। किन्तु ये सब काम न्यायार्जित द्रव्यसे करेगा, अन्य प्रकारसे कदापि नहीं। अधर्मोपार्जित द्रव्य श्रीभगवान्‌के निमित्त किसी प्रकार व्यवहार करनेसे व्यर्थ हो जाता है और उसके द्वारा की हुई कोई परिचर्या अथवा सेवा कदापि स्वीकृत नहीं होती है। पद्मपुराणके पातालखण्डका वचन है—

चौर्येणाप्यर्जितैर्द्रव्यैः पूजया न हितं भवेत्।
न चान्यायार्जितैर्विप्र शम्भोः पूजा शुभप्रदा॥

(५०। ७२)

'हे विप्र! चोरी अथवा अन्यायसे प्राप्त द्रव्यद्वारा श्रीशिवजीकी पूजा करनेसे वह पूजा शुभप्रद नहीं होती।' और श्रीमद्भागवत पुराणमें लिखा है—

अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः।
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः॥

(१०। ८४। ३७)

'गृहस्थ द्विजोंका यही कल्याणकारी पन्थ है कि शुद्ध वृत्तिसे उपार्जित धनसे नारायणका यज्ञ करे।'

ऐसा साधक अपने श्रीउपास्यदेवके निमित्त धर्मके प्रचारका कार्य भी करता है अर्थात् धर्मविमुखको धर्मके मार्गपर लानेका यत्न करता है, विपत्तिग्रस्तको आवश्यक सहायता देकर सहायता करता है और ज्ञान-प्रचार कर लोगोंको सन्मार्गमें दृढ़

करता है, सदाचार, ज्ञान और भक्तिके प्रचारमें यत्न करता है। ये सब परोपकारी सेवा-कार्य कर्मयोग अथवा अन्य भावसे भी किये जाते हैं किन्तु यहाँ इनके सम्पादन करनेका तात्पर्य केवल श्रीउपास्यदेवकी तुष्टि है जिनको वह अपने और भी सब प्राणियों-के हृदयमें देखता है। ऐसा साधक अर्चनद्वारा श्रीउपास्यदेवकी हृदयस्थ दिव्य मूर्तिकी सेवा करता है और परोपकारी कर्म कर उनके विश्वरूपकी पूजा करता है। साधक प्रारम्भिक अवस्थामें जो अर्चा (पूजा) करता है उससे यह अर्चा आन्तरिक भावमें परिवर्तित होनेके कारण बहुत ही उच्च है, यद्यपि बाह्यदृष्टिमें दोनों समान दीख पड़ेगी।

इसकी अधिदैव अवस्था वह है जब कि चित्त स्वाभाविक-रूपसे सतत और अविरत श्रीउपास्यदेवमें संलग्न रहे जो उपास्य-देवके तेजपुञ्जके उपासकके हृदयमें प्रकट और जागृत होनेहीसे सम्भव है, अन्यथा नहीं। गुप्तरूपसे श्रीउपास्यदेव सबके हृदयमें विराजमान हैं किन्तु जीवको इसका ज्ञान अथवा अनुभव नहीं है, परन्तु इस अवस्थामें पूर्वके ऐसा केवल हृदयस्थ श्रीउपास्यदेवकी कभी-कभी झलक मिलनेके बदले वे स्पष्टरूपसे साधकके हृदयको आयत्त कर लेते हैं और आध्यात्मिक अवस्था आनेपर शास्ता बन जाते हैं। श्रीउपास्यदेवके हृदयस्थ मनोहर साकार रूपकी उपासना इस अवस्थामें प्रधान है। इस अवस्थाके प्रेमी साधकको श्रीउपास्यदेव-की केवल विश्वमूर्तिकी उपासनासे तृप्ति कदापि नहीं होती। उसके हृदयक्षेत्रके प्रेमकी ज्वाला श्रीउपास्यदेवकी हृदयस्थ प्रेममयी दिव्य मूर्ति अथवा तेजपुञ्ज और ज्योतिके दर्शन, स्पर्श और सेवासे

ही शान्त होती है, अन्यथा कदापि नहीं, क्योंकि एक वार भी जिसने उस आनन्दमय हृदयस्थ श्रीभगवान्‌के प्रेमामृतका रसास्वादन किया, उसको सिवा उसके चैन कहाँ? क्या मधुप कमलको त्यागकर अन्य कृत्रिम गन्धका आस्वादन ले सकता है? प्रेमी अर्जुन भी श्रीभगवान्‌के विश्वरूप मूर्तिको देखकर घबड़ा गये, क्योंकि यथार्थ प्रेमी अपने प्रियतमके रूप-गुणपर ही मोहित रहता है कदापि ऐश्वर्यपर नहीं। अतएव अर्जुनको श्रीभगवान्‌की मनोहर मूर्तिके अदृश्य होनेसे उनके लिये सर्वनाशके तुल्य हो गया और परमैश्वर्ययुक्त होनेपर भी विश्वमूर्ति उनके प्रेमको न आकर्षण कर सकी और न उन्हें आनन्द दे सकी। ऐसी अवस्थामें अर्जुनने श्रीभगवान्‌से कहा—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥
(गीता ११। ४५-४६)

'मैंने आप (श्रीभगवान्) का ऐसा रूप देखा जिसको पूर्वमें कभी मैंने नहीं देखा था, मेरा शरीर रोमाञ्चित और हृदय भयसे पीडित हो रहा है। (अतएव) हे श्रीभगवन्!

आप अपना वही रूप मुझे फिर दिखलाइये, हे देवताओंके देव और सम्पूर्ण जगत्के आश्रय ! मुझपर प्रसन्न होइये । मैं पूर्वकी भाँति किरीट पहने हुए और हाथमें गदा और चक्र लिये हुए आपको देखना चाहता हूँ । हे श्रीभगवन् ! हे सहस्रबाहो ! हे विश्वमूर्ते ! फिर अपनी चार भुजावाली मूर्ति धारण कीजिये ।' तब श्रीभगवान्ने अर्जुनसे कहा—

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥
(गीता ११ । ४९)

'इस मेरे घोर विश्वरूपको देखकर व्यथित न हो, मोहमें न पड़ो, निर्भय तथा प्रसन्न होकर फिर मेरे उसी रूपका दर्शन करो ।' संजय कहते हैं—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥
(गीता ११ । ५०)

'श्रीभगवान् वासुदेवने अर्जुनसे यह कहकर उन्हें फिर अपना पहला स्वरूप दिखलाया । और उन महात्मा प्रभुने सुन्दर मूर्ति धारण कर डरे हुए अर्जुनको आश्वासन दिया ।' तब अर्जुनने कहा—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥
(गीता ११ । ५१)

'हे जनार्दन ! तुम्हारी इस सुन्दर मानुषी मूर्तिको देखकर अब मैं स्वस्थ हुआ और अपनी स्वाभाविक प्रकृतिमें पहुँचा ।'

जो लोग श्रीभगवान्‌को केवल विश्वव्यापी मान उनकी सुन्दर मानुषी मूर्ति अर्थात् साकारोपासना आदिके महत्त्वको नहीं समझते, उनको इन पूर्वकथित श्लोकोंमें वर्णित अर्जुनकी दशापर विचार करके सावधान हो जाना चाहिये और प्रकृत पथपर आ जाना चाहिये। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, श्रीभगवान्‌ने संसारके हितके लिये और उनके मिलनेके भक्तिमार्गको सुगम करनेके लिये ही दिव्य मूर्ति धारण की जिस मूर्तिमें सम्पूर्ण विश्व निहित है जिसका तिरस्कार करनेपर उनकी प्राप्ति बहुत कठिन हो जाती है। इस साकारोपासनामें अर्चाके निमित्त किसी बाह्य आधारकी आवश्यकता होती है। श्रीमद्भागवत पुराणमें लिखा है—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥
(११ । २७ । १२)

क्रियाकलापैरिदमेव योगिनः
श्रद्धान्विताः साधु यजन्ति सिद्धये।
भूतेन्द्रियान्तःकरणोपलक्षितं
वेदे च तन्त्रे च त एव कोविदाः॥
(४ । २४ । ६२)

'प्रतिमा शिलाकी, काठकी, लोहे आदि धातुकी, मृत्तिका, चन्दन आदिकी, चित्रकी, वालूकी, मनकी और मणियोंकी, ऐसे आठ प्रकारकी कही है । हे श्रीभगवन् ! यद्यपि आप भेदरहित परब्रह्म हैं तथापि सब योगी श्रद्धासे सिद्धिके लिये अर्चनाकी क्रियासे आपके उस साकार रूपकी उपासना करते हैं। जो पञ्चभूत, इन्द्रिय और अन्तःकरणका नियन्ता है, वही निगमागममें पण्डित है, न कि जो केवल ज्ञानी है।' और भी वहाँ ही लिखा है—

द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः ।
भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि ॥
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः ॥
(११ । २७ । १५, १८)

'(श्रीभगवान् कहते हैं कि) प्रतिमादिमें मुझे अर्चनाकी सामग्रीके जो पदार्थ अर्पण करे, वह अति उत्तम होना चाहिये, निष्काम भक्त होवे तो उसको जैसा पदार्थ मिल जाय उसीसे मेरी आराधना करे, हृदयमें पूजा करनी हो तो मनोमय सामग्रीको ही इकट्ठा करे । और जिसके हृदयमें भक्ति नहीं है, वह गन्ध, पुष्प, दीप, अन्न आदि बहुत-सी सामग्री अर्पण करे तो भी उनसे मेरी प्रसन्नता नहीं होती, इससे अधिक और क्या कहूँ ?'

ऊपरके वचनोंसे स्पष्ट है कि इस अर्चनमें हृदयका अनुराग और प्रेमभाव मुख्य है और साधक बाह्यपूजा केवल हृदयके भावकी पूर्तिके लिये करता है और इस आन्तरिक प्रेमभावसे जो अर्चा की जाती है वही यथार्थ है किन्तु जिसमें प्रेमभावका अभाव है

वह प्रायः व्यर्थ है। श्रीउपास्यदेव पूर्णकाम हैं, उनको किसी सांसारिक पदार्थकी आवश्यकता नहीं है किन्तु वे प्रेम-भावके अवश्य बड़े भूखे हैं और भक्तोंके प्रेमकी बड़ी कठिन परीक्षा अवश्य करते हैं। साधकके लिये अर्चन-पूजाद्वारा श्रीउपास्यदेवकी सेवा करनी आवश्यक है यदि यथार्थ भक्ति-भावसे की जाय और यदि वह आन्तरिक प्रेम-भावका यथार्थ द्योतक हो। श्रीमद्भागवत पुराण-का वचन है—

> नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
> मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते।
> यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं
> तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥
> (७।९।११)

> यत्पादयोरशठधीः सलिलं प्रदाय
> दूर्वाङ्कुरैरपि विधाय सतीं सपर्याम्।
> अप्युत्तमां गतिमसौ भजते त्रिलोकीं
> दाश्वानविक्लवमनाः कथमार्तिमृच्छेत्॥
> (८।२२।२३)

'श्रीप्रह्लादका कथन है कि प्रभु श्रीपरमात्मा परिपूर्णकाम हैं। वे अज्ञानियोंसे मान नहीं चाहते। लोग श्रीभगवान्‌को जो सम्मान देते हैं वह उन्हींको मिलता है, जैसे मुखकी शोभा दर्पणमें प्रति-बिम्बित होती है। श्रीब्रह्माने कहा—जब स्वच्छ चित्तसे मनुष्य पैर धोनेके निमित्त जल अथवा दूबसे भी शुद्धभावसे पूजाकर उत्तम गतिको पाता है, तब उस बलिको जिसने सन्तोषसे त्रैलोक्यका

राज्य आपको दे दिया है, कैसे दुर्गति हो सकती है ?' और भी लिखा है—

> व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
> कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किन्तत् सुदाम्नो धनम् ।
> का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषं
> भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ॥

'व्याध और जटायुका क्या आचरण था ? ध्रुवकी क्या वयस् थी ? गजेन्द्रको क्या विद्या थी ? कुब्जाका क्या अधिक रूप था ? सुदामाका क्या धन था ? विदुरकी क्या जाति थी ? यादवपति उग्रसेनको क्या बल था ? (चूँकि इनके अभावमें भी इनपर श्रीभगवान्‌ने कृपा की, अतएव) श्रीभगवान् केवल भक्तिसे प्रसन्न होते हैं गुणसे नहीं, क्योंकि उनको भक्ति ही प्रिय है ।'

राजा पृथु और अम्बरीषके सिवा इस अर्चन-सेवाका परम आदर्श भिल्नी श्रीमती शबरीजी हो गयी हैं जिनमें विद्या, पौरुष, उत्तम जाति आदिका अभाव, और स्त्रीजाति होनेपर भी केवल उनकी स्वच्छ भक्तिके कारण श्रीभगवान्‌ने उनको ऐसा आदर-सम्मान किया कि उनके दिये जूठे फलोंको भी सहर्ष स्वीकार किया । श्रीशबरीजीका मन श्रीभगवान्‌में ऐसा आसक्त था और उनके प्रति उन्हें ऐसा प्रगाढ़ प्रेम था कि उनका चित्त सतत श्रीभगवान्‌के चरणकमलहीमें संलग्न रहता था । यहाँतक कि किसी-के आनेकी आहट पानेसे उनको बोध होता था कि श्रीभगवान् ही आ रहे हैं । जो-जो उत्तम मीठे फल उनको मिलते थे उनको श्रीभगवान्‌की अर्चाके लिये रखती जाती थीं । श्रीरामचरितमानस-

से यहाँ श्रीमती शबरीजीकी श्रीभगवान्‌से मिलनकी कथा उद्धृत की जाती है—

सबरी दीख राम गृह आये। मुनिके बचन समुझि जिय भाये॥
सरसिजलोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला॥
श्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥
प्रेममगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पदसरोज सिर नावा॥
सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे॥

कंद मूल फल सरस अति, दिये राम कहँ आनि।
प्रेमसहित प्रभु खायऊ, बारहिं बार बखानि॥

पाणि जोरि आगे भइ ठाढ़ी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी॥
केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी॥
अधमते अधम अधम अति नारी। तिनमहँ मैं अति मंद गँवारी॥
कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानौं एक भक्तिकर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भक्तिहीन नर सोहैं कैसे। बिनु जल बारिद देखिय जैसे॥
नवधा भक्ति कहौं तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माँहीं॥
प्रथम भक्ति संतन कर संगा। दूसरि रत मम कथाप्रसंगा॥

गुरुपद पंकज सेवा, तीसरि भक्ति अमान।
चौथि भक्ति मम गुनगन, करै कपट तजि गान॥

मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
षट दम शील विरत बहुकर्मा। निरत निरंतर सज्जन धर्मा॥
सतईं सब मोहिमय जग देखै। मोते संत अधिक करि लेखै॥
अठईं यथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखै परदोषा॥
नवम सरल सब सों छलहीना। मम भरोस हिय हर्ष न दीना॥
नवमहँ एकौ जिनके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सो अतिशय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भक्ति दृढ तोरे॥

योगिवृन्द-दुर्लभ गति जोई। तोकहँ आज सुलभ भइ सोई॥
मम दर्शन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज स्वरूपा॥

सब प्रकार तव भाग बड़, मम चरनन्ह अनुराग।
तव महिमा जेहि उर बसहि, तासु परम बड़ भाग॥

इस अर्चा-सेवाकी अन्य आदर्श व्रजकी गोपियाँ हैं जिनकी पावन कीर्ति और श्रीभगवान्के प्रति असीम प्रेम यथार्थमें आदर्श है। इस अवस्थामें यह मुख्य है कि चित्त सदा श्रीउपास्यदेवमें अर्पित रहे और सांसारिक कार्य करते भी चित्त उन्हींके चरण-कमलमें संलग्न रहे। अन्य अवस्थामें इसके लिये यत्न करना पड़ता है किन्तु इस अवस्थामें यह स्वाभाविक हो जाता है। इस अवस्थावालेका चित्त श्रीउपास्यदेवसे अन्यत्र रह नहीं सकता।

जैसा राजा अम्बरीष, व्रजकी गोपियाँ आदि चित्तको श्रीभगवान्में समर्पित रखकर शरीरसे कर्म करती थीं और उन कर्मोंको भी श्रीभगवान्का कर्म समझ उनके निमित्त करती थीं और उन्हींमें अर्पण करती थीं, कोई स्वार्थ-कामना नहीं रखती थीं, क्योंकि उनके सब सांसारिक पदार्थ, सम्बन्ध, क्रिया आदि श्रीभगवान्के हैं, वही ठीक दशा अर्चनमें प्रयुक्त साधककी रहती है। सर्वकर्मोंका श्रीभगवान्में अर्पण करना भगवत्प्राप्तिकी मुख्य साधना है। गीताका वचन है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥
(१२।१०)

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
(१८।४५-४६, ५६-५७)

श्रीभगवान्‌ने कहा—'यदि तू अभ्यासमें असमर्थ है, तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो; इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ मेरी प्रीतिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा। एवं इस अपने-अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य, भगवत्-प्राप्तिरूप परमसिद्धिको प्राप्त होता है, परन्तु जिस प्रकारसे अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य, परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू मेरेसे सुन। हे अर्जुन! जिस श्रीभगवान्‌से सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्वजगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर, मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है।' श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥
(११।२।३६)

गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणाम् ।
मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः ॥
(४।३०।१९)

'मनसे, वाणीसे, शरीरसे, इन्द्रियोंद्वारा, बुद्धिसे, अहंभावसे, अथवा पूर्वजन्मके संस्कारोंसे जो कुछ कार्य बने वह सब नारायणको अर्पण करना चाहिये। जिसका समय भगवच्चर्चामें व्यतीत होता है, जो अपने कर्मको श्रीभगवान्‌को अर्पण करता है, उनके लिये गृहस्थाश्रम बन्धनका हेतु नहीं होता है।' श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

यद्ब्रह्मणि परे साक्षात्सर्वकर्मसमर्पणम्।
मनोवाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते॥
(७। १५। ६४)

श्रीनारदजीने युधिष्ठिरसे कहा—'हे राजन्! शरीर, वाणी और मनसे किये हुए सब कर्मोंका जो श्रीभगवान्‌में फलकी इच्छा छोड़कर अर्पण करना है उसको क्रियाद्वैत कहते हैं।'

भक्तिरसामृतसिन्धुका वचन है—

वाग्भिः स्तुवन्तो मनसा स्मरन्तः
स्तुत्वा नमन्त्यप्यनिशं भजन्तः।
भक्ताः स्रवन्नेत्रजलाः समग्रं
वयो हरेरेव समर्पयन्ति॥

'वाणीसे स्तुति, मनसे स्मरण, शिरसे प्रणाम, हृदयसे भजन करते हुए साश्रुनेत्र भक्तजन अपनी समस्त आयु हरिके लिये अर्पण करते हैं।'

इस अवस्थामें बाह्यार्चा भी आन्तरिक्त उच्च अवस्थाका द्योतक और प्रकाशक है। प्रातःकाल श्रीउपास्यदेव इसलिये जागृत किये जाते हैं कि बिना उनके जागे जागृत संसार चल नहीं सकता है।

अतएव संसारकी प्रवृत्ति और त्रैलोक्यमें मंगलका सञ्चार करनेके लिये उपासक अपने श्रीउपास्यदेवको स्तुतिद्वारा जगाता है। इसके निमित्त उपासककी प्रार्थनामें मुख्य उक्ति यह रहती है कि 'त्रैलोक्यमङ्गलं कुरु' अर्थात् जागकर तीनों लोकका मंगल कीजिये। पाद्यार्घ और स्नानीय जलके अर्पणका यह भी तात्पर्य है कि उक्त जल श्रीउपास्यदेवके पावन चरणकमलको स्पर्शकर तेजपुञ्जरूपी गंगा बनकर त्रैलोक्यमें सञ्चरण कर सबको पवित्र करे। चन्दन अर्पण करना मानो प्राण आदि और उनके द्वारा जो शारीरिक क्रियाएँ होती हैं उनको अर्पण करना है अर्थात् सब शारीरिक क्रियाको केवल श्रीउपास्यदेवके निमित्त करना है। पुष्पका समर्पण मानो शुद्ध और शान्त बनकर मनको अर्पण करना है अर्थात् सम्पूर्ण मानसिक कार्य केवल श्रीउपास्यदेवके निमित्त करना है। नैवेद्यका अर्पण मानो अपने सम्पूर्ण बाह्य पदार्थ और द्रव्योंको अर्पण करना है अर्थात् ऐसी धारणा दृढ़ करनी कि सम्पूर्ण बाह्य पदार्थ श्री-उपास्यदेवका ही है। धूप, दीप, आरती समर्पण करना मानो श्रीउपास्यदेवकी दिव्य प्रकाश-शक्ति जो जीवात्माका शुद्धस्वरूप है उसको अपने हृदयमें प्रकटकर फिर उसको श्रीउपास्यदेवहीको अर्पण करना है अर्थात् अपनी दिव्य आत्मातकको श्रीउपास्यदेव-हीको समर्पण करना है। निवेदक चरणामृत-जल और नैवेद्यको केवल अकेले नहीं ग्रहण कर अनेकको देता है उसका भी मुख्योद्देश्य यह है कि अर्चा करनेसे जो श्रीउपास्यदेवके तेजपुञ्जकी प्राप्ति हुई जिससे चरणामृत और सादर अर्पित नैवेद्य भी संयुक्त रहता है उसको सबमें फैलाना, ताकि सबका कल्याण हो।

भक्तका मुख्य भाव सबोंका मंगल-साधन करना है। पद्मपुराणके पातालखण्डमें लिखा है—

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः।
तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च॥
शमस्तु पञ्चमं पुष्पं ध्यानञ्चैव तु सप्तमम्।
सत्यञ्चैवाष्टमं पुष्पमेतैस्तुष्यति केशवः॥
पुष्पान्तराणि सन्त्येव बाह्यानि नृपसत्तम।
एतैरेव तु तुष्येत यतो भक्तिप्रियोऽच्युतः॥
(अ० ५३। ४८–५०)

'अहिंसा पहला फूल, इन्द्रियसंयम दूसरा फूल, प्राणियोंपर दया तीसरा फूल, क्षमा चौथा फूल, शम (मन और इन्द्रियनिग्रह) पाँचवाँ फूल, ध्यान सातवाँ फूल और सत्य आठवाँ फूल। इन आठ फूलोंसे पूजा करनेसे श्रीभगवान् विशेष संतुष्ट होते हैं। हे राजन्! अन्य बाहरी फूल यथेष्ट रहनेसे भी उक्त आठ फूलसे ही श्रीभगवान् प्रसन्न रहते हैं, क्योंकि उनको भक्ति ही प्यारी है।' और बिना भक्तके कोई दूसरा उक्त आठ फूलोंद्वारा पूजा नहीं कर सकता है।

वन्दन

अर्चा अर्थात् पूजाकी साधनामें परिपक्व होनेसे श्रीउपास्य-देवकी वन्दनाकी अवस्था आती है, जब कि साधक श्रीउपास्यदेवके श्रीचरणके प्रेमामृतका रसास्वादनकर और उनकी असीम दयाका परिचय पाकर ऐसा प्रेमोन्मत्त हो जाता है कि उसका प्रेमाप्लुत हृदय स्वाभाविकरूपसे ही उनकी स्तुति और वन्दनामें प्रवृत्त हो

जाता है और इस प्रकार वह अपने हृदयरूपी प्रेमपुष्पको अर्पण-कर अपनेको श्रीउपास्यदेवमें संलग्न कर देता है। पूजा (अर्चना) के अन्तमें पुष्प हाथमें लेकर जो श्रीउपास्यदेवकी स्तुति और वन्दना की जाती है जो यथार्थमें हृदयका कार्य है वह इसी अवस्थाका बाह्यमें द्योतक है। इस अवस्थाके साधकका हृदय सदा-सर्वदा श्रीउपास्यदेवकी वन्दना करनेमें ही प्रवृत्त रहता है, क्योंकि उसको श्रीउपास्यदेवकी असीम कृपाका पूर्ण परिचय मिल चुका है और वह समझता है कि उसके-ऐसे अयोग्यपर भी श्रीउपास्यदेवने इतनी बड़ी दया की कि देवदुर्लभ श्रीचरणके प्रेमामृतरसके आस्वादन करनेका सौभाग्य उसे प्राप्त हुआ। ऐसा साधक सर्वत्र, जड़-चेतन दोनोंमें अपने श्रीउपास्यदेवको देखता ही नहीं है किन्तु उनमें उनके अस्तित्वका प्रत्यक्ष अनुभव करता है और इस कारण अर्जुनकी भाँति सबको अपना श्रीउपास्यदेव समझ प्रणाम करता है। अर्जुनके इस अवस्थाका श्रीमद्भगवद्गीतामें यों वर्णन है—

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥

(११ । ३९-४०)

'तुम वायु, यम, अग्नि, चन्द्र, वरुण, प्रजापति और सबके प्रपितामह (बीजपुरुष) हो, तुमको प्रणाम है, फिर प्रणाम है, सहस्र बार प्रणाम है और बार-बार प्रणाम है। तुम्हारे आगे दण्डवत् करता हूँ, तुम्हारे पीछे दण्डवत् करता हूँ। तुम्हारी सब ओर दण्डवत् करता हूँ। हे सर्व ! तुम्हारी शक्ति अनन्त है और बल अमित है, तुम सबके आधार हो और तुम ही स्वयं सब बन गये हो।' और भी श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

> खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
> ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
> सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
> यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
> (११।२।४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, दिशा, वृक्षादिक, समुद्र तथा प्राणिमात्रको श्रीभगवान्‌का शरीर मानकर भक्तको सबके लिये प्रणाम करना चाहिये।' यह अवस्था, सम्बन्ध अर्थात् भावकी अवस्थामें जानेकी तैयारीकी अवस्था है, जिसमें अहंता-ममताका त्याग और आत्मसमर्पण करना पड़ता है जो बहुत बड़ी अवस्था है।

इस अवस्थामें भिन्न-भिन्न साधकके भिन्न-भिन्न प्रकारकी अवस्था हो जाती है। वह अपने प्रियतमके मधुर रूपको ही सबमें और सर्वत्र देखता है और ऐसा देखकर प्रायः प्रेमोन्मत्त हो जाता है। किसी साधकका ऐसी अवस्थामें रोमाञ्च होना, चित्त प्रेमसे द्रवीभूत हो जाना, आनन्दका प्रेमाश्रु चलना जिनके कारण

अन्तःकरणके सब मल दूर हो जाते हैं। और कोई हँसता है, गाता है, रोता है और नाचता है। जैसा कि श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशयः॥
वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(११।१४।२३-२४)

'रोमाञ्च हुए बिना, चित्तके द्रवीभूत हुए बिना, आनन्दाश्रुओंका उद्रेक हुए बिना तथा भक्ति बिना अन्तःकरण कैसे शुद्ध हो सकता है? जिसकी वाणी गद्गद हो गयी हो, जिसका चित्त भावसे पिघल गया हो, जो कभी श्रीभगवान्‌की असीम दयाका प्रमाण जानकर और उनके स्वतन्त्र होनेपर भी भक्तके अधीन रहने आदि विषयोंको जानकर खूब हँसता है, और (जब वह समझता है कि मैं श्रीभगवान्‌की सेवासे वञ्चित हूँ अथवा चित्त उनके चरण-कमलसे चलायमान है तो) कभी रो भी देता है, और हृदयके भावोद्गारके कारण और लोगोंकी निन्दाकी परवा न कर, निर्लज्ज होकर चिल्लाकर श्रीभगवान्‌के अमृतमय यशको गाता है और (भावसे विह्वल होकर) नाचता है। ऐसा भक्तियुक्त मनुष्य इस लोकको पवित्र करता है।'

भावत्रितय

नवधा साधनामें अन्तिम त्रितय भाव-साधना अथवा भाव-भक्ति है जिसके कारण साधकका भाव अर्थात् सम्बन्ध अपने

श्रीउपास्यके साथ पक्की रीतिसे स्थापित हो जाता है अर्थात् उक्त भावके कारण साधक श्रीउपास्यदेवका हो जाता है और श्री-उपास्यदेव साधकके हो जाते हैं। जैसा कि मनुष्यमें यह भाव सदा वर्तमान रहता है कि मैं मनुष्य हूँ, पुत्र समझता है कि अमुक मेरा पिता है, स्त्री समझती है कि अमुक मेरा पुरुष है, नौकर समझता है कि अमुक मेरा मालिक है, इन सम्बन्धोंको याद रखनेकी अथवा दूसरोंद्वारा स्मरण दिलवाये जानेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि ऐसे-ऐसे भाव स्वभावतः पूर्णता और दृढ़तासे अन्तर्गत स्थायीरूपसे वर्तमान रहनेके कारण सदा वर्तमान रहते हैं और मन, शरीर, वाक्यसे जितने कर्म किये जाते हैं उनमें इनका प्रभाव वर्तमान रहता है। मनुष्य जब कोई कर्म करेगा तो साधारणतः मनुष्योचित ही कर्म करेगा अर्थात् मनुष्यके समान बोलेगा, भोजन करेगा, पीवेगा, चलेगा, वस्त्र धारण करेगा, गृहमें रहेगा, अपने और परिवारके भविष्यत् निर्वाहके लिये यत्न और संग्रह करेगा, कदापि पशुके समान नहीं, और कदापि उसके इन स्वाभाविक कार्योंकी प्रवृत्तिके लिये उसे स्मरण दिलानेकी आवश्यकता न होगी किन्तु उक्त स्वभाव उसमें स्वाभाविकरूपसे सदा वर्तमान रहेंगे। अन्य सांसारिक भावोंके विषयमें भी यही दशा है। इसी प्रकार इस अवस्थामें साधकमें श्रीउपास्यदेवके साथ जो उसका सम्बन्ध (भाव) है सदा-सर्वदा उसमें अनवरतरूपसे वर्तमान रहता है और उस भाव-से भाविक होकर ही वह मन, वचन, कर्मसे सब कर्म करता है। उसको उक्त भावको न स्मरण रखनेकी आवश्यकता होती है और

न दूसरे द्वारा स्मरण दिलवाये जानेकी, किन्तु वह भाव उसमें सदा-सर्वदा अष्टयाम सब कामोंके करते रहते भी स्वतः वर्तमान रहता है और वर्तमान रहकर तदनुसार कर्म करवाता है। ऐसे साधकका चित्तपट भक्तिभावसे ऐसा रञ्जित हो जाता है कि फिर उसमें दूसरा रंग चढ़ नहीं सकता है। जैसा कि यदि कोई महान् व्यक्ति किसीका बाँह पकड़कर उसको अपनाता है और उसकी रक्षाका प्रण करता है, तो वह उस सम्बन्ध और प्रणका कदापि त्याग नहीं करता और आश्रितमें भी सदा यह भाव वर्तमान रहता है कि अमुक मेरा रक्षक है और उसके कारण वह उसपर पूरा निर्भर रहता है और उसके प्रति उसकी श्रद्धा-भक्ति स्वाभाविक बनी रहती है। उसी प्रकार इस अवस्थामें साधकका अपने श्रीउपास्यसे सम्बन्ध हो जानेके कारण वह सम्बन्ध अटूट हो जाता है और थोड़े कालके लिये उसमें कोई विघ्न-बाधा क्यों न आ जाय, किन्तु उक्त सम्बन्धके कारण साधक श्रीउपास्यदेवसे बहिर्मुख कभी नहीं हो सकता है। यह भाव-सम्बन्धका प्रेम-सूत्र उपासकके हृदय और श्रीउपास्यदेवके चरणकमलके बीच रहकर दोनोंको एकत्र जोड़ता है और इसके द्वारा उपासककी सेवारूपी प्रेमोपहार श्रीउपास्यदेवके चरणकमलमें पहुँचता है और ऊपरसे श्रीउपास्यदेवकी कृपादृष्टिरूपी तेजपुञ्ज उपासकको लब्ध होता है। और भाव-भक्तिके अभ्यासके कारण जैसे-जैसे यह प्रेम-सूत्र श्रीउपास्यद्वारा खींचा जाता है, और उपासक इस आकर्षणका विरोध न कर उसमें अपनेको अर्पण करता है, वैसे-वैसे उपासक और श्रीउपास्य आपसमें समीप होते जाते हैं और अन्तमें एकत्र हो जाते

हैं । इस सूत्रमें स्वतः ऐसी आकर्षणशक्ति है कि वह दोनोंको एक दूसरेकी ओर खींचता रहता है और दोनोंको एकत्र कर ही डालता है । लिखा है—

कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्गसमन्वितम् ।
भक्तिर्वशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षिणी मता ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

'जो भक्ति श्रीकृष्णभगवान्‌को भी मुग्ध करके प्रियवर्गके साथ वशीभूत करती है वही श्रीकृष्णाकर्षिणी कही जाती है ।'

वे उपासक अवश्य धन्य हैं जिनके गलेमें यह सम्बन्धरूपी सूत्र पड़ गया है जिसके होनेपर उनके विचलित होनेका कोई भय नहीं रहता । यह प्रेम-सूत्र ही दैवी प्रकृति (गायत्री) का प्रकाश है जो उपासक और उपास्यमें सम्बन्ध स्थापित करता है ।

उपासक और श्रीउपास्यमें यह सम्बन्ध-भाव श्रीदैवी प्रकृति अर्थात् आह्लादिनी शक्तिके द्वारा स्थापित होनेके कारण शुद्ध आध्यात्मिक है और किसी प्रकार यह प्राकृतिक अथवा पार्थिव नहीं है । यह सम्बन्ध यथार्थमें जीवात्मा और परमात्माके बीच अनादि है किन्तु जीवात्माके मोह, अज्ञान और त्रिगुणमयी प्राकृतिक विकारमें फँसे रहनेके कारण यह सम्बन्ध शिथिल होकर महामोह और अविद्यान्धकारसे ऐसा आच्छादित रहता है कि इसके अस्तित्वका भी पता नहीं रहता । उपासनारूप अग्निके प्रज्वलित होनेपर उक्त अन्धकारका शमन होता है और तब यह सम्बन्ध जो पहलेसे भी वर्तमान था प्रकट हो जाता है और बोध होता है कि यह प्रथम बार स्थापित हुआ । यह भाव-सम्बन्ध न शारी-

रिक है, न सांसारिक है, न मानसिक है, किन्तु शुद्ध आध्यात्मिक है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। भक्तिरसामृतसिन्धुमें इस भावका यों वर्णन है—

> आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम्।
> स्वयम्प्रकाशरूपापि भासमाना प्रकाश्यवत्॥
> वस्तुतः स्वयमास्वादस्वरूपैव रतिस्त्वसौ।
> कृष्णादिकर्मकास्वादहेतुत्वं प्रतिपद्यते॥
> शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
> रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥
> प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते।
> सात्त्विकाः स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रुपुलकादयः॥

'शुद्ध सत्त्वविशेषरूपी रति, मनोवृत्तिसे उत्पन्न होकर, उसके साथ एकात्म प्राप्त होनेसे स्वप्रकाशरूप होकर समाधि-दशामें ब्रह्मसाक्षात्कारके समान मनोवृत्तिसे प्रकाशित भासमान होता है, यथार्थमें यह रति आस्वादस्वरूपा होकर श्रीभगवान्‌के माधुर्यादि भावके अनुभव करनेका क़ारण होती है। विशेष शुद्ध जिसकी आत्मा, प्रेम-सूर्य-किरण जिसमें प्रतिफलित हुआ, रुचि अर्थात् भगवत्सेवाभिलाषद्वारा चित्तके स्निग्धताकारिणी अवस्थाको भाव कहते हैं। प्रेमके प्रथम अवस्थाको ही भाव कहते हैं जिससे अश्रु-पुलकादि सात्त्विक भाव सबका थोड़ा-थोड़ा उदय होता है।'

जैसा कि पहले कहा जा चुका है भाव-भक्तिकी अवस्थामें उपासक श्रीउपास्यका हो जाता है और तबसे जो उपासक करता है वह केवल अपने श्रीउपास्यदेवके लिये ही, कदापि अपने स्वार्थके

लिये कुछ भी नहीं करता। जीवात्माका श्रीपरमात्माका अंश होनेके कारण यद्यपि दोनोंमें भाव-सम्बन्ध अनादि, आन्तरिक और आध्यात्मिक है जिसकी तुलना किसी सांसारिक भावमें नहीं हो सकती है और सांसारिक भावमें तुलना करनेसे इस उच्च भावका महत्त्व जाता रहेगा, तथापि कतिपय पवित्र सांसारिक भावमें इस भावकी तुलना की गयी है ताकि सांसारिक भावके दृष्टान्तसे साधकको इस उच्च सम्बन्ध-भावका किञ्चित् पता लगे कि यह क्या है? और इसका क्या स्वभाव है? और इसमें क्या कर्तव्य है? सांसारिक सम्बन्धका नाम रखकर इस उच्च भावको प्रकाशित करनेका केवल यही तात्पर्य है कि साधक सांसारिक दृष्टान्तके पवित्र भावका स्मरण रखकर अपनेमें तत्-सदृश शुद्ध सात्त्विक भाव श्रीउपास्यके प्रति उत्पन्न करे जो परिपक्व होकर सांसारिक भावसे अवश्य विलक्षण हो जायगा, क्योंकि आध्यात्मिक भाव किसी प्रकार सांसारिक सम्बन्धके द्वारा ठीक-ठीक प्रकाशित नहीं हो सकता है। अतएव इस उच्च आध्यात्मिक भावको केवल इङ्गितसमान न मान इसको सांसारिक सम्बन्धके समान मानना मानो उस भावको बिगाड़ना है और उसके पवित्र अभ्याससे वञ्चित होना है, किन्तु सांसारिक सम्बन्धके पवित्र रूपको केवल संज्ञा और शैलीमात्र प्राथमिक अवस्थामें समझना चाहिये और अधिक कुछ नहीं। शोक है कि आजकल बहुत लोग इस आध्यात्मिक भाव-सम्बन्धके गूढ़ रहस्यको नहीं जानते और इसको सांसारिक सम्बन्धके समान जानकर व्यवहारमें भी उसी प्रकार वर्ताव करते हैं जिसके कारण इस भावके तत्त्व

और मर्मसे जानकारी नहीं होती । इस भावका भी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक स्वरूप है। जिस प्रकारसे इस भावसम्बन्धका यहाँ वर्णन है वह इसका यथार्थ रूप आध्यात्मिक भाव है। यह भाव सांसारिक भावमें एकदम परिणत नहीं हो सकता है। सांसारिक भाव केवल इसका द्योतक (बतानेवाला) है, क्योंकि यह यथार्थमें सांसारिक सब भाव-सम्बन्धोंसे विलक्षण है। यथार्थमें यह भाव-सम्बन्ध प्रेम और स्नेहरूप है, जो जीवात्मामें अपने श्रीउपास्यके प्रति स्वाभाविक है किन्तु हमलोगोंमें वह मलिन वासना और अज्ञानान्धकारके कारण ढपा हुआ रहता है और साधन-उपासनारूप अग्निके प्रज्वलित होनेसे फिर भासमान हो जाता है जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। इस अवस्थामें यह प्रेमांकुर भावमय अर्थात् रसमय हो जाता है और उपासक उस प्रेम-रससे ऐसा प्लावित और रञ्जित हो जाता है कि उसके सामने उसे अन्य सब सांसारिक रस फीके मालूम पड़ते हैं और उसका केवल एकमात्र उद्देश्य यही रहता है कि अपने प्राणप्रिय प्रियतम श्रीउपास्यदेवके प्रीत्यर्थ प्रेमाग्निमें अपने आपको आहुति देकर महाप्रेमयज्ञका सम्पादन करें। इस अवस्थामें जो कुछ उपासक करता, बोलता, सोचता, निश्चय करता, वह सब प्रेमके कारण केवल अपने प्रियतम श्रीउपास्यदेवकी तुष्टिके निमित्त ही करता, किसी अन्य उद्देश्यसे नहीं। यही इस भावसम्बन्धका यथार्थ तात्पर्य है। तीन भाव मुख्य हैं। १ दासभाव, २ सख्यभाव और ३ आत्मनिवेदनभाव।

दासभाव

तीन भावोंमें प्रथम भाव और साधनोंमें सप्तम साधन दास-भाव है। शान्तभाव भी इसीके अन्तर्गत है। यह दासभाव सर्व-प्रथम होनेके कारण सब भावोंकी जड़ अर्थात् भित्ति है जिसके बिना किसी अन्य भावकी प्राप्ति असम्भव है। श्रीउपास्यदेवकी निरन्तर सेवा और उनके प्रीत्यर्थ कर्म इस भावका मुख्य कर्तव्य है। इसकी भी तीन अवस्थाएँ हैं अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। श्रीउपास्यदेवकी सेवा सांसारिक फलकामनाके लिये करना आधिभौतिक है, मोक्षके लिये करना आधिदैविक है और प्रेमसे प्रेरित और स्वार्थरहित होकर केवल श्रीउपास्यदेवके प्रीत्यर्थ इस सेवा-धर्मका पालन करना और उसके निमित्त अपने स्वार्थ और सुखको सहर्ष त्यागकर अपने ऊपर प्रसन्नतासे कष्ट लेना और उस कष्टको ही परम सुख मानना और उसमें ही सुखका अनुभव कर प्रसन्न रहना आध्यात्मिक दासभाव है। यहाँपर इसी भावसे तात्पर्य है। सांसारिक मालिक-नौकरका भाव इस उच्च दास-भावका द्योतक नहीं हो सकता। संसारमें नौकर मालिककी सेवा उससे कुछ पानेके लिये ही करता है और वह जब चाहे तब उक्त वृत्तिका त्याग कर सकता है अथवा अन्य मालिकके यहाँ जा सकता है किन्तु दासभावमें केवल प्रेमके कारण सेवा की जाती है और न बदलेमें कुछ पानेकी आशा रहती है और न यह सम्बन्ध कभी टूट सकता है। संसारमें जो क्रीत (खरीदे हुए) दासकी कभी प्रथा थी उससे भी इसकी तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि क्रीतदास परवश होकर सेवावृत्ति करता है, किन्तु यहाँ सेवक अपनी प्रसन्नतासे

स्वयं इस सेवाधर्ममें प्रवृत्त होता है, उसपर कोई दवाव नहीं रहता। हाँ, संसारमें यदि कोई ऐसा सेवक हो जो किसी व्यक्तिके प्रति उसके सद्गुण और पवित्र चरित्रसे आकर्षित होकर विना किसी फलकी आशाके उसकी सेवामें प्रवृत्त हो और उसको अपना सर्वस्व मानता हो और जन्म-जन्मान्तरके लिये अपनेको उसकी सेवाके निमित्त समर्पित किया हो, तो यह किसी प्रकार किञ्चित् अंशमें इस सेवा-धर्मका उदाहरण हो सकता है। इस भावमें उपासक अपने श्रीउपास्यमें अनन्य और ऐकान्तिक भाव रखता है और जब उसको यह बोध होता है कि अमुक कार्य अपने श्रीउपास्यके प्रीत्यर्थ उसे अवश्य कर्तव्य है तो वह उस कार्यके करनेकी चेष्टा सामर्थ्यानुसार अवश्य करता है, यद्यपि वह कार्य उसके लिये कष्ट-दायक क्यों न हो। ऐसा उपासक श्रीउपास्यदेवकी तुष्टिके लिये सांसारिक परोपकारी कामोंको निष्काम सेवाकी भाँति अवश्य करता है। वह विशेषकर ज्ञान-भक्तिके प्रचारके कार्योंमें प्रवृत्त रहता है जिसको अपने सेवा-धर्मका मुख्य अंग मानता है। श्रीमद्भागवत पुराणमें लिखा है—

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः।
यो भूतशोकहर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति॥
अहो दैन्यमहो कष्टं पारक्यैः क्षणभङ्गुरैः।
यन्नोपकुर्यादस्वार्थैर्मर्त्यः स्वज्ञातिविग्रहैः॥
(६।१०।९-१०)

'इस कारण प्राणियोंको दुःख प्राप्त होनेपर जिसको आप भी दुःख होता है और प्राणियोंको हर्ष होनेपर जिसको हर्ष होता है,

ऐसे पुरुषका धर्म ही अक्षय धर्म है, क्योंकि धर्मशील पुरुषोंने उसी धर्मका सेवन किया है। अहो ! जो तिलमात्र भी अपने कार्यमें नहीं आते, जिनको काक, श्वान खा डालेंगे और जिनका एक क्षणका भी भरोसा नहीं है, ऐसे धन, पुत्रादिक, बान्धव और शरीरके द्वारा यदि मरणधर्मा प्राणी किसीका भी सेवा-उपकार न करे तो बड़ी दीनता और दुःखकी बात है।' और भी वहाँ ही—

> शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः।
> साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम् ॥
> स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम्।
> मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः ॥

'अब विशेष करके पर्वतरूप और वृक्षरूप हुई पृथिवीसे सीखे हुए गुण कहते हैं कि जैसे पर्वतपरके वृक्ष, तृण, झरने आदि सब पदार्थ परोपकारके निमित्त ही होते हैं और उनका जन्म भी केवल परार्थसाधनके निमित्त ही होता है तैसे ही अपने सब व्यवहार और जन्म केवल परोपकारहीके लिये हों, ऐसा साधु पुरुष पर्वतसे सीखे और वृक्षोंका शिष्य होकर उनसे परमात्मता सीखे अर्थात् जैसे वृक्ष, दूसरे द्वारा तोड़े अथवा उखाड़े जानेपर उसका उपकार ही करता है वैसे ही अपनेको कोई मारे अथवा घसीटे, तो भी उसका उपकार ही करे।'

स्मरण रहे कि केवल अपनेको दास माननेसे इस भावकी पूर्ति हो नहीं सकती, जैसा कि आजकल प्रायः देखा जाता है। इस भावके भाविक अष्टयाम अपने दास-धर्मके पालनमें प्रवृत्त रहते हैं, कदापि गाफिल नहीं रहते, और यदि कभी बहिर्मुख होकर गाफिल

हो जाते, तो उसके कारण बड़ा कष्ट बोध करते और दुःखित होते हैं। उनको तो श्रीउपास्यके निमित्त मन, वचन और शरीर-से कर्म करते रहनेहीमें प्रसन्नता होती है और उनकी बुद्धि सदा श्रीउपास्यदेवके चरणकमलके मकरन्दके रसास्वादनमें प्रवृत्त रहती है और वे बाह्य और अन्तर दोनोंसे उनकी सेवारूपी कर्ममें प्रवृत्त रहते हैं।

इस भावके आदर्श भक्त श्रीहनुमान्‌जी हैं और उन्होंने जिस भावसे अपने स्वामी श्रीरघुनाथजीकी सेवा की, उसपर विचारनेसे इस भावका किञ्चित् ज्ञान होगा। श्रीहनुमान्‌जीका वाक्य है—

भवबन्धच्छिदे तस्यै स्पृहयामि न मुक्तये।
भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते॥

'हे नाथ! जिससे आप मेरे स्वामी और मैं दास यह सम्बन्ध छूट जाय, उस भव-बन्धन-छेदनकारी मोक्षकी भी मुझे स्पृहा नहीं है।' इस भावका मुख्य चिह्न यह है कि उपासकके श्रीउपास्य ही सर्वस्व हो जाते हैं और मन, वाणी और शरीर सदा सर्वदा अनन्यभावसे उन्हींमें और उन्हींके निमित्त सेवा-धर्मके करनेमें प्रवृत्त रहते हैं, कदापि स्वभावतः ही उनकी प्रवृत्ति अन्यत्र नहीं होती। श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्
मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

(३।२५।३४)

यो दुस्त्यजान् क्षितिसुतस्वजनार्थदारान्
प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम् ।
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्-
सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ॥
(५ । १४ । ४४)

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम् ॥
(९ । ४ । ६७)

'कपिलदेवजीने कहा कि हे माता ! कोई ऐसे मेरे भक्त हैं जो मेरी चरण-सेवाके सिवा दूसरे किसी विषयमें आसक्ति नहीं करते, और मेरे निमित्त सब कर्मोंको करते हैं; वे मेरे साथ ऐकात्म्य होना नहीं चाहते हैं । वे भक्तजन एकत्र होकर मेरे यशका कीर्तन किया करते हैं । हे राजन् ! जिन राजा भरतने, जिसका त्यागना कठिन है ऐसी पृथ्वी, पुत्र, स्वजन, द्रव्य, स्त्री और देवता भी जिसकी प्रार्थना करें तथा अपने ऊपर भरतजीकी कृपा होनेकी बाट देखनेवाली, ऐसी लक्ष्मीको भी उन्होंने कुछ इच्छा नहीं की, यह सब उनके योग्य ही था, क्योंकि मधुसूदन श्रीभगवान्‌की सेवा करनेमें जिनके अन्तःकरण आसक्त हैं उन महात्मा पुरुषोंको मोक्ष भी तुच्छ प्रतीत होता है, फिर अन्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या ?'

'श्रीभगवान्‌ने दुर्वासाजीसे कहा कि हे मुने ! मेरी सेवामें अनुरक्त दास सालोक्यादि चार प्रकारकी मुक्तिकी भी इच्छा नहीं करते, केवल मेरी सेवासे ही परितृप्त रहते हैं, ऐसी अवस्थामें वे कालसे नाश होनेवाली वस्तुको कैसे चाहेंगे ?'

अपने श्रीउपास्यदेवसे स्वार्थसम्बन्धी किसी भी वस्तुके पानेकी नहीं इच्छा करना, यहाँतक कि मोक्षके भी दिये जानेपर उसका भी त्याग करना, केवल सदा सर्वदा श्रीचरणकमलमें लवलीन रहकर और अपने सुखको भी त्यागकर और अपने ऊपर कष्ट उठाकर भी केवल सेवा करते रहना यही इस अवस्थाका मुख्य भाव है।

श्रीहनुमान्‌जीको अयोध्यासे चलनेके समय विदाईमें जब अमूल्य रत्नका हार दिया गया तब वे उसके दानोंको तोड़कर और देखकर फेंकने लगे। इसका कारण पूछनेपर उन्होंने कहा कि मैं इसमें देखता हूँ कि श्रीरामनाम इसके भीतर है या नहीं, क्योंकि जिस वस्तुको श्रीरामजी और उनके पवित्र नामसे सम्बन्ध नहीं है वह मेरे किसी कामका नहीं है और यतः इसमें श्रीरामनाम नहीं है, अतएव मैं इसको फेंक रहा हूँ। इसपर उनसे पूछे जानेपर कि क्या आपके शरीरमें भी श्रीरामनाम है? जिसके निमित्त आप उसकी धारणा करते हैं और त्याग नहीं करते हैं। श्रीहनुमान्‌जीने अपने हृदयको चीरकर दिखला दिया और वह श्रीरामनामाङ्कित पाया गया। तात्पर्य कहनेका यह है कि इस भावमें उपासकका सब कुछ श्रीउपास्यदेवके निमित्त समर्पित हो जाता है और वह ऐसा तन्मय हो जाता है कि उसका शरीर, वाणी, मन, क्रिया, सबके सब तल्लीन रहते हैं और समर्पित रहते हैं। देखा गया है कि भक्त जापक साधुके मृत शरीरकी हड्डियाँ श्रीभगवन्नामोंसे अंकित रहती हैं। भावुक दास कदापि किसी ऐसे कार्यमें नहीं प्रवृत्त होगा जो उसके

श्रीउपास्यके प्रीत्यर्थ न हो; किन्तु वह सदा सर्वदा उनकी सेवाही-में प्रवृत्त रहेगा, जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है। यह दास-भाव भी रसमय है जिसके रसास्वादनसे उन्नत उपासक तृप्त रहता है किन्तु रसास्वादनसे तृप्ति पानी इस भावका कदापि उद्देश्य नहीं है। यह भाव ऐसा रसमय है कि सेवा करनेमें जो कुछ वाह्यदृष्टिसे असुविधा और कष्ट होते हैं और उसके निमित्त जो त्याग करना पड़ता है उससे भी उपासकको सुख और तृप्ति हीं वोध होती है और वह भी उसकी प्रसन्नताका कारण होता है। केवल प्रेमके कारण ही दासभावमें प्रवृत्ति होती है। इसमें सर्वस्व-त्याग और समर्पण ही मुख्य है और उसके वदलेमें कुछ पाना नहीं है—केवल उद्देश्य यही है कि श्रीउपास्यकी परितुष्टि हो और इसी परितुष्टिकी भावनासे वह स्वयं तृप्त रहता है। यद्यपि श्रीउपास्यदेव सदा संतुष्ट ही रहते हैं और उनको कोई अभाव नहीं है, तथापि भक्तकी तृप्तिके लिये वे सेवा सहर्ष ग्रहण करते हैं; जिससे उसके द्वारा दोनोंमें सम्बन्ध दृढ़ हो। स्मरण रहे कि ज्ञान-कर्म-भक्तिका प्रचाररूप परोपकारी सेवाकार्य श्रीउपास्यदेव-के प्रीत्यर्थ सम्पादन करना इस भावके सेवकके लिये अत्यन्ता-वश्यक है जो श्रीउपास्यदेवकी यथार्थ सेवा है, यदि निष्काम-भावसे की जाय। पूज्यपाद श्रीव्रजगोपिकाओंने भी अपनेको 'अशुल्क दासिका' कहकर परिचय दिया अर्थात् विना मुशाहरे-की दासी अपनेको वताया। श्रीमद्भागवत पुराणके दशवें स्कन्धमें इस विषयमें गोपीवचन यों है—

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥
वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्री-
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः ॥
(२९ । ३८-३९)

व्रजजनार्तिहन्वीर योषितां
निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो
जलरुहाननं चारु दर्शय ॥
(३१ । ६)

'हे दुःखनाशक, सुन्दरताके समुद्र ! तुम्हारी सेवा करनेकी आशा रखनेवाली हम, पतिपुत्रादिसहित अपने घरोंको त्यागकर, योगियोंके ही समान, तुम्हारे चरणोंके समीपमें प्राप्त हुई हैं, जिससे तुम्हारी सुन्दर और मन्द हास्यसे शोभायमान छटा-को देखनेसे उत्पन्न हुआ जो तीव्रप्रेम, उससे जिनके चित्त तप रहे हैं ऐसी हम सबोंपर तुम प्रसन्न होओ और अपना दासभाव दो । जिसमें कुण्डलकी कान्तिसे झूलनेवाले कपोल हैं, अधरोष्ठमें अमृत है और हास्यसहित अवलोकन है ऐसे तुम्हारे घुँघराले केशोंसे कुछ-कुछ ढके हुए मुखको देखकर और जिन्होंने भक्तों-को संसारसे अभय दिया है ऐसे तुम्हारे दोनों भुजदण्डोंको देखकर

वैसे ही लक्ष्मीके अद्वितीय प्रीतिकारक तुम्हारे वक्षःस्थलको देखकर हम तुम्हारी दासी ही होना चाहती हैं। हे वीर! तुम गोकुल-वासियोंकी सकल पीड़ाओंको दूर करनेवाले हो और तुम्हारा हास्य भक्तोंके गर्वको नष्ट करनेवाला है, इस कारण हे प्राणोंके सखा! निःसन्देह हमें तुम अपनी निष्काम दासी स्वीकार करो और हम स्त्रियोंको अपना कमलके समान सुन्दर मुख दिखाओ'। यह भाव सब भावोंका मूल होनेके कारण इसका अभाव कभी नहीं होता और यह अन्य भावोंमें भी वर्तमान रहता और यों कहना चाहिये कि अन्य भाव भी इसके रूपान्तर हैं। यह दासभाव ही है जो अहंकारके विकारको नाश कर सकता है, क्योंकि दास अपने स्वामीके लिये सब प्रकारका कार्य, छोटा-बड़ा, सुखद-दुःखद करता है और आवश्यक होनेपर सांसारिक दृष्टिसे जो नीच काम समझा जाता है उसको भी वह बड़ी प्रसन्नतासे करता है। उसकी दृष्टिमें जो कार्य्य उसके प्राणप्रिय श्रीउपास्यदेवके निमित्त आवश्यक है वही उत्तम और उच्च है, किन्तु सांसारिक दृष्टिमें जो उच्च कार्य समझा जाता है वह यदि उसके श्रीउपास्यके समर्पण करनेयोग्य न हो, तो उस कार्यको वह हेय समझता है और उसकी ओर उसकी कदापि प्रवृत्ति नहीं होती।

पितृभाव और मातृभाव भी इस दासभावके ही अन्तर्गत है। जैसा कि दासभावमें भी श्रीउपास्यके प्रति शुद्ध सात्त्विक और अहैतुक प्रेम स्वाभाविक है, जो कि यथार्थमें जीवात्मारूपी उपासकके परमात्मारूपी श्रीउपास्यदेवके अनादिस्वरूप सम्बन्धके

कारण है, उसी प्रकार पितृभाव और मातृभावकी भक्ति भी स्वाभाविक है। जैसा कि सन्तानके प्रौढ़ होनेपर भी अपने मातापितामें भक्ति रखना और उनकी तुष्टिके लिये सेवा करना स्वाभाविक है, क्योंकि वे सन्तानको बाल्यावस्थामें अपने ऊपर अनेक कष्ट सहकर पालनपोषण ही नहीं करते किन्तु रक्षा भी करते हैं। किन्तु सन्तानकी भक्तिका मुख्य कारण मातापिता-का जन्मदाता होनेके कारण है और यह भाव स्वाभाविक है। यहाँ भी एकात्मता भाव है, क्योंकि लिखा है 'आत्मा वै जायते पुत्रः' अर्थात् पितामाताहीका अंश सन्तान है। उसी प्रकार श्रीउपास्यदेवको मातापिता जानकर उनमें भक्तिभाव करना भी स्वाभाविक है। यह भी दासभावकी भाँति निष्काम और अहैतुकी भक्ति है। श्रीउपास्यको जगत्पिता मान उनके चरण-कमलोंमें चित्त संलग्न करना और उनके प्रीत्यर्थ उनकी सेवामें सदा प्रवृत्त रहना उत्तम भावसाधना है। कोई साधक श्रीउपास्य-देवके साथ ऐसा प्रेम और स्नेह करते हैं जैसा कि पिता सन्तानके प्रति करता है। इस भावमें श्रीउपास्यदेवकी उपासना बाल-रूपमें की जाती है किन्तु पिता-माताके समान स्नेह रखनेपर भी श्रीउपास्यदेव परम प्रेम-पात्र, परम श्रद्धाभाजन, परम श्रेष्ठ, परम आदरणीय समझे जाते हैं।

शक्ति-उपासनामें श्रीउपास्यदेवीको माँ समझ करके उपासना करना परम उच्च भाव है और इसमें प्रेमके संचार होनेमें भी बड़ी सुगमता है। सन्तानके निमित्त पिताकी अपेक्षा माता अधिक कष्ट सहती है जिसके कारण यह निर्विवाद है कि कितनी ही सेवा

करनेपर भी सन्तान माताके ऋणसे मुक्त नहीं हो सकती। पिता कदापि सन्तानके प्रति असंतुष्ट हो सकता है किन्तु माताका स्नेह ऐसा प्रगाढ़ और स्थायी होता है कि वह सन्तानसे अनेक अपराध होनेपर भी अपने प्रेमको नहीं त्यागती और कदापि अनिष्ट चिन्ता नहीं करती। लिखा है 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति' अर्थात् पुत्र खराब व्यवहार माताके प्रति कर सकता है किन्तु कदापि माता सन्तानके प्रति कुव्यवहार नहीं कर सकती। यथार्थमें यही दशा करुणावरुणालय जगन्माता श्रीपरमेश्वरी और जगत्पिता श्रीपरमेश्वरकी अपनी सांसारिक सन्तानके प्रति है। हमलोग उनके प्रति हजारों अपराध जानकर भी करते हैं किन्तु इतनेपर भी उनकी दया ऐसी असीम है कि वे हमलोगोंके कल्याण करनेमें सदा प्रवृत्त रहते हैं और ठीक माताकी भाँति हमलोगोंकी रक्षा करते हैं। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके रामचरितमानसका श्रीमुखवचन है—

सुनु मुनि! तोहि कहौं सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करौं सदा तिनकी रखवारी। जिमि बालकहिं राखु महतारी॥

मातृभावसे उपासना करना बड़ा ही उत्तम भाव है और इस भावका उपासक यदि शुद्ध हृदयसे बालकके समान कातरोक्तिसे रोदन करके अपनी जगन्माताके प्रति प्रेमसे अपने हृदयोद्गारको प्रेषण करेगा और विनय करेगा कि हे मातः! मुझ बालकको भववारिधिमें डूबनेसे रक्षा करो और अपने चरणकमलका आश्रय प्रदान करो, तो ऐसा निष्कपट और शुद्ध करुण-रोदनके कारण अवश्य जगन्माताकी कृपा उसपर होगी। संसारमें सबोंके हृदयमें,

यहाँतक कि पशु-पक्षियोंमें भी, मातृपितृ-प्रेम और उनकी सेवाका भाव स्वाभाविकरूपसे वर्तमान है। भगवान् श्रीरघुनाथजी, श्रीभीष्मपितामह, श्रमण ऋषि (श्रवण), राजा पुरु आदि इसके सुप्रसिद्ध दृष्टान्त हैं जिनमें श्रवण ऋषिका अपनी स्त्रीको त्यागकर अपने पिता-माताको कन्धेपर चढ़ाकर तीर्थाटन कराना तीनों कालके लिये परमोज्ज्वल उदाहरण है। मातृ-प्रेमके भावमें जो त्याग किया जाय और कष्ट सहा जाय वह सब यथेष्ट हो नहीं सकता, क्योंकि सन्तानके निमित्त जो माता अपने शुद्ध स्नेह और प्रेमके कारण कष्ट झेलती है, वह अवर्णनीय है और उस मातृ-ऋणसे सन्तान कितनी ही सेवा करनेपर भी मुक्त नहीं हो सकती है जैसा कहा जा चुका है। आजकल भी ऐसी अनेक माता हैं जो अपनी सन्तानकी प्राण बचानेके लिये अपने प्राणोंको भी बड़ी प्रसन्नतासे त्याग करेंगी, यदि वही आवश्यक होवे। सिवा माताके किसी अन्य सम्बन्धमें ऐसा प्रबल त्यागका भाव नहीं देखनेमें आता, अतएव मातृभाव परम पूजनीय, आदरणीय और उपास्य है। इस विश्वकी सृष्टि-स्थितिका ज्ञान होनेसे पता लगेगा कि प्राणियोंका, विशेषकर मनुष्यका उद्भव, पालन आदिमें जो श्रीभगवान् और दयामयी उनकी शक्तिको जो, हमलोगोंकी दृष्टिसे, त्याग, कष्ट करना पड़ा है और पड़ रहा है वह अवर्णनीय है और माता-पिताके कष्ट और त्यागसे लाखगुणा अधिक है। हमलोगोंके माता-पिता भी उन्हींकी शक्तिसे जन्म देते और पालन करते हैं। इस प्रकार हमलोगोंके यथार्थ परमपिता और माता, श्रीभगवान् और उनकी जगज्जननी शक्ति ही हैं जिनसे हमलोग कदापि उऋण नहीं हो सकते। उनके ऋणका

संशोधन यही है कि हमलोग उनकी निष्काम भक्तिद्वारा भव-बन्धनसे मुक्त होकर उनको प्राप्त करें जिससे परमशान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होगी। मातृभावसे श्रीउपास्यकी भक्ति और सेवा करना सहज और स्वाभाविक है और इसमें प्रेम-भक्तिके शीघ्र उत्पन्न होनेकी पूरी सम्भावना है, यदि निःस्वार्थ होकर किया जाय। कलियुगमें भी महात्मा श्रीरामकृष्ण परमहंसजी और उनके पूर्व श्रीरामप्रसादजी आदि इस मातृभावकी उपासनाद्वारा सिद्ध हो गये और उन्होंने उसके द्वारा श्रीजगन्माताकी परम कृपाको लाभ किया। किन्तु इस उपासनामें यदि किञ्चिन्मात्र भी किसी प्रकारकी स्वार्थकामना आवेगी, तो वह शुद्ध मातृ-भावकी शुद्ध सात्त्विक उपासना नहीं रहेगी किन्तु वह देने-लेनेकी भाँति व्यवहार हो जायगी। शक्ति-उपासनाके साथ किसी प्रकारकी स्वार्थकामना संनिवेशित कर देनेसे शुद्ध भक्तिका लाभ नहीं होता। मातृभावसे उपासना करना बहुत उच्च और स्वाभाविक भाव है और इसमें उन्नति शीघ्र हो सकती है, यदि उपयुक्त साधक हो। श्रीजगन्माताकी प्रसन्नता प्राप्त करना सब साधकोंके लिये परमावश्यक है, क्योंकि बिना उनकी कृपाकटाक्षके जगत्पितासे सम्बन्ध हो नहीं सकता जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है।

श्रीगौरीशङ्कर, श्रीलक्ष्मीनारायण आदि युगल मूर्तियोंको जग-न्माता और जगत्पिताके भावसे उपासना और सेवा करना उत्तम भाव है और यथार्थमें जगन्माता श्रीगायत्री, श्रीपार्वती और श्रीलक्ष्मीकी कृपा प्रथम लाभ करनेसे ही और उनके पवित्र प्रकाशके आश्रयमें आनेपर ही परमपितासे सम्बन्ध होता है,

अन्यथा नहीं; जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। अतएव अपने-अपने इष्टकी शक्ति (गायत्री) को जगन्माता मानकर उपासना और सेवा करना सब साधकोंके लिये परमावश्यक है और यह दासभावके अन्तर्गत है। श्रीउपास्यदेवकी भी मातृभावसे उपासना की जाती है। गीताका वचन है—'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।' श्रीभगवान् कहते हैं कि इस जगत्‌का पिता, माता, पालन करनेवाला और सृष्टिकर्ता ब्रह्माका भी पिता मैं हूँ।

इस मातृभावकी उपासनामें मुख्य यह है कि साधकका आन्तरिक भाव बालकके समान हो अर्थात् शुद्ध निर्मल, सत्यमय और अहङ्काररहित हो। जैसा कि निर्बोध बालक पूरा-पूरा अपनी मातापर निर्भर रहता है और उन्हींको कर्त्ता, धर्त्ता और सर्वस्व समझता है और उसकी आज्ञाका पालन करना स्वाभाविक भाव हो जाता है अर्थात् उनकी आज्ञाके पालनमें ही उसे प्रसन्नता होती है, वैसी ही दशा इस भावके भाविककी होनी चाहिये। ऐसा भाविक अपनेको सदा-सर्वदा श्रीजगन्माता उपास्यदेवीकी गोदमें प्रविष्ट समझता है और उनके प्रगाढ़ स्नेहका अनुभव पाकर सदा-सर्वदा उनके चरणकी सेवामें प्रवृत्त रहता है।

इस दासभावके साधक भी पूजा-अर्चाद्वारा श्रीउपास्यकी सेवा करते हैं, किन्तु उक्त सेवा विशेष प्रेम-भावसे प्रेरित होकर किये जानेके कारण उसके द्वारा अवश्य जगत्‌का विशेष उपकार होता है जो भक्तिमार्गका मुख्य लक्ष्य है। लिखा है—

येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि ज...
रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जङ्गमाः स्थाव...

जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्यान्मतिरीदृशी।
दासोऽहं वासुदेवस्य सर्वाँल्लोकान् समुद्धरेत्॥
(इतिहाससमुच्चय)

कर्म स्वाभाविकं भद्रं जपध्यानार्चनादि च।
इतीदं द्विविधं कृष्णे वैष्णवैर्दास्यमर्पितम्॥
(स्कन्दपुराण)

लौकिकी वैदिकी वापि या क्रिया क्रियते मुने।
हरिसेवानुकूलैव सा कार्या भक्तिमिच्छता॥
(नारदपाञ्चरात्र)

'जिस व्यक्तिने श्रीभगवान्की अर्चना की है उसने सम्पूर्ण संसारको परितृप्त किया, यहाँतक कि उसके द्वारा स्थावर, जङ्गम आदि भी तृप्त हो जाते हैं। हजारों जन्मके बाद भी जिसमें ऐसी दृढ़ बुद्धि आ जाती है कि मैं श्रीभगवान्का दास हूँ, तो वह सब लोकोंके उद्धारका करनेवाला होता है। वर्णाश्रमधर्म जो स्वाभाविक मङ्गलजनक है और जप, ध्यान, अर्चन आदि जो कर्म हैं वे भी मङ्गलजनक हैं; इसलिये वैष्णव दास उक्त दोनों प्रकारके कार्योंको श्रीभगवान्के निमित्त कर उनमें समर्पित करते हैं। हे मुने! मनुष्यगण लौकिक और वैदिक जो सब क्रियाओंका अनुष्ठान करते हैं, साधक भक्त वे सब क्रियाएँ, जिसमें श्रीभगवान्के निमित्त किये जाकर उनमें समर्पित हों, वैसा ही करते हैं।'

दासभावके भाविक श्रीउपास्यके प्रेमसे प्रेरित होकर सदा-सर्वदा उनके निमित्त ही कार्य करनेमें प्रवृत्त रहते हैं और परोपकारी कामोंका सम्पादन करना उनके लिये सेवाका मुख्य अङ्ग है। दास श्रीउपास्यके यश, कथा, गुण, माहात्म्य आदिका गान,

अन्यथा नहीं; जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। अतएव अपने-अपने इष्टकी शक्ति (गायत्री) को जगन्माता मानकर उपासना और सेवा करना सब साधकोंके लिये परमावश्यक है और यह दासभावके अन्तर्गत है। श्रीउपास्यदेवकी भी मातृभावसे उपासना की जाती है। गीताका वचन है—'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।' श्रीभगवान् कहते हैं कि इस जगत्का पिता, माता, पालन करनेवाला और सृष्टिकर्ता ब्रह्माका भी पिता मैं हूँ।

इस मातृभावकी उपासनामें मुख्य यह है कि साधकका आन्तरिक भाव बालकके समान हो अर्थात् शुद्ध निर्मल, सत्यमय और अहङ्काररहित हो। जैसा कि निर्बोध बालक पूरा-पूरा अपनी मातापर निर्भर रहता है और उन्हींको कर्त्ता, धर्त्ता और सर्वस्व समझता है और उसकी आज्ञाका पालन करना स्वाभाविक भाव हो जाता है अर्थात् उनकी आज्ञाके पालनमें ही उसे प्रसन्नता होती है, वैसी ही दशा इस भावके भाविककी होनी चाहिये। ऐसा भाविक अपनेको सदा-सर्वदा श्रीजगन्माता उपास्यदेवीकी गोदमें प्रविष्ट समझता है और उनके प्रगाढ़ स्नेहका अनुभव पाकर सदा-सर्वदा उनके चरणकी सेवामें प्रवृत्त रहता है।

इस दासभावके साधक भी पूजा-अर्चाद्वारा श्रीउपास्यकी सेवा करते हैं, किन्तु उक्त सेवा विशेष प्रेम-भावसे प्रेरित होकर किये जानेके कारण उसके द्वारा अवश्य जगत्का विशेष उपकार होता है जो भक्तिमार्गका मुख्य लक्ष्य है। लिखा है—

> येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि।
> रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जङ्गमाः स्थावरा अपि॥
> (पद्मपुराण)

जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्यान्मतिरीदृशी।
दासोऽहं वासुदेवस्य सर्वाँल्लोकान् समुद्धरेत्॥
(इतिहाससमुच्चय)

कर्म स्वाभाविकं भद्रं जपध्यानार्चनादि च।
इतीदं द्विविधं कृष्णे वैष्णवैर्दास्यमर्पितम्॥
(स्कन्दपुराण)

लौकिकी वैदिकी वापि या क्रिया क्रियते मुने।
हरिसेवानुकूलैव सा कार्या भक्तिमिच्छता॥
(नारदपाञ्चरात्र)

'जिस व्यक्तिने श्रीभगवान्‌की अर्चना की है उसने सम्पूर्ण संसारको परितृप्त किया, यहाँतक कि उसके द्वारा स्थावर, जङ्गम आदि भी तृप्त हो जाते हैं। हजारों जन्मके बाद भी जिसमें ऐसी दृढ़ बुद्धि आ जाती है कि मैं श्रीभगवान्‌का दास हूँ, तो वह सब लोकोंके उद्धारका करनेवाला होता है। वर्णाश्रमधर्म जो स्वाभाविक मङ्गलजनक है और जप, ध्यान, अर्चन आदि जो कर्म हैं वे भी मङ्गलजनक हैं; इसलिये वैष्णव दास उक्त दोनों प्रकारके कार्योंको श्रीभगवान्‌के निमित्त कर उनमें समर्पित करते हैं। हे मुने! मनुष्यगण लौकिक और वैदिक जो सब क्रियाओंका अनुष्ठान करते हैं, साधक भक्त वे सब क्रियाएँ, जिसमें श्रीभगवान्‌के निमित्त किये जाकर उनमें समर्पित हों, वैसा ही करते हैं।'

दासभावके भाविक श्रीउपास्यके प्रेमसे प्रेरित होकर सदा-सर्वदा उनके निमित्त ही कार्य करनेमें प्रवृत्त रहते हैं और परोपकारी कामोंका सम्पादन करना उनके लिये सेवाका मुख्य अङ्ग है। दास श्रीउपास्यके यश, कथा, गुण, माहात्म्य आदिका गान,

कथन और उपदेश करके लोकमें भक्ति-भावका प्रचार अवश्य करते हैं और इस प्रकार उनकी सेवा करते हैं। ऐसे भक्तोंके मुखसे निकले प्रेमपूरित गान, कथा और उपदेशका विशेष प्रभाव श्रोताओंपर पड़ता है, क्योंकि उनके वाक्य भाव-परिप्लुत रहनेके कारण श्रोताके हृदयको विशेष आकर्षित करते हैं। श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता-
मनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः
प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुचिः॥
इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरे-
र्विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम्।
सङ्कीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभि-
र्भक्तिः प्रवृत्तात्मरजस्तमोपहा॥
(१।५।२६, २८)

श्रीनारदजीने कहा—'हे सत्यवतीनन्दन! वहाँ साधुगण प्रतिदिन श्रीभगवान्‌की कथा-गान करते थे, उन लोगोंके अनुग्रहसे वह सब मनोहारिणी कथा मैं सुनता था, श्रद्धासे प्रत्येक पदको श्रवण करनेसे श्रीभगवान्‌में मेरी रुचि उत्पन्न हुई। इस प्रकार शरद् और वर्षा इन दो ऋतुओंमें सवेरे, मध्याह्न और सायंकाल, इन तीनों कालोंमें मुनिगणद्वारा कीर्तन किये हुए श्रीभगवान्‌के निर्मल यशको सुनकर मेरे अन्तःकरणमें रजोगुणी और तमोगुणी कुत्सित वृत्तियोंका नाश करनेवाली भक्ति उत्पन्न हुई।'

सब साधनाओंमें श्रीउपास्यदेवकी सेवा ही मुख्य है, अन्य सब कुछ इसके अन्तर्गत हैं और इसके बिना अन्य सब साधन और भाव यथार्थ उद्देश्यको पूरा कर नहीं सकते। इस सेवा-धर्मसे सब प्राणियोंका बहुत बड़ा उपकार होता है, अतएव संसारके कल्याण-के निमित्त ही श्रीउपास्यदेव सेवा-धर्म (शुद्ध भावसे किया हुआ) को चाहते हैं—

श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः॥
किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्लसावित्रयाज्ञिकैः।
कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा॥
श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः।
बुद्ध्या वा किं निपुणया बलेनेन्द्रियराधसा॥
किं वा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि।
किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः॥
श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः।
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मात्मदः प्रियः॥
यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥
(४।३१।९-१४)

श्रीनारदजीने कहा—'हे राजाओ ! इस संसारमें जिसके द्वारा विश्वव्यापी श्रीभगवान्‌की सेवा होती है वही जन्म, वही मन,

वही भाषण और वही कर्म श्रेष्ठ है; नहीं तो, जिसके द्वारा श्रीभगवान् प्रसन्न न होकर भक्तोंको आत्मस्वरूपका लाभ नहीं देते हैं उससे, शुद्ध माता-पितासे उत्पन्न होना, यज्ञोपवीत संस्कार और यज्ञकी दीक्षा इन तीन प्रकारके जन्मोंसे, वा वेदमें कहे हुए कर्मोंसे अथवा देवताओंके समान बड़ी भारी आयु पानेसे, कौन फल है ? कोई फल नहीं है, अथवा बहुत-सा पढ़ना, व्रत-उपवास आदि तपस्या, कहनेकी चतुराई, अनेकों वार्ताओंका स्मरण रखनेकी शक्ति, उत्तम बुद्धि, शरीरका बल, इन्द्रियोंकी चतुराई, प्राणायाम आदि योगसाधन, सांख्यज्ञान, संन्यास, वेदोंका पढ़ना और अनेकों प्रकारके दान, तीर्थयात्रा आदि जो अनेक साधन हैं उनसे कौन लाभ है ? अर्थात् कोई लाभ नहीं । क्योंकि विचार करके देखनेपर, अपने निमित्त ही औरोंका प्रियपना है, इस कारण सब प्रकारके ही कल्याणकारी फलोंकी अवधि आत्मा ही है, तैसे ही—सकल प्राणियोंके अन्तर्यामी, और सकल प्राणियोंकी अविद्या दूर करके उनको आत्मप्राप्ति करानेवाले और परमानन्दरूप होनेके कारण सबके अत्यन्त प्रिय वह आत्मा श्रीभगवान् ही हैं । जैसे वृक्षकी मूलमें जल देनेसे बड़े-बड़े गुच्छे और उनकी छोटी-छोटी शाखा तथा उनकी और भी छोटी-छोटी टहनी तथा उसके भी अग्रभागमेंके पत्र-पुष्प आदि ये सभी तृप्त होते हैं, जो उनके ऊपरके भागमें जल सींचनेसे नहीं होता । जैसे भोजन करनेपर उस भोजनसे भिन्न-भिन्न सकल इन्द्रियोंकी ही तृप्ति होती है, जो उन इन्द्रियोंपर अन्नका लेप करनेसे नहीं हो सकती है, वैसे ही अच्युत

श्रीभगवान्‌की आराधना करनेपर मानो सब प्राणियोंकी तृप्ति हो जाती है।' और भी—

स्वदर्शनस्पर्शनपूजनैः कृती तमांसि विष्णुप्रतिमेव वैष्णवः।
धुन्वन् वसत्यत्र जनस्य यन्न तन्...................... ॥
(हरिभक्तिसुधोदय)

'भक्त दास श्रीभगवान्‌की प्रतिमाके समान अपने दर्शन, स्पर्शन और पूजाद्वारा लोकके अज्ञानान्धकारको दूर करनेके लिये संसारमें रहते हैं, उसमें उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है, जगत्‌के कल्याणके हेतु वे दीपकके सदृश शोभायमान रहते हैं।'

इस भावका श्रीमद्भगवद्गीतामें यों वर्णन है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥
(११।५५)

'हे अर्जुन! मेरा भक्त ऐसा होना चाहिये कि मेरे ही निमित्त सब कर्म करे, मेरेमें तन्मय होकर मेरेको ही अपना सब कुछ समझे, किसी विषयमें आसक्ति न रक्खे, प्राणीमात्रका अहित न चाहनेवाला हो (किन्तु हितचिन्तक हो), ऐसा ही भक्त मुझको प्राप्त करता है।' निष्काम भक्त तो केवल श्रीभगवान्‌से यही प्रार्थना करता है कि मैं और कुछ नहीं चाहता, केवल चरणका दास बना रहना चाहता हूँ। जैसा कि—

नान्यद्वदामि न शृणोमि न चिन्तयामि
नान्यं स्मरामि न भजामि न चाश्रयामि।

भक्त्या त्वदीयचरणाम्बुजमन्तरेण
श्रीश्रीनिवास पुरुषोत्तम देहि दास्यम् ॥

श्रीभरतजी और श्रीलक्ष्मणजी यद्यपि श्रीभगवान् रामचन्द्रजीके सखा थे किन्तु इन लोगोंका भाव दासका ही था। श्रीभरतजीने श्रीभगवान्‌के निमित्त माता और राज्यका भी त्याग किया, स्वेच्छासे मुनिव्रतधारणका कष्ट सहर्ष स्वीकार किया और श्रीभगवान्‌के निमित्त और उन्हींके नाममें दासके भावके राज्यका पालन किया। श्रीभरतजी दासभावके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। भावुकको अपने सब कृत्योंको श्रीभगवान्‌के निमित्त ही और उन्हींके नाममें करना चाहिये और अपने सब कर्मको श्रीभगवान्‌के चरणमें अर्पण करना चाहिये जैसा कि श्रीभरतजी श्रीचरणपादुकामें करते थे। श्रीभरतजीका वचन है—

सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सबतें सेवक-धरम कठोरा ॥
(श्रीरामचरितमानस अयो०)

श्रीलक्ष्मणजीने श्रीभगवान्‌के निमित्त माता-पिता, स्त्री, गृहसुख आदिका त्याग किया और वनवासके समय ऐसी सेवा की कि कहा जाता है कि वे रात्रिमें कभी सोये नहीं किन्तु निरन्तर चौकी-पहरेमें प्रवृत्त रहते थे। सेवा-धर्मकी प्रकृष्टतामें लंकाकी सेना भालु-बन्दरोंके प्रति श्रीमुखवचन ऐसा है—

तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुखपर केहि बिधि करौं बड़ाई ॥
ताते मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे ॥
अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही ॥
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहौं मोर यह बाना ॥
सब कहँ प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दासपर प्रीती ॥

अब गृह जाहु सखा सब, भजेहु मोहि दृढ़ नेम।
सदा सर्वगत सर्वहित, जानि करेहु अति प्रेम॥
(उत्तरकाण्ड)

ऊपरके श्रीभगवान्‌के उपदेशमें 'सर्वगत सर्वहित' जो वाक्य हैं वे इस भावके मुख्य लक्षण हैं। भाव यह है कि श्रीभगवान्‌का निवास सब प्राणियोंमें बिना अनुभव किये और जैसे श्रीभगवान् सब प्राणियोंके हितसाधनमें सर्वदा निरत रहते हैं उसी प्रकार भावुकको भी परोपकारी कार्यमें भगवत्सेवाकी भाँति बिना योग दिये दासभावकी उपासना निःसार है। सबमें श्रीभगवान्‌का वास और ऐसा जान उनके उपकार, विशेषकर पारमार्थिक उन्नतिमें उनको प्रवृत्त कराना परमावश्यक है। कुरु-पाण्डव-युद्धकी भाँति राम-रावण-युद्ध भी सबके शरीरमें और विश्वमें धर्म और अधर्मके बीच अब भी जारी है। श्रीभगवान् अपनी सेनामें दाखिल होनेके लिये और अपने लिये युद्ध करनेको लोगोंको आह्वान कर रहे हैं और स्पष्ट कह रहे हैं कि इस युद्धमें प्रवृत्त होकर और अधर्मस्वरूप कुरु और राक्षसदलको नाशकर अपना और विश्वका मङ्गल करो और मेरा प्रियपात्र होओ और अपने खोये हुए आत्मराज्यको, जो यथार्थ स्वराज्य है, प्राप्त करो और यथार्थ स्वतन्त्र बनो। इसमें मैं (श्रीभगवान्) सहायता करूँगा। यह ऐसा युद्ध है जिसमें जय अवश्य होगी, कभी हारकी सम्भावना नहीं है। संजयने कहा है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
(गीता· १८। ७८)

'हे राजन्! जिस पक्षमें योगेश्वर श्रीभगवान् और धनुषधारी अर्जुन (भावुक साधक) हैं उसी ओर राज्य, लक्ष्मी, विजय,

नीति हैं—यह मेरा दृढ़ निश्चय है।' यथार्थमें यही मुख्य दासभाव है कि अधर्मको नाशकर प्रेमराज्य (धर्मराज्य) जिसको रामराज्य भी कहते हैं उसकी स्थापना करनेका यत्न करना। सबको इसमें योग देना चाहिये जिसमें जगत्‌में परम शान्ति विराजमान करें।

सख्यभाव

जब उपासक और श्रीउपास्यके बीचकी प्रेम-डोरी सेवा-यज्ञ-द्वारा सञ्चालित और आकर्षित होकर दोनोंको अत्यन्त समीप कर देती है और दोनोंके बीचके व्यवधानको बहुत कुछ दूर कर देती है, तो ऐसे निकटवर्ती भावको ही सख्यभाव कहते हैं। इस भावमें भी सेवा-धर्म बना रहता है किन्तु भाव अधिक मधुर और प्रगाढ़ हो जाता है और एकताकी मात्रा बढ़ जाती है। सच्चे मित्रोंमें जो शुद्ध और निष्काम प्रेम रहता है उससे इस भावकी, सांसारिक भावोंमें किसी प्रकार अल्प अंशमें, तुलना हो सकती है। दास-भावमें, भावुक प्रारम्भमें अपनी सेवाके धर्मको शास्त्र तथा श्रेष्ठ भगवद्भक्तोंके आदेशानुसार निश्चय करता है, किन्तु इस सख्य-भावकी अवस्थामें शास्त्रकी और श्रेष्ठ भगवद्भक्तोंकी आज्ञाके सिवा उन्नतिशील भावुकको श्रीउपास्यकी आज्ञाका अन्तरमें सीधे भी समय-समयपर आवश्यकतानुसार अनुभव होता है और वह उस आदेशके अनुसार भी सेवामें प्रवृत्त होता है। इस भावका केवल यही तात्पर्य नहीं है कि केवल श्रीउपास्यका मित्रभावसे निष्काम प्रेम करना, किन्तु इस भावमें उपास्यके लिये मित्रभाव तो स्वाभाविक हो जाता है किन्तु वह संसारके प्राणिमात्रको अपने श्रीउपास्यका अंश (सखा) समझ उसी दृष्टिसे सबको मित्र अर्थात् समभावसे

देखता और यथासम्भव उनका परोपकाररूप सेवा और हितसाधन कर अपने भावका परिचय देता है। परमात्मा और जीवात्मामें शुद्ध स्वरूपकी दृष्टिसे यह सख्यभाव अनादि है। श्वेताश्वतरोपनिषद्‌का वचन है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
(४।६)

'इस शरीररूपी वृक्षमेंके सुन्दर परवाले दो पक्षी एक साथ सखाकी भाँति वास करते हैं।' यहाँ दो पक्षीसे तात्पर्य श्रीपरमात्मा और जीवात्मासे है। इस कारण ज्ञानदृष्टिसे जीवात्मा परमात्माके सखा हैं और जीवात्मागण आपसमें एक दूसरेके भी सखा हैं, जिसके कारण सबके साथ मित्रभाव, समभाव रखना उनका परम कर्तव्य है। भावुकको चाहिये कि श्रीउपास्य और उनकी विभूति संसारके प्रति प्रेमभाव, मित्रभाव और समभाव रख करके उनकी तृप्तिके साधनके निमित्त सेवाकार्यमें प्रसन्नतासे प्रवृत्त रहें, और उसके सम्पादनमें आवश्यक होनेपर कष्ट भी उठावें और उस कष्टको कष्ट न मान वरं उससे हर्षित हों। जो स्वभावतः अनायास ऐसा नहीं कर सकते वे इस भावके भावुक कदापि नहीं हैं।

श्रीरामचरितमानसमें मित्रके धर्मका श्रीमुखसे यों वर्णन है—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरिसम रज करि जाना। मित्रके दुख-रज मेरुसमाना॥
जिनके असि मति सहज न आई। ते सठ हठि कत करत मिताई॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटे अवगुनहिं दुरावा॥

देत लेत मन संक न धरहीं। बल-अनुमान सदा हित करहीं॥
विपतिकाल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्रगुन एहा॥
(किष्किन्धाकाण्ड)

जो श्रीभगवान्‌के परम प्रिय अंश संसारके प्राणियोंके साथ निष्काम मित्र अर्थात् समभावका अभ्यास नहीं कर सकते हैं, वे सर्वात्माके परम सुहृद् श्रीउपास्यदेवके सखा कैसे हो सकते हैं? इस सख्यभावमें जितना ही अधिक प्रेम और मधुर भावकी वृद्धि है, उतना ही त्यागकी मात्रा भी बढ़ जाती है। आजकल भी सच्चे मित्र अपने मित्रके लिये आवश्यक होनेपर बहुत कुछ त्याग करते हैं, बार-बार कष्ट भी उठाते हैं, तथापि अपने भावसे विचलित नहीं होते। और त्याग और कष्ट ही उनके आनन्दका कारण होता है। अब इस सांसारिक दृष्टान्तको लेकर विचारना चाहिये कि श्रीउपास्यके प्रति सखाभावके निमित्त भावुकको कितना विशेष त्याग करना चाहिये और आवश्यक होनेपर उनकी प्रीतिके निमित्त कितना बड़ा कष्ट उठाना चाहिये। श्रीव्रजगोपिकाओंमें भी प्रारम्भमें दासी-भाव और तत्पश्चात् सख्यभावकी उत्पत्ति हुई* और इन्हीं भावोंके कारण उन प्रातःस्मरणीया स्त्रीरत्नोंने श्रीभगवान् वृन्दावनविहारीके निमित्त अपने गृह, परिवार, लोकलज्जा आदिको प्रसन्नतासे त्याग किया जिनका त्यागना परम कठिन और दुष्कर है।

---

* श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥ (१०।३०।३९)

'गोपियाँ श्रीभगवान्‌को सम्बोधनकर कहने लगीं कि हा नाथ! हा रमण! हा अतिप्रिय! हा महापराक्रमी! हा सखे! तुम कहाँ हो! कहाँ हो! तुम्हारे वियोगसे अति दीन हुई मुझ दासीको तुम अपनी समीपता दिखाओ।'

इस भावके भावुकका प्रेम-पूरित हृदय, लोहा-चुम्बकके समान, श्रीउपास्यके चरणकमलकी ओर विना परिश्रम अपने-आप स्वभावतः ऐसा आकर्षित रहता है कि दोनों पृथक् न रह सकते और न हो सकते हैं। अनेक कालसे जिस उपासकने प्रेम-पाशमें स्वतः आवद्ध होकर और श्रीउपास्यको आवद्ध कर अपने चित्तरूपी भ्रमरको श्रीउपास्यके श्रीचरणकमलके मकरन्दके आस्वादनमें संलग्न करनेकी चेष्टा की और जिस रसास्वादनकी मधुरताके कारण वह ऐसा मत्त, मग्न और तन्मय हो जाता था कि उसका चित्तभ्रमर उस रसको त्यागकर अन्यत्र जानेमें असमर्थ हो जाता था और शरीर, मन और वचनसे कार्य करते रहनेपर भी वह श्रीचरणकमलमें ही लवलीन रहता था, उसका विशेष परिणाम इस अवस्थामें विशेषरूपसे देखनेमें आता है। इस अवस्थामें भावुकका चित्त सदा-सर्वदा अनवरत श्रीउपास्यके चरणसरोजमें ही प्रविष्ट रहता है, और उसको छोड़कर अन्यत्र जाना नहीं चाहता। अभ्यन्तर हृदयमें जो श्रीचरणका रसास्वाद मिलता है वह ऐसा मधुर और अमृतमय है कि चित्त अपने-आप सदा उसमें लीन रहता है। जैसे-जैसे भावुक भावसाधनाओंमें उन्नति करता है और जैसे-जैसे उसके हृदयसरोवरका प्रेमवारि अधिक शुद्ध और स्वच्छ होता जाता है और वह जितनी अधिक मात्रामें प्रेम-वारिसे श्रीचरणके प्रक्षालनमें युक्त रहता है, उतना ही श्रीचरणके मकरन्दके रसास्वादनकी मात्रा और मधुरता बढ़ती जाती है।

इस अवस्थामें भावुकका चित्त स्वभावतः श्रीउपास्यके श्रीचरण-कमलके मकरन्दके रसास्वादनमें मग्न रहता है, जैसा कि कहा जा चुका है, किन्तु इसके लिये उसे विशेष चेष्टा करना आवश्यक नहीं होता और सांसारिक कार्योंके सम्पादनमें प्रवृत्त रहनेपर भी इस भावमें व्याघात नहीं होता, क्योंकि वे कार्य भी प्रेमसे प्रेरित होकर श्रीउपास्यके निमित्त ही त्यागकी भाँति किये जाते हैं। ऐसे भावुक श्रीगोपिकाओंकी भाँति सांसारिक कार्य करते रहनेपर भी अपने चित्तको सदासर्वदा अनवरत श्रीउपास्यके चरणसरोजमें संनिवेशित रखता है और उससे कदापि विचलित नहीं होता। शरीर, वचन, बुद्धिसे कर्तव्यपालनमें प्रवृत्त रहनेपर भी उसका चित्त श्रीउपास्यमें ही रहता है जो उसके सर्वस्वस्वरूप हो जाते हैं। जो अमृतके सरोवरमें अवगाहन कर रहा है वह किस प्रकार अमृतके पानको त्यागकर नालेके गंदे जलको पीना चाहेगा? उसी प्रकार जिसको श्रीउपास्यके चरणामृतका रसास्वादन मिला है वह उसको त्यागकर विषयरूपी नालीके मलिन जलको कैसे पी सकता है?

श्रीउपास्यके निरन्तर चिन्तन और सेवनका परिणाम यह होता है कि उपासक और श्रीउपास्यमें निकटस्थ सम्बन्ध होनेके कारण दोनों प्रेमसूत्रसे आबद्ध होकर ऐसे समीपवर्ती हो जाते हैं कि इस अवस्थाकी आध्यात्मिक दशामें श्रीउपास्यका सद्गुण और किंचित् विभूति उपासकमें प्रकट होने लगती हैं, यहाँ-तक कि उसके स्थूल शरीरकी भी आकृति बदल जाती है। सख्यभावके बहुत बड़े भक्त श्रीभगवान्के परम प्रिय श्रीअर्जुन थे

और कहा जाता है कि वे श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके समान आकृति आदिमें परिणत हो गये थे। ऐसा होना कोई आश्चर्य नहीं है—

श्रीमुखका वचन है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८। १४)

मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत्।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ३७)

'हे पार्थ! जो चित्तसे अन्य भावनाओंको दूर करके प्रतिदिन निरन्तर मेरा ही स्मरण करता है, उस समाहितचित्त योगीको मैं सहजमें ही प्राप्त हो जाता हूँ *। हे गोपियो! मुझमें मनको पूर्णरूपसे संनिवेशित करके और अन्य सम्पूर्ण भावनाओंसे चित्तको खाली करके मुझको सतत स्मरण करते रहनेसे शीघ्र मुझको प्राप्त होवोगी।'

मनमें ऐसी क्रियाशक्ति है कि जो कोई मनद्वारा एकाग्रता और श्रद्धासे जिसका ध्यान और चिन्तन करता है वह उसके सदृश होने लगता है और उसके गुण उसमें आने लगते हैं। कीट भ्रमरीके भयसे उसमें सतत एकाग्र चित्त रखनेके कारण स्वयं भ्रमरी हो जाता है। इसी प्रकार श्रीउपास्यके ध्यानचिन्तनसे

* देखिये श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ९ श्लोक १४ और २२ और अध्याय १२ श्लोक ६, ७ और ८।

ध्याता उन्हींके समान होने लगता है। यह नियम है कि जिसमें जिसका चित्त पूर्ण संलग्न होता है उसको उसीकी प्राप्ति होती है, वरं वह वही हो जाता है। छान्दोग्योपनिषद्का वचन है—

खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति।

यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जायते तांश्च कामान्
..................................॥

(मुण्डकोपनिषद् ३ । १०)

'मनुष्य अपनी इच्छा (संकल्प) का परिणाम है, जैसी उसकी इच्छा (संकल्प) इस जन्ममें है वैसा ही वह दूसरे जन्ममें होगा। विशुद्ध बुद्धिवाले मनुष्य जिस-जिस लोककी मनसे भावना करते हैं और जिन-जिन इच्छाओंकी प्राप्तिकी चाहना करते हैं वही लोक और उन्हीं इच्छाओंको प्राप्त करते हैं।' सृष्टि भी प्रजापतिके मानसिक संकल्पका परिणाम है और प्रत्येक मनुष्य व्यष्टि प्रजापति है अर्थात् अपने मानसिक संकल्पको फलीभूत करनेकी शक्ति उसमें वर्तमान है किन्तु वह गुप्त है। अभी हम-लोगोंका मन मलविक्षेपादि दोषोंसे कलुषित है जिसके कारण मानसिक क्रियाशक्ति ढकी हुई है, अतएव संकल्प सफल नहीं होता। दोषोंके हटनेपर जितना ही उस शक्तिका विकास होगा, उतना ही वह कारगर होगी।

सखाभावमें घनिष्ठताके कारण यहाँसे ही मधुरभावका प्रारम्भ

होता है । श्रीभगवान् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीकौसलेशने अपने सखा गुह निषादपर जो अपने स्नेहकी वर्षा की वह इस भावकी उच्चताकी द्योतक है जिसके द्वारा फिर यही दिखलाया गया कि श्रीभगवान् केवल प्रेमके भूखे हैं और बिना प्रेमके केवल उच्च जाति, विपुल धन, बड़ी विद्या, राजसिक भावकी बड़ी अर्चा-पूजा आदि उनको कदापि प्रिय नहीं है किन्तु कभी-कभी उनकी प्राप्तिमें ये बाधक भी होते हैं । लङ्काकी विजयके बाद श्रीअवधपुरीको लौटनेके समय जब गुह निषादको श्रीभगवान्‌के दर्शन हुए तो श्रीभगवान्‌ने सहर्ष गुहको अपने हृदयकमलसे लगा लिया । श्रीभगवान्‌के हृदय-का स्पर्श जो ब्रह्मादि देवताओंको कठिन तपस्या करनेपर भी दुर्लभ है वह सहजमें ही निषादको उनकी ऐकान्तिक भक्तिके कारण प्राप्त हो गया । श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने अपने रामायण-में गुहके मिलनेका वर्णन यों किया है—

प्रभुहिं बिलोकि सहित बैदेही । परेउ अवनि तनु सुधि नहिं तेही ।
परम प्रीति बिलोकि रघुराई । हरषि उठाय लीन्ह उर लाई ॥

लिय हृदय लाय कृपानिधान सुजान राम रमापती ।
बैठारि परम समीप पूछी कुसल सो करि बीनती ॥
अब कुसल पदपंकज बिलोकि बिरंचि शंकर सेव्य जे ।
सुखधाम पूरनकाम राम नमामि राम नमामि ते ॥
सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइये ।
मतिमंद तुलसीदास सो प्रभु मोहबस बिसराइये ॥

अयोध्याके राज्याभिषेकके बाद निषादको विदा करते समय श्रीभगवान्‌ने ऐसा कहा—

तुम मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥

यहाँ श्रीभगवान्‌ने मल्लाहकी वृत्ति करनेवाले श्रीनिषादको उन श्रीभरतजीके समान माना जिन श्रीभरतजीके विषयमें श्रीमुख-वचन है कि—

सुनहु लपन भल भरत सरीखा। विधि प्रपंच महँ सुना न दीखा॥
होत न भूतल भाव भरतको। अचर सचर चर अचर करत को॥

और भी—

भरत सरिस को रामसनेही। जग जपु राम राम जपु जेही॥

श्रीभगवान्‌ने अपनी कृपा और प्रीति जो प्रिय सखा श्रीसुग्रीव और श्रीविभीषणके प्रति दिखलायी उससे भी उनकी भक्तवत्सलताका परिचय मिलता है। जब श्रीविभीषण अपने भाई रावण और लङ्का-को त्यागकर श्रीभगवान्‌की शरणमें आये, तो श्रीभगवान्‌ने उन्हें अपनानेमें कुछ भी देरी अथवा पशोपेश नहीं की और मना करनेपर भी शरणागत और आश्रयके पालनके अपने प्रणसे विचलित नहीं हुए। श्रीभगवान् द्वारकाधीशके प्रिय सखा परम दरिद्र श्रीसुदामाका चरित्र सखाधर्मका परम उत्कृष्ट उदाहरण है। सुदामा-ने दरिद्रताके दुःखसे अत्यन्त पीड़ित रहनेपर भी श्रीभगवान्‌से धनकी प्रार्थना करनेके संकल्पको कभी अपने चित्तमें नहीं आने दिया, यद्यपि वे जानते थे कि प्रार्थना करते ही उनकी दरिद्रता मिट जायगी। वे बड़ी प्रसन्नतासे दरिद्रताको सहते थे और अपनी

दशासे सन्तुष्ट रहकर श्रीभगवान्‌से अपने चित्तको कदापि पृथक् नहीं करते थे । अपनी स्त्रीके बहुत अनुरोध किये जानेपर वे द्वारकामें केवल दर्शनार्थ गये । श्रीसुदामाके मिलनका प्रसंग श्रीमद्भागवत पुराणमें यों वर्णित है—

तं विलोक्याच्युतो दूरात्प्रियापर्यङ्कमास्थितः ।
सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ॥
सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥
अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युः समर्हणम् ।
उपहृत्यावनिज्यास्य पादौ पादावनेजनीः ॥
अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवाँल्लोकपावनः ।
व्यलिम्पद्दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः ॥
धूपैः सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा ।
अर्चित्वावेद्य ताम्बूलं गां च स्वागतमब्रवीत् ॥

(१० । ८० । १८ से २२)

'उस ब्राह्मण (सुदामा) को दूरसे ही देखकर प्रियाके पलंगपर बैठे हुए श्रीभगवान्‌ने शीघ्रतासे उठकर और सम्मुख जाकर हर्षसे आलिङ्गन किया । तब अपने मित्र उन विप्रर्षिके अंगके स्पर्शसे अति आनन्दयुक्त और तृप्त हुए उन कमलनयन श्रीभगवान्‌ने अपने नेत्रोंमेंसे आनन्दके आँसू बहाये । हे राजन् ! तदनन्तर उस प्रिय और मित्र ब्राह्मणको पलंगपर बैठा आप ही पूजाकी सामग्री लाकर, उस सखाके चरणको धोकर, वह जल श्रीभगवान्‌ने, अपने आप लोकको पवित्र करनेवाले होकर भी, मस्तकपर धारण किया और

दिव्य गन्ध, चन्दन, अगरु तथा केसरसे उनके अङ्गको लेपन किया। फिर सुगन्धयुक्त धूप और दीपकोंकी पंक्ति (आरती) से उस मित्रका पूजन करके और तन्दुल और गौ अर्पण करके स्वागत प्रश्न पूछा।' दर्शन होनेपर भी श्रीसुदामाने कोई प्रार्थना श्रीभगवान्‌से न की और इस प्रकार अपने सखाधर्मका कदापि भङ्ग नहीं किया। तब श्रीभगवान्‌ने श्रीसुदामाकी स्त्रीके भेजे हुए प्रेमपूरित प्रेमस्वरूप चावलको स्वयं अपने हस्तकमलसे लेकर परम प्रीतिसे उसको भोग लगाया और बड़े आदरसे श्रीभगवान्‌ने कहा कि—

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः॥
(श्रीमद्भा० १०।८१।९)

'हे मित्र! मैं सत्य कहता हूँ कि यह चावलोंकी भेंट मुझे अत्यन्त प्यारी और तृप्त करनेवाली है। यह चावल मुझे और मेरे आश्रयसे रहनेवाले सब जगत्‌को भी तृप्त करेगा।'

श्रीभगवान्‌का वाक्य कि यह चावलका नैवेद्य जगत्‌को तृप्त करेगा परम सत्य होनेके कारण विचारणीय है। श्रीभगवान् पूर्ण-काम हैं, उनको कुछ भी अप्राप्त नहीं है, किन्तु भावुक भक्तगण जो पत्र, पुष्प, फल, जल आदिके समर्पणद्वारा उनकी सेवा करते हैं, वह अपने हृदयके प्रेमोद्गारके कारण ही करते हैं। निष्काम त्यागद्वारा श्रीभगवान्‌की सेवा करनेपर ही भावुकके हृदयस्थ प्रेमानुरागकी सेवा-आकांक्षाकी किञ्चित् पूर्ति होती है जिससे प्रेरित होकर वे अपनी उत्तमोत्तम वस्तु और चेष्टाको श्रीभगवान्‌को

समर्पित करते हैं। ऐसे प्रेम-समर्पणमें आभ्यन्तरिक हृदयस्थ भाव मुख्य है, बाह्य वस्तु अथवा कर्म केवल उसका बाह्य सूचक है किन्तु यह भी आवश्यक है। इस कारण ऐसी हृदयकी भेंटद्वारा जगत्का बड़ा कल्याण होता है, क्योंकि श्रीभगवान् सबके परम आत्मा हैं जिसके कारण उनमें प्रेमसे अर्पित वस्तु अथवा कर्मसे वे सबकी तृप्ति करते हैं जैसा कि श्रीसुदामाके प्रेमोपहारके विषयमें श्रीभगवान्ने कहा। परम प्रेम ही जगत्का जीवन और मङ्गलका कारण है, अतएव भावुकके श्रीउपास्यके चरणमें प्रेम समर्पण करनेसे जगत्का बड़ा कल्याण अवश्य होता है। यही कारण है कि श्रीभगवान् नन्दनन्दन जबरदस्ती करके भी स्वयं अपने गोकुलके प्रेमियोंसे प्रेमरूपी मक्खन हर लेते थे ताकि उसको ग्रहणकर जगत्के कल्याणमें उसे प्रयुक्त करें। गोपियोंके प्रेमरूप मक्खन अथवा सुदामाके तण्डुलसमान उपहारके प्रस्तुत रहनेपर श्रीउपास्य उसे स्वयं ग्रहण कर लेंगे। भावुकको समर्पणके लिये प्रेम-नैवेद्य तैयार रखना चाहिये। श्रीसुदामाका कथन है—

किञ्चित्करोत्युर्वपि यत्स्वदत्तं
सुहृत्कृतं फल्वपि भूरिकारी।
मयोपनीतं पृथुकैकमुष्टिं
प्रत्यग्रहीत्प्रीतियुतो महात्मा॥
तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री
दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात्।
महानुभावेन गुणालयेन
विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः॥

(श्रीमद्भा० १०।८१।३५-३६)

'श्रीभगवान् अपने दिये हुए बहुत-से भी ऐश्वर्यको थोड़ा जानते हैं और भक्तके किये हुए प्रेमयुक्त थोड़ेसे भी भजनको बहुत-सा मानते हैं, इस विषयमें प्रमाण मेरा ही उदाहरण है कि मेरा अर्पण किया हुआ चावल जो केवल एक मुट्ठी था उसको उन महात्माने प्रीतियुक्त हो बहुत मानकर स्वीकार किया । ऐसा कहकर और श्रीभगवान्की भक्तवत्सलता देखकर उस ब्राह्मणने मनमें प्रार्थना की कि मुझे आगेको जन्म-जन्मान्तरमें उन श्रीभगवान्का प्रेम, सखा-भाव, मित्रता और सेवकभाव प्राप्त हो तथा महानुभाव और ऐश्वर्य आदि गुणोंके बदले श्रीभगवान्के साथ विशेष करके सम्पदा पाने-वाले मुझको उनके भक्तोंकी उत्तम सङ्गति हो ।'

स्मरण रहे कि सब समयमें श्रीभगवान् अपने भक्तोंके चावल-अक्षत (हृदयप्रेम) अथवा मक्खन (स्नेह) की भेंट स्वयं लेनेके लिये बड़े इच्छुक रहते हैं जिससे जगत्का भी बड़ा मङ्गल होता है । किन्तु भावुकको चाहिये कि श्रीभगवान्को अर्पण करनेके लिये हृदय-प्रेमरूपी चावल अथवा मक्खनका संग्रह करें । सर्वात्मज्ञान, दया और निष्काम भजन, स्मरण, ध्यानरूप धान अथवा दूधसे यह प्रेम-चावल अथवा मक्खन तैयार होता है ।

श्रीभगवान्ने सुदामाके चरणको स्वयं धोकर उस जलको मस्तकपर लिया, यह उनके दिव्य गुणके अनुसार ही है, क्योंकि श्रीमुखवचन है कि 'मैं अपने दासका दास हूँ ।' एक दिन श्री-नारदजीने द्वारकापुरीमें श्रीभगवान्के भवनमें जाकर देखा कि श्रीअर्जुन पलंगपर लेटे हुए हैं और श्रीभगवान् सिरहानेकी ओर नीचे बैठे हुए उनके केशोंको सँवार रहे हैं ।

श्रीभगवान् केवल भावके भूखे हैं वस्तुके नहीं, इसका एक और भी उत्तम प्रमाण है। जब श्रीभगवान् हस्तिनापुरमें दुर्योधन-को पाण्डवोंका हिस्सा दे देनेके लियें समझाने गये, जिसको उन्होंने स्वीकार नहीं किया, तब श्रीभगवान् उनके यहाँ भोजन न कर भक्त श्रीविदुरके गृहमें आये। विदुर उपस्थित नहीं थे। उनकी धर्मपत्नीजी उत्तम सेविका थीं। श्रीभगवान्‌के आगमनके कारण वह प्रेमसे ऐसी नितान्त विह्वल हो गयीं कि उन्हें शरीर आदि बाह्य पदार्थोंकी एक-दम सुधि नहीं रही। ऐसी अवस्थामें वे श्रीभगवान्‌के लिये केला फलको अर्पण करनेमें केलेको तो बाहरी छिलका समझ फेंकने लगीं और छिलकेको अर्पित करने लगीं। श्रीभगवान् बड़ी प्रसन्नतासे केलेके छिलकोंको भोग लगाने लगे। विदुरके आनेपर और उनके द्वारा छिलकेके भोगको रोके जानेपर श्रीभगवान्‌ने कहा 'हे विदुर! फलके छिलके ही मुझे बड़े मिष्ट और सुस्वादु बोध होते थे, क्योंकि वे बड़े प्रेमसे अर्पित थे।' यथार्थमें श्रीभगवान् केवल प्रेम और स्नेह-के प्यासे हैं और इसीसे उनकी तृप्ति होती है और जगत्‌का भी कल्याण होता है।

इस अवस्थामें भावुककी अन्तरात्मा जागृत हो जाती है और तब उसको इस भावकी आध्यात्मिक अवस्थामें आध्यात्मिक रहस्यका उपदेश मिलता है जो केवल बुद्धिद्वारा ग्राह्य न होकर भावमें परिवर्तित हो जाता है अर्थात् वह उस उपदेशमें तन्मय हो जाता है। यथार्थमें यह उपदेश वाचनिक न होकर हृदयमें अनुभव कराया जाता है किन्तु इसका कभी-कभी बाह्य आकार भी होता है जो यथार्थमें अन्तर्क्रियाका केवल द्योतक होता है। यह प्रेमोपदेश है जो परमात्मासे

जीवात्माको मिलता है और केवल रसिक हृदयमें ही इस प्रेमोपदेशका रस प्रवेश करता है, अन्यमें नहीं। श्रीगीताका श्रीमुखवचन है—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥
(४।३)

'उसी इस प्राचीन योगके उत्तम रहस्यको इस समय मैंने तुमको अपना भक्त और सखा जानकर कहा है।'

इस परम मंगल उपदेश-गीतका अनुभव केवल त्यागी रसिककी पवित्र अन्तरात्माको ही हो सकता है, अन्यको नहीं। भावुककी योग्यता और आवश्यकताके अनुसार इस अमृतरसका प्रसाद क्रमशः उसको मिलता है।

श्रीभगवान् कौसलेशने श्रीलक्ष्मणजीको स्वयं उपदेश किया और श्रीहनुमान्‌जीको उपदेश श्रीसीताजीसे दिलवाया। श्रीभगवान् मथुराधीशने अपने प्रियसखा श्रीअक्रूरको, अर्जुनकी भाँति यमुना-जलमें विश्वरूप दिखाया। उन्होंने अपने प्रियसखा श्रीउद्धवको श्रीगोपियोंके पास भेजकर प्रेमकी दीक्षासे दीक्षित करवाकर फिर जैसा कि श्रीअर्जुनको गीताका उपदेश किया, उसी प्रकार उन्हें भी उपदेश दिया। श्रीउद्धवजी अपनेको दास ही मानते थे। लिखा है—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि॥
(श्रीमद्भा० ११।६।४६)

'तुम्हारे प्रसादित माला, चन्दन, वस्त्र, आभूषण धारण करनेवाले और तुम्हारा उच्छिष्ट भोजन करनेवाले हम दास तुम्हारी मायाको जीत रहे हैं इसमें सन्देह नहीं।' अन्तिम उपदेश जो श्रीभगवान्ने श्रीउद्धवको सर्वत्र भगवद्दर्शनके विषयमें दिया जिसको अपना धर्म अर्थात् भागवत-धर्म कहा और जो श्रीमद्भागवत पुराणके ११ स्क० २९ अ० में वर्णित है उसका वर्णन पूर्वमें 'समता, अहङ्कार-त्याग और सतत स्मरणका सुलभ उपाय' प्रकरणमें हो चुका है। श्रीभगवान्का यह अन्तिम उपदेश परम सार है जिसके अन्तर्गत सब साधनाएँ हैं।

श्रीउपास्यकी कृपासे इस भावकी उच्च अवस्थामें भावुकका अन्तः (ज्ञान) चक्षु खुल जाता है, और श्रीभगवान्का विश्वरूप प्रत्यक्ष देख पड़ता है, जैसा कि अर्जुनको दीखा। इसका आन्तरिक भाव यह है कि ऐसा भावुक सर्वत्र, छोटे-बड़ेमें, धनी-दरिद्रमें, सुखी-दुःखीमें, पुण्यात्मा-पापात्मामें, स्त्री-पुरुषमें, बालक-वृद्धमें, स्वस्थ और व्याधिग्रस्तमें, पशु-पक्षीमें, पर्वत-नदीमें, वृक्ष और लतामें, सूर्य और चन्द्रमें, आकाश और पातालमें, मर्त्य और अंतरिक्षमें, शत्रु-मित्रमें, सुरूप-कुरूप आदिमें, सर्वत्र श्रीउपास्यका ही प्रकाश प्रत्यक्षरूपसे देखता है और जगत्के व्यापारको भी उन्हींकी शक्तिसे सञ्चालित अनुभवकर सबके साथ सर्वत्र और सब अवस्थामें सखा (मित्र) अर्थात् समभाव रखता है। इसी आवश्यकताके कारण श्रीभगवान्ने पूर्वकथित श्रीउद्धवके उपदेशमें समदर्शीभावपर बहुत जोर दिया। मित्र (सखा) भाववाला किसीसे घृणा नहीं करता, क्योंकि वह सबमें श्रीउपास्यका अंश देखता है; अतएव सबको वह अपना प्रेम

प्रदान करता और यथासामर्थ्य और यथावकाश उनका उपकाररूप सेवा भी करता है। कोई भी उसकी दया और मंगलकामनासे यथासम्भव वञ्चित नहीं रहते। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(५।१८)

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥
(६।९)

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
(१८।२०)

'श्रीभगवान्‌को सर्वव्यापी जाननेवाला विवेक, विद्या और विनयसे युक्त ब्राह्मण, चाण्डाल, कुत्ता, गौ और हाथीमें भेद नहीं देखता किन्तु सबको समान दृष्टिसे देखता है। जो पुरुष इष्ट, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुगणोंमें और साधु और पापीको समान देखता है वही उत्तम है। हे अर्जुन! सब प्राणियोंमें एक अविनाशी आत्मभाव और नानात्वमें एकत्व देखना यही सात्त्विक ज्ञान है।'

इस अवस्थामें सब प्राणियोंमें भगवद्भाव केवल बुद्धिगम्य सिद्धान्तमात्र नहीं रहता किन्तु प्रत्यक्ष हो जाता है। ऐसे भावुककी अन्तरात्मा श्रीउपास्यके प्रेमके पवित्र स्पर्शसे संकुचित भावको त्यागकर और सर्वात्मभावकी दृष्टिसे दयासे द्रवीभूत होकर ऐसा

व्याप्त और विस्तृत हो जाता है कि वह दूसरेके सुखसे सुखी, दुःखसे दुःखी, चिन्तासे चिन्तित और प्रसन्नतासे प्रसन्नचित्त होता है। ऐसा भावुक संसारके सब प्राणियोंको श्रीउपास्यका अंश और रूप अनुभवकर उनके उपकार करनेके धर्मको श्रीउपास्यकी उत्तम सेवा समझता है। श्रीभागवत पुराणमें लिखा है—

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम्।
अपृथग्धीरुपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः॥
सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः॥
वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम्।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत्॥
(११।१७।३२, ३५, ५०)

इति मां यः स्वधर्मेण भजन्नित्यमनन्यभाक्।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दतेऽचिरात्॥
(११।१८।४४)

'वेदाभ्याससे प्राप्त हुए तेजको धारण करनेवाला और निष्पाप हुआ वह सर्वत्र समबुद्धि रखकर अग्नि, गुरु, जीवात्मा और सब प्राणियोंमें मुझ परमात्माकी उपासना करे। हे कुलको आनन्द देनेवाले उद्धवजी! यह कहे हुए शौचादि नियम, मन-वाणी और देहका निग्रह तथा प्राणीमात्रमें मेरी भावना, यह धर्म सब आश्रमोंको विहित है। गृहस्थ वेदपाठरूप ब्रह्मयज्ञसे ऋषियोंका, स्वधाकारसे पितरोंका और स्वाहाकारसे देवताओंका और बलिदान करके प्राणियोंका और अन्नजलादिके दानसे मनुष्यका, इस

प्रकार पञ्चयज्ञसे उन ऋषि आदि सबको ईश्वररूप जानकर तृप्त करे। इस प्रकार जो मनुष्य अपने धर्मको पालनकर मेरी सेवा करता है, स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त नहीं होता है और सब प्राणियोंमें मेरी भावना रखता है वह शीघ्र ही दृढ भक्तिको पाता है।'

भक्तके निमित्त समता, निर्वैरभाव, मित्र और करुणाभाव अर्थात् परोपकारका सम्पादन मुख्य है। मित्र और करुणाभाव कदापि भावनामात्र नहीं हैं किन्तु उसको कार्यमें परिणत करनेसे ही (अर्थात् जिस दुःखितकी दशापर दया आवे उसके दुःखको दूर करनेका यत्न करनेसे ही) दया करना होता है अन्यथा उसको दया नहीं कह सकते। श्रीमद्भागवत पुराणमें श्रीमुखवचन है—

एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत्सदा॥

(१० । २२ । ३५)

'इस संसारके प्राणियोंके जन्मकी इतनी ही सफलता है कि अपने प्राण (शक्ति), धन (दान), बुद्धि (हितचिन्तन) और वचन (दूसरोंको हितोपदेश करना) से निरन्तर दूसरोंका कल्याण करे।'

श्रीरामावतारमें लंकापुरीमें सहायक भालु-बंदर और श्रीकृष्णावतारमें व्रजके गोपबालक इस सखाभावके परमोत्तम उदाहरण हैं। त्रेतामें रावणादि और द्वापरमें कंसादि राक्षसरूपी अधर्मके दलको नाश करनेके लिये इन सखाओंने श्रीभगवान्के पक्षमें रहकर अपने प्रिय शरीरको प्रसन्नतासे

आपत्तिमें डालकर अपने प्रेम-धर्मका परिचय दिया। भालू-बंदरोंने पशु होनेपर भी सर्वात्मा श्रीभगवान्‌के निमित्त अपनेको अर्पण किया और व्रजके गोपबालकोंने गौके चरवाहे होनेपर भी श्रीभगवान्‌के लिये अपनेको अर्पण किया जिनको व्रजके विद्वान् याज्ञिक ब्राह्मणोंने भी नहीं पहचाना किन्तु उनकी स्त्रियाँ पहचानकर कृतार्थ हुईं। श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
(१०। १४। ३२)

'अहो! नन्दगोपके गोकुलमें बसनेवाले गौ, गोपबाल, गोपी आदि सबोंका कैसा परम भाग्य है; क्योंकि जो परमानन्दरूप सनातन पूर्ण ब्रह्म हैं वे अपने मन, वाणी आदिके अगोचर स्वभावको त्यागकर जिनके मित्र हुए हैं, उनके भाग्यका जितना वर्णन करें उतना थोड़ा ही है।'

इस भावके भावुकको कष्ट होनेपर उसके प्रेमकी मात्रा और भी अधिक बढ़ जाती है और उस कष्टको भी वह श्रीउपास्यकी कृपाका फल ही समझता है जिसको अपने अवशेष विकारके नाश होनेके लिये आया हुआ जानता है और इस प्रकार प्रसन्न रहता है। श्रीउपास्यका भेजा हुआ सभी कुछ उसके लिये अमृत है, और अमृत भी यदि श्रीउपास्यके सम्बन्धसे रहित हो तो वह उसके लिये विष है। लिखा है—

भवत्युदयतीश्वरे सुहृदि हन्त राजच्युति-
र्मुकुन्द वसतिर्वने परगृहे च दास्यक्रिया।

इयं स्फुटममङ्गला भवतु पाण्डवानां गतिः
परन्तु ववृधे त्वयि द्विगुणमेव सख्यामृतम् ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

पाण्डवादिके अज्ञातवासके समय श्रीनारदजीने कहा कि 'हे मुकुन्द ! तुम (श्रीभगवान्) पाण्डवोंके सुहृद् रहनेपर भी उनकी राज्यच्युति, वनवास और दूसरेकी दास्यवृत्ति आदि स्पष्ट अमंगलमयी दुर्गति हुई, तथापि इन पाण्डवोंका तुम्हारेमें सख्यामृतभाव द्विगुण बढ़ गया।'

इस भावमें भावुकका अन्तःकरण और आत्मा भी श्रीउपास्यके भावसे भावित अर्थात् तन्मय होनेके कारण वह श्रीउपास्यकी इच्छा और धर्मके नियमको अनायास ठीक-ठीक समझ जाता है और उसीके अनुसार उसका वर्ताव होता है। श्रीउपास्यके दैवी गुणोंका उसमें आविर्भाव होनेके कारण और तदनुसार ही उसका क्रियाकलाप और भावनाके रहनेके कारण मानो वह सदा श्री-उपास्यके साथ क्रीड़ा करता रहता है। श्रीउपास्यके कृपापुञ्जका जो अन्तरमें उसे साक्षात् रूपमें अनुभव हो रहा है और हृदयमें श्रीचरणामृतके रसास्वादनका जो सौभाग्य उसे प्राप्त है उसकी मात्रा और मधुरता इतनी बढ़ जाती है कि वह प्रायः अपनेको विस्मरण कर डालता है। जैसे मृग मधुर ध्वनिमें अनुरक्त होकर उसमें ऐसा आसक्त और तन्मय हो जाता है कि अपनेको एकदम भूल जाता है, ठीक वैसी ही अवस्था इस भावुककी उच्चदशामें होती है। जैसे मृग मधुर ध्वनिमें तन्मय होनेपर और वधिकसे पकड़े जानेपर समझता है कि वह

पकड़ा रहा है जिसके कारण उसका प्राण चला जायगा किन्तु ध्वनिके साथ अपने तन्मय प्रेमको वह त्यागना नहीं चाहता और अपने शरीरको खतरेमें डालकर भी अपने प्रेमका निर्वाह करता है अर्थात् भागता नहीं। वैसा ही यथार्थमें सच्चे प्रेमका कठिन परिणाम होता है। भावुक अपने हृदयक्षेत्रमें श्रीउपास्यके साथ जिस क्रीड़ामें रत रहता है उसका यथार्थ स्वरूप और उसके आनन्दका वर्णन शब्दोंसे नहीं हो सकता। योग्य भावुकको अब भी इस बाल-क्रीड़ामें योग देनेका सौभाग्य प्राप्त होता है, और यह क्रीड़ा ही संसारके लिये परम मङ्गलकारिणी है। अहंकार आदिको शुद्ध करके श्रीचरणमें समर्पण करनेपर और शुद्ध प्रेमके रंगसे रंजित होनेपर भावुक श्रीउपास्यका सखा बन जाता है और नित्य क्रीड़ामें सम्मिलित होता है जो जगत्के कल्याणके लिये सदा जारी है।

जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है प्रेमराज्यमें बाधा देने-वाले अधर्मरूपी राक्षसदलको पराभव करनेके कार्यमें जब श्रीभगवान् रघुनाथजी प्रवृत्त हुए तो मनुष्यकी कौन कहे भालू, बंदर, पशु और पक्षी जटायुतक ने उनके काममें योग देकर अपने प्रेमका परिचय दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि वे सब श्रीभगवान्के आत्मीय सखा बन गये। जटायुके मृत शरीरको श्रीभगवान्ने स्वयं अपने हस्तकमलसे दाह और उसकी क्रिया की, इससे अधिक श्रीभगवान्की भक्तवत्सलताका और क्या प्रमाण हो सकता है? श्रीभगवान्ने जटायुको उस समय जो कुछ कहा वह सखाभावका परम तत्त्व है और भावुकको हृदयमें उसे रत्न बनाकर रखना चाहिये।

श्रीमुखवचन है—

परहित बस जिनके मनमाहीं। तिन कहँ जग दुरलभ कछु नाहीं॥

(रामचरितमानस)

और भी—

कोमलचित्त अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥
गीध अधम खग आमिषभोगी। गति तेहि दीन्ह जो जाचत योगी॥

जो कहते हैं कि भारतवर्षमें एक जाति (नेशन) नहीं है और न थी उनको समझना चाहिये कि यहाँकी जातिमें मनुष्यको कौन कहे पशु-पक्षी भी शामिल हैं। ऐसी बृहत् जाति अन्य किसी देशमें नहीं है। इस समयमें भी जो इस श्रीराम-रावण (धर्माधर्म) के युद्धमें धर्मकी ओर होकर अधर्मके पराभव करनेमें योग देंगे, वे श्रीभगवान्के प्रिय सखाका दर्जा पावेंगे। किसने कितना कार्य किया अथवा कौन कर सकेगा, इसका श्रीभगवान् कुछ भी विचार नहीं करते किन्तु कार्य जिस आन्तरिक भाव और प्रेमसे किया जाय वही मुख्य है। इसी कारणसे श्रीभगवान्ने भालू, वंदरकी सहायता ली जिसके द्वारा संसारको दिखलाया गया कि वे केवल भाव चाहते हैं और छोटेकी सेवा उनको वैसी ही प्रिय है जैसे बड़ोंकी; बल्कि छोटेकी सेवा अधिक प्रिय है। लङ्का जानेके लिये समुद्रमें सेतुके बाँधनेमें एक गिलहरीने भी योग दिया जो सहर्ष स्वीकार हुआ। श्रीभगवान्ने अर्जुनको भी कहा कि मैं कौरवदल-को मार चुका हूँ, तुम केवल निमित्तमात्र होओ। इस युद्धमें श्रीभगवान्की विजय तो उनके अपने प्रभावसे अवश्य होती है

और होगी किन्तु बड़े सौभाग्यका विषय है कि श्रीभगवान् सब-को इसमें योग देनेका और प्रेमके विकास करनेका मौका देते हैं।

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी धर्मरूपी गौ-बच्छोंकी रक्षारूप सेवा स्वयं करते थे और अब भी करते हैं। श्रीवृन्दावनमें जो गोपबालक इस कार्यमें प्रवृत्त थे वे उनके बड़े प्रिय सखा हुए। इस धर्म-गौका दूध ज्ञान है और इस ज्ञानसे प्रेमरूप मक्खन निकलता है जो सेवारूपी मिश्रीसे युक्त होनेपर श्रीभगवान्का परम प्रिय भोग बन जाता है। श्रीभगवान् अब भी चाहते हैं कि भावुक इस धर्म (गो) रक्षाके कार्यमें प्रवृत्त होकर उनके सखा बनें। सखाभावकी उच्च अवस्थामें उपास्य और श्रीउपास्यमें बहुत कम अन्तर रह जाता है, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। यह भाव वह है जब कि प्रेमकी अधिकताके कारण भावुक श्रीउपास्यको आलिङ्गन करना चाहता है उनके साथ क्रीड़ा करना चाहता है और महाप्रभु श्रीभगवान् चैतन्यदेवजीके शब्दमें मारामारी (हाथाबाँही) करना चाहता है जैसा कि बचपन-में बालक अपने सखा बालकके साथ करते हैं। यह सबका सार्वजनिक अनुभव है कि बाल्यावस्थामें बालकोंको अपने साथी बालकोंके संग रहने, उनके साथ क्रीड़ा, भ्रमण, खेल, वार्तालाप, परस्पर सहायता आदिसे जो आनन्द मिलता है वैसा आनन्द फिर किसी अन्य सांसारिक भावमें नहीं मिलता। बाल्यकालमें बिना किसी चिन्ताके रहनेके कारण सखाओंके समागम और मित्रताका आनन्दानुभव बहुत मधुर होता है जिसको वह कभी भूल नहीं सकता, यहाँतक कि बहुत बड़े राज्यके पानेपर भी अथवा

अन्य सांसारिक उच्च भावमें वैसा स्वच्छ मधुर आनन्द उसको कदापि मिल नहीं सकता। जब कि सांसारिक सखाभाव ऐसा उत्तम है तो आनन्दके केन्द्र श्रीभगवान्‌के सखाभावके महत्त्व और आनन्दका कौन वर्णन कर सकता है? परम धन्य वह भावुक है जिसको श्रीभगवान्‌की कृपासे इस भावमें पदार्पण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ।

ऊपर कहे हुए अधर्मसे युद्ध करना और धर्म (गौ) की रक्षा और सेवा करना श्रीभगवान्‌की ऐसी सेवा है जिसमें बाह्य शस्त्र अथवा शारीरिक बलके प्रयोग करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें आवश्यक है कि यम-नियमरूप कवचको धारणकर और शम-दम-दया-प्रेम-परोपकाररूप आन्तरिक शस्त्रसे सुसज्जित होकर सेवा-भक्तिके बलपर निर्भर रहकर इस युद्ध और रक्षाके कार्यरूप सेवामें भावुक प्रवृत्त होवे। प्रेम, दया और परोपकार ऐसे शस्त्र हैं जिनसे अधर्मके दुर्दान्त कामादि दल सहजमें ही पराभव हो जाते हैं। इस सेवाकार्यमें प्रवृत्त भावुक कदापि किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करता, किसीकी हानि करनेकी कदापि चिन्ता नहीं करता बल्कि जो उसका अनिष्ट भी करना चाहते हैं उनकी भी हितकामना ही करता है और उनको भी द्वेष-हिंसासे मुक्त करनेकी भावना रखता है। प्रेममें बड़ी प्रबल शक्ति है जो पारसमणिके समान अपने स्पर्शसे लोहेको स्वर्ण बना सकता है, पत्थरको द्रवीभूत कर सकता है और इसका प्रभाव पशु, पक्षी वनस्पतितकपर भी पड़ता है, मनुष्यका तो क्या कहना है? कहा जाता है कि श्रीशुकदेवजीके गृहसे परिव्रजन (त्याग) करनेपर उनके सर्वात्म प्रेमभावके

कारण वृक्षोंके साथ भी उनकी तन्मयता (एकीभाव) देखी गयी और वृक्षने भी उनके पिता व्यासको जिज्ञासाका उत्तर दिया । इस युगमें भी महात्मा श्रीभगवान् बुद्धदेवजी, महात्मा ईसा, श्रीभगवान् चैतन्य महाप्रभु आदिने इस प्रेमधर्मके आचार्य बनकर इसके महत्त्वको प्रत्यक्ष करके दिखला दिया । श्रीभगवान् बुद्धदेवजी राजपुत्र होकर भी इस परम प्रेमके कारण केवल चिथड़े पहिनकर प्रायः मैदान अथवा बाँसके बागमें रहकर जगत्के कल्याणमें सदा प्रवृत्त रहते थे और उनकी आन्तरिक अभिलाषा यही थी कि विश्वके पापका फल उनके पास भोगनेके लिये आवे ताकि सबके सब सुखी हो जायँ । महात्मा ईसा शूलीपर लटकाये जानेपर भी अपने शत्रुओंकी क्षमाके लिये प्रार्थना की, क्योंकि वे समझते थे कि वे अज्ञानी हैं । भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभुने नवाबके काजी और जगाई-मधाई सरीखे डाकुओंको केवल श्रीहरिनाम और भगवत्प्रेमके बलसे उत्तम बना दिया । सखाभावका भावुक भी सबके साथ प्रेम करता है, सबके कल्याण की कामना करता है और प्रेमके प्रयोगसे हिंसा और द्वेषभावका पराभव करता है ।

वात्सल्यभाव

वात्सल्यभाव भी इस सख्यभावके अन्तर्गत है । श्रीभागवत पुराणका वचन है—

> न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
> नङ्क्ष्यन्ति नो मे निमिषो लेढि हेतिः ।
> येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
> सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥
> (३ । २५ । ३८)

'श्रीकपिलदेवजीने कहा कि हे मातः! जिनका प्रिय, आत्मा, पुत्र, सखा, गुरु, सुहृद् और इष्टदेवता मैं ही हूँ, उन एक मेरा ही आश्रय करनेवाले भक्तोंका शान्तरूप वैकुण्ठमें किसी प्रकार नाश नहीं होता है, क्योंकि मेरा कालचक्र उनको ग्रास नहीं करता।' वात्सल्यभावका तात्पर्य है कि जैसा मातापिताका मधुर स्नेह अबोध बालकमें रहता है जिसके कारण वह बालकके निमित्त बड़ी प्रसन्नतासे अनेक कष्ट सहते हैं और सदा-सर्वदा उनका चित्त उस बालककी मधुर मूर्ति और क्रीड़ामें संलग्न रहता है, वैसा ही भाव इस भावुकका श्रीउपास्यमें रहता है। उनमें यह प्रेम स्वाभाविक हो जानेपर वे सबपर दया करने लगते हैं। सन्तानके प्रति जो मातापिताका स्नेह, विशेषकर माताका रहता है उसका किंचित् वर्णन दासभावमें हो चुका है। वही भाव यहाँ उपासकमें भी परिवर्तित हो जाता है। श्रीउपास्यके वात्सल्यभावका ध्यान करते-करते उपासकमें स्वयं वात्सल्यभाव आ जाता है और वह श्रीउपास्यके प्रति वात्सल्यप्रेम प्रकाशित करने लगता है। कहा जाता है कि निरन्तर स्मरण-चिन्तनके कारण श्रीभगवान् वृन्दावनविहारी एक बार श्रीराधाके रूपमें परिवर्तित हो गये और श्रीमती राधाजीने श्रीभगवान्‌के स्वरूपको धारण किया। यह आश्चर्य नहीं है। प्रेमरूप पारसमें परिवर्तन करनेकी अवश्य सामर्थ्य है। वह प्रेमीको प्रेमपात्रके रूपमें परिणत कर देता है और अधिकता होनेपर एक भी कर देता है। उसी नियमानुसार श्रीउपास्यका परम कारुणिक वात्सल्य प्रेम जो संसारके प्रति है वह चिन्तनके बलसे उपासकमें प्रकट हो जाता है और

तब स्वयं श्रीउपास्य उस प्रेमके पात्र बन जाते हैं। ऐसे उपासक-को श्रीउपास्य बालमूर्ति बोध होते हैं जिनपर वह वात्सल्य प्रेमसे अपनेको निछावर करके तृप्त होता है ऐसा किये बिना उसे शान्ति नहीं होती। श्रीवल्लभसम्प्रदायमें यह भाव मुख्य है और वहाँ इस भावसे बड़े प्रेम और त्यागके साथ श्रीउपास्यकी मधुर सेवा की जाती है। ऐसे उपासक श्रीउपास्यकी बालक्रीड़ाका प्रत्यक्ष अनुभव कर माताके समान स्नेहसे प्रफुल्लित रहते हैं। श्रीकाकभुशुण्डि आदि भी इस मधुर बालमूर्तिके उपासक थे। श्रीदशरथजीमें तो यह भाव ऐसा प्रबल था कि वे वियोगको सहन ही नहीं कर सके। माता श्रीकौसल्याजी और श्रीनन्द-यशोदाजीको इस भावसे साक्षात् उपासना करनेका परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। श्रीशङ्करकी भी उपासना बालयोगी अथवा बटुकके रूपमें की जाती है। श्रीशक्ति-की भी उपासना बालारूपमें होती है। इस भावके भावुकको भी साक्षात् उपदेश मिलता है। श्रीनन्द-यशोदा आदिको उपदेश मिला था। जैसा कि गाय चरते रहने समयमें अपने बछड़ेसे अन्यत्र रहनेपर भी वह अपने चित्तको बछड़ेपर ही संनिवेशित रखती है और आवश्यक होनेपर चरना भी त्यागकर उसके पास आ जाती, और जैसा कि कछवी अपने बच्चेकी पुष्टि केवल स्मरणद्वारा करती है, जैसा कि माता अपनी सन्तानके लिये अपने कष्टको कष्ट नहीं समझती उसी प्रकार इस भावके भावुकका चित्त सदा-सर्वदा श्रीउपास्यपर अनुरक्त रहता है और वह अपने स्नेहकी वर्षा करनेसे ही तृप्त रहता है किन्तु उसके बदले-में कुछ नहीं चाहता, क्योंकि पितामाताको बालकसे बाल्यावस्थामें

उनकी सेवा-शुश्रूषाके वदले कुछ भी पानेकी आशा नहीं रहती है। सांसारिक वात्सल्यभाव भी निष्काम है, क्योंकि उसमें वर्तमान ही मुख्य है जिसमें वदलेमें कुछ पानेकी आशा नहीं रहती है। भविष्यत् तो अनिश्चित है, क्योंकि हो सकता है कि बालकके युवा होनेके पूर्व ही मातापिता शरीर त्याग करें और अनेक ऐसा करते भी हैं। यह वात्सल्यभाव सब प्राणियोंमें स्वाभाविक है, अतएव उत्तम है। पशुपक्षीमें भी यह भाव वर्तमान है। वे भी अपनी सन्तानके लिये स्वाभाविकरूपसे वड़ा स्नेह दिखलाते और उनकी तुष्टिके लिये सहर्ष अपनेपर कष्ट सह लेते हैं। पशु-पक्षियोंको तो अपनी सन्तानसे न कोई स्वार्थसाधनकी आशा रहती है और न कभी स्वार्थसाधन होता है किन्तु केवल स्वाभाविक प्रेमसे प्रेरित होकर ही वे अपनी सन्तानके प्रति स्नेह दिखलाते हैं और उनके दुःखसे दुःखित और प्रसन्नतासे प्रसन्न होते हैं और उनकी सेवामें निरन्तर रत रहते हैं। यदि सन्तानके लिये कोई कष्ट भी उठाना पड़े तो मातापिता उसे सहर्ष स्वीकार करते हैं। इस भावमें भी प्रेमपात्रके लिये निष्काम त्याग ही मुख्य है। ऐसा भावुक सदा-सर्वदा सेवा और त्याग करते रहनेसे ही प्रसन्न रहता है और इसमें व्याघात पानेसे ही वह विरहकी ज्वालामें पड़ जाता है जो उसके हृदयाश्रुके मोचनका कारण होता है। जैसे मातापिता सन्तानके वियोगसे परम कातर हो जाते हैं वही दशा इस भावके भावुककी भी होती है। इस भावमें वियोग अथवा सेवासे च्युति असह्य हो जाती है। वात्सल्यभावमें भी भावुकको प्रायः समय-समयपर वियोग प्रतीत होता है, जब कि उसके

परम स्नेहपात्र उसके हृदयसे अलक्षित हो जाते हैं जिसके होनेपर उसको बड़ी विरहवेदना होती है जो दुःखद होनेपर भी उसको शुद्ध ही करती है और उसके प्रेमकी परीक्षा कर उसकी मात्राको बढ़ा देती है। फिर मिलन होनेपर वह कृतकृत्य हो जाता है और तब उसके आनन्दकी सीमा नहीं रहती।

नामाभास, नामापराध और दिव्य अनुभव

श्रीमद्भगवद्गीता अ० ७ श्लोक १६ में कथन है कि चार प्रकारके सुकृतीगण भजन करते हैं—१ आर्त, २ जिज्ञासु, ३ अर्थार्थी और ४ ज्ञानी।

आर्त सांसारिक क्लेश और दुःखसे त्राण पानेके लिये प्रार्थना करते हैं जिसके कारण दुःख उनके लिये हित हो जाता है, क्योंकि वह उनके चित्तको श्रीभगवान्‌की ओर प्रेषित करता है। महात्मा कबीरने लिखा है कि—

दुखमें सुमिरन सब करे, सुखमें करे न कोय।
सुखमें जो सुमिरन करे, दुख काहेको होय॥
सुखके माथे सिल पड़े, जो नाम हृदैसे जाय।
बलिहारी उस दुःखकी, जो पलपल माहिं लगाय॥

इस प्रकार दुःखका आना हमलोगोंको यह स्मरण दिलाता है कि श्रीभगवान्‌से हमलोग विमुख हो गये हैं। किन्तु शोक है कि आजकल अधिकांश दुःख आनेपर भी भगवत्स्मरण नहीं करते। जिज्ञासु संसार और उसके भोग-विषयको दुःखमय, मायामय समझ उनसे विरक्त होकर सदाके लिये मायासे मुक्त होना चाहते हैं जो अवश्य उत्तम परमार्थ स्वार्थ है। अर्थार्थी आवश्यक पदार्थके

रहते भी भोग-लिप्साके कारण अधिक भोग-सामग्री चाहते हैं। ज्ञानी संसार और उसके कारण प्रकृतिको भी श्रीभगवान्‌की लीला-के अन्तर्गत जान और श्रीभगवान्‌को परमकारण, जगत्पालक, परमसुहृद् सबके अभ्यन्तरमें परमात्मरूपसे स्थित जान केवल श्रीभगवान्‌में उनके प्रीत्यर्थ और सेवार्थ युक्त होना चाहता है जिसका परिणाम यह होता है कि वह नित्ययुक्त होकर एकनिष्ठ भक्ति प्राप्त करता है और प्रेम पाता है और तब वह कालान्तरमें सर्वत्र श्रीभगवान्‌को देखता है (गीता ७। १७, १८, १९)। इन चारोंका उच्चभावमें अन्य अर्थ है।

उक्त सब प्रकारके साधकोंके भजनमें नाम-स्मरण मुख्य है और यथार्थमें नाममें अद्भुत शक्ति है। अजामिलको अपने मरनेके समय पुत्रका नाम 'नारायण' लेनेसे और अन्यको सूअरसे आहत होनेपर मरते हुए 'हराम' कहनेसे सद्गति हुई। किन्तु यह नामाभास है और नामाभासमें भी ऐसी शक्ति है। किसीका कथन है कि केवल मरणकालमें ऐसे नामाभाससे सद्गति होती है। किन्तु अन्य प्रकारका भी नामाभास है जिसके कारण नामका मुख्य उद्देश्य जो भगवत्प्रेमकी प्राप्ति है उसमें बाधा पड़ती है। नाम और नामीमें अभेद होनेसे यथार्थ नाम चिन्मय सूर्यके समान है जिसके चिन्मय, ज्ञानमय प्रेम-प्रकाशको देहाभिमानरूप जडाश्रय, भोग-लालसा, हृदय-दौर्बल्य आदि आच्छादित कर उसका केवल नामा-भास अर्थात् प्रतिबिम्बमात्र जड जगत्‌में देखनेमें आता है जिसका व्यवहार प्रायः सकाम कर्मी करते हैं। ऐसे नामाभासमें भी पाप-नाश करनेकी शक्ति है किन्तु यह भगवत्प्रेम नहीं दे सकता जिसके

विना भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती । श्रीश्रीचैतन्यचरितामृतके अन्त्यलीलामें भक्तिरसामृतसिन्धुका एक वाक्य उद्धृत है जो इसकी पुष्टि करता है—

तं निर्व्याजं भज गुणनिधिं पावनं पावनानां
श्रद्धारज्यन्मतिरतितरामुत्तमश्लोकमौलिम् ।
प्रोद्यन्नन्तःकरणकुहरे हन्त यन्नाम भानो-
राभासोऽपि क्षपयति महापातकध्वान्तराशिम् ॥

किन्तु आजकल नामाभासके अभ्यासमें भी सफलता नहीं होती है उसका कारण नामापराध है, तथा हृदय कलुषित रहनेके कारण श्रद्धाका अभाव आदि है। नामापराध ६४ हैं जिनमें मुख्य दश हैं जो ये हैं—(१) सज्जनोंकी निन्दा, (२) श्री-उपास्यदेवोंमें भेदबुद्धि, (३) गुरुकी अवज्ञा, (४) श्रुति और श्रुतिमूलक शास्त्रकी निन्दा, (५) नामके माहात्म्यको अर्थ-वाद अर्थात् यथार्थ न समझ रोचक मानना, (६) नामके भरोसे पाप-कर्म करना, (७) अन्य शुभकर्मके समान नामस्मरणको भी समझना, (८) श्रद्धारहितको नामोपदेश करना, (९) नामके ग्रहण करनेमें अनवधान और (१०) नामके माहात्म्य सुननेपर भी अहङ्कार और ममताके कारण उसमें प्रीति नहीं होना। अन्य ५४ नामापराधोंमें मुख्य ये हैं—(११) भक्तोंमें जातिभेद-बुद्धि, (१२) श्रीमद्भागवत और गीताको साधारण पुस्तक समझना, (१३) रासलीलाको कामचेष्टा समझना, (१४) श्रीभगवान्के महोत्सवके समय स्पर्शास्पर्शबुद्धि रखना, (१५) धर्म (कर्तव्य) के पालनमें आलस्य, (१६) साधुमहात्माओंके गुण-दोषोंकी

आलोचना करना, (१७) अपनेको उत्तम भक्त, धर्मात्मा, पण्डित या पुण्यवान् समझना, (१८) स्त्रियोंके चारों ओर घूमना अर्थात् कुत्सित-भावसे उनको देखना, (१९) काम-क्रोधादिकी चेष्टा करना, (२०) मादकद्रव्य सेवन करना, (२१) किसीको अपमानित करना अथवा मारना, (२२) नास्तिक, व्यभिचारी, हिंसक, लोभी और झूठ बोलनेवाले मनुष्योंका सङ्ग करना, (२३) विपत्तिमें श्रीभगवान्पर दोष लगाना, (२४) किसीको किञ्चित् भी कष्ट देकर अपनेको धार्मिक समझना, (२५) स्त्री, पुत्र, परिवार, आश्रित, दीन और साधुका पालनपोषण न करना, (२६) किसी वस्तुको अपने भोगके निमित्त प्रस्तुत कर श्रीभगवान्को निवेदन करना या बिना निवेदन किये भोजन करना, (२७) धर्म और श्रीभगवान्के नामको बेचकर धन कमाना, (२८) लोभवश किसीको भगवत्प्रसाद अथवा चरणोदक देना और (२९) किसी भी जीवको किसी प्रकारसे कष्ट पहुँचाना, भय दिखलाना अथवा किसीका अहित करना। श्रीचैतन्यचरितामृत (अन्त्य ४) में लिखा है—

'निरपराधे नाम लैले पाय प्रेमधन'

श्रद्धाकी परमावश्यकताके विषयमें गीताका वचन है कि श्रद्धावान्को ही ज्ञान अर्थात् परमप्रेमकी प्राप्ति होती है और अश्रद्धावान् संशयात्माका नाश होता है (४ । ३९, ४०) । जो श्रद्धासे जैसे भावमें अर्चा करनेकी इच्छा करता है, उसको उसीमें अचला श्रद्धा मिलती है जिसके कारण वह इच्छित फल लाभ करता है (७ । २१, २२) । श्रद्धाहीनको भगवत्प्राप्ति नहीं होती (९ । ३)

जीवात्माका आभ्यन्तरिक स्वरूप श्रद्धामय है जिसके कारण जिसकी जैसी श्रद्धा है वैसा ही उसका स्वरूप है (१७ । ३) । अश्रद्धाके कर्म असत् होते हैं (१७ । २८) । अतएव नामस्मरण आदि साधनामें श्रद्धा मुख्य है । श्रद्धा ऐसी प्रबल और ऐकान्तिक अनुराग-पिपासा है जिसके समक्ष सब इच्छाएँ दब जायँ और जो दिनरात वर्तमान रहे और उसकी पूर्तिके निमित्त परम व्याकुलता रहे और बिना उसके चैन न पड़े । इसकी साधना 'कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्' की भाँति की जाय । ऐसी प्रबल शुद्ध और सात्त्विक श्रद्धा अवश्य फलवती होती है ।

हरिभक्तिविलासमें लिखा है कि नाम शुद्ध अथवा अशुद्ध, अथवा सङ्केतसे भी अन्तरमें प्रवेश करनेसे त्राण करता है किन्तु पाषण्ड और शरीरके अहङ्कारके कारण लोभ और धन, जन, पुत्र, कलत्र आदिमें आसक्त रहनेवालेके हृदयमें पड़नेसे भी शीघ्र फल नहीं देता । जैसा कि—

> नामैकं यन्तु वाचिस्मरणपथगतं श्रोत्रमूलं गतं वा
> शुद्धं वाशुद्धवर्णं व्यवहितिरहितं तारयत्येव सत्यम् ।
> तच्चेद्देहद्रविणजनतालोभपाषण्डमध्ये
> निक्षिप्तं स्यान्न फलजनकं शीघ्रमेवात्र विप्र ॥

वैष्णवतन्त्रमें लिखा है कि १८ दोषोंके न रहनेसे भक्तका भागवत शरीर बनता है जो सर्वैश्वर्यमय और सत्य विज्ञानानन्द-का देनेवाला है । विष्णुयामलतन्त्रके अनुसार १८ दोष ये हैं—

> मोहस्तन्द्रा भ्रमो रूक्षरसता काम उल्बणः ।
> लोलता मदमात्सर्ये हिंसा खेदपरिश्रमौ ॥

असत्यं क्रोध आकाङ्क्षा आशङ्का विश्वविभ्रमः ।
विषमत्वं परापेक्षा दोषा अष्टादशो इति ॥

भागवती अर्थात् दिव्य (सिद्ध) तनुके निमित्त केवल शरीर और मनकी शुद्धि ही आवश्यक नहीं है किन्तु चिच्छक्तिके आश्रयसे चिन्मयभावकी प्राप्ति आवश्यक है ।

भक्ति-साधनाके निम्नलिखित क्रम हैं—

(१) सज्जन-सङ्ग, सज्जनके द्वारा श्रवण और उनके समान आचरण और दयाके कारण पर-हित-सेवा, (२) नाम, (३) रूप, (४) लीला, (५) धाम, (६) अहैतुकी सेवा और (७) आत्मार्पण । नवधा-भक्ति इसके अन्तर्गत हैं । प्रथम साधन-द्वारा नाममें प्रवृत्ति होती है और कलियुगमें नाम-स्मरणसे भक्तिकी प्राप्ति सहजमें हो जाती है जो अन्य युगमें सम्भव नहीं था । इसी कारण अन्य युगोंके साधक कलियुगमें जन्म लेनेकी वाञ्छा करते थे* । कीर्तन, भजन, स्तुति, स्तोत्र-पाठ नामके अन्तर्गत है जिसका परिणाम नामके परम मधुररसकी प्राप्ति है । ये आधिभौतिक हैं । नामका आधिदैविकभाव मानसिक जप-स्मरण है । रूपमें साकारोपासना और अर्चन आधिभौतिक है । अर्चन और उपासना वही यथार्थ है जब कि अभ्यन्तरके स्नेहसे की जाय । रूपके आधिदैविकभाव आनेसे श्रीइष्टदेवका दर्शन अभ्यन्तरमें होता है और तबसे प्रायः सेवा-पूजा मानसिक होती

---

* कृतादिषु प्रजा राजन् कलाविच्छन्ति सम्भवम् ।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३८)

है जो वाह्यसे उत्तम है, यदि भक्ति-भावसे की जाय। इस भावमें रूप-रसका आस्वादन होता है। लीलाकी आधिभौतिक साधना श्रीभगवान्‌की पावन लीलाका श्रवण दर्शन है और उनके दिव्य गुण-कर्मका अनुशीलन करना है। उनके मनुष्योचित गुण-कर्मका अनुकरण करना आधिदैविक है। सत्य, क्षमा, करुणा, निःस्वार्थ त्याग, सुहृदता, पर-हित-निरतता, शम, दम आदि श्री-भगवान्‌के दिव्य गुण-कर्म हैं जिनका अनुकरण साधकको करना चाहिये। धामका आधिभौतिकभाव तीर्थ, पीठ, विहार अथवा लीला-स्थल आदि हैं और इसका आधिदैविकभाव हृदय-क्षेत्र है जहाँ श्रीइष्टदेवका नियत वास है। साक्षात् सेवा यही है कि सब कर्मोंको अर्थात् जप, ध्यान, अर्चन आदिको भी श्रीभगवान्‌को अर्पण करना। जैसा कि हरिभक्तिरसामृतसिन्धुमें लिखा है—

दास्यं कर्मार्पणं तस्य कैङ्कर्यमपि सर्वथा।
कर्म स्वाभाविकं भद्रं जपध्यानार्चनादि च।
इतीदं द्विविधं कृष्णे वैष्णवैर्दास्यमर्पितम्॥

इन सब साधनाओंके आधिभौतिक, आधिदैविकभावकी साधना करनेसे इनके आध्यात्मिकभाव प्रकट होते हैं। नामका आध्यात्मिकभाव यथार्थ नाम जो चिन्मय है उसकी प्राप्ति है। यह श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि अथवा प्रणव है जो अन्तस्थ होनेपर स्वतः सुननेमें आता है। नामके चैतन्यमय होनेके विषयमें आदि-पुराणमें लिखा है—

नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

और भी इस विषयमें हरिभक्तिरसामृतसिन्धुमें लिखा है—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः ।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥
(पूर्वविभाग २ लहरी, ४३-४४)

ऊपरके कथनसे सिद्ध है कि यथार्थ आध्यात्मिक नाम इन्द्रियग्राह्य अर्थात् जिह्वा, श्रोत्रका विषय न होकर चिन्मय है जो पहिले भी कहा जा चुका है। यह सेवा करनेसे प्राप्त होता है और परमोच्चभाव है। यह वाक्‌की पश्यन्ती अथवा परा अवस्था है। रूपका आध्यात्मिकभाव हृदयमें श्रीइष्टदेवके तेजपुञ्जका प्राकट्य है जो परम रसमय, शान्तिमय है। किसी साधकको अन्तरमें दिव्यरूपका दर्शन स्वतः बिना परिश्रम, भावना अथवा चिन्ताके होता है और किसीको रूपका दर्शन न होकर केवल श्रीइष्टदेवके तेजपुञ्जका अनुभव होता है जो (पिछला) अवश्य उच्चभाव है। श्रीभगवान् सूर्य नारायण अथवा सविता हैं और उनका तेजपुञ्ज ज्योति अर्थात् प्रकाशमय है और जहाँ प्रकाश है वहाँ शब्द भी होता है, अतएव यह तेजपुञ्जकी ज्योति गायत्री अर्थात् चिन्मय प्रणव है जो वेदकी माता है। किन्तु यथार्थ चिन्मय अवाचक शब्द-ब्रह्मकी प्राप्ति बिना परा-शक्ति और सद्‌गुरुकी कृपासे नहीं होती है जो आत्मनिवेदनका परिणाम है। लीला और धामका आध्यात्मिकभाव हृदयके दिव्य प्रेम-चक्षुका खुलना है जिससे श्रीभगवान्‌का विश्वरूप देखनेमें आता है। तभी साधक ज्ञानी होता है जो सर्वत्र वासुदेवको देखता है (गीता ७।१९), इसके बाद ज्ञानी भक्त आत्मार्पण करनेयोग्य होता है।

साधनका उद्देश्य केवल आत्मार्पण करनेके लिये साधकको प्रस्तुत करना है। श्रीभगवान्‌की प्राप्ति अकारण करुणासे होती है न कि साधन-बलसे। यह खरीद-बिक्रीकी वस्तु नहीं है कि इतना करनेपर इतना अवश्य मिलेगा। लिखा है कि—'प्रेम न हाट बिकाय।' 'प्रेम-गली अति साँकरी तामें दो न समाय।' जब पराशक्ति कृपाकर अहंभाव, ममता, अज्ञान आदिका नाश ज्ञान-भक्तिके खड्गसे करती हैं और जब सब भावोंसे श्रीभगवान्‌के पाद-पद्ममें अर्पण करवाती हैं जो आत्मार्पण है, तभी प्रेम पाकर भगवत्प्राप्ति होती है अथवा यों कहिये कि श्रीभगवान् अकारण करुणासे प्रेम प्रदान कर अपनालेते हैं, अन्यथा यह कदापि सम्भव नहीं है। अतएव साधना करनी चाहिये किन्तु भगवत्प्राप्ति अथवा किसी कामनाके निमित्त नहीं किन्तु अहङ्कृतिभावको त्यागकर और सत् कर्मको श्रीभगवान्‌की शक्ति और इङ्गितसे होता हुआ जानकर निष्काम सेवाकी भाँति श्रीभगवान्‌के अकारण करुणापर भरोसा रख अहङ्कार, ममता आदि दोषोंको त्याग सब प्रकारसे शरणमें जाकर करनी चाहिये जो जीवात्माका परम कर्तव्य है, क्योंकि वह श्रीभगवान्‌का स्वयं अंश होनेके कारण शुद्ध स्वरूपकी दृष्टिसे सदा उनके साथ युक्त है, पृथक् नहीं। भिन्न भावना ही अनर्थका मूल है।

इस प्रकार भगवत्प्राप्तिके दोनों मार्ग हैं। साकारोपासनाद्वारा रूप-रसका आस्वादन होता है और निराकारोपासनाद्वारा दिव्य तेज़पुञ्जका आस्वादन होता है। दोनोंमें नाम-स्मरण और लीला अर्थात् दिव्य गुण-कर्मका अनुकरण और धाम अर्थात् हृदय-धाममें

वास और अहैतुक सेवा परमावश्यक हैं। पूर्ण आत्मसमर्पण होने-पर दोनों मार्ग एक हो जाते हैं।

विविध साधनासे ब्रह्मलोकतककी प्राप्ति होती है किन्तु आत्मार्पण करनेपर ही श्रीभगवान्‌की अकारण करुणाद्वारा उनके निज-धामकी प्राप्ति होती है। कर्मसे जिस लोककी प्राप्ति होती है उसके विषयमें श्रीभगवान्‌का श्रीमद्भागवत पुराणमें कथन है कि ऐसे लोक आदि-अन्तवाले, तुच्छ आनन्दवाले, परिणाममें दुःख देनेवाले तथा शोकसे व्याप्त हैं। जैसा कि—

आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः॥

(११।१४।११)

इस विषयमें श्रीमद्भागवत स्कन्ध २, अध्याय २ के २८ वें श्लोककी टीकामें श्रीधरस्वामी यों लिखते हैं—'परमोच्च लोककी प्राप्तिमें तीन प्रकारकी गति होती है। जो उत्कृष्ट पुण्य-बलसे ब्रह्मलोकमें जाते हैं वे अपने-अपने पुण्यके अनुसार कल्पान्तरमें नयी सृष्टिमें ऋषि अथवा देवता होते हैं। जो हिरण्यगर्भादिकी उपासनाके बलसे वहाँ जाते हैं वे ब्रह्माके जीवन-कालतक उस लोकमें रहकर ब्रह्माके साथ मुक्ति-लाभ करते हैं। जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डके अधीश्वर श्रीभगवान्‌की उपासना करते हैं वे अपनी इच्छासे (ब्रह्मलोकको अतिक्रम कर) ब्रह्माण्डको भेदन कर उस श्रीविष्णुके परमपदको लाभ करते हैं। अर्पितात्माकी तीसरी गति होती है।'

आत्मनिवेदनकी प्रस्तावना

दासभावमें श्रीउपास्य और विश्वको उनका अंश और रूप मानकर दोनोंकी सेवा की जाती है, सख्यभावमें उपासक श्रीउपास्य और उनके अंश विश्वको सखा मानकर दोनोंकी सेवा करता है, उसी प्रकार वात्सल्यभावमें भी श्रीउपास्य और उनके रूप विश्व इन दोनोंकी वात्सल्यप्रेमके कारण सेवा की जाती है। वात्सल्यभाववाला प्राणिमात्रपर दया करता है और उनके हितमें प्रवृत्त रहता है।

अन्तिम भाव आत्मनिवेदनके वर्णनके पूर्व यह आवश्यक है कि इसके पूर्वकी साधनाओंका उपसंहारकी भाँति सूक्ष्ममें उल्लेख हो, क्योंकि उनमें विना परिपक्व हुए भावुक आत्मनिवेदनके योग्य नहीं हो सकता। साधक शास्त्रके आदेशानुसार निष्काम कर्मयोग और अभ्यासद्वारा शरीर, इन्द्रिय और मनको शुद्ध और वशीभूत करता है और तत्पश्चात् परमार्थतत्त्वके सिद्धान्तोंको जाननेकी प्रबल जिज्ञासा होनेपर उन (सिद्धान्तों) का उपदेश पाता है और उनका अध्ययन करता है। सिद्धान्तके श्रवण, मनन, निदिध्यासनद्वारा साधकके चित्तकी वृत्ति अन्तर्मुख होती है और सूक्ष्म बुद्धिद्वारा वह उन (सिद्धान्तों)का ज्ञान और विश्वास प्राप्त करता है। किन्तु इतनेसे भी उसको शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि बुद्धिके सूक्ष्म हो जानेपर भी उसमें ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि परम शान्तिके आकर श्रीभगवान्‌के चरणकमलमें प्रवेश करे। कठोपनिषद्‌का वचन है कि—

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

अर्थात् 'सूक्ष्मदर्शी उत्तम और सूक्ष्म बुद्धिसे आत्माको देखते हैं।' यह प्राज्ञ-आत्मा जो कारण शरीरका अभिमानी है उसके लिये है, श्रीभगवान्के लिये नहीं। जब हृदयके शुद्ध होनेपर श्रीभगवान्के चरणारविन्दके रसास्वादनके लिये अन्तरात्मामें प्रबल पिपासा उत्पन्न होती है, तभी साधक भक्ति-मार्गके निकट पहुँचता है, अन्यथा नहीं।

साधक इस पिपासाके वेगके कारण श्रीभगवत्सम्बन्धी वार्ताके सुननेके लिये व्याकुल रहता है जिसके प्राप्त होनेपरही उसकी व्याकुलता किञ्चित् कालके लिये मिटती है। जहाँ कहीं श्रीभगवत्-सम्बन्धी गान, कीर्तन, भजन, कथा, व्याख्यान आदि होते हैं वहाँ, वहाँ जाकर वह प्रसन्नता लाभ करता है, मानो मरुभूमिमें तृषित पथिकको जल मिल गया। इसके बाद वह स्वयं श्रीभगवान्के यश, कीर्ति, चरित्र और उनके तत्त्वके रहस्योंका कीर्तन और उपदेश करना प्रारम्भ करता है ताकि श्रीभगवान्का नाम और पवित्र चरित्र विश्वमें फैले और सर्वत्र मंगल और शान्ति प्रदान करे, जैसा कि उसने स्वयं बोध किया है। वह कीर्तनद्वारा श्रीभगवान्के पावन नाम और यशको सर्वत्र प्रचारकर संसारके तापको शान्त करता है। जब साधकका कीर्तनद्वारा चित्त और बुद्धि श्रीभगवान्में आकर्षित हो जाती है, तब वह श्रीभगवान्के चरणके आश्रय बिना रह नहीं सकती। श्रीभगवान्का कीर्तन परम सुखद एक प्रकारका सत्सङ्ग है जो श्रोता-वक्ता दोनोंके लिये शान्तिप्रद है। साधकका मन श्रीभगवान्में अर्पित होनेपर वह अपने सांसारिक कर्तव्यके सम्पादनमें लगे रहनेपर भी मनको श्रीचरणसे पृथक्

नहीं करता। तत्पश्चात् श्रीचरणका निरन्तर स्मरण, ध्यान और सेवाद्वारा श्रीभगवान्‌का अस्तित्व सर्वत्र सबमें अनुभव करता है जिससे सर्वात्मभावका उसे किञ्चित् बोध होता है। उसे अर्चनद्वारा श्रीभगवान्‌के श्रीचरणके चरणामृत (तेजपुञ्ज) के पान करनेका सौभाग्य प्राप्त होता है जिसके कारण वह अपनेको भी प्रायः भूलने लगता है और ऐसा होनेपर जगत्‌के मंगलके लिये वह एक केन्द्र-सा बन जाता है।

वह वन्दनद्वारा श्रीभगवान्‌के विश्वरूपकी सेवा करता है और दासभावमें प्रवृत्त होकर सब कामोंको श्रीभगवान्‌हीके निमित्त करता है, कदापि अपने स्वार्थके लिये नहीं। इस अवस्थामें व्यवहार और परमार्थ एक होकर दोनों श्रीभगवान्‌की सेवामें परिणत हो जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीताका वचन है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥
(९।१४)

'कोई-कोई निरन्तर मेरे कीर्तनमें प्रवृत्त रहकर, कोई-कोई अविचल मनसे मेरे लिये परिश्रम करते हुए, कोई-कोई भक्तिसे मुझको प्रणाम करते हुए और कोई-कोई मुझमें चित्त संनिवेशित करके मेरी उपासना करते हैं।' सख्यभावमें वह श्रीउपास्यका विशेष सन्निकटवर्तीभाव प्राप्त करता है और विशेष प्रियपात्र बन जाता है जब कि श्रीउपास्यके आदेश और उपदेशका उसे अनुभव होता है।

श्रीभगवान्‌के अपने आनन्दभावके वितरण करनेका शुभ संकल्प ही सृष्टि (नानात्व)का कारण है। यह संकल्प ही उनकी

आनन्दमयी पराशक्ति है जो परमप्रेमस्वरूपा है। इस प्रेम-संकल्पको कार्यमें परिणत करनेको वेदने पुरुष-यज्ञ (प्रेमयज्ञ) कहा है जिसके द्वारा सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और पालन होते हैं; और आनन्दका विकास ही इसका लक्ष्य है, जैसा कि कहा जा चुका है। अर्थात् श्रीभगवान्‌का अपनी शक्तिसे युक्त होकर सृष्टिका उद्भव, स्थिति और पालन करना ही उनके लिये यज्ञ (त्याग) करना है, क्योंकि इसके लिये उनको अपनेको अपनी मायासे आबद्ध करना पड़ता है और अपरिच्छिन्न रहनेपर भी परिच्छिन्नभाव ग्रहण करना पड़ता है जिसके बिना सृष्टिका उद्भव सम्भव नहीं है। श्रीभगवान् स्वयं और स्वेच्छासे अपनी प्रेम-स्वरूपा पराशक्तिके आश्रयसे यह प्रेमयज्ञ करते हैं जो उनके लिये निष्काम त्याग है, क्योंकि इसके द्वारा अपने आनन्दभावका वितरण कर दूसरोंको उससे परितृप्त करनेके सिवा उन्हें अपना कोई स्वार्थ इसमें नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीताका वचन है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(३। २२)

'हे पार्थ! मैं कर्म (प्रेमयज्ञ) के करनेमें बाध्य नहीं हूँ, क्योंकि तीनों लोकोंमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मुझे अप्राप्त है अथवा जिसकी प्राप्ति मुझे करना चाहिये, तथापि स्वेच्छासे (यज्ञके भावसे) कर्म (प्रेमयज्ञ)में प्रवृत्त होता हूँ।'

किन्तु यह प्रेमयज्ञ श्रीभगवान्‌के लिये क्लेशजनक न होकर आनन्दमूलक है, चूँकि प्रेमका यथार्थ स्वरूप ही आनन्द है और

उसमें क्लेशका लेशमात्र भी रह नहीं सकता। अतएव प्रेम, यज्ञ और आनन्द एक दूसरेसे स्वतन्त्र और पृथक् नहीं हैं और न हो सकते हैं। प्रेमका अस्तित्व ही त्याग (यज्ञ) पर निर्भर है और त्यागका लक्ष्य ही आनन्द है जो प्रेमका स्वरूप है। इस सृष्टिका जीवन ही यह प्रेमानन्दयज्ञ है। जहाँ प्रेम है वहाँ यज्ञ है और जहाँ यज्ञ है वहाँ प्रेम है। प्रेम विना यज्ञ (त्याग) में परिणत हुए रह नहीं सकता और यज्ञ विना प्रेमके हो नहीं सकता है। इस परमयज्ञका स्वरूप ही स्वेच्छा और प्रसन्नतासे निष्काम त्याग करना है जिसका सम्पादन ही आनन्दमूलक है।

यह प्रेम शब्द-ब्रह्म और प्रणवकी आत्मा है जो सृष्टिका कारण और यज्ञकी माता है। प्रेम और यज्ञ (त्याग)का संयोग ही आनन्द है। यह त्रिपुटी (प्रेम, यज्ञ और आनन्द) स-शक्ति श्रीभगवान्के परमभाव हैं और इन्हींका विकास यह परमसुन्दर विश्व-वाटिका है। श्रीभगवान्के सच्चिदानन्दभावमें प्रेम सत्, यज्ञ चित् और आनन्द आनन्दभाव हैं और उनकी पराशक्तिमें भी प्रेम ह्लादिनी (परमप्रकाशमयी ज्योति) शक्ति, यज्ञ संवित् (चित्) शक्ति और आनन्द सन्धिनीशक्ति हैं। इस परमयज्ञका नाम वैष्णवग्रन्थोंमें श्रीभगवान्की नित्यलीला अथवा क्रीड़ा अथवा विहार कहा गया है, और इसके लक्ष्य आनन्द वितरणका नाम विलास भी है। चूँकि यह सृष्टिव्यापी प्रेम-यज्ञ श्रीभगवान्की परमकरुणा और माधुर्यभावका प्रकाशक है जिसमें त्यागके सिवा कोई स्वार्थ नहीं है, अतएव यह यथार्थमें उनकी परम माधुरी लीला ही है जिसका केवल उद्देश्य प्रेमानन्दका सर्वत्र प्रचार करना है। यह प्रेमयज्ञ ही

इस चिद्रूपी विश्व-वाटिकाका कारण, आधार, जीवन, नियम और गति है। लिखा है—

एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति। (बृह० उ० ४। ३। ३२)

'आनन्द ही जीवकी परमगति, परमसम्पत्, परमलोक और परम आनन्द है। इस आनन्दके कणमात्रको पाकर सब जीते हैं।' इस परमयज्ञका मुख्य लक्ष्य इस विश्ववाटिकाको तर्पित-कर श्रीभगवान्के प्रेमी भक्तरूप मनोहर पुष्पोंका विकास करना है जो अपनी दैवी सुगन्धिसे इसको सुवासित और प्रफुल्लित-कर और स्वयं श्रीचरणमें समर्पित होकर इस यज्ञके उद्देश्य-को पूर्णकर विश्वको परितृप्त करें। इस कारण इस मङ्गलमय सृष्टिमें जहाँ देखिये वहाँ, कहीं इस प्रेमयज्ञका अन्वेषण, कहीं संकल्प, कहीं वेदी, कहीं यजमान, कहीं आचार्य, कहीं होता, कहीं आयोजना, कहीं सामग्री, कहीं कुण्ड, कहीं अग्नि, कहीं मन्त्र, कहीं देवता और कहीं अनुष्ठान हैं। सूर्य ज्योतिसे, चन्द्रमा रश्मिसे, मेघ वर्षासे, वायु स्पन्दनसे, आकाश विस्तारसे, अग्नि उष्णतासे, जल रससे, पृथ्वी गन्धसे, उद्भिज्ज अन्न, फल, ओषधिसे, पशु शरीरसे, पक्षी शब्दसे, और देवर्षि-पितृ अन्तर्हित कार्यसे प्रेमयज्ञ ही कर रहे हैं। यद्यपि इनमेंसे किसीको इस यज्ञसे अपना कोई स्वार्थ-साधन नहीं है, तथापि इसमें योग देकर और उसके द्वारा श्रीभगवान्के आनन्दभावका वितरण कर उनकी विश्व-हित सेवा कर रहे हैं और औरोंको इस महत् कार्यमें प्रवृत्त

करनेके लिये उच्च और स्पष्ट स्वरसे उपदेश ही नहीं, किन्तु आवाहन भी कर रहे हैं। वे स्पष्टरूपसे कहते और बतलाते हैं कि यह विश्व ही प्रेम-यज्ञ है और जो इस प्रेमयज्ञमें प्रवृत्त होना नहीं चाहता उसके लिये यहाँ स्थान नहीं है। विश्व (ब्रह्माण्ड) में मनुष्य (पिण्डाण्ड) भी सूक्ष्म ब्रह्माण्ड होनेके कारण इस प्रेमयज्ञका ही फल है, प्रेमयज्ञके ही लिये यह सृष्ट है। इसीका यह क्षेत्र है और यही उसमें साक्षात् अथवा असाक्षात्, ज्ञात अथवा अज्ञात, हो भी रहा है। किसकी सामर्थ्य है जो इस प्रेम-यज्ञका विरोध करके ठहर सके? प्राचीन कालमें रावणादि बड़े-बड़े प्रतापियोंने इसके विरुद्ध होना चाहा किन्तु बड़े प्रभावशाली होनेपर भी अन्तमें उनकी हार हुई। यह प्रेम-यज्ञ, जिसमें दूसरोंके हितके लिये अपनेको स्वाहा करना पड़ता है, ऋषि-धर्म है। दूसरोंको कष्ट देकर अपना स्वार्थसाधन करना इसके विरुद्ध कर्म है जिसको आसुर-भाव कहते हैं। दूसरोंको विना हानि पहुँचाये केवल अपने स्वार्थ-साधनमें रत रहना, अथवा कुछ पाने-पर ही उसके बदलेमें कुछ देना, देवता-भाव है। देवासुर-संग्रामका तात्पर्य ही है कि दूसरोंको कष्ट देकर स्वार्थसाधन करना जो आसुरभाव है उसको पराभव करना और इस संग्राममें असुरोंकी पराजय अवश्य होती है, क्योंकि वह सृष्टिके नियम (प्रेम-यज्ञ) के विरुद्ध है। आसुरभावको देवभाव (सकाम-यज्ञ) से पराजय कर फिर उसको ऋषिभाव (प्रेम-यज्ञ) में परिणत करना अन्तिम लक्ष्य है। इस विश्वमें सर्वत्र यही त्रिपुटी (प्रेमानन्दयज्ञ अथवा प्रेमानन्दलीला) देखी जाती है। विश्वमें कोई ऐसी वस्तु है ही नहीं जो इनसे खाली

हो । यही वेद-शास्त्र है, यही योग-जप है, यही नियम-धर्म है, यही ज्ञानज्ञेय है, यही भावभक्ति है, यही इष्ट-अनिष्ट है, यहाँतक कि रागद्वेष, सुखदुःख आदि द्वन्द्व भी इस त्रिपुटीसे बाहर नहीं हैं। जैसा कि प्रकाशके अस्तित्वके साथ-साथ उसके विरोधी अप्रकाश (तम)का भी अस्तित्व आ जाता है, सत्‌के साथ असत्, चित्‌के साथ जड, आनन्द (एकता) के साथ विच्छेद (शोक), इसी प्रकार प्रेमानन्दलीलामयी पराशक्तिके कारण उसकी विरोधिनी अपराशक्ति (मूलप्रकृति) का भी प्रादुर्भाव हुआ जिसका उद्देश्य विरोधद्वारा पराशक्तिकी प्रकृष्टताको दिखलाना है।

प्रेम-यज्ञको सृष्टिकी किसी वस्तुसे भय नहीं है, क्योंकि इस सृष्टिकी उत्पत्ति और स्थिति इसीके लिये है। मूल-प्रकृतिके त्रिगुण (रज, सत्त्व, तम) में भी इस त्रिपुटीकी छाया पड़ी है जिसके कारण रजोगुणमें क्रिया (यज्ञ), सत्त्वगुणमें सुख (आनन्द) और तमोगुणमें केवल सत्ता (प्रेम) देखे जाते हैं।

विश्वमें प्रत्येक जीवात्मा तो यथार्थमें आनन्द ही अन्वेषण करता है जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। किन्तु मनुष्य प्रकृतिके गुणोंके भुलावेमें पड़कर उसको प्रकृतिके विषय (पदार्थ) में ढूँढ़ता है और उसमें प्रेमकी त्रिपुटीकी छाया रहनेके कारण उससे उसको थोड़े कालके लिये किञ्चित् सुख भी मिलता है जिसके कारण उसकी स्पृहा बढ़ती जाती है। अतएव लोभी लोभमें, क्रोधी क्रोधमें, कामी काममें, मानी मानमें, दुष्ट दुष्टतामें, चोर चोरीमें और ऐसे अन्य भी इसी प्रेमानन्दकी ही खोज, अज्ञानके

कारण यथार्थको न जानकर अयथार्थमें कर रहे हैं, और आनन्दके बदले दुख पा रहे हैं। जब जीवात्मा विषयभोगके अयथार्थ सुखके बाद दुःखयन्त्रणा भोगता है तब उसकी आँख खुलती है और तबसे वह प्राकृतिक गुणोंके फंदेसे मुक्त होनेका यत्न करता है। प्रेम-यज्ञ (परमार्थ-साधन) के विरुद्ध कर्म (स्वार्थ-साधन) करनेसे और उसमें बाधा पहुँचनेसे पराशक्ति (सृष्टिस्वभाव) उसको ठीक करनेकी चेष्टा करती है और इस चेष्टाको ही दुष्ट-कर्म-फलभोग कहते हैं; अर्थात् बाधाजनित क्षोभके शान्त करनेकी चेष्टाके ही कारण बाधा करनेवालेको दुष्ट फल भोगना पड़ता है जिसके कारण उसको धीरे-धीरे ज्ञान होनेसे वह सुधरता है। दुष्ट कर्मके फलके रूपमें कष्टका आना भी कर्ताकी भलाईके लिये ही है; अतएव श्रीभगवान्‌की ओरसे साधकके लिये कष्टप्रदान भी प्रेमके ही कारण है। अतएव विश्वमें जहाँ कहीं कष्ट और क्लेश है वह श्रीभगवान्‌की दयाका ही परिणाम है; ताकि दुःखसे ज्ञान होकर असुरभावका पराभव हो। जीवात्माको अभ्यन्तरके असुरदल (स्वार्थविषयभोगेच्छा) की कैदसे मुक्त करनेके लिये ही दुःख भेजकर ज्ञानबलका सञ्चार कराया जाता है। किन्तु इसमें विशेषता तो यह है कि जीवात्मा जिस जन्ममें, जिस समयमें, जिस दुःखकी जितनी मात्रा सहने योग्य रहता है उतना ही उसको प्रारब्धके रूपमें कर्मफल मिलता है; अवशेष सञ्चितकी भाँति रहता है जो सहन करनेकी सामर्थ्यके आनेपर ही धीरे-धीरे आता है। अतएव इस कर्मफलकी नीतिमें भी श्रीभगवान्‌की दयाका प्रमाण मिलता है।

प्रेमयज्ञमें प्रवृत्त होनेसे ही प्रकृतिके त्रिगुणके विकार शुद्ध हो जाते हैं। प्रेमयज्ञके अनुष्ठानसे तमोगुणके आलस्यका पराभव होकर सेवा-भाव प्राप्त होता है, और रजोगुणका स्वार्थ भी परमार्थमें परिणत हो जाता है और सत्त्वगुणके सुखका बन्धनकारी भाव त्याग और तज्जनित आनन्दमें परिणत होनेसे शुद्ध हो जाता है।

किन्तु यह परिवर्तन (ऊर्ध्वगति) अर्थात् ईश्वरोन्मुख होना क्रमशः होता है। पहले मनुष्य उस प्रेमकी किञ्चित् छाया अथवा कणमात्रको पाकर उसको स्त्री-पुत्र आदिके लिये व्यवहार करता है अर्थात् उनके सुखकी सामग्रियोंको जुटानेमें अपनी शक्ति और समयको व्यय करता है जिसके कारण उसकी अहंता स्त्री-पुत्रतक बढ़ जाती है। किन्तु इससे भी उसे शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि वह स्त्री-पुत्रसे अपने लिये सुख चाहता है, अतएव यह त्याग स्वार्थमूलक है, और जबतक स्वार्थ है, तबतक शान्ति कहाँ? इसके बाद वह पड़ोसियोंमें अपनी ममताको बढ़ाता है जो उससे उत्तम है किन्तु यहाँ भी स्वार्थ है, क्योंकि पड़ोसियोंसे भी कभी कोई सहायता मिलनेकी आशा रहती है। इससे उच्चभाव मित्र और दुखियोंके लिये त्याग है। ऐसे उदाहरण इस समयमें भी देखे गये हैं, जिसमें मित्रने मित्रके लिये अपनी सम्पत्तिको अर्पण कर दिया और ऐसा कर मित्रके दुःखको मिटाकर उसको अपने ऊपर लिया। परम उच्चभाव वह है जब कि प्रेमी चाहता है कि वह जो कुछ प्रेमपात्रके आनन्दके लिये भावना अथवा कार्य करे उसकी सुधि प्रेमपात्रतकको न हो। यह निष्काम प्रेमकी चरम सीमा है।

इतनेपर भी जीवात्माको शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि शान्ति (आनन्द) के सरोवर केवल श्रीभगवान् हैं और उनके परम शुद्ध अंशमें भी शान्ति केवल कणमात्र है जिससे किञ्चित् शान्ति तो मिल सकती है किन्तु परमशान्ति, जिसके अन्वेषणके लिये जीवात्मा स्थान-स्थानमें अनेक कालसे भटक रहा है और दुःख भी उठा रहा है, वह बिना श्रीचरणके आश्रयके कैसे मिल सकती है? श्रीस्वामी रामानुजाचार्यने अपने श्रीभाष्यमें इस विषयकी एक प्राचीनोक्ति उद्धृत की है—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः ।
प्राणिनः कर्मजनितसंसारवशवर्तिनः ॥
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः ।
अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः ॥

'ब्रह्मासे लेकर घासपर्यन्त सब वस्तु जो संसारमें हैं वे कर्मानुसार जन्ममृत्युकी भागी हैं। अतएव वे ध्यानके विषय होनेमें सहायक नहीं हो सकतीं, क्योंकि वे सब अज्ञानपरायण और परिवर्तनशील हैं।' शाण्डिल्य-सूत्रके भाष्यकार श्रीस्वप्नेश्वर भी इस विषयमें लिखते हैं,—'भगवन्महिमादिज्ञानादनुपधाज्ञायमानत्वादनुरक्तिरित्युक्तम्' अर्थात् श्रीभगवान्‌के गुणकर्मके ज्ञान होनेपर जो अनुरक्ति होती है वही भक्ति है।

जैसा कि सूर्य समुद्रके जलको अपनी रश्मिके संयोगसे परिवर्तनकर मेघ बनाकर वर्षा कराते हैं और वह जल नद, नदियोंमें होता हुआ भी, अपने आदिकारण समुद्रके प्रेमके कारण उसकी ओर ही आकर्षित होकर, उसीमें प्रवेश करनेपर शान्त

होता है, अन्यथा नहीं, उसी प्रकार चिच्छक्तिके स्पन्दनके कारण जीवात्माके श्रीभगवान्‌रूपी प्रेमसरोवरका प्रेमांश (चिदंश) रूपी एक बिन्दु अथवा हंस होनेके कारण उसका प्रकृतिमें बद्ध रहना अर्थात् नद, नदियोंमें घिरा रहना ही प्रवास और विच्छेद है, जिस विच्छेददुःख (विरह-ज्वाला) अथवा पिपासाकी तभी शान्ति होगी जब कि वह प्रेम-सरोवरमें पहुँचेगा, अन्यथा नहीं। यह हंस अपने प्रवासमें अपने स्वरूपको भूल जाता है और अपनेको काक (अहङ्कार) मानकर गँदले डाबर (विषय-भोग) के जलको पीकर कलुषित और दुःखित होता है। जब इस हंस (जीवात्मा) को अपने यथार्थ निवासस्थान मानसरोवर (श्रीभगवान्‌के चरणों)का स्मरण होता है और पता (ज्ञान) चलता तथा कुछ सन्देशा भी मिल जाता है और राह दिखानेवाले (श्रीसद्‌गुरु)से भी सम्बन्ध हो जाता है, तब वह उस ओरकी यात्रामें प्रवृत्त होता हैं।

इस प्रेम-पथिक हंसकी यह यात्रा बड़ी लंबी होती है और मार्गमें अनेक विघ्नबाधा भी उपस्थित होती हैं जिनसे छुटकारा पाना उसके लिये बड़ा कठिन हो जाता है। इसको मार्गमें विषय-भोगरूप अनेक सुन्दर और मनोहर स्थान और पदार्थ मिलते हैं जिनको देखकर इसका चित्त बड़ा आकर्षित हो जाता है और ऐसी भावना उठती है कि उन्हींमें अनुरक्त होकर वह क्यों नहीं अपनेको सुखी करे और मार्गके कष्टसे छुटकारा पावे; क्योंकि हो सकता है कि उसका अन्तिम लक्ष्य काल्पनिक हो अथवा उसके लिये अप्राप्य हो। इस प्रकार उसके प्रेमकी परीक्षा की जाती है। किन्तु प्रवीण

पथिक मार्गके भुलावेमें कभी नहीं पड़ता, क्योंकि वह अपने लक्ष्य (श्रीउपास्य) में ऐसा तन्मय और स्नेहसे आबद्ध रहता है कि अब उसके लिये उससे मुँह मोड़ना दुःसाध्य ही नहीं किन्तु असम्भव है। उसने श्रीसद्गुरुकी कृपासे प्रियतम श्रीउपास्यकी झलकको देखा है और भी उनके चरणारविन्दसे प्रवाहित तेज-पुञ्ज-रूपी निर्मल आकाशगङ्गाके अमृतरसका आस्वादन किया है जिसके कारण वह अब कैसे लक्ष्यसे विमुख हो सकता है? सरोजका मधुकर निकृष्ट गन्धपर कैसे आसक्त हो सकता है? श्रीमहात्मा कबीरने इस अवस्थाके वर्णनमें यों कहा है—

हंसा पाये मानसरोवर तालतलैया क्यों डोलै।

अब उसको यह बोध होता है कि श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्यकी असीम कृपासे और सहायतासे ही वह इस परम दुर्गम मार्गमें अग्रसर हो रहा है और मार्गकी कठिनाइयाँ और विघ्नोंको (ऐसी सांसारिक अड़चन और विषयवासनाकी प्रबलता जो परमार्थकी विरोधी हैं) उन्हींकी शक्तिसे वह अतिक्रम कर रहा है। यद्यपि वह उनकी इस अकारण कृपाके पाने योग्य नहीं है, और वह उन दोनों त्राणकर्ताओं (गुरु और इष्ट) को विस्मरण भी कर रहा है और उसकी दृष्टि अनवरत लक्ष्यकी ओर नहीं है जो होनी उचित थी तथापि वे उसको विस्मरण नहीं करते। वह समझता है कि 'मैं प्रायः ऐसी भावना रखता और करनी करता हूँ जो उनके विरुद्ध हैं तथापि वे मेरी सुध ले रहे हैं और कठिन पथमें अग्रसर करा रहे हैं।' इतना ही नहीं, वह जानता है कि कोई भी व्यक्ति, कैसा भी क्षुद्र वह क्यों न हो, उनकी

दयासे वञ्चित नहीं है, वल्कि जो प्राणी जितना ही नीचे सृष्टिके विकासके क्रममें है, उतना ही अधिक वह उनकी करुणाको प्राप्त कर रहा है यद्यपि उसको यह ज्ञान नहीं है। यथार्थमें श्रीगुरु वा उपास्यका जो स्नेह (दया) संसारपर है, वह अपनी सन्ततिपर माताके स्नेहसे भी अधिक प्रगाढ़ और त्यागमूलक है। पद-पदपर जीवोंकी वे रक्षा करते हैं और जो जितनेके योग्य हैं उसको उतना प्रसाद (शुभवासना) मिलता है। श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्यकी इस अवर्णनीय कृपा और मधुरभावका वहुत वड़ा प्रभाव ऐसे श्रद्धालु भावुकपर पड़ता है जो विवेचना करता है और उसके कारण उसका हृदय पिघल जाता है, चित्त स्वच्छ हो जाता है और अहङ्कारका अवशेष भाग शुद्ध हो जाता है और उसके प्रेमकी मात्रा श्रीचरणोंके लिये इतनी बढ़ जाती है कि अपनेको बिना समर्पण किये उसे शान्ति नहीं मिलती।

ऐसा भावुक श्रीभगवान्‌के विश्वव्यापी प्रेमयज्ञमें समर्पण करनेके लिये अपनी प्रिय वस्तुको शुद्धकर एक-एक करके इस यज्ञमें स्वाहा करता है जिसके करनेपर ही उसको प्रसन्नता होती है अन्यथा वह बड़ा दुःखी रहता है। ऐसे भावुकमें उस समय प्रवल विरह-ज्वाला भी और जागरित हो जाती है जब कि उसको इस प्रेमयज्ञमें अपनेको स्वाहा करनेमें बाधा होती है। प्रेमयज्ञमें अपनेको स्वाहा करना प्रेमीके साथ एकीकरण है और ऐसा न करनेसे पृथक् रहकर विच्छेददुःखका भोगना है। श्रीभगवान्‌के माधुर्य आदि भावोंका ज्ञाता भावुक कदापि उनसे पृथक् रहना सहन नहीं कर सकता, उसको उनकी नित्यलीलामें बिना शामिल

हुए जीवन भी बहुत भार और दुःखद-सा माल्रम होता है और इसकी प्राप्तिके लिये प्रेमाग्निमें स्वाहा करना उसके लिये स्वाभाविक भाव हो जाता है। भावुक प्रथम शरीरको अर्पित करता है, किन्तु इससे जब उसकी तृप्ति नहीं होती है, तब क्रमशः वचन, मन, बुद्धि और अहङ्कारको अर्पण करता है। इतनेपर वह अपने समर्पणको यथेष्ट नहीं समझता। फिर वह श्रीउपास्यके दीर्घ विच्छेदको सहन न कर आत्मनिवेदन करके शान्त होता है। बिना आत्मनिवेदन-के न प्रेमकी पूर्ति हो सकती है और न प्रियतमका मिलन हो सकता है। कहा है कि 'प्रेमगली अति साँकरी तामें दो न समाहिं'।

कथा है कि एक प्रेमीने अनेक दिनोंके बाद अपने प्रियतमके दरवाजेपर आकर भीतर प्रवेशके लिये पुकारा। उत्तर मिला 'कौन है?' उसने कहा—'मैं तुम्हारा प्रेमी हूँ,' किन्तु दरवाजा नहीं खुला। उसने वापस जाकर फिर अनेक दिनोंके बाद आकर भीतर प्रवेश चाहा और 'मैं तेरा रूप ही हूँ' कहकर परिचय दिया जिस-पर उत्तर मिला कि यहाँ 'मैं और तू' के लिये स्थान नहीं है। वह फिर वापस गया और अनेक दिनोंके बाद फिर अंदर प्रवेश-के लिये पुकार करनेपर और परिचय पूछे जानेपर कहा कि 'तू है'। ऐसा करनेसे दरवाजा खुल गया। ऐसा ही एकीभाव आत्म-निवेदन है।

आत्मनिवेदन और पराशक्ति

इस आत्मनिवेदन भावको मधुरभाव, शृङ्गारभाव, शरणागत-भाव, कान्ताभाव आदि भी कहते हैं, किन्तु यह परम रहस्यमय

शुद्ध आध्यात्मिक भाव है। इसकी प्राप्तिके लिये आनन्दमयी जगन्माता पराशक्तिके विशेष आश्रय और कृपाकी आवश्यकता होती है जो उनके प्रेमामृतपुञ्जरूप चरणकमलोंमें अहङ्काररूपी मस्तकके अर्पण करनेसे सम्भव है। कोई-कोई कह सकते हैं कि शक्ति और शक्तिमान्‌के अभिन्न होनेके कारण श्रीउपास्य और उनकी शक्तिमें उपासनाके लिये भिन्नता करनेके लिये क्या आवश्यकता है? उत्तर यह है कि यथार्थमें कोई भिन्नता नहीं है। यह आनन्दमयी चिच्छक्ति श्रीउपास्यकी ही शक्ति है, कदापि उनसे भिन्न नहीं, किन्तु चूँकि उपासकको विना उक्त शक्तिकी सहायताके श्रीउपास्यकी प्राप्ति हो नहीं सकती, अतएव उसको प्रथम उस दयामयी प्रेमरूपा शक्तिको अपनेमें जागरित करनेकी आवश्यकता है। परमात्मा और उनकी शक्तिके आपसमें अभिन्न रहनेपर भी शास्त्रोंने साधनकी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये इनका पृथक्-पृथक् करके वर्णन किया है।

केनोपनिषद्‌के तृतीय खण्डमें कथा है कि देवासुरसंग्राममें विजय होनेसे देवताओंको अपने बलका अभिमान हो गया जिसको दूर करनेके लिये उन लोगोंके समक्ष एक यक्ष प्रकट हुआ। उक्त यक्षद्वारा एक तृणके दिये जानेपर अग्निदेव अपने सम्पूर्ण बलका प्रयोग करनेपर भी उसको जलानेमें असमर्थ हुए, वायुदेवता भी अपने सम्पूर्ण बलसे उस तृणको नहीं हिला सके, इन्द्रके आनेपर यक्ष अलक्षित हो गया और उसके बदले आकाशमें स्वर्णमयी स्त्री उमा प्रकट हुईं। तब उन देवताओंने समझा कि उनके जो बल-वीर्य हैं वे सब पराशक्तिके कारण हैं और बिना उस पराशक्तिकी

सहायताके वे स्वयं कुछ नहीं कर सकते हैं, और असुरोंकी पराजय (शरीरमें जीवरूपी देवताद्वारा असुररूपी इन्द्रिय-अन्तःकरणके विकारोंका निग्रह और परिवर्तन) केवल इस पराशक्तिकी कृपा और शक्तिसे ही हुई ।

और भी प्रमाण है—

द्वे वाव खल्वेतं ब्रह्मज्योतिषो रूपकम् ।

(मैत्रायणी उपनिषद्)

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

(श्वे० उ० ६ । ८)

प्रज्ञा इत्येनद् उपासीत आनन्द इत्येनद् उपासीत ।

(बृह० उ०)

'निश्चय करके ये सब, ब्रह्म और ज्योति (पराशक्ति) इन दोनोंके ही रूप हैं । उनकी पराशक्ति अनेक प्रकारकी है, ज्ञान-शक्ति, बल (इच्छा) शक्ति और क्रियाशक्ति, ये स्वाभाविक हैं । प्रज्ञारूप मानकर उपासना करनी चाहिये । आनन्दरूप मान-कर उपासना करनी चाहिये ।' पराशक्तिका ही दूसरा नाम प्रज्ञा और आनन्द भी है । इसी पराशक्तिका और भी नाम विकास-भावमें क्षेत्रज्ञ, प्रत्यगात्मा, अन्नाद, प्रयति, मातरिश्वा आदि हैं । श्रीभगवान्की चित्सत्ता, चिच्छक्ति, आनन्दभाव आनन्दमयी शक्ति और सद्भाव सत्ताशक्ति हो जाते हैं । इन तीनोंके समूह-को पराशक्ति कहते हैं । चूँकि श्रीभगवान् महेश्वर इस पराशक्तिसे युक्त होनेपर ही उपासना और ज्ञानके गम्य होते हैं, अतएव इस

दयामयी शक्तिके परमप्रकाश और परमानन्दके स्पर्शसे विशुद्ध हुए बिना जीवात्मा श्रीभगवान्‌के चरणसरोजमें अपनेको अर्पित करने योग्य हो नहीं सकता। इस आत्मनिवेदनके लिये पराशक्तिके आनन्द अर्थात् ह्लादिनीभावका आश्रय लेकर उसके आश्रयमें आना और उसको अपनेमें प्रकट करना साधकके लिये आवश्यक है। लिखा है—ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येके सर्वसंस्थितौ। (विष्णुपुराण) 'ह्लादिनी (प्रेमरूपा), सन्धिनी (एकीकरणरूपा) और संवित् (चिच्छक्ति) ये तीनों शक्ति विश्वाधार अद्वितीय श्रीभगवान्‌में अवस्थित हैं।' आत्मसमर्पणरूपी परमप्रेमोपहारका श्रीउपास्यके श्रीचरणमें अर्पण इस आनन्दमयी परमप्रेमस्वरूपा पराशक्तिद्वारा ही होता है, अन्यथा नहीं। यह परमविद्या पराशक्ति ही अविद्याके महामोहान्धकारसे साधकको पार करती है; जिसके होनेपर ही वह श्रीउपास्यके दिव्यलोकको दिव्यनेत्रसे देखता है।

पराशक्ति माताकी प्रसन्नताके लिये बलिप्रदान आवश्यक है, किन्तु हिंसात्मक बाह्य बलि कदापि नहीं, क्योंकि उनका निवास सब प्राणियोंमें है और वे सब उनकी प्रिय सन्तति हैं जिनकी रक्षा और पालन वे अपने ऊपर कष्ट लेकर भी कर रही हैं। इसमें इन्द्रियरूपी पशु और अन्तःकरणकी विषय-भोगेच्छाको वैराग्यके जलसे शुद्धकर बलि और नैवेद्यकी भाँति माताके श्रीचरणोंमें अर्पण करना चाहिये। ऐसा होनेसे और प्रसाद बन जानेपर ये स्वार्थ-साधनमें नियुक्त न होकर उनके विश्वहित कार्यमें नियुक्त हों, जो उनकी सेवा है। तत्पश्चात् अहंकाररूपी मस्तकको

प्रेमरूप असिद्वारा पृथक् करके उनके चरणकमलोंमें समर्पण करना होगा, जिसको वे माला बनाकर अपने गलेमें रक्खेंगी; इसके बाद साधकका कार्यकलाप व्यवहार भजन आदि सब साक्षात् रूपमें उनकी इच्छा (शक्ति) के अनुसार होने लगेंगे और इस प्रकार नित्यसम्बन्ध स्थापित हो जायगा ।

आत्मनिवेदनका स्वरूप

भावुक साधकके निर्मल हृदयक्षेत्रमें जो परमपवित्र सृष्टि-मंगलकारी यज्ञका अनुष्ठान हो रहा है जिसके परमाचार्य श्रीसद्-गुरु हैं, तुव सेवा-धर्म है, जिसके द्वारा शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि यज्ञकी सामग्रियाँ वैराग्यरूपी जलसे परिमार्जित, दयारूपी दुग्धसे सम्मिलित और ज्ञानरूपी अग्निसे उत्तापित हो हविष्य बनकर परम यज्ञपुरुष श्रीउपास्यके निमित्त अन्तरस्थ यज्ञ-कुण्डमें 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्' के भावसे समर्पण-रूपी आहुति दी जा रही है, उसमें अब पूर्णाहुति अथवा अन्तिम सर्वस्वसमर्पणकी बारी आयी है और यही आत्मनिवेदन है । श्रीमद्भागवत पुराणमें लिखा है—

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः ।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥
(२ । ४ । १७)

'तपस्वी, दाता, यशस्वी, योगी, मन्त्रवेत्ता और सदाचारी ये सब जिसको अपनी तपस्यादिके बिना समर्पण किये कल्याणका

लाभ नहीं कर सकते हैं उस कल्याणरूपी यशस्वी श्रीभगवान्‌को वार-वार नमस्कार है।'

इस यज्ञमें विलक्षणता यह है कि इस प्रेमाग्निमें विरहज्वाला रहनेपर भी इसका आन्तरिक पवित्र स्पर्श अन्तरात्माके लिये मधुरातिमधुर और शीतल (आनन्दप्रद) है, यद्यपि इसका वाह्य स्पर्श भूतात्माके अवशेष कामादि दोषोंके विकारको नष्टकर उनको शुद्धरूपमें परिवर्तित कर देता है। लिखा है—

पीडाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनो
निःस्पन्देन मुदां सुधामधुरिमाहङ्कारसंकोचनः।
प्रेमा सुन्दरि ! नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः॥

(विदग्धमाधव)

'व्रजकी सखी दूसरी सखीसे कहती है—हे सुन्दरि ! श्रीनन्दनन्दनसम्बन्धी प्रेम जिसके अन्तरमें जागरित होता है वही इस प्रेमकी वक्र और मधुर गतिको जानता है। इस प्रेमकी ऐसी पीड़ा है जो नवीन कालकूट विषके कटुत्वको भी परास्त करती है और जब यह प्रेम आनन्दकी धाराको छोड़ता है तो अमृतकी मधुरताके अहंकारको मात कर देता है।'

प्रेमरूपी इस मरकतमणिका स्वच्छ स्पर्श रजतमरूपी लोहेको स्वच्छ स्वर्ण (सत्त्व)में परिणत करता है। निष्काम त्याग इसका हृदय है, करुणा और परोपकार इसका प्राण है और स्वार्थविस्मरण इसकी आत्मा है। जब प्रेमज्वालाका प्रकाश हृदयको विशेष निर्मल और स्वच्छ करता है, स्वार्थकी ग्रन्थिको नष्ट करता

है और श्रीउपास्यके मिलनके लिये परमानुरागको जाज्वल्यमान करता है, तभी साधक इस समर्पणका अधिकारी होता है। जैसा कि भक्ति सब साधनाओंका अन्तिम परिणाम होनेसे सब साधनाएँ उसके अन्तर्गत हैं, उसी प्रकार आत्मनिवेदन भक्तिकी साधनाओं-का अन्तिम लक्ष्य होनेके कारण भक्तिकी सब साधनाएँ इसके अन्तर्गत हैं। अतएव पूर्वकथित साधनाओंका उच्चरूपमें पुनः वर्णन इस प्रकरणमें आवश्यक है, क्योंकि उनकी प्राप्ति पूर्णरूपसे होनेपर ही इस भावका आना सम्भव है।

इस यज्ञके आत्मनिवेदनरूप पूर्णाहुति करनेमें भी श्रीसद्गुरु-की कृपा और सहायताकी विशेष आवश्यकता होती है। लिखा है—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा।
महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।
लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव।
तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।
तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम्। (नारदसूत्र)

'परन्तु मुख्य साधना तो यह है कि महात्मा पुरुषोंकी कृपा और श्रीभगवान्‌की कृपाके लेशमात्रसे भी यह भक्ति प्राप्त हो जाती है। परन्तु महात्मा पुरुषोंका संग होना दुर्लभ है, क्योंकि वह सत्समागम प्रथम तो महान् पुण्योदय विना होता नहीं और हो जाय तो फिर निष्फल नहीं होता, अर्थात् सत्समागमका शुभ फल अवश्य होता है। परन्तु वह सत्समागम श्रीभगवान्‌की कृपा-से ही होता है, क्योंकि श्रीभगवान्‌में और उनके भक्तमें कुछ भेद

नहीं है। इस कारण जिससे श्रीसद्गुरुकी प्राप्ति हो वही यत्न करो।'

श्रीविष्णुभगवान्‌ने श्रीनारदको श्रीध्रुवके निकट उनका सद्गुरु होकर उपदेश करनेके निमित्त भेजा था। श्रीप्रह्लादजीको भी श्रीनारदजीने गर्भकालमें ही उपदेश किया था। स्वयं श्रीप्रह्लाद-का श्रीमद्भागवत पुराणमें वचन है—

ऋषिः कारुणिकस्तस्याः प्रादादुभयमीश्वरः।
धर्मस्य तत्त्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम्॥
(७।७।१५)

तत्तु कालस्य दीर्घत्वात्स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदधे।
ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाप्यजहात्स्मृतिः॥
(७।७।१६)

'तब उन दयालु समर्थ ऋषिने, उसका शोक दूर होनेके लिये और मेरे उद्देश्यसे धर्मका भक्तिरूप तत्त्व और आत्मानात्म-विवेकरूप निर्मल ज्ञानका उपदेश किया। मेरी माताके शरीर त्याग करनेपर भी और अनेक काल वीतनेपर भी ऋषिकी कृपाके कारण उस भक्ति-ज्ञानकी मुझे अविच्छिन्न स्मृति है।'

श्रीभगवान्‌ने गोपियोंको श्रीदुर्वासा ऋषिके पास उपदेश पानेके लिये भेजा था और श्रीभगवान्‌की आज्ञा और उनमें विश्वासके बलसे वे यमुनाको पारकर श्रीसद्गुरु दुर्वासाके निकट पहुँचीं और उसी प्रकार वे श्रीदुर्वासाजीके वचनके विश्वास और बलसे फिर यमुना पारकर श्रीभगवान्‌के निकट आ पहुँचीं। यह आख्यान रहस्यमय है।

श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा ।
न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोभिषेकम् ॥
(५।१२।१२)

'श्रीभरतने रहूगणसे यों कहा—हे रहूगण ! श्रीभगवान्का ज्ञान विना पूज्यपाद महात्माओंकी चरणसेवाके भिन्न न केवल तपस्या, न वैदिक क्रियासे, न अन्नदानसे, न परोपकारसे, न वेदाभ्याससे, न जलसेवासे, न सूर्योपासनासे और न अग्निकी आराधनासे प्राप्त होता है ।'

आत्मनिवेदनकी आध्यात्मिक अवस्थाकी पूर्णरूपसे प्राप्ति जो भक्तिकी पराकाष्टा है अत्यन्त कठिन है; और विना इसकी प्राप्तिके श्रीउपास्यसे साक्षात् मिलन हो नहीं सकता । किसी अवस्था अथवा भावका पूर्णज्ञान विना उसी प्रकारकी अवस्था अथवा भाव अपनेमें उत्पन्न किये अर्थात् अपनेको विना उसके साथ एकीभाव किये अर्थात् समान गुण, कर्म, स्वभावको विना उत्पन्न किये हो नहीं सकता । इसी प्रकार आत्मा परमात्माका प्रेममिलन और ज्ञान—विना एकको दूसरेमें समर्पण और समत्व किये अर्थात् गुण, कर्म, स्वभावका अनुकरणद्वारा एकीभाव हुए कैसे हो सकता है ? महाभारतके शान्तिपर्व अध्याय ३३६ में कथा है कि श्रीसनत्कुमारादि महर्षिगण श्वेतद्वीपमें श्रीभगवान्के दर्शननिमित्त गये, उन्हें दर्शन न हुए और ऐसा आदेश हुआ—

गच्छध्वं मुनयः सर्वे यथागतमितोऽचिरात् ।
न स शक्यस्त्वभक्तेन द्रष्टुं देवः कथञ्चन ॥
कामं कालेन महता एकान्तित्वमुपागतैः ।
शक्यो द्रष्टुं स भगवान् प्रभामण्डलदुर्दृशः ॥
महत्कार्यञ्च कर्तव्यं युष्माभिर्द्विजसत्तमाः ।
इतः कृतयुगेऽतीते विपर्यासङ्गतेऽपि च ॥
वैवस्वतेऽन्तरे विप्राः प्राप्ते त्रेतायुगे पुनः ।
सुराणां कार्यसिद्ध्यर्थं सहाया वै भविष्यथ ॥
(५२ से ५४ तक)

'हे मुनिगण ! जैसे यहाँ आये वैसे ही तुम सब यहाँसे शीघ्र लौट जाओ, क्योंकि जो भक्तिरहित हैं वे किसी अवस्थामें श्रीभगवान्के दर्शन नहीं प्राप्त कर सकते । अनेक कालतक श्रीभगवान्के निमित्त कर्म करनेपर ऐकान्तिकी भक्तिकी प्राप्ति होती है और तभी वह श्रीभगवान्के दुर्दृश तेजके दर्शन करने योग्य होता है । हे विप्रश्रेष्ठ ! तुमलोगोंको बड़े कार्यका सम्पादन करना चाहिये । इसके बाद सत्ययुगके बीतनेपर और त्रेतायुगके आनेपर वैवस्वत मनुके समयमें तुमलोग देवताओंकी कार्य-सिद्धिमें सहायता करोगे ।'

ऊपरके वाक्योंसे यह सिद्ध होता है कि केवल तपस्याद्वारा कोई ऋषीश्वर क्यों न हो जाय किन्तु तो भी श्रीभगवान्की निष्काम सेवाकी भाँति सृष्टिके हितसाधनमें नियुक्त हुए बिना भक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती और न श्रीभगवान्की प्रसन्नता-का लाभ हो सकता है । असुरका काम सृष्टिकी ऊर्ध्वगतिमें बाधा

देना है और देवताओंका ऊर्ध्वगतिमें सहायता करना है जो श्रीभगवान्‌के निजका काम है । अतएव महर्षि श्रीसनकादिको देवताओंकी सहायता करनेकी आज्ञा मिली जिसके सम्पादन बिना भगवत्कृपाकी प्राप्ति सम्भव नहीं है । सदाचार, धर्म, ज्ञान, भक्ति आदिके प्रचारसे सृष्टिकी ऊर्ध्वगतिमें सहायता मिलती है जो देव-कार्य है, अतएव इनका संसारमें प्रचार करना भक्तोंके लिये परमावश्यक है ।

आत्मसमर्पण करनेमें उच्चकोटिके साधकोंको भी कठिनता होती है, क्योंकि भक्तिमार्गमें यह अन्तिम त्याग है । जिस जीवात्माको शान्तिपदमें आरूढ़ करनेके लिये अनेकानेक जन्मोंकी बड़ी लंबी जीवनयात्रा करनी पड़ी, अनेक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं, अनेक विपत्तियोंका सामना करना पड़ा, कठिन संसार-संग्राममें प्रवृत्त होकर अनेक आघात सहने पड़े और इतने कष्टके बाद जब जयप्राप्तिका अवसर आया तो केवल उस विजयके लक्ष्य मोक्षको ही न त्यागना किन्तु उसके साथ आत्माको भी समर्पण कर देना ! यथार्थमें यह कठिन त्याग है । इस अवस्थाके पहिले तो साधकने केवल मोक्षकी इच्छाको त्यागा था, किन्तु मोक्षके स्वरूपका उसको ज्ञान न था । किन्तु इस उच्च अवस्थामें साधकके समक्ष मुक्ति दासीकी भाँति खड़ी रहती है और प्रार्थना करती है कि मुझे ग्रहण कीजिये और मोक्ष-जनित परमानन्दका अनुभव कीजिये । अब भी उस साधकको अधिकार है कि वह मोक्षको ग्रहण करे अथवा उसे त्यागकर अपने श्रीउपास्यके

श्रीचरणकी आन्तरिक साक्षात् सेवामें युक्त होनेके लिये आत्म-निवेदन करे। भावुक कदापि मोक्षपर लुब्ध नहीं होता, उसके प्रेमार्द्र हृदयमें मोक्षके लिये (जो भी एक प्रकारका परमोच्च स्वार्थ है) स्थान कहाँ? उसका चित्तभ्रमर श्रीचरण-सरोजसे कैसे पृथक् हो सकता है जो मोक्ष लेनेको ललचावे। विना आत्मबलिके उसे अन्तिम मिलन और पूर्ण शान्ति मिल नहीं सकती। अबतक जो उसको प्रेमानन्दका अनुभव श्रीउपास्यके सम्बन्धसे होता था उसका भी एक प्रकारसे त्याग इस आत्मबलि-द्वारा सम्भव है, क्योंकि इसमें अनुभव करनेवाले अन्तरात्माका स्वयं अर्पण है। किन्तु यह आत्मनिवेदन आत्माके अस्तित्वका लोप करना कदापि नहीं है। यह दीपनिर्वाणके जैसा निर्वाण अथवा अस्तित्वका लोप नहीं है। इस आत्मार्पणद्वारा साधक संकुचित जीवनको अर्पणकर विस्तृत जीवनका लाभ करता है। जब कि सृष्टिका उद्देश्य है कि इसके द्वारा एक श्रीमहेश्वर अनेक हो जायँ, तो उस अनेकके अस्तित्वका लोप करना कदापि उनको इष्ट हो नहीं सकता। केवल सांख्यके मार्गसे चलनेवाले जो श्रीमहेश्वरको अपना लक्ष्य न मान सीधे अव्यक्तमें युक्त होते हैं, वह कुछ कालके लिये महासुषुप्तिकी अवस्थामें पड़ जाते हैं जब कि उनका अस्तित्व भी अलक्षित हो जाता है। जिनका लक्ष्य श्रीमहेश्वर हैं उनका आत्मनिवेदन श्रीपराशक्तिके द्वारा होनेके कारण अस्तित्वका लोप कदापि नहीं होता। जगन्माता अपनी शक्तिद्वारा एकता होनेपर भी अस्तित्वका लोप नहीं होने देती। इस प्रेममार्गमें किसी वस्तुका भी नाश अथवा लोप नहीं है।

जबतक कार्यकारणरूप सृष्टि जारी रहेगी और श्रीभगवान् सशक्ति इसको चलाते रहेंगे, तबतक भक्त भी उनकी सेवामें प्रवृत्त रहेगा, किन्तु जब वह अपनी आत्मातकको शुद्धकर अर्पण कर देगा, तबसे वह निवेदितात्मा अपने स्वार्थके लिये नियोजित न हो-कर केवल श्रीभगवान्के हाथमें यन्त्रकी भाँति रहकर केवल उनके कार्यमें व्यवहृत होगा।

सच्चे और शुद्ध प्रेमका स्वभाव ही नहीं किन्तु स्वरूप है कि जो कुछ उत्तम, पवित्र और सुन्दर वस्तु प्रेमीके पास हो अथवा उसे लब्ध हो उसको स्वयं उपभोग न कर अपने प्रियतमको समर्पण कर दे; ऐसी सामग्रीका कष्टसे भी संग्रह करे जो उसके प्राणप्रियको अभीष्ट हो और उनको शुद्ध और उत्तम बनाकर सादर भेंट करे; ऐसा कार्य करे जिससे प्रेमपात्रकी तुष्टि हो, यहाँतक कि दिन-रात शरीर, मन, वचन, बुद्धिद्वारा केवल ऐसी सेवामें प्रवृत्त रहे जो हृदयेश्वरको सुखद और इष्ट हो किन्तु इन सबके बदलेमें कुछ भी नहीं चाहे और उनकी प्रसन्नतामें ही प्रसन्न रहे।

अतएव प्रेमकी पराकाष्ठा आत्मविस्मरण अर्थात् अपने पृथक् स्वार्थको और अपनेको भी, नितान्त भूलकर सदा-सर्वदा अपने प्रियपात्रकी भावना और सेवामें निरन्तर प्रयुक्त रहना है और अन्तिम परिणाम इसका यह होता है कि दोनोंके एक प्रेमसूत्रमें बँधे रहनेके कारण भेद मिटकर अन्तरसे आत्मक्षेत्रमें एकता हो जाती है जिसके कारण प्रेमपात्रके आनन्दसे ही यथार्थमें प्रेमीको साक्षात्रूपमें आनन्दका अनुभव होता है।

कहा जाता है कि प्रेमकी मूर्ति लैलाके शरीरमें रुधिर-मोक्षणके लिये नश्तर किये जानेपर उसके प्रियतम मजनूके भी उसी अंगसे रुधिर निकला । इन दोनों प्रेमीरत्नोंका प्रेम शुद्ध और निष्काम था, एक दूसरेके सुखमें ही ये अपना सुख मानते थे, जिसके कारण इनका प्रेम आधिभौतिक भावको त्यागकर आधिदैविक भावमें परिणत हो गया और तब उनका पवित्र प्रेम शरीर-शरीरका प्रेम न रहकर अन्तरात्मा-अन्तरात्माका प्रेम हो गया । एक वार प्रेमादर्श मजनूके समक्ष श्रीमती लैलाके आनेपर जिसका वह दिन-रात ध्यान करता था, उसने उसकी कुछ भी परवा न की और न स्वागत किया और न हर्ष प्रकट किया वल्कि अपनी दृष्टिको फेर लिया । इसका कारण यह है कि उसका प्रेम श्रीमती लैलाके शरीरसे हटकर उसकी विशुद्ध अन्तरात्मामें संनिवेशित हो गया था और वह अन्तरात्मा उसके हृदयमें विराजमान थी । प्रेमके यथार्थ केन्द्र अन्तरात्मामें स्थिति होनेपर फिर किसी वाह्य आवरणकी क्या आवश्यकता है ? इन दोनों प्रेमपरायण लैला-मजनूके विशुद्ध प्रेमका प्रभाव हिंस्र पशुओंपर भी ऐसा पड़ा कि वे भी उनके सङ्गसे अपने हिंस्र स्वभावको त्यागकर इनके सहचर बन गये और इनके साथ ही उन्होंने भी शरीरको त्यागा। श्रीजयदेवकी पतिव्रता स्त्री अपने प्रिय पतिकी झूठी मृत्युके भी समाचार सुनकर तत्काल मृत हो गयीं । जब कि सांसारिक प्रेमकी भी कहीं-कहीं ऐसी उच्चगति है, तो फिर जीवात्मा और परमात्माके नित्य अनादि स्वरूपसम्बन्धी प्रेमका क्या कहना है ? यथार्थमें इस विश्व-वाटिकामें प्रेमी-भक्त-रूपी मनोहर पुष्प केवल प्रेमपूरित अश्रुवारिरूप भगवत्प्रेमके

सिञ्चनसे ही उत्पन्न होते हैं जो अपनी सेवारूपी सुगन्धसे जगत्को तृप्तकर श्रीउपास्यके उपहार बनते हैं।

जब कि भावुक श्रीउपास्यके प्रेमके रंगमें ऐसा रञ्जित हो जाता है कि उसपर दूसरा रंग (किसी अन्यमें आसक्ति) चढ़ नहीं सकता और उसकी अन्तरात्मा पूर्णरूपसे उनमें अनुरक्त हो जाती है तो उसको इस परम सम्बन्धका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और तबसे उसको बोध होता है कि उसके शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि जो कुछ उसके सर्वस्व हैं वे सब उसके श्रीउपास्यके पवित्र प्रसाद हैं जो केवल दयादृष्टिके कारण उसको दिये गये हैं। तब वह समझता है कि उनको स्वार्थसाधनमें प्रवृत्त करना उनका दुरुपयोग करना है, और ऐसा समझ उनमें जो कुछ मल-विकार स्वार्थसाधनद्वारा प्रविष्ट हो गये हैं उनको निष्काम उपासनारूपी जलसे दूरकर श्रीउपास्यकी सेवामें नियुक्त करता है। ऐसा भावुक अपने शरीर, परिवार, सम्पत्ति आदिको श्रीउपास्यकी वस्तु समझ उनकी रक्षा और पालन अच्छी प्रकार करता है, इसमें लापरवाही कदापि नहीं करता; किन्तु उनको स्वार्थ-साधनकी सामग्री न समझ श्रीउपास्यकी सेवाकी वस्तु समझता है। वह यह भी समझता है कि सेवामें भी कर्त्तापनका भाव रहनेके कारण वह कभी अभिमानमें परिवर्तित हो जा सकता है। अहंता, कर्त्ताका भाव आत्मसमर्पणद्वारा त्याग करता है। अतएव दास और सख्यभावमें यद्यपि स्वार्थसम्बन्धी अहंभावका श्रीउपास्यमें समर्पण हो जाता है तथापि 'दासोऽहं', 'सखाहं' रूपी शुद्ध निःस्वार्थ अहंभाव सूक्ष्मरूपमें वर्तमान रहता है। किन्तु

भावुककी वर्तमान अवस्थामें उसका अनुराग श्रीउपास्यके प्रति इतना प्रबल और वेगवान् हो जाता है कि श्रीउपास्यसे जरा भी अन्तर उसे सहन नहीं होता; और नदी जैसे समुद्रकी ओर धावमान होती है, उसी प्रकार श्रीउपास्यमें अपनेको अर्पणके लिये व्यग्र हो जाता है। यह अर्पण पतङ्गभावके समान है। जैसे पतङ्ग दीपकी ज्योतिसे आकर्षित होकर अपनेको उसमें अर्पण कर देता है और जलते रहनेपर भी मुँह नहीं मोड़ता अर्थात् पृथक् नहीं होना चाहता, वैसी ही अवस्था इस भावमें होती है।

अतएव वह आत्मसमर्पण करनेपर प्रस्तुत होता है किन्तु आत्मसमर्पणकी पूर्ति होनेके पहले उसके लिये स्वार्थ (कौरव) के दलको नष्ट करना आवश्यक होता है जो अवश्य कठिन कार्य है। इस कौरव (स्वार्थ) दलका पूर्ण पराभव करनेपर ही यह आत्म-निवेदन सम्भव है, अन्यथा नहीं। इस अर्पणके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीताका वचन है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ (४।२४)
तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ (८।७)
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (९।२७)
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (१२।६-७)

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ (१२।१४)

'जो कुछ करना श्रीभगवान्‌में अर्पण करना, अर्पित सामग्री-को श्रीभगवान्‌का ही अंश जानना, जिसमें अर्पित किया जाय (हृदय अथवा अग्नि आदिमें) उसको भी श्रीभगवान्‌का रूप ही जानना, आत्मसमर्पणभावके कारण कर्ताको भी श्रीभगवान् ही जानना, श्रीभगवदर्पणरूपी निष्ठा (समाधि) द्वारा श्रीभगवान् लक्ष्य और गन्तव्य स्थान होते हैं। भगवान् कहते हैं कि इसलिये सब समय मुझको स्मरणमें रक्खो और युद्ध करो अर्थात् अपने कर्तव्य कर्मको करो; मन और बुद्धिको मुझमें अर्पण करनेसे निःसन्देह मुझको प्राप्त करोगे। जो कुछ कर्म करो, जो कुछ भोजन करो, जो कुछ यज्ञ करो, जो दान करो, जो कुछ तप करो, उन सबको, हे अर्जुन ! मुझको अर्पण करो। जो मेरेमें अनुरक्त होकर और सब कर्मोंको मुझे अर्पणकर अनन्य चित्तसे मेरा ध्यान और उपासना करते हैं उन मेरेमें संनिवेशित चित्तवाले भक्तोंके लिये मैं मर्त्यलोकरूपी संसारसागरसे शीघ्र उद्धार करनेवाला होता हूँ। समाहित चित्त-वाले योगी, संतुष्ट, दान्त, शुद्ध निश्चयसे नहीं डगनेवाले और मेरेमें मन-बुद्धिको अर्पण किये हुए जो मेरे भक्त हैं वे मुझे प्रिय हैं।'

इस समर्पणका प्रारम्भ तो साधनाके साथ-साथ ही होता है। श्रवण-कीर्तनद्वारा शरीर, स्मरण-पादसेवन आदिसे मन, अर्चन-वन्दनद्वारा बुद्धि, और दास्य-सख्यभावद्वारा अहङ्कार श्रीउपास्यमें समर्पित होते हैं किन्तु बिना आत्मनिवेदनके यह यज्ञ पूर्ण नहीं होता अर्थात् यथार्थ समर्पण आत्मनिवेदन करनेसे ही होता है।

इसके पूर्वकी अवस्थामें पतन होनेकी सम्भावना रहती है। किन्तु आत्मनिवेदनके बाद इसकी कोई सम्भावना नहीं रहती। समर्पण-कार्यमें अहङ्कारका समर्पण बड़ा कठिन है, क्योंकि इस अहङ्कार-रूपी रक्तबीजके प्रत्येक रक्तबिन्दुसे अनेक रक्तबीज (एक वासनासे अनेक वासनाएँ) उत्पन्न होते हैं; किन्तु जब पराशक्ति इसके अहंता-ममतारूपी रक्तको स्वयं ग्रहण कर लेती है अर्थात् इसको अपनी ह्लादिनीशक्तिसे युक्तकर इसका पृथक् भाव हटाकर विश्वव्यापी स्वरूपमें परिवर्तन कर देती है तभी यह शान्त और अर्पित होता है। ऐसे भावुकको विश्व श्रीउपास्यमय देख पड़ता है कि जिसके कारण वह सबोंके साथ प्रेम करता, किसीसे द्वेष नहीं रखता, दूसरेके दुःखसे दुःखित होता, सुखसे सुखी होता और लोगोंको श्रीउपास्यके चरणमें युक्त करनेके लिये विशेष चेष्टा करता है।

यह आत्मसमर्पण सेवा-धर्मका अन्त नहीं है अथवा सेवा करनेसे छुटकारा पानेके लिये नहीं है किन्तु यथार्थमें यहाँसे मुख्य साक्षात् सेवाका प्रारम्भ होता है। यह श्रीउपास्यके परम अभीष्टकी पूर्ति करना है। जीवात्माकी संसारयात्राका यही अन्तिम लक्ष्य है जिसके बिना पूर्ण किये यात्राकी समाप्ति हो नहीं सकती है, और बिना इसकी पूर्ति किये निर्वाण—मोक्ष लेने-वालोंका भी कल्पान्तरमें उत्थान होता है और जबतक वे आत्म-निवेदन नहीं करते तबतक उनके जीवनयात्राका अन्त नहीं होता। आत्मसमर्पण करनेपर निवेदित आत्माको श्रीउपास्य जगत्के कल्याणके कार्यमें स्वयं व्यवहृत करते हैं।

आत्मनिवेदन प्रथम और द्वितीय अवस्थामें भाव-साधना ही है और केवल अन्तिम अवस्थामें परिणामरूपमें परिणत हो जाता है। इसकी तीन अवस्थाएँ हैं—(१) प्रथम—आधिभौतिक (२) द्वितीय—आधिदैविक और (३) अन्तिम आध्यात्मिक।

शरणागतभाव

प्रथम अवस्थाको शरणागतभाव और कान्ताभाव भी कहते हैं। भक्तिरसायनमें लिखा है—

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा।
भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभासपाकतः॥

'उन (श्रीउपास्य) का मैं (साधक) हूँ, मेरे (साधकके) वे (श्रीउपास्य) हैं और वे (श्रीउपास्य) ही मैं हूँ—ऐसे तीन प्रकारके भावसे साधक भक्त साधनकी दीप्तिकी परिपक्वता होनेसे (साधनमें कृतकार्य होनेसे) उपास्यके शरणमें होता है।' प्रथम भाव 'उनका मैं हूँ' में दोनोंमें उपास्य-उपासकका सम्बन्ध रहता है। जैसा कि षट्पदीका वचन है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

'हे नाथ! तुम और मुझमें अधिष्ठान चेतनकी दृष्टिसे अभेद रहनेपर भी मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे नहीं हो, क्योंकि समुद्र (श्रीउपास्य) में जो तरङ्ग (अहंभावयुक्त जीवात्मा) उठते (स्फुरण होते) हैं वे जल (चैतन्य) रूप होनेपर भी समुद्र (श्रीउपास्य) के अंश हैं किन्तु तरङ्ग (व्यष्टि चेतन) का समुद्र

(श्रीउपास्य—समष्टिचेतन) नहीं है।' दूसरा भाव 'मेरे वे हैं' इस प्रकार है जैसा कि किसी अन्धे भक्तकी उक्ति है—

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण ! किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

'हे श्रीभगवन् ! बलपूर्वक हाथ छोड़ाकर जा रहे हो इसमें क्या आश्चर्य है ? किन्तु यदि तुम मेरे हृदयसे चले जाओ तब मैं तुम्हारे पौरुषको मानूँगा।' श्रीसूरदासजीने भी इसी भावका एक दोहा कहा है:—

कर छटकाए जात हौ, अबल जानिके मोहि।
हिरदयतें जब जाहुगे, मर्द बदौंगो तोहि॥

तीसरा भाव 'वह मैं हूँ' में भक्त श्रीउपास्यके साथ एकत्व देखता है। विष्णुपुराणका वचन है—

सकलमिदमहं च वासुदेवः परम-
पुमान् परमेश्वरः स एव एकः।

'ये सब मेरे सहित वासुदेव ही हैं और वे ही एक पुरुषोत्तम-रूप हैं।'

ये ऊपरकथित तीन भावोंमें 'तस्यैवाहम्' (उनका मैं हूँ) दासभाव है, ममैवासौ (मेरे वे हैं) सख्यभाव है और 'स एवाहम्' (वे ही मैं हूँ) आत्मनिवेदनभावकी प्रथमावस्था है, क्योंकि यहाँ भी अहम् किसी रूपमें विद्यमान है जो इसकी तीसरी अवस्थामें एकदम नहीं रहता। दास्य और सख्यभाव मर्कटीभाव है। जैसा कि मर्कट (बन्दर) अपने बच्चेके दृढ़तासे उसका गला

पकड़े रहनेपर अनायास उसे ले चलता है किन्तु यदि बच्चा पकड़ना छोड़ दे तो वह गिर जायगा उसी प्रकार इस भावका भावुक श्रीउपास्यको अपने प्रेमरूपी हाथसे पकड़े रहता है और वे इसको सादर वहन करते हैं। आत्मनिवेदन मार्जारभाव है जिसमें मार्जार—बिल्ली अपने बच्चेको स्वयं मुखमें लेकर ले चलती है, बच्चेको कुछ भी करना नहीं होता।

श्रीभगवान्‌ने गीताके सब उपदेशोंको देकर अन्तिम उपदेश शरणागत होनेका दिया। शरणागतके उपदेश भक्तिमार्गके महावाक्य हैं। जो ये हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(अध्यात्मरामायण)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८।६६)

'श्रीमर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं कि जो एक बार भी मेरी शरणमें आनेके लिये याचना करता है उसको मैं सब प्राणियोंसे अभयदान देता हूँ ऐसा मेरा प्रण है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने श्रीअर्जुनसे कहा कि तुम सब धर्मोंको छोड़कर एक मेरी शरणमें आओ। मैं तुमको सब पापोंसे मुक्त करूँगा। तुम शोक मत करो।' और भी—

सर्वधर्मान्परित्यज्य कृष्णैकं शरणं व्रज।
(ब्रह्मसंहिता)

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥

(श्रीमद्भा० ११ । २९।३४)

सोऽयं यः शरणं प्राप्तो मम तस्य यदस्ति च।
सर्वं ताभ्यां तदर्थं हि तद्भोग्यं ह्यहं मम॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ५०।६४)

'सब धर्मोंको त्यागकर एक श्रीभगवान्‌की शरणमें जा। श्रीभगवान्‌ने श्रीउद्धवको कहा कि जब मनुष्य सब कर्मोंको छोड़कर आत्माकी सेवा करनेका अभिलाषी होकर मुझको आत्मसमर्पण करता है, तब वह शीघ्र अमृतपदवी पाकर मेरे सदृश भावके पानेके योग्य होता है। मेरे शरणापन्नके सब कुछ श्रीउपास्यके हैं, मेरा कुछ नहीं, यहाँतक कि मेरी आत्मा भी मेरी नहीं है। उनकी वस्तुको वे ही भोग करें, ऐसी धारणा ही आत्मसमर्पण है।'

श्रीविश्वनाथने श्रीगीताकी टीकामें शरणागतका लक्षण यों कहा है—

ननु यो हि यच्छरणो भवति स हि मूल्यक्रीतः पशुरिव तदधीनः स तं यत्कारयति तदेव करोति यत्र स्थापयति तत्रैव तिष्ठति यद्भोजयति तदेव भुङ्क्ते इति शरणापत्तिलक्षणस्य धर्मस्य तत्त्वम्।

'जो श्रीउपास्यकी शरणमें जाता है वह खरीदे हुए पशुकी भाँति अपने मालिक (श्रीउपास्य) के अधीन हो जाता है। वे जो

करवाते हैं वही करता है, जहाँ रखते हैं वहीं रहता है, जो भोजन देते हैं, वही खाता है—यह शरणागतके धर्मके लक्षण हैं।' वायुपुराणका वचन है—

> आनुकूल्यस्य सङ्कल्पं प्रतिकूलस्य वर्जनम्।
> रक्षिष्यतीति विश्वासो भर्तृत्वे वरणं तथा॥
> निक्षेपणमकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः।

'श्रीउपास्यकी इच्छाके अनुसार संकल्प और व्यवहार करना, उनके विरुद्ध कर्मका वर्जन करना, वे रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास करना, पतिके ऐसा उनको मान लेना, श्रीउपास्यके निमित्त कार्य करनेमें संकोच न करना—ऐसी छः प्रकारकी शरणागति है।'

शरणागत होनेका मुख्य स्थान हृदय है। हृदयमन्दिरको विकारोंसे शुद्धकर और प्रेमप्रेरित निष्काम सेवासे परिमार्जित कर और अहंता-ममता और स्वार्थरूपी अन्धकारको ज्ञानरूपी प्रकाशसे नाश करनेपर ही भावुक श्रीसद्गुरुकी कृपासे उसके पवित्र और गुह्य प्राकारमें शरणार्थ प्रवेश करनेमें समर्थ होता है जहाँ श्रीउपास्य-का वास है। गीताके १८ वें अध्याय, श्लोक ६१ में भी श्रीभगवान्ने हृदयको ही अपने निवासका स्थान बताया है जैसा कि—

> ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
> भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

'हे अर्जुन! श्रीभगवान् सब प्राणियोंके हृदयमें रहते हैं और यन्त्रपर चढ़े हुएकी भाँति सबको अपनी मायासे चलाते हैं।' श्रीभगवान् अपने वासके स्थानको हृदय बताकर कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८।६२)

'उस हृदयस्थ श्रीभगवान्‌की शरणमें सब प्रकारसे जाओ। उनकी कृपासे परम शान्ति और शाश्वत पदका लाभ होगा।' ऊपरके वाक्यसे स्पष्ट है कि हृदयमें ही हृदयस्थ श्रीउपास्यको ही शरणागत अर्थात् आत्मसमर्पण करना होगा। श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः
शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम्।
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधा-
स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम्॥
(७।७।३७)

श्रीप्रह्लादजीने दैत्यबालकोंसे कहा कि 'हे मित्र! मनसे होनेवाला अधोक्षज श्रीभगवान्‌का स्पर्श ही इस लोकमें अशुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषके संसारचक्रका नाश करनेवाला है और वही ब्रह्मके विषय मोक्षरूप सुख है, ऐसा ज्ञानी पुरुष कहते हैं। इस कारण तुम अपने हृदयमें ही विद्यमान अन्तर्यामी श्रीभगवान्‌का भजन करो।' प्रेमका केन्द्र हृदय ही है, अतएव इस अवस्थाका मुख्य कार्यक्षेत्र हृदय ही है जिसका रहस्य श्रीसद्‌गुरुकी कृपासे बोध होता है और उन्हींकी कृपासे वह इसके दिव्यभागमें प्रवेश कर सकता है।

अहंकार, अहंकृतिभाव और ममताका अभाव, विश्वको

श्रीउपास्यमय जान सबको प्रेमकी दृष्टिसे देखना, श्रीउपास्यमें चित्तको निरन्तर संलग्न रखना, और निष्कामभावसे केवल उन्हींके कार्यके सम्पादनमें सब प्रकारसे प्रवृत्त रहना आदि इस अवस्थामें स्वाभाविक हो जाते हैं; किन्तु प्रारम्भिक अवस्थामें इनके उच्च भावकी प्राप्तिके लिये यत्न करना आवश्यक होता है। किसी सन्दिग्ध कार्यके सामने आनेपर उसके लिये भावुक हृदयस्थ होकर तत्रस्थित श्रीउपास्यकी अनुमतिकी जिज्ञासा करता है जिसके उत्तरमें उसके मनमें आज्ञाकी साफ-साफ स्फूर्ति हो जाती है और वह तदनुसार करता है। जिन कार्योंके करने अथवा न करनेके लिये आज्ञा शास्त्रमें स्पष्ट है उनको तो शास्त्रके आदेशानुसार ही वह करेगा। शास्त्रकी आज्ञाको श्रीउपास्यकी आज्ञा ही मानना चाहिये और तदनुसार कार्य करना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १६ में श्रीमुखवचन है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(२३-२४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष शास्त्रमें कहे हुए धर्मको छोड़कर अपने इच्छानुसार चलते हैं वे मनुष्य सिद्धि, सुख और मोक्षको नहीं पाते। इसलिये कर्तव्य और अकर्तव्य कर्मके निश्चय करनेमें शास्त्रके प्रमाणको मानकर और शास्त्रकी आज्ञाको जानकर जो विहित हो उस कर्मको करे।'

ऐसा भावुक अपनी निन्दा-स्तुतिसे क्षुभित न होगा, दूसरेकी हानि करनेकी इच्छा कदापि न रखेगा; किन्तु सबकी भलाई करनेमें तत्पर रहेगा। बड़ी विपत्तिके आनेपर भी सत्य और न्यायका त्याग नहीं करेगा और हानि अथवा लाभके कारण भी धर्मसे विचलित न होगा किन्तु उसमें दृढ़ ही रहेगा और दूसरेके कुव्यवहारको भी शान्तिसे सह लेगा और संसारकी हितकामनामें विशेष प्रवृत्त रहेगा। किन्तु जिनको यह उच्च अवस्था प्राप्त नहीं है किन्तु जो स्वार्थ, अज्ञान और अपनी प्रतिष्ठाके कारण कहते हैं कि मैं कुछ नहीं करता, जो कुछ कार्य किये जाते हैं उनको श्रीभगवान् स्वयं करते हैं, वे मिथ्याचारी हैं। आजकल ऐसे लोग अनेक देखे जाते हैं। किन्तु जिनको यह अवस्था प्राप्त है, वे बाह्य रूपमें इसको कभी प्रकाशित नहीं करते किन्तु करनीसे दीनातिदीन बने रहते हैं।

इस अवस्थाकी प्राप्तिकी मुख्य साधना और इस अवस्थाकी पूर्व दशाका वर्णन श्रीमद्भागवतमें यों है—

हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा कामैस्तैः साधु मानयेत्॥
निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति॥
यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धस-
त्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम्।
मुहुः श्वसन्वक्ति हरे जगत्पते
नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः॥

तदा पुमान्मुक्तसमस्तबन्धन-
स्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः ।
निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा
भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम् ॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः ।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम् ॥
(७ । ७ । ३२, ३४, ३५, ३६, ५५)

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ॥
(११ । १२ । १४-१५)

'सकल प्राणियोंमें दुःखहर्ता श्रीभगवान् वास कर रहे हैं, ऐसा मनमें रखकर उन प्राणियोंके जो-जो मनोरथ हों उनको पूर्ण करके उनका यथोचित सम्मान करे । श्रीप्रह्लादजी कहते हैं कि हे दैत्यपुत्रो ! श्रीभगवान्के कर्म, गुण, अतुलनीय वीर्य, शरीरके द्वारा की हुई जो लीला हैं उनको सुनकर जब अतिहर्षसे शरीर रोमाञ्चित होकर नेत्रोंमें आनन्दके अश्रु आ जाते हैं और गद्गदकण्ठ होकर पुरुष ऊँचे स्वरसे गान करने लगता है, रोदन करता है और नृत्य करने लगता है, वैसे ही जब पिशाचसे ग्रसा हुआ-सा होकर कभी-कभी हँसने लगता है, विलाप करने लगता है, श्रीभगवान्का ध्यान करता है, लोकोंकी वन्दना करता है और कभी-कभी श्रीभगवान्में बुद्धि लीन हो जानेके कारण निर्लज्ज होकर

वारंबार श्वास छोड़ता हुआ 'हे हरे! हे जगत्पते!' ऐसा उच्चारण करता है, तब वह भक्तियोगके द्वारा, जिसके संसारके बीजरूप अज्ञान और वासना जल गये हैं, जिसके मन और शरीर यह दोनों श्रीभगवान्‌की लीलाओंके चिन्तनसे उन लीलाओंका अनुकरण करने लगे हैं और जिसके पुण्य-पाप आदिरूप सकल बन्धन टूट गये हैं, ऐसा होता हुआ श्रीभगवान्‌के स्वरूपको प्राप्त होता है। श्रीभगवान्‌में एकनिष्ठ भक्ति और स्थावरजङ्गमरूप सकल प्राणियोंमें श्रीभगवान् हैं ऐसा देखना, यही इस लोकमें पुरुषका उत्तम हित कार्य कहा है। श्रीभगवान् कहते हैं कि हे उद्धवजी! मेरे भजनका प्रभाव ऐसा है, इस कारण तुम श्रुति, स्मृति, विधि, निषेध, प्रवृत्त कर्म, श्रवण करने योग्य और श्रवण किया हुआ सब शास्त्र छोड़कर सकल प्राणिमात्रके अन्तर्यामी एक आत्मा मुझको 'सब जगत् भगवद्रूप है' ऐसी भावनासे मेरे शरण आओ और मेरी प्राप्ति करके संसारभयसे छूट जाओ।'

ऊपर कथित वाक्योंमें श्लोक ३२ और ५५ और अन्तके १४ और १५ बड़े महत्त्वके हैं और भक्ति और इस भावके सार हैं। श्रीउपास्यको सब प्राणियोंमें देखना और ऐसी दृष्टिके कारण उनकी प्रसन्नताको श्रीउपास्यकी प्रसन्नता जानना और उन्हींका रूप जानकर उनके हितसाधनमें प्रवृत्त होना भक्तिमार्गका अन्तिम लक्ष्य है जिसके विना शुद्ध प्रेमका विकास हो नहीं सकता। श्रीउपास्यके सर्वात्मभावके साथ ही आत्मनिवेदन (शरणागत) किया जाता है। शरणागतको शास्त्रके धर्मके त्यागनेका तात्पर्य यह है कि जबसे उसको श्रीउपास्यका आदेश सीधे मिलने लगता

है और उस आदेशके अनुसार जिस परम आन्तरिक सेवामें वह प्रवृत्त होता है, वह शास्त्रकथित विधि-निषेधसे भी उच्च और कठिन है जिसके द्वारा जगत्का बहुत बड़ा कल्याण होता है। सांसारिक कार्योंमें भी योग्यतामें उन्नति होनेसे कार्यका परिवर्तन होता है, वही बात यहाँपर भी है। श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्।

'हे नृप ! भक्त देवता, ऋषि, आप्तपुरुष अथवा पितृगण इनमेंसे किसीका भी किङ्कर ऋणी नहीं रहता अर्थात् इन सबके ऋणसे मुक्त हो जाता है।'

यह विश्व ही श्रीउपास्यके प्रेमयज्ञ अर्थात् करुणाभावका परिणाम है। स्थूल जगत्में श्रीभगवान्‌को स्थावर, विशेषकर धातु और प्रस्तरमें, इस प्रकार अपनेको प्रकृतिसे आबद्ध करना पड़ता है कि वहाँ चेतनके अस्तित्वका कोई बाह्य लक्षण भी देखनेमें नहीं आता। उद्भिज्जमें थोड़ा-थोड़ा प्राणशक्ति प्रकट होती है किन्तु अवयव नहीं। पशुयोनिमें अवयव होते हैं किन्तु चिन्ताशक्तिका अभाव रहता है। श्रीभगवान्‌के इन तीन राज्यमें करोड़ों वर्ष आबद्ध रहनेपर जब प्रकृति सूक्ष्म और शुद्ध होती है तब मनुष्यशरीर तैयार होता है। अर्थात् श्रीभगवान्‌की शक्ति ही तमोगुण (स्थावर-उद्भिज्ज) से रजोगुण (पशु) को उत्पन्न कर फिर सत्त्वगुण-(मनुष्यके शरीरके निमित्त अन्तःकरण) का प्रादुर्भाव करता है। मनुष्यको भी स्थावर, उद्भिज्ज और पशुकी आवश्यकता रहती है

और श्रीभगवान् इस सृष्टिके हितके लिये अपनी विभूति सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, जल, गौ, समुद्र, हिमालय, वृक्ष, अन्न, औषध आदिद्वारा जगत्का पालन करते हैं। सृष्टिका केवल उद्देश्य है कि मनुष्य जो श्रीभगवान्के प्रेम-यज्ञका फल है वह अपनेको आत्मनिवेदनकर इस यज्ञकी मुख्य सेवामें योग दे, किन्तु मनुष्य इसमें योग देनेके वदले अधर्माचरणद्वारा वाधा देता है। जैसा कि वालक माताकी गोदमें रक्षित रहनेपर भी उन्हींको लात मारता और विष्ठा-मूत्र करता है किन्तु माता उससे रुष्ट न हो उसकी रक्षा ही करती है, उसी प्रकार श्रीभगवान् वाधा पानेपर भी रुष्ट न होकर इसपर दया ही करते हैं। अधर्माचरण करना मानो श्रीभगवान्को आघात करना है। किन्तु इस आघातके निरन्तर लगते रहनेपर भी श्रीभगवान् माताके समान हमलोगोंपर स्नेह ही रखते हैं। और सदा रक्षा-पालनमें ही नियुक्त रहते हैं। वे कर्मके फलके नियमानुसार दुष्ट कर्मके दुष्ट फलको भेजकर भी दया ही करते हैं, क्योंकि उसके द्वारा दुष्ट स्वभावरूपी व्याधिकी शान्ति होती है। यह ऐसा ही है जैसा कि माता बालकको कड़वी ओषधि देकर रोगसे मुक्त करनेकी चेष्टा करे। और भी देखा जाता है कि श्रीभगवान् अत्यन्त दरिद्र, अत्यन्त दुःखित, अत्यन्त व्याधिग्रस्त, कोढ़ी, अन्धे, पङ्गु आदिके शरीरमें प्रसन्नतासे विराजमान रहते हैं ताकि वे भी उन्नति करें और उनको देखकर दूसरेको उनके प्रति दया और उपकार करनेका संयोग मिले। श्रीभगवान् संसारका अपने विश्वरूपद्वारा आधिभौतिक उपकार करते हैं, श्रीनरनारायणके रूपमें तपस्या करके और भक्तोंको प्रेरणाकर

आधिदैविक उपकार अर्थात् धर्म, ज्ञान, भक्ति आदिका विस्तार करते हैं और श्रीसद्गुरुके रूपमें (आत्मनिवेदनादिमें सहायता देकर) आध्यात्मिक उपकार करते हैं जो परमोच्च है। श्रीमद्भागवत-का वचन है—

यत्र नारायणो देवो नरश्च भगवानृषिः।
मृदु तीव्रं तपो दीर्घं तेपाते लोकभावनौ॥
(३।४।२२)

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-
न्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति॥
(११।२९।६)

'जहाँ (श्रीबदरिकाश्रममें) श्रीदेवनारायण और भगवान् नर यह लोकोंपर अनुग्रह करनेवाले दोनों ऋषि कोमल और तीव्र दुर्घट तप कल्पकी समाप्तिपर्यन्त करनेका निश्चय किये हुए विराजमान हैं। हे श्रीभगवन् ! तुम प्राणियोंके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीरूपसे और बाहर श्रेष्ठ गुरुरूपसे रहकर विषयवासनारूपी अमङ्गलको दूर करते हो और उनको अपने स्वरूपका दर्शन देते हो, ब्रह्मज्ञानी पुरुष ब्रह्माके समान आयु पाकर भी इस तुम्हारे उपकारका बदला नहीं चुका सकते, वे तो तुम्हारे उपकारोंको स्मरण करते हुए परमानन्दसे पूर्ण रहते हैं।'

किन्तु शोक है कि अनेक मनुष्यमें, श्रीभगवान्‌के इस असीम करुणाके कारण त्यागका भाव उत्पन्न न होकर, हिंसाभाव उत्पन्न होता है जो यहाँतक बढ़ जाता है कि श्रीभगवान्‌के प्रिय अंश मनुष्यके सिवा निरपराध पशु, पक्षी आदि तकको जो किसीकी हानि नहीं करते किन्तु उनमेंसे कई लोगोंका उपकार भी करते, उनको लोग मार डालते हैं एवं और भी अन्य प्रकारकी हिंसा करते हैं। जब भावुकको एक ओर श्रीभगवान्‌की अतुलनीय मधुर करुणा, प्रेम और यज्ञ और दूसरी ओर मनुष्यका उपकृत होनेके बदले अधर्माचरणद्वारा उनको आघात पहुँचाना और उस आघातके पानेपर भी करुणाकी वर्षाकी रुकावट कभी नहीं, इसका यथार्थ ज्ञान और अनुभव होता है तो उसका शुद्ध हृदय प्रेमसे प्लावित हो जाता है और ध्यान-चिन्तनद्वारा उसमें करुणा और मधुर भाव जागरित हो जाता है। प्रेममें ऐसी शक्ति है कि प्रेमीमें प्रेमपात्रके गुणको उत्पन्न कर देता है, बल्कि दोनोंको एक कर देता है। श्रीभगवान्‌के यह ऊपर कथित करुणा (मधुर) भाव ही भावुकको विशुद्ध प्रेमद्वारा श्रीभगवान्‌में आकर्षित करता है, न कि उनका ऐश्वर्यभाव; और इसी कारण भावुक श्रीउपास्यसे कुछ भी नहीं चाहता किन्तु केवल उनकी करुणा और मधुरताके भावोंको संसारके कल्याणके लिये संसारमें अपने प्रेमयज्ञद्वारा फैलाना चाहता है। वह मनुष्य समाजकी शोचनीय दशाको देखकर परम व्याकुल हो जाता है, जैसा कि उसके प्रिय श्रीउपास्य भी उनके हितके लिये व्यग्र रहते हैं। और श्रीउपास्यके सर्वात्मभावकी दृष्टिसे संसारके दुःख और उसके कारण अधर्माचरणको अपना दुःख और अधर्माचरण

समझता है, वरं उससे भी अधिक अनुभव करता है । श्रीउपास्य-का प्रेम उसे (भावुकको) बाध्य करता है कि वह संसारके दुःख और उसके कारण अधर्माचरणके घटाने, और सुख और उसके कारण धर्मके बढ़ानेके काम (प्रेम-यज्ञमें जिसमें श्रीउपास्य स्वयं नियुक्त हैं) में वह थोड़ी भी सेवा करके योग दे । यही प्रेमयज्ञ है । ऐसा भावुक सर्वात्मभावकी दृष्टिसे संसारके दुःख और अधर्मको अपना दुःख और अधर्म अनुभव करता है, वरं उससे भी अधिक और यथासामर्थ्य सेवाद्वारा इनके घटानेका यत्न करता है । वह भी तीनों प्रकारकी सेवामें प्रवृत्त होता है । श्रीउपास्यके निमित्त अन्न, वस्त्र, जल, द्रव्य आदि आवश्यक पदार्थ दीन-दरिद्ररूपी श्रीनारायणको अर्पणकर और आश्रितोंके पालन-पोषणके लिये उचित सांसारिक कर्तव्यका सम्पादनकर आधि-भौतिक सेवा (उपकार) करता है; कीर्तन, भजन, उपदेश, कथा, व्याख्यान और वर्णाश्रमधर्म और उनके कर्तव्यके पालन-द्वारा बाह्यभावसे और श्रीउपास्यके श्रीचरणोंमें निरन्तर चित्तको युक्तकर उनमेंसे निर्झरित करुणा और मधुर रसके प्रवाहको सर्वत्र फैलाकर अन्तरसे आधिदैविक सेवा (उपकार) करता है और श्रीसद्गुरुकी सहायतासे आत्मनिवेदनकर विश्वकी परम श्रेयस्कर आध्यात्मिक सेवा (उपकार) करता है । यह प्रेम-यज्ञ ऐसा है कि इसका बहुत बड़ा प्रभाव दूसरोंपर पड़ता है और अनेक योग्य साधक इसके कारण श्रीउपास्यकी सेवामें प्रवृत्त होते हैं । जब-जब कोई पवित्रात्मा सज्जन निःस्वार्थभावसे श्रीभगवान्‌के स्नेहसे प्रेरित हो श्रीभगवान्‌के लिये संसारके हितके काममें प्रयुक्त होते हैं, तब-

तब उनका प्रभाव जनसमुदायपर अवश्य पड़ता है और अनेक लोग उनके प्रेमके बलसे प्रेरित होकर स्वयं उनके इस विश्वहित कार्यमें योग देते हैं। आजकलकी भी यह हालत है और भविष्यत्‌में भी यही होगी।

ऐसे भावुकके शुद्ध प्रेमका प्रभाव चेतनको कौन कहे जड़-तकपर भी पड़ जाता है। ऐसे भावुक प्रेमसे जिस प्रतिमा अथवा चित्रकी पूजा और ध्यान करते हैं वह तेजपुञ्जसे पूरित होकर सजीव हो जाती है। ऐसे भावुककी प्रतिमाको सर्दी-गर्मी मालूम पड़ने लगती है। गर्मीमें पंखा न करनेसे पसीना आता, जाड़ेमें कपड़ा न देनेसे ठण्डक लगती, भोग न देनेसे भूखसे कष्ट होता है और आवश्यकता होनेपर वह बोलती भी है। आजकल भी भावुकके श्रीठाकुरजीकी प्रतिमामें ये सब बातें देखी गयी हैं। ऐसे भावुककी सहानुभूति और करुणादृष्टिसे कोई भी दुःखं वञ्चित नहीं रहता और वह अपनी निरन्तर प्रार्थना और हित-चिन्तासे संसारके पापके बोझको घटाता है, क्योंकि शरणागतके केवल भगवत्सम्बन्धी और विश्वहित भावनाद्वारा भी बहुत बड़ा कल्याण संसारका होता है। ऐसा साधक दिनरात प्रेमयज्ञमें योग देनेमें व्यग्र रहता, कभी इससे खाली नहीं रहता, यहाँतक कि शयनकालमें भी वह प्रेम-सेवामें ही लगा रहता और इस प्रकार जगत्‌का उपकार करता रहता है।

ऐसा भावुक प्रेम-यज्ञके लिये अपने सर्वस्वके त्यागनेके लिये प्रस्तुत रहता है यदि आवश्यक हो। वह कदापि हिंसा, असत्य,

क्रोध, लोभ, अभिमान, मद, मत्सर, ईर्ष्या, इन्द्रियलोलुपता आदि दुर्गुणोंसे सम्पर्क नहीं रखता, क्योंकि वह समझता है कि इनके व्यवहारसे उसके हृदयस्थ परम इष्ट श्रीउपास्यको आघात पहुँचेगा। वह प्राण अथवा सर्वस्वको बचानेके लिये भी हिंसा, असत्यादिका कदापि व्यवहार नहीं करता। रामचरितमानसमें लिखा है—

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाय बरु बचन न जाई॥

पूर्वकालमें राजा हरिश्चन्द्रने राज्यत्याग, महात्मा दधीचिने शरीरत्याग, धर्मात्मा पाण्डवोंने वनवास और अज्ञातवास इस प्रेमहीके कारण किया, क्योंकि सत्य और परोपकार श्रीउपास्यके रूप ही हैं। इस युगमें श्रीमीराबाई, कलकत्ता पाईकपाड़ा राज्यके प्रसिद्ध मालिक लालाबाबू आदिने अपने राज्यका इसी भगवत्-प्रेमके ही कारण त्याग किया। यथार्थ त्याग आन्तरिक भाव है, बाह्य भाव नहीं। योगवाशिष्ठमें कथा है कि ज्ञानी चूड़ाला रानीने अपने पतिके सब बाह्य पदार्थोंके त्याग करनेपर उनको त्यागी नहीं माना। राजा जनक, अम्बरीष आदि राज्य करते रहनेपर भी यथार्थ त्यागी भक्त थे, अर्थात् राज्यसिंहासनपर रहकर भी बिना आसक्तिके केवल श्रीउपास्यके लिये उनके प्रिय कार्यको और कर्तव्यको सम्पादन करना त्याग ही है। भिन्न-भिन्न भावुकोंका बाह्य भाव और क्रियाकलाप उनकी अवस्था और प्रारब्ध कर्मानुसार भिन्न-भिन्न रहता है किन्तु आन्तरिक भाव एक ही प्रकारका होता है अर्थात् उनकी सब वस्तु, उनके सब कर्म, उनकी सब भावना, उनकी आत्मातक केवल श्रीउपास्यमें अर्पित रहती हैं। श्रीउपास्यकी इच्छाके अनुसार कोई भिक्षा माँगकर उनकी सेवा

करता, कोई राज्य शासनकर उनकी आज्ञाका पालन करता है। उद्देश्य दोनोंके एक रहते हैं।

ऐसे भावुकको श्रीमद्भगवद्गीतामें 'ज्ञानी' और 'युक्ततम' कहा है। जैसा कि—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७। १६–१९)

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(१२। २)

'हे भरतर्षभ! दुःखी, आत्माके जाननेकी इच्छा करनेवाला, धनकी इच्छा करनेवाला और ज्ञानी, ये चार प्रकारके मनुष्य मुझे भजते हैं। इन चारोंमें ज्ञानी श्रेष्ठ है, वह सदा मुझसे युक्त रहता है और मुझमें ही भक्ति रखता है, इससे ज्ञानीको मैं बहुत प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझको प्रिय है। ये चारों उत्तम हैं, परन्तु ज्ञानी मेरी ही आत्मा है। यह मेरा मत है। क्योंकि वह सदैव अपना चित्त मुझहीमें लगाये रहता है और सर्वोत्तम गतिरूपी मेरे ही

आश्रित रहता है। हे अर्जुन ! बहुत जन्मतक ज्ञानको सञ्चित करता हुआ जो इस सम्पूर्ण जगत्को वासुदेवमय जानता है, वह मुझे प्राप्त होता है परन्तु ऐसा महात्मा दुर्लभ है। श्रीभगवान् कहते हैं कि जो भावुक मेरे विश्वरूपमें चित्तको सन्निवेशित करके निरन्तर मेरी सेवामें नियुक्त और भक्तिसे मेरी उपासना करते हैं वे मेरे जानते उत्तमोत्तम हैं। यहाँ ज्ञानी कहनेका तात्पर्य उसीसे है जिसको श्रीभगवान्के प्रेम-यज्ञ और उनके परम उदार करुणा-भावका ज्ञान है और वह भी करुणा और मधुर भावसे पूरित होकर और श्रीभगवान्के विश्वरूप भावका अनुभव कर इस प्रेम-यज्ञमें प्रयुक्त है और उन्हींमें तन्मय है। अन्तिम श्लोकका भाव है कि श्रीभगवान्के सगुणरूप और विश्वरूपमें जो मनको सन्निवेशित कर नित्ययुक्त होकर अर्थात् केवल उन्हींके निमित्त कर्म करनेमें प्रवृत्त होकर प्रेमपूर्वक उपासना करता है और शरणमें जाता है वही सबसे श्रेष्ठ है। भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने इस श्लोकके भाष्यमें श्रीभगवान्के विश्वरूपका उल्लेख किया है और श्रीश्रीधरस्वामीने अपनी टीकामें नित्ययुक्तका श्रीभगवान्के लिये कर्म करना ही अर्थ किया है। परा श्रद्धा शरणागतभाव है और उपासनाका भी अन्तिम लक्ष्य शरणागतभावकी ही प्राप्ति है। इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिये पूर्ण निरहंकार और निरभिमान होना आवश्यक है, यहाँतक कि सेवा और तितिक्षाके भी कर्तापनेके भावको त्यागना चाहिये। ऐसा भावुक समझता है कि केवल श्रीउपास्यकी कृपा और उनके द्वारा दी हुई शक्तिके कारण ही मैं कुछ तुच्छ सेवा कर सकता हूँ अन्यथा मेरी सामर्थ्य कहाँ कि

उसका सम्पादन करूँ ? अतएव उसको अहंकार, अभिमान नहीं कलुषित करता। लिखा है—

हरौ रतिं वहन्नेष नरेन्द्राणां शिरोमणिः।
भिक्षामटन्नरिपुरे श्वपाकमपि वन्दते॥

(पद्मपुराण)

'श्रीभगीरथ राजा राजकुलरत्न होनेपर भी श्रीभगवान्‌में अपनी प्रीतिको स्थापितकर शत्रुके घरसे भी भिक्षाकी याचना करते थे और चाण्डालकी भी वन्दना करते थे।'

जैसा कि श्रीभगवान् सब प्राणियोंमें निवास करते हैं और सबोंपर उनकी दृष्टि रहती है, उसी प्रकार भावुक भी सबसे प्रेम करता और चाण्डालादि दुःखित, पतित व्यक्ति उसकी दया और श्रद्धाके वैसे ही पात्र हैं जैसा कि उच्च अवस्थाके व्यक्ति रहते हैं। एक बार श्रीभगवान्‌के हस्तिनापुरसे द्वारका लौटनेपर उनके स्वजनके मिलनके विषयमें श्रीमद्भागवतपुराणमें ऐसा वर्णन है—

भगवांस्तत्र बन्धूनां पौराणामनुवर्तिनाम्।
यथाविध्युपसंगम्य सर्वेषां मानमादधे॥
प्रह्वाभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः।
आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः॥

(१।११।२१-२२)

'तब श्रीभगवान्‌ने अपने बलरामादि बान्धव तथा सकल पुरवासियोंकी भेंट यथोचित रीतिसे लेकर, किसीको मस्तक नवाकर, किसीको नमस्कार करके, किसीको हाथ जोड़ नमस्कारकर, किसीको हृदयसे लगाकर, किसीसे हाथ मिलाकर, किसीकी ओर

दृष्टि देकर, किसीको उपदेश करके और किसीको इच्छित वरदान देकर इस प्रकार वसुदेवजीसे लेकर उन्होंने चाण्डालपर्यन्त सबका योग्यतानुसार सम्मान किया ।

एक महात्मा एक वार श्रीभगवान्के भोगके लिये रोटी वनाकर दूसरा व्यञ्जन वना रहे थे कि इतनेमें एक कुत्ता आकर रोटीको लेकर भाग चला । महात्मा कुत्तेको भी श्रीभगवान्का रूप मान कहने लगे कि 'कृपाकर आप थोड़ा ठहर जाइये, रोटी रूखी है, उसमें मुझे घी लगाने दीजिये तो उसे भोग लगाइयेगा' । महात्माके सर्वात्मभावकी भक्तिके कारण श्रीभगवान्ने विट्ठलके रूपमें प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिया। विष्णुपुराणका वचन है—

एवं सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी ।
कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम् ॥
(१ । १९ । ९)

'इस प्रकार पण्डितको सब प्राणियोंमें अनन्य भक्ति करनी चाहिये ।'

भक्तके हृदय परम कोमल और करुणासे परिपूर्ण रहनेके कारण पतित और दुःखितकी दशाकी ओर स्वभावतः उनका ध्यान विशेष आकर्षित होता है । उनकी दशाके सुधारनेमें वे विशेष दत्तचित्त रहते हैं । चूँकि पारमार्थिक सुधारसे सब सुधार सम्भव है, केवल आर्थिक सुधार यथेष्ट नहीं है, अतएव भावुक लोगोंको ईश्वरोन्मुख करनेके लिये अधिक यत्न करते हैं जिससे सांसारिक दशाका भी सुधार होता है । स्वामी श्रीरामानुजाचार्यके

गुरुने उनको आदेश दिया कि जो महामन्त्र तुम्हें दिया गया है उसको अनधिकारीको बतलानेसे सुननेवालेको तो लाभ होगा किन्तु बतलानेवालेको नरक होगा। स्वामी श्रीरामानुजाचार्यने अपने नरकके वाससे भी दूसरोंका लाभ हो इसको उत्तम समझ महामन्त्रका उपदेश एक ऊँची जगहपर जाकर अनेक लोगोंको दिया। अपने ऊपर कष्ट उठाकर भी दूसरोंको लाभ पहुँचाना इस स्वामी श्रीरामानुजाचार्यके भावको उनके गुरुने परमोत्तम समझा और इसके लिये उनके त्यागभावकी सराहना की और कहा कि यह तुम्हारा त्यागकर्म श्रीभगवान्‌के लिये बड़ा प्रिय कार्य हुआ।

साधक जैसे-जैसे प्रेमकी आकर्षिणी शक्तिके सहारे श्रीउपास्यके निकटवर्ती होता जाता है, उससे अधिक वेगसे श्रीउपास्य उसकी ओर आकर्षित होते जाते हैं, क्योंकि उनको भक्तसे अधिक अन्य कोई प्रिय नहीं है। लिखा है—

> तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च।
> विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥
>
> (विष्णुधर्म)
>
> सदा मुक्तोऽपि बद्धोऽस्मि भक्तेषु स्नेहरज्जुभिः।
> अजितोऽपि जितोऽहं वा अवशोऽपि वशीकृतः॥

और भी—

> अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
> साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
> नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
> श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन्येषां गतिरहं परा॥

ये दारागारपुत्राप्तान्प्राणान्वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
(श्रीमद्भा० ९।४।६३-६५)

'भक्त यदि श्रीभगवान्‌को एक दल तुलसी अथवा एक अञ्जलि जल प्रेमसे देते हैं तो उसके कारण वे भक्तवत्सल उसके हाथमें अपनी आत्माको बेंच लेते हैं। श्रीमुखवाक्य है कि मैं सदा मुक्त रहनेपर भी भक्तकी स्नेह-डोरीसे बँधा हुआ रहता हूँ और अजित होनेपर भी भक्तद्वारा जीता जाता हूँ और अवश होनेपर भी भक्तके वशमें हूँ।' जब ऋषि दुर्वासाजी राजा अम्बरीषके द्रोहके कारण सुदर्शनचक्रके आक्रमणसे भीत होकर श्रीभगवान्‌की शरणमें गये तो श्रीभगवान्‌ने कहा कि 'हे ब्राह्मण! मैं भक्तोंके वशमें हूँ, इस कारण तेरी रक्षा करनेके विषयमें स्वतन्त्र नहीं हूँ। क्योंकि निरपेक्ष भक्तोंके प्रेमने मेरे हृदयको अत्यन्त वशमें कर लिया है, इस कारण वे भक्त मुझे सबसे अधिक प्यारे हैं। हे ब्राह्मण! जिनका मैं परम आश्रय हूँ उन परम विवेकी भक्तोंके बिना मैं, अपनी आत्मा और मेरा आश्रय करके स्थिर रहनेवाली लक्ष्मीकी भी इच्छा नहीं करता हूँ, फिर औरोंकी तो बात ही क्या? जिन भक्तोंने स्त्री, घर, पुत्र, अपने प्राण, द्रव्य, यह लोक और परलोक, इन सबोंको त्याग करके मेरा ही आश्रय लिया है उनको त्यागनेमें मैं कैसे समर्थ हो सकता हूँ? अर्थात् कभी समर्थ नहीं हो सकता।' श्रीनारदजीने एक बार देखा कि श्रीभगवान् सिंहासनस्थ व्यक्तियों-की बड़ी प्रीतिसे पूजा-अर्चा करनेमें व्यग्र हैं। जिज्ञासा करनेपर जाना गया कि वे उनके परम प्रिय भक्तगण हैं।

कान्ताभाव

अहंभाव, अहंकृतिभावको पुरुषभाव भी कहते हैं जिसके शुद्ध रूप (दासोऽहं, सखाहं) को भी बिना त्याग किये आत्मनिवेदन हो नहीं सकता। इस भावके विरुद्ध कान्ताभाव है। जिसमें इन भावों (अहंकार और कर्तापन) का पूरा अभाव रहता है। यद्यपि आत्मनिवेदन अन्य साधनोंकी दृष्टिसे शुद्ध आध्यात्मिक भाव है, कदापि आधिभौतिक नहीं, क्योंकि इसमें स्वतः आत्माहीका समर्पण होता है, तथापि सांसारिक भावोंमें कान्ताभावसे इसकी तुलना इसलिये की गयी है कि आर्यमतानुसार जो पातिव्रत धर्म है वह संसारमें किसी अंशमें इसका द्योतक है। 'कान्ताभाव' कहनेसे यह तात्पर्य नहीं है कि भावुक शरीरकी दृष्टिसे स्त्री है अथवा हो गया, कदापि नहीं। इस कान्ताभाव कहनेके दो कारण हैं। प्रथम कारण—प्रेम पुरुष श्रीभगवान् प्रेमयज्ञ अर्थात् प्रेमका प्रसार करनेके लिये जब 'एकोऽहं बहु स्याम्' यह संकल्प करते हैं, तब उनका यह संकल्प ही आनन्दमयी परा शक्ति होकर उनकी इच्छाकी पूर्तिमें प्रवृत्त होता है और संसारके उद्भव, स्थिति और पालनका कारण बन जाता है। जीवात्मा भी श्रीभगवान्‌की चिच्छक्तिका अंश है अतएव शक्तिरूप है और विश्वमें केवल मात्र पुरुष श्रीभगवान् हैं। लिखा है—

गोविन्द एव पुरुषो ब्रह्माद्याः स्त्रिय एव च।

(पद्मपुराण पातालखण्ड ६४। ४६)

सर्वे देवाः प्राकृतिका यावन्तो मूर्तिधारिणः।
अहमात्मा नित्यदेही भक्तध्यानानुरोधतः॥ २४॥

'विश्वमें केवल श्रीभगवान् ही पुरुष हैं और ब्रह्मादि सबके सब उनकी शक्ति (स्त्रीरूपा) हैं। जितने देवता आदि मूर्तिमान् हैं, वे सब प्रकृति (शक्ति) के कार्य हैं, अतएव शक्तिरूप हैं, केवल मैं ही सनातन आत्मा शरीरमें भक्तोंके ध्यानद्वारा प्राप्त होनेके लिये रहता हूँ।' परमपुरुष श्रीभगवान्‌की अपनी परा शक्ति और उनके अंशोंके साथ संयोग ही उनकी नित्यकी विहारलीला है और यही सृष्टिका जीवन और पालनका कारण है और इसी द्वारा श्रीभगवान्‌के परम प्रेमानन्दका प्रसार और परस्पर प्रेमानुभव होता है जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। इसको रमण, रति, रास आदि भी कहते हैं। लिखा है—

स्वयं हि बहवो भूत्वा रमणार्थं महारसः।
तयातिरमया रेमे प्रियया बहुरूपया॥
(नारदपाञ्चरात्र)

'श्रीभगवान् रमण (प्रेमानन्दका प्रसार) करनेके लिये अनेक हो गये और उन्होंने अनेक रूपवाली अपनी प्रिया (जीवात्मा) के द्वारा रमण (प्रेमानन्दका वर्षण और आस्वादन) किया।'

और भी—

गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषाञ्चैव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥
(श्रीमद्भा० पु० १०। ३३। ३६)

'जो श्रीभगवान् श्रीगोपीगण और उनके पति और सब शरीरधारियोंकी अन्तरात्मामें विचरते (विहार करते) हैं, वही

नियन्ता अपनी लीला (प्रेमानन्दप्रसार) करनेके लिये ही श्रीकृष्णरूप होकर प्रकट हुए और गोपियोंके साथ क्रीडा (परमात्मा जीवात्माकी नित्यसिद्ध विहारलीला) की (जो परम आध्यात्मिक रहस्य है), इसमें दोष क्या ?' विश्वमात्र ही भगवान्‌की शक्ति है । लिखा है—

> एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा ।
> परस्य ब्रह्मणः शक्तेस्तथेदमखिलं जगत् ॥
> (विष्णुपुराण १ । २२ । ३५)

'जिस प्रकार एकदेशस्थित अग्निका प्रकाश अधिक दूरतक व्याप्त रहता है, उसी प्रकार यह अखिल जगत् परब्रह्मकी शक्ति है ।'

जीवात्मा और परमात्मा (श्रीभगवान्) में शक्ति-शक्तिमान् अथवा 'अंश-अंशी' का सम्बन्ध है और जीवात्माकी सब शक्तियाँ श्रीभगवान्‌की दी हुई हैं, अतएव स्वयं जीवात्मा श्रीभगवान्‌की शक्ति और निजकी वस्तु है । किन्तु जीवात्मा इस प्रेम-सम्बन्धको भूलकर कर्ता और शक्तिमान् अपनेको मानता है जो पुरुषभावका ग्रहण करना है, अतएव इस अहंता (पुरुषभाव) के कारण श्रीभगवान्‌की नित्य लीलामें योग देनेके योग्य न रहकर सेवा करनेके अयोग्य हो जाता है । अतएव जीवात्माको अपनेको श्रीभगवान्‌की शक्ति मानना (जिसको कान्ताभाव कहते हैं) अनादि, आध्यात्मिक और स्वाभाविक भाव है ।

पतिव्रताभाव

दूसरा कारण यह है । जैसे कि पतिव्रता स्त्री अपने पतिका केवल एक भोगमात्र है, स्वतन्त्र नहीं है, उसी प्रकार जीवात्माका

भी सम्बन्ध श्रीभगवान्से है, अतएव सांसारिक भाषामें इसको कान्ताभाव कहते हैं। इस अनादि सम्बन्ध और उसके धर्मका किञ्चित् आभास प्रकट करनेके लिये सती साध्वी पतिव्रता स्त्रीका जो सम्बन्ध और धर्म उसके पतिसे है उसकी तुलना दी गयी है, यद्यपि ईश्वरीय सम्बन्ध और धर्म अतुलनीय है।

यहाँपर पतिव्रताधर्मका वर्णन करना प्रसङ्गविरुद्ध नहीं होगा, क्योंकि उससे शरणागतभावके भावुकके धर्म और लक्षणका भी बोध हो जायगा, चूँकि उनका धर्म किसी अंशमें पतिव्रताके समान और किसी अंशमें उससे भी उच्च और कठिन है।

पतिव्रता स्त्री अपने पतिकी सेवा स्वार्थवश कदापि नहीं करती। आर्यधर्ममें विवाह संस्कार है और कर्तव्यपालन और धर्मोपार्जनके लिये है। यह पुत्र उत्पन्नकर देव, पितृ आदि ऋणोंसे मुक्त होनेके लिये है; कदापि सुखप्राप्तिके लिये नहीं। स्त्री सहधर्मिणी है, पतिको उनके धर्म और यज्ञमें सहायता देना उसका मुख्य धर्म है, अतएव अर्द्धाङ्गिनी भी है। स्त्रीपुरुषका सहवास शास्त्रानुसार यज्ञ अर्थात् त्याग है, कदापि सुखसम्भोग नहीं है और प्राचीन कालमें यह इसी दृष्टिसे देखा जाता था। स्त्रीको सन्तानकी उत्पत्ति, पालनमें जो असीम कष्ट होता है वह प्रसिद्ध है। पहलेके समयमें सन्तानोत्पत्तिके बाद पुरुष-स्त्रीमें प्रायः भाई-बहिनका सम्बन्ध हो जाता था और अब भी होना चाहिये और कहीं-कहीं इस कालमें भी ऐसा देखा जाता है। पतिव्रता स्त्री अपने पतिके कुरूप, अङ्गहीन, क्रोधी, क्रूर होनेपर और पतिद्वारा बिना कारण अपने ऊपर कुव्यवहार, ताड़ना और भर्त्सना आदिके किये जानेपर भी

और पतिकी बेपरवाहीसे अन्नादिका कष्ट पानेपर भी प्रसन्न ही रहती है और मनमें बिना किसी प्रकारके विषादको लाये पतिकी सेवामें ही प्रवृत्त रहती, कदापि विमुख नहीं होती, और सेवा वैसी ही उत्तमतासे करती है जैसा कि पतिसे परितोषित होनेपर करती। लिखा है—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना
हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥
(रघुवंश काव्य)

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी
धर्मेषु पत्नी क्षमया च धात्री।
स्नेहेषु माता शयनेषु भार्या
रङ्गे सखी लक्षणतः प्रिया मे॥
(नाटक)

'(राजा अज अपनी रानी इन्दुमतीके वियोगपर कहते हैं कि) हे प्रिये इन्दुमति! तुम मेरी गृहस्वामिनी, मन्त्री, एकान्तसखी और सुन्दर कलामें प्रियशिष्याके समान थी; निर्दयी मृत्युने तुम्हारा हरण करके मेरा क्या-क्या नहीं हर लिया, अर्थात् सर्वस्व हर लिया। (श्रीभगवान् रामचन्द्र श्रीसीताहरणके समय कहते हैं कि) मेरी प्रियतमा सीता अपने शुभ लक्षणोंसे मेरे व्यावहारिक कार्योंमें मन्त्री, आज्ञाके पालनमें दासी, धर्मके सम्पादनमें पत्नी (सहायिका), क्षमामें पृथ्वी, स्नेह करनेमें माता, शयनके समय भार्या और आमोद-प्रमोदमें सखीके समान थी।'

पतिव्रता स्त्री अपने पतिकी सेवामें मन, वचन, बुद्धि और शरीरसे सदा-सर्वदा ऐसा अनुरक्त रहती है कि अपनेको एक प्रकारसे विस्मरण कर जाती है अर्थात् वह अपने सुख, सम्पत्ति, आमोद-प्रमोदके लिये तनिक भी इच्छुक नहीं रहती, यहाँतक कि भोजन, वस्त्र आदि आवश्यक वस्तुओंकी भी परवा अपनी पति-सेवाकी दृष्टिमें नहीं करती और आवश्यक होनेपर अपने पतिके लिये इनका त्याग भी प्रसन्नतासे करती है। भूषण आदिका भी व्यवहार केवल पतिके प्रीत्यर्थ ही करती है, कदापि अपनी तुष्टिके लिये नहीं। उसके लिये पातिव्रत धर्मका पालन ही उपासना-भक्ति है; और वह सिवा अपने पतिके किसी अन्य पुरुषको पुरुष ही नहीं समझती, जैसा कि ठीक आत्मनिवेदनकी अवस्थाके भावुककी भावना श्रीउपास्यके प्रति रहती है। कहा है—

एकै धरम एक व्रत नेमा। काय वचन मन पतिपद प्रेमा॥
उत्तमके अस बस मनमाहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥

(श्रीरामचरितमानस)

तीर्थ, व्रत, जप, तप, अनुष्ठान जो पारमार्थिक कर्म होनेके कारण बड़े आवश्यक हैं और जिनका फल प्रायः स्थायी है उनका भी पतिव्रता निरादर करती है; अर्थात् बिना पतिकी आज्ञाके इनमें प्रवृत्त नहीं होती; और यदि होती भी है तो केवल पतिको आज्ञाके पालन करनेके लिये ही। उसकी पतिमें अनुरक्ति इतनी पक्की रहती है कि उसके परम इष्ट और उपास्य भी पति ही होते हैं, अन्य कोई नहीं, अर्थात् वह पतिहीको भगवान्‌का रूप जानती है। इस धर्मकी चरम सीमा यह है कि पतिके अर्थ अथवा पतिकी

आज्ञासे वह बड़े हर्षसे अपने प्राणको त्यागनेपर भी उद्यत रहती है, यदि अत्यन्तावश्यक हो।

प्राचीन समयमें भारतवर्षमें पतिके साथ किसी-किसी पतिव्रताके सहशरीरत्यागकी प्रथा थी। वह एक प्रकारका आत्मनिवेदन ही है। पतिव्रताका पतिके साथ अपनी स्वेच्छा और पातिव्रत धर्मके प्रभावके बलसे प्रयाण करनेमें सिवा त्याग और प्रेमकी प्रेरणाके और क्या उद्देश्य हो सकता है और संसारमें इससे बढ़कर पवित्र निष्काम प्रेमका और कौन उदाहरण हो सकता है? इसमें उसे कोई बाध्य नहीं करता था। वह संसारमें रहकर सुखभोग कर सकती थी; किन्तु इस आत्मनिवेदनके कारण ही यह सहप्रयाण किया जाता था। पीछे इस प्रथाका दुरुपयोग होने लगा अतएव इसका निषेध समयानुसार ठीक है।

पतिकी आज्ञाके पालनके लिये अथवा उनके सौंपे किसी कर्तव्यके पालनके लिये तो पतिव्रताका पतिके साथ संसारसे नहीं प्रयाण करना ही परम धर्म है और इसके विरुद्ध करनेसे ही वह व्रतसे भ्रष्ट हो जाती है। जीवित अवस्थामें पतिकी आज्ञा मिलनेपर ही एक संग प्रयाण पूर्वकालमें कोई-कोई पतिव्रता करती थी, अन्यथा नहीं। किन्तु ऐसा प्रयाण, अपने शरीरको अग्निसे जलाकर, प्रयाण नहीं है, वह तो आत्महत्या है। सहप्रयाण यथार्थमें पतिके विरहाग्नि अर्थात् योगाग्निसे जलना है जो बाह्यमें प्रकट हो सकता है अथवा न भी हो सकता है। सहप्रयाण यह भी है कि पतिव्रता पतिके प्रयाणके बाद संसारके विषयोंसे विशेष उदासीन हो जाय जिनसे

वह पहले भी प्रायः विरक्त ही थी, किन्तु पतिके कारण बाहरसे उनका व्यवहार करती थी। किन्तु इस अवस्थामें बाह्यसे भी आभूषण आदिका त्याग करे, भोजन ब्रह्मचारीके समान केवल शरीरकी रक्षाके लिये करे, और दिन-रात अपने चित्तको पतिके चरणकमलमें रक्खे और किसी ऐसे सांसारिक कर्म अथवा भावनासे सम्बन्ध न रक्खे जो उसके कर्तव्यके बाह्य हो। इसीको वैधव्य-धर्म कहते हैं जो एक प्रकारसे संसारसे मरना है। वह शरीर रखकर भी संसारसे पयान कर जाती है और आत्माकी दृष्टिसे अपने पतिके साथ ही रहती है; कदापि पृथक् नहीं। विरह (विच्छेद) की ज्वालाके कारण प्रेम अधिक प्रगाढ़ हो जाता है और उसकी सचाई और शुद्धताकी परीक्षाकी यह कसौटी है, अतएव परमावश्यक है। इस कारण पतिपरायण विधवाएँ धन्य हैं, क्योंकि वे प्रेमकी आदर्श हैं और उनका दर्जा इसलिये बहुत ऊँचा है। वे अपने धर्मके पालनसे संसारका बड़ा कल्याण करती हैं और वे यथार्थमें पूजनीया हैं। यदि वे अपने धर्मको त्यागकर किसी अन्य पुरुषसे प्रेम करें तो उन्हें कौन रोक सकता है, किन्तु जो ऐसा न कर अपने जीवनसे दिखलाती हैं कि विवाहके समय जो वे अपने पतिके साथ आत्मनिवेदन कर एक हो गयीं, वह एकता अटूट है और अक्षुण्ण है, कदापि भङ्ग हो नहीं सकती। प्रेमकी एकता पक्की एकता है उसमें द्वैतके लिये स्थान कहाँ? विधवाओंको अपने उच्च आदर्श और संसारके हित करनेवाले उनके परम कठिन धर्मका खयालकर अपनी दशासे दुःखित कदापि नहीं होना चाहिये और समझना चाहिये कि वे बहुत बड़े

और उच्च धर्मके पालनमें प्रवृत्त हैं और एक प्रकारकी तपस्या कर रही हैं जिससे बढ़कर कोई धर्म अथवा तप नहीं है, अतएव उनका स्थान बहुत ऊँचा है। विरुद्ध इसके जो विधवा बाहरसे विधवा रहती हुई भी अपने धर्मसे च्युत हो जाती हैं, वे बहुत बड़ा पापकर्म करती हैं जिसका अत्यन्त दुःखद परिणाम अनेक जन्मोंतक लगातार चला जायगा।

सांसारिक भावोंमें पतिव्रताभाव अवश्य शुद्ध और निष्कामभाव है जिसके कारण यह आत्मसमर्पणकी तुलनाके लिये लिया गया है। विवाहसम्बन्धसे भी स्त्री-पुरुष एक हो जाते हैं और इस भावमें भी उपासक और श्रीउपास्य एक हो जाते हैं। कहीं-कहीं विवाह होनेपर कन्याके नामको बदलकर पतिका नाम वह धारण करती है; वह इसी एकताका सूचक है। इस तुलनाका यह कदापि तात्पर्य नहीं है कि उपासक शरीर अथवा उपाधिकी दृष्टिसे स्त्री है, अथवा अपनेको ऐसा माने, अथवा बाह्यभावमें स्त्रीका अनुकरण करे, कदापि नहीं। तात्पर्य यह है कि जैसे पतिव्रता अपने पतिपर अपनेको पूर्ण समर्पित करती है और शरीर, मन, वचन, बुद्धिसे उनमें और उनकी सेवामें निष्कामभावसे अनुरक्त रहती है, जिस व्रतसे अनेक कष्ट पानेपर भी विचलित नहीं होती है, उसी प्रकार और उससे भी अधिक उपासकको श्रीउपास्यके प्रति अनुरक्ति रखनी चाहिये। लिखा है—

सुचिरं प्रोषिते कान्ते यथा पतिपरायणा।
प्रियानुरागिणी दीना तस्य सत्त्वैककाङ्क्षिणी॥

तद्गुणान् भावयेन्नित्यं गायत्यभिशृणोति च।
श्रीकृष्णगुणलीलादेः स्मरणादि तथा चरेत्॥
(पद्म० पाताल० ५१। २८-२९)

'पतिके अनेक कालतक विदेशमें रहनेपर पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार एकमात्र उसी पतिके ऊपर अनुरक्त रहकर एकमात्र पतिहीके संगकी वाञ्छा करती हुई दीनभावसे रहकर सर्वदा पतिके गुणोंकी भावना, उन्हींका गुणगान और गुणश्रवण करती रहती है, उसी प्रकार उपासक श्रीभगवान्‌में चित्तको संनिवेशित करके उन्हींके गुण और लीलाका स्मरण, गान और श्रवण करते हुए कालको यापन करता है।' और—

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
(श्रीमद्भा० ९। ४। ६६)

श्रीभगवान् कहते हैं कि 'मेरेमें अपने चित्त लगानेवाले और सबमें समदृष्टि रखनेवाले जो साधुपुरुष हैं वे जैसे पतिव्रता स्त्रियाँ श्रेष्ठ पतिको वशमें कर लेती हैं, वैसे भक्तिसे मुझे वशमें कर लेते हैं।' स्मरण रहे कि पतिव्रता-भावका यह कदापि अर्थ नहीं है कि भावुक शरीरकी दृष्टिसे पतिव्रता स्त्री है। आत्मनिवेदनमें आत्मा मुख्य है और आत्मा ही पतिव्रताका केवल त्यागका भाव धारण करता है। और शरीरकी इसमें साक्षात् समर्पणके विषयमें उपेक्षा की जाती है और नहींके समान समझा जाता है।

नवोढा भाव

इस भावको नवोढा बालाकी अवस्थासे भी तुलना की गयी है जिस नवोढारूपी भावुकको श्रीसद्गुरु उसके पति (श्रीउपास्य)

से सम्बन्ध जोड़ देते हैं। हृदयके प्रेमसरोवरमें स्नान करनेसे (अर्थात् हृदयमें प्रेमस्रोतको जागरितकर उसमें प्लावित होनेपर भावुकका अहंता-ममता मलरूप पुरुषभाव छूटनेसे) ही शुद्ध नवोढा भाव प्राप्त होता है जो जीवात्माका शुद्ध चैतन्यस्वरूप है।

जिस प्रकार आर्य नवोढा बाला अपने भावी पतिको बिना देखे ही केवल भावी सम्बन्धके निश्चय होनेपर ही उसके प्रति अपनेको अर्पित कर देती है और उसको अपना हृदयेश्वर बना लेती है और तबसे वह उसकी पूजा प्रेमनैवेद्यद्वारा अपने हृदय-मन्दिरहीमें करने लगती है, और उस प्राणप्रिय पतिकी साक्षात् सेवामें प्रवृत्त होनेके लिये ही उसके मिलनेका प्रबल अनुराग, और मिलनेपर आत्मसमर्पण करनेका संकल्प ही उसके जीवनका केवल व्रत और उद्देश्य होता है, ठीक यही अवस्था और भाव इस भावके भावुकका जानना चाहिये। उक्त नवोढामें यह प्रेम स्वाभाविक होता है, क्योंकि तबतक पतिद्वारा किसी प्रकारके विषय-सुखके पानेका उसे ज्ञान नहीं रहता है परन्तु सम्बन्धके संवादसे ही उसमें अनुराग उत्पन्न हो जाता है। शास्त्रमें ऐसे सम्बन्धका काल कन्याके आठसे दसवें वर्षतकमें रक्खा गया है। कई जातियोंमें अब भी यह प्रथा है कि सम्बन्धका निश्चय बहुत छोटी उम्रमें होता है किन्तु विवाह कई वर्षोंके बाद होता है। श्रीकबीर आदि महात्माओंने बड़ी सुन्दरतासे भावुककी इस अवस्थाका नवोढाकी लगन, विवाह और गौना आदि रूपकमें वर्णन किया है। दरिया साहिबका वचन है—

जब मैं रही थी कन्या क्वारी। तब मेरे करम हता सिर भारी॥

अब मेरी पिउसे मनसा दौड़ी । सतगुरु आन सगाई जोड़ी ॥

ठीक है, केवल श्रीसद्गुरु ही इस सगाई (विवाह-एकीकरण) सम्बन्धको जोड़ सकते हैं ।

नवोढा बालाके लिये आवश्यक है कि वह प्रेमके रंगसे अपने सब वस्त्रों (शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार, अन्तरात्मा) को रञ्जित करे, क्योंकि ऐसे रँगीले भावुकको ही यह अनुराग-सोहाग प्राप्त होता है, अन्यको नहीं । इस नवोढा-भावुकको अपनी सारी (स्थूल शरीर), चोली (सूक्ष्म शरीर) को ही प्रेमरंगसे रँगने-पर शान्त नहीं होना चाहिये किन्तु अपने यथार्थ रूप (कारण शरीर) पर भी पक्का श्याम रंगका गोदना (श्रीउपास्यके चरण-स्पर्शका छाप) गोदवाना चाहिये जो केवल श्रीसद्गुरु और पराशक्तिकी कृपासे सम्भव है । यह छापा एक बार लगनेपर फिर कभी लुप्त हो नहीं सकता । श्रीमहात्मा कबीरने इस अवस्था-का वर्णन यों किया है—

सतगुरु हैं रँगरेज, चुनरि मेरी रँगि डारी ।
स्याही रंग छुटाइके रे, दियो मजीठा रंग ।
धोयेसे छूटै नहीं रे, दिन दिन होत सुरंग ॥ १ ॥
भावके कुंड नेहके जलमें, प्रेम रंग दई बोर ।
चसकी चाल लगाइके रे, खूब रँगी झकझोर ॥ २ ॥
सतगुरुने चुनरी रँगी रे, सतगुरु चतुर सुजान ।
सब कछु उनपर वार दूँ रे, तन मन धन औ प्रान ॥ ३ ॥
कह कबीर रंगरेज गुरु रे, मुझपर हुए दयाल ।
सीतल चुनरी ओढ़िके रे, भई हौं मगन निहाल ॥ ४ ॥

आर्य नवोढा बालाका प्रेम भावी पतिके लिये स्वाभाविक होनेके कारण वह किञ्चित् अंशमें इस भावकी तुलना करने योग्य है। नवोढाके निष्काम प्रेमको परकीया-प्रेम भी कह सकते हैं। यथार्थ प्रेम वही है जो हृदयका स्वाभाविक भाव है और जिसमें स्वार्थका लेशमात्र न रहकर त्याग पूर्णरूपसे रहता है और प्रेमपात्रके सम्बन्धसे आनन्द पानेकी भी आशाका अभाव रहता है। उस प्रेमपात्रके लिये अपनेको स्वाहा (त्याग-यज्ञ) करना ही केवल एकमात्र इसका व्रत है जिसमें बाधा पड़नेसे ही वह विरह-ज्वालासे दग्ध होता है और त्याग-सेवाके करनेसे ही उसकी शान्ति होती है।

कहा जाता है कि श्रीवृन्दावनमें श्रीमीराबाईके जानेपर वहाँके भक्तप्रवर श्रीजीव गोस्वामीने उनसे भेंट करना अस्वीकार किया, क्योंकि उनका नियम था किसी स्त्रीके मुखको नहीं देखना। श्रीमीराबाईको यह बात मालूम होनेपर श्रीमतीने गोस्वामीजीके निकट कहला भेजा कि श्रीवृन्दावनमें केवल एकमात्र पुरुष श्रीवृन्दावनविहारी हैं, और सिवा उनके दूसरा कोई पुरुष है ही नहीं, यदि गोस्वामीजी अपनेको पुरुष मानते हैं तो श्रीवृन्दावनसे शीघ्र बाहर चले जायँ, क्योंकि अन्य पुरुषका यहाँ रहनेका अधिकार नहीं है, यहाँ तो केवल श्रीभगवान्की शक्तियाँ रहती हैं। ऐसा सुनकर वे लज्जित हो गये और श्रीमीराबाईसे सादर मिले।

जबतक मनुष्यको अपने शरीरमें (जो केवल बाह्य आवरण-

की भाँति है) ही आत्मभाव बना रहता है जिसके कारण वह मन और बुद्धिसे प्रेरित होकर केवल इन्द्रियोंके विषयोंके भोगको ही अपने जीवनका लक्ष्य समझता और शरीरसम्बन्धी ममताके पात्रके स्वार्थसाधनमें प्रवृत्त रहता, तबतक वह पशुकी भाँति मायाके पाशमें बँधा हुआ रहता और अपने शुद्ध स्वरूपसे गिरा हुआ रहता है। इस अवस्थाकी इन्द्रियपरायणताको पशुभाव और अहंकार और अभिमानके भावको पुरुषभाव कहते हैं जो उसको ईश्वरोन्मुख होने नहीं देता और रागद्वेषके बन्धनमें आबद्ध रखता है। पशुभाव (इन्द्रियोंकी लोलुपता) और पुरुषभाव (अहंकार) से तभी छुटकारा होगा जब कि भावुक अहंकारको त्यागकर अपनेको आत्मा (श्रीउपास्यकी शुद्ध चिच्छक्ति) मानेगा और फिर उस शुद्ध आत्मशक्तिको, श्रीउपास्यको, जिनकी वह वस्तु है, अर्पण करेगा। इसी आध्यात्मिक भावको नवोढा अथवा कान्ता-भाव कहते हैं। बिना इस भावकी प्राप्तिके इन्द्रिय अथवा अहंकार-का यथार्थ दमन सम्भव नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीताका वचन है—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
(३। ४३)

'हे महाबाहो अर्जुन! इस भाँति बुद्धिसे भी परे और श्रेष्ठ आत्मा (चिच्छक्ति) को जान चिदात्म (कान्ता) भावको ग्रहणकर अहंकार (पुरुष) भावका निग्रहकर महाअजेय कामरूप शत्रुको दमन करो।'

नवोढा भावके वर्णनका यह कदापि ध्येय नहीं है कि भावुक

शरीरकी दृष्टिसे नवोढा कन्या है। बार-बार कहा गया है कि यह आत्मनिवेदन शुद्ध आध्यात्मिक भावमें जो मनसे भी ऊपर है और वहाँ शरीरके लिये स्थान कहाँ ? नश्वर स्थूल शरीर कदापि परमात्मामें सम्मिलित हो नहीं सकता है।

चातकभाव

भगवत्प्रेममें अनन्यता मुख्य है, अर्थात् पतिव्रताकी भाँति एक बार इस नेहकी लगन लगनेपर फिर यह न कदापि उतरती और न श्रीउपास्यको छोड़कर दूसरेपर लगती है। पतिव्रताकी भाँति उपासककी दृष्टिमें दूसरा पुरुष तो कोई विश्वमें रहता ही नहीं और उसके प्रेमके पात्र, उसका आश्रय, उसका परम सम्बन्ध और उसकी गति केवल एक श्रीउपास्य ही होते हैं, अन्य नहीं। भावुक प्राण त्यागना, सर्वस्व खोना उत्तम समझेगा, किन्तु अपने प्रेम और सम्बन्धको श्रीउपास्यके सिवा अन्यमें आरोपण नहीं कर सकता है। ठीक ऐसा ही चातकका प्रेम स्वातीकी बूँदके साथ रहता है। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने बड़ी उत्तमतासे इस चातकके प्रेमका वर्णन श्रीभगवत्प्रेमकी तुलनामें अपनी सतसईमें किया है, जिससे पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

डोलत विपुल विहंग वन, पियत पोखरिन-वारि।
सुजस-धवल चातक नवल, तोर भुवन दसचारि॥
मुख मीठे मानस मलिन, कोकिल, मोर, चकोर।
सुजस ललित चातक वलित, रह्यो भुवन भरि तोर॥

माँगत डोलत है नहीं, तजि घर अनत न जात ।
तुलसी चातक भगतकी, उपमा देत लजात ॥

तुलसी तीनों लोकमहँ, चातकहीको माथ ।
सुनियत जासु न दीनता, किये दूसरे नाथ ॥

प्रीति पपीहा पयदकी, प्रगट नई पहिचानि ।
जाचक जगत अधीन इन, कियो कनौड़ो दानि ॥

ऊँची जाति पपीहरा, नीचो पियत न नीर ।
कै जाँचै घनस्याम सों, कै दुख सहै सरीर ॥

कै बरसै घन समय सिर, कै भरि जनम निरास ।
तुलसी चातक जाचकहि, तऊ तिहारी आस ॥

चढ़त न चातक-चित कबहुँ, प्रिय पयोदके दोष ।
तुलसी प्रेम पयोधि है, याते माप न जोष ॥

तुलसी चातक माँगनो, एक एक घन दानि ।
देत सो भू-भाजन भरत, लेत घूट भरि पानि ॥

को न जिआये जगतमहँ, जीवनदायक पानि ।
भयो कनौड़ो चातकहि, पयद-प्रेम पहिचानि ॥

तुलसी चातक ही फबै, मान राखिबो प्रेम ।
वक्र बुंद लखि स्वातिको, निदरि निबाहत नेम ॥

रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखिगे अंग ।
तुलसी चातकके हिये, नित नूतन नव रंग ॥

गंगा जमुना सुरसती, सात सिंधु भरिपूरि ।
तुलसी चातकके मते, बिन स्वाती सब धूरि ॥

तुलसी चातकके मते, स्वाती पियत न पानि ।
प्रेम त्रिपा बढ़ती भली, घटे घटैगी कानि ॥

सर सरिता चातक तजै, स्वाती सुधि नहि लेइ ।
तुलसी सेवक-बस कहा, जो साहब नहिं देइ ॥

आस पपीहा पयदकी, सुनु हो तुलसीदास ।
जो अचवै जल स्वातिको, परिहरि बारह मास ॥
चातक धन तजि दूसरे, जिअत न नाईं नारि ।
मरत न माँगै अर्धजल, सुरसरिहूको वारि ॥
व्याधा वध्यो पपीहरा, परयो गंग जल जाय ।
चोंच मूँदि पीवै नहीं, धिक पीनो प्रन जाय ॥
वधिक वधो परि पुन्यजल, ऊर्ध उठाई चोंच ।
तुलसी चातक प्रेमपर, मरत न लाई खोंच ॥
चातक सुतहिं सिखाव नित, आन नीर जनि लेहु ।
यह हमरे कुलको धरम, एक स्वातिसों नेहु ॥
दरस न परस न आन जल, विन स्वाती सुनु तात ।
सुनत चेंचुवा चित चुभो, जनक नीति वर वात ॥
तुलसी सुतसों कहत यह, चातक वारहिं वार ।
तात न तरपन कीजियो, विना वारिधर-वारि ॥
वाज चंचुगत चातकहि, भई प्रेमकी पीर ।
तुलसी परवस हाड़ मम, परिहै पहुमी नीर ॥
अंड फोरि किय चेंचुवा, तुख पर-नीर निहारि ।
गहि चंगुल, चातक चतुर, डारेउ वाहर वारि ॥
होय न चातक पातकी, जीवनदानि न मूढ़ ।
तुलसी गति पहलादकी, समुझि प्रेमपद गूढ़ ॥
तुलसीके मत चातकहि, केवल प्रेम पियास ।
पियत स्वाति-जल, जान जग, जाँचत वारह मास ॥
एक भरोसो एक वल, एक आस विसवास ।
स्वाति सलिल रघुनाथ वर, चातक तुलसीदास ॥
आलवाल मुक्ताहलनि, हिय सनेह तरु मूल ।
हेरु हेरु चित चातकहि, स्वाति सलिल अनुकूल ॥

भावुक अपने प्रेमके कारण अथवा अन्य कारणसे अनेक कष्ट पानेपर भी, अथवा स्वयं श्रीउपास्यद्वारा कष्ट भेजे जानेपर भी, अपने प्रेमको श्रीउपास्यसे नहीं हटाता और न श्रीउपास्यको दोष देता है। इस नेमके विषयमें भी चातककी तुलना श्रीगोस्वामीजीने दी है—

उपल बरखि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक जलद तजि, कबहुँ आनकी ओर॥
बरखि परुख पाहन जलद, पच्छ करै टुकटूक।
तुलसी परी न चाहिये, चतुर चातकहि चूक॥

ऊपर कहे श्रीगोस्वामीजीके चातकभावके इन दोहोंमें प्रेमका परम तत्त्व प्रकाशित है, जो भावुकको अवश्य मनन और हृदयङ्गम करना चाहिये। चातकभावको जैसा इन दोहोंमें श्रीगोस्वामीजीने वर्णन किया है वह इस भावकी प्रगाढ़ता और अनन्यताकी सुन्दर और ठीक उपमा है। श्रीगोस्वामीजीके दोहेका चातक अवश्य सच्चा प्रेमी है जो मरनेके समयमें भी अपने अनन्य प्रेमके निर्वाहके लिये गंगाजलको भी त्याग देता है।

कहा जाता है कि किसी वर्षमें यदि अनावृष्टिके कारण स्वाती नक्षत्र नहीं बरसे तो प्रेमी चातक अगले वर्षतक अथवा जबतक स्वाती नक्षत्र नहीं बरसे तबतक प्यासा ही रह जाता है किन्तु स्वातीके जलके सिवा अन्य जलको कदापि नहीं पीता। पद्मपुराणके पातालखण्ड अध्याय ५१ में भी अनन्यताके लिये इस चातकभावकी उपमा दी गयी है। लिखा है—

आश्रित्य चातकीं वृत्तिं देहपातावधि द्विज॥
सरःसमुद्रनद्यादीन् विहाय चातको यथा।

तृषितो म्रियते चापि याचते वा पयोधरम् ॥
एवमेव प्रयत्नेन साधनानि विचिन्तयेत् ।

(२७—२९)

'साधक शरीरके पतन होनेतक चातकभाव धारण करे। चातक जिस प्रकार सरोवर, समुद्र और नदी आदिके जलको अनायास पाकर भी त्याग करता है और प्याससे मरना स्वीकार करता है, किन्तु मेघके सिवा अन्य जलकी कामना नहीं करता है उसी प्रकार भावुक यत्नपूर्वक अपने साधनमें दृढ़ रहे और कदापि विचलित न हो।' हो सकता है कि प्रेमका आदर्श दिखलानेके लिये ही यह चातक बनाया गया हो।

जिस प्रेमी भावुकरूप चातकने अपने मुख (हृदय) में श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्यके चरणरूपी मेघसे प्रेमरसरूप स्वाती जलको एक बार भी पान किया है, वह उसको छोड़कर कदापि साक्षात् अमृतरसमें भी आसक्त नहीं हो सकता। इसमें कोई विचित्रता नहीं है, क्योंकि यह प्रेमरस वास्तवमें ऐसा मधुर और करुणापूर्ण है कि भावुक इसके आस्वाद और प्रभावका अनुभव करके अपनेको श्रीचरणमें बिना समर्पित किये रह ही नहीं सकता। भावुक आत्मसमर्पण करनेपर एक केन्द्र (खजाना) बन जाता है जहाँसे श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्यके चरणसरोजका प्रेमरस (तेजपुञ्ज) संसारमें संसारके हितके लिये प्रवाहित होता है। यह प्रेमरस (तेजपुञ्ज) काल्पनिक अथवा भावनामात्र नहीं है, किन्तु योग्य भावुकको वर्तमान कालमें भी यह प्राप्त होता है।

कतिपय अन्य भाव

कामीको अपनी प्रेमिकाके प्रति आसक्ति, लोभीको धनकी प्राप्तिकी लालसा, माताका पुत्रके प्रति प्रेम और त्याग, मित्रका मित्रके प्रति सत्यस्नेह, पतिव्रताका पतिके प्रति पातिव्रतनेम आदि भाव यद्यपि इस अलौकिक भावके यथार्थ द्योतक नहीं हैं, क्योंकि यह प्रेम परमात्माके प्रति होनेके कारण अविच्छिन्न है—तथापि लोगोंको समझानेके लिये इन निष्काम सांसारिक भावोंकी तुलना दी गयी है। कहा है—

कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

(श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी)

युवतीनां यथा यूनि यूनां च युवतौ यथा।
मनोऽभिरमते तद्वन्मनोऽभिरमतां त्वयि॥

(पद्मपुराण)

भावुककी उक्ति है कि 'हे श्रीउपास्य! युवतियोंका जैसे किसी प्रिय युवकमें और युवकका किसी प्रिया युवतीमें मन आसक्त रहता है उसी प्रकार मेरा चित्त आपमें अनुरक्त रहे।'

श्रीप्रह्लादका वचन है—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

'अज्ञानी इस संसारके क्षणिक पदार्थोंमें जैसी स्थायी प्रीति रखता है वैसी ही प्रीति तेरे ध्यान करनेवाले मुझको प्राप्त हो।'

स्त्री-पुरुषके स्नेहमें भी एक ऐसी अवस्था आती है जब कि पुरुष अथवा स्त्री एक दूसरेके साथ विषयसुखके लिये स्नेह नहीं करता किन्तु स्वाभाविक भावसे करता है अर्थात् स्नेहका कारण कोई वाह्य विषय अथवा शरीर न होकर अन्तरात्मा हो जाता है और इसका मुख्य लक्षण निष्काम त्याग है। यह भाव किञ्चित् अंशमें इस भावकी तुलना है। फ़ारसीके लेखकने इसको इश्कहकीकी कहा है।

इसी प्रकार लोभियोंमें भी ऐसी अवस्था आ जाती है जब कि उनकी चाह धनके निमित्त किसी प्रयोजनके लिये न होकर स्वाभाविक हो जाती है, अर्थात् वे किसी प्रयोजनके लिये अधिक धन नहीं चाहते (प्रयोजनसे भी अधिक उनके पास धन रहता है) किन्तु विना धनोपार्जन किये वे चैनसे रह नहीं सकते। यह दीर्घ संगतिका फल होता है।

सच्चे मित्रोंमें ऐसा भाव आ जाता है कि दोनोंमें सुख-दुःख, हानि-लाभ समान हो जाते हैं और त्यागकी मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि दोनोंमें भेद मिट जाता है, दो शरीर रहते भी वे एक आत्मा हो जाते हैं, मित्रताकी ऐसी अवस्थामें ही इस भावकी तुलना किञ्चित् अंशमें हो सकती है।

श्रीउपास्यके प्रति दिव्य प्रेम और सांसारिक स्पृहामें भेद यह है कि सांसारिक स्पृहा समयके प्रभावसे बढ़ती-घटती है, एक विषयको छोड़कर दूसरेपर आसक्त होती है, कभी-कभी उसके कारण क्लेश भी होता है; अनेक ऐसी हैं कि जिनका परिणाम

दुःखद है, एकसे अनेक उत्पन्न होती हैं, और एक निश्चित परिणाम उसमें यह रहता है कि उससे कदापि शान्ति नहीं मिलती, वरं अशान्ति ही बढ़ती जाती है। विरुद्ध इसके श्रीउपास्यका दिव्य प्रेम समय बीतनेपर बढ़ता है, घटता नहीं; इसका जितना व्यय और व्यवहार किया जाय उतना ही इसका परिमाण और माधुर्य बढ़ता है, इसमें त्याग रहते भी यह शान्तिप्रद बोध होता है और इसमें सतत नया भाव, नयी उमंग, नवीन प्रेम, नवीन उत्साह और नूतन छटा आती रहती है। प्रेमकी विरहज्वाला भी आन्तरिक दृष्टिसे मधुर और श्रेयस्कर ही होती है।

सेवाभाव

इस अवस्थाका भावुक अपने जीवन, कार्यकलाप आदि-द्वारा श्रीउपास्यकी सेवा करनेके सिवा दुर्लभ भक्तिरूपी अमृतका विशेष वितरण और वर्षा करना सेवाका मुख्य अंग समझता है। वह समझता है कि संसारमें जितने प्रकारके दुःख, क्लेश और वेदना हैं वे सब अज्ञान और अधर्मके कारण हैं जिनके दूर होनेसे ही लोगोंके दोनों ऐहिक और पारमार्थिक लाभ होंगे और केवल लौकिक उपकारसे दुःखकी कदापि न्यूनता नहीं हो सकती, अतएव वह धर्म, ज्ञान और भक्तिका प्रचारकर श्रीउपास्यकी सेवा करता है। श्रीमद्भगवद्गीताके अठारहवें अध्यायमें भगवान्के जो अन्तिम वाक्य हैं वे इसी विषयके हैं—

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥
(६८-६९)

'जो इस परम रहस्य गीता-ज्ञानको मेरे भक्तोंको उपदेश करेगा, वह मेरी पराभक्ति लाभ करके निःसन्देह मुझको प्राप्त करेगा। मनुष्योंमें गीता-उपदेशकर्ताके सिवा दूसरा कोई मेरा प्रिय कार्य करनेवाला नहीं है और उसके सिवा कोई दूसरा पृथिवीमें मेरा प्रियतर (अतिप्रिय) नहीं होगा।'

प्रथम ६८ वें श्लोकका भाव है कि गीताज्ञान (जिसमें कर्मयोग, अभ्यासयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग प्रतिपादित हैं) का योग्य साधकोंमें प्रचार और उपदेश करना ही पराभक्ति है अथवा यह पराभक्तिकी प्राप्तिका कारण है। यह अर्थ तो स्पष्ट है किन्तु श्रीभगवान्‌के इस उपदेशपर लोगोंका ध्यान बहुत कम है अर्थात् थोड़े ही लोग यह मानते हैं कि श्रीभगवान्‌की प्रसन्नताकी प्राप्तिका मुख्य (अथवा केवल) उपाय ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना है। इसलिये इस श्लोकपर जो भाष्य और टीका है वह नीचे दी जाती है। स्वामी श्रीशङ्कराचार्य लिखते हैं—

भक्तिं मयि परां कृत्वा भगवतः परमगुरोरच्युतस्य शुश्रूषा मया क्रियत इत्येवं कृत्वेत्यर्थः, तस्येदं फलं मामेवैष्यति मुच्यत एवात्र संशयो न कर्तव्यः ॥

अर्थात् 'उपदेशद्वारा परम गुरु श्रीभगवान्‌की सेवा मैं (साधक) करता हूँ यही पराभक्ति करनेका तात्पर्य है जिससे श्रीभगवान्‌की

प्राप्ति होती है, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये।' स्वामी श्रीरामानुजाचार्य लिखते हैं—

व्याख्यास्यति मयि परमां भक्तिं कृत्वा मामेवैष्यति न तत्र संशयः।

'उपदेश करके मेरी पराभक्ति करनेसे मुझको पावेगा, इसमें सन्देह नहीं।' श्रीधरस्वामी लिखते हैं—

यो वक्ष्यति स मयि परां भक्तिं करोति,…मामेव प्राप्नोतीत्यर्थः।

'जो उपदेश करेगा वह मेरी पराभक्ति करता है और मुझको पावेगा।' श्रीबलदेव लिखते हैं—

एतदुपदेष्टुरादौ मत्पराभक्तिलाभस्ततो मत्पदलाभो भवति।

'उपदेश करनेसे मेरी पराभक्तिका लाभ होगा और मेरी प्राप्ति होगी।' श्रीमधुसूदन गोस्वामी लिखते हैं—

भक्तिं मयि परां कृत्वा भगवतः परमगुरोः शुश्रूषैवेयं मया क्रियत इत्येवं कृत्वा निश्चित्य योऽभिधास्यति स मामेवैष्यति—अत्र संशयो न कर्तव्यः।

'उपदेशद्वारा मैं श्रीभगवान् परम गुरुकी सेवा करता हूँ, ऐसा निश्चय करके जो उपदेश करेगा वह पराभक्ति करता है और वह मुझको प्राप्त करेगा, इसमें संशय नहीं करना चाहिये।' ६९ वें श्लोकका स्पष्ट भाव है कि गीताज्ञानके उपदेशकर्तासे अधिक श्रीभगवान्‌का कोई प्रियतम नहीं है और न होगा, अर्थात् भविष्यमें भी कोई ऐसी सेवाका प्रादुर्भाव हो नहीं सकता है जो उससे अधिक प्रिय श्रीभगवान्‌का हो। इससे स्पष्ट है कि श्रीमुख-

वचनानुसार सदुपदेश करना ही श्रीभगवान्‌की सबसे प्रिय सेवा है और अन्य सब सेवा इससे निकृष्ट हैं और रहेंगी। ऊपर कहे श्रीमुखवाक्यसे पूर्ण स्पष्ट है कि धर्म, ज्ञान, भक्तिका किसी भाँति प्रचार करना साधकके लिये परमावश्यक है, जिसके बिना वे भक्तिमार्गमें सहज ही अग्रसर नहीं हो सकते और इसीसे श्रीभगवान्‌की यथार्थ तुष्टि होती है, क्योंकि इस सृष्टिमें श्रीभगवान्‌का यही मुख्य कार्य है जिसके लिये अवतार लेनेतकका कष्ट उनको लेना पड़ता है।

पद्मपुराण पातालखण्ड अ० ५५ में लिखा है—

व्रतसत्रतपोदानैर्यत्फलं समवाप्यते।
धर्मोपदेशदानेन तत्सर्वमुपलभ्यते॥
तीर्थस्नानं तपो यज्ञकर्म यत्कुरुते शुभम्।
अपि तत्फलभागी स्याद् यः प्रवर्तयिता भवेत्॥

(७-८)

'व्रत, यज्ञ, तपस्या और दानसे जो फल होते हैं वे सब केवल एक धर्मोपदेश करनेसे मिल जाते हैं। तीर्थस्नान, तपस्या और यज्ञ करनेमें जो फल मिलता है वह इनमें जो उपदेशद्वारा लोगोंको प्रवृत्त करता है उसको भी मिलता है।'

आजकल सदुपदेशप्रदानरूपी श्रीभगवान्‌की परमोच्च और परम प्रिय सेवापर लोगोंका एकदम ध्यान नहीं है, अधिकांश उत्तम साधक भी यह नहीं जानते कि श्रीभगवान्‌को ज्ञान-भक्तिकी प्रचाररूपी सेवा अत्यन्त प्रिय है और यही पराभक्ति है और

इसका करनेवाला ही उनका प्रिय है, जैसा कि श्रीगीतामें श्रीमुखवाक्य है।

श्रीउपास्यके परम पवित्र और दुर्लभ सम्बन्धके कारण भावुकका हृदय करुणा और दयाका पुञ्ज हो जाता है जैसे कि श्रीउपास्य स्वयं हैं और वह निरन्तर संसारके दुःखको दूर करने और शान्ति प्रदान करनेके लिये सेवा-कार्यमें व्यग्र रहता है, जैसा कि श्रीउपास्यको जानता है। उसका केवल व्रत यही रहता है कि श्रीउपास्यकी कृपासे जो कुछ प्रसाद और शक्तिसामर्थ्य उसको प्राप्त हो उसको उनके प्रिय विश्वरूप (संसार) के हितमें व्यय करके श्रीउपास्यकी सेवा करना और श्रीउपास्यका चरण जो सब प्राणियोंका एकमात्र आश्रय है उसकी ओर लोगोंको आकर्षित करनेका यत्न करना। इसी कारण श्रीभगवान्‌का चरणामृत, नैवेद्य, तुलसीदल सबोंको वितरण किया जाता है। कर्म अथवा वस्तुका यथार्थ समर्पण वही है जिसके द्वारा अपना लाभ न उठाकर दूसरेकी भलाई हो। भोजन, वस्त्र आदि परमावश्यक वस्तुओंके सिवा अन्य निवेदित वस्तुका स्वयं उपभोग नहीं करना चाहिये। श्रीमद्भागवत पुराण स्कं० ११ अ० ११ श्लोक ४० में कथन है कि दीपको भी निवेदनकर अपने काममें न लावे, जैसा कि—

अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम्॥

इस प्रेमयज्ञकी, जिसकी पूर्णाहुति आत्मसमर्पण है, दक्षिणा ज्ञानोपदेश है। श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः।
दक्षिणा ज्ञानसंदेशः प्राणायामः परं बलम् ॥
(११।१९।३९)

य एतन्मम भक्तेषु संप्रदद्यात्सुपुष्कलम्।
तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मना ॥
(११।२९।२६)

श्रीभगवान् कहते हैं कि 'धर्म ही मनुष्यका यथार्थ धन है, द्रव्यादि यथार्थ नहीं हैं, पूर्ण ज्ञानादिरूप मैं (श्रीभगवान्) ही यज्ञ हूँ अर्थात् मेरी बुद्धिसे ही यज्ञ करे अर्थात् मेरे प्रेमयज्ञमें योग दे, कर्मबुद्धिसे न करे, यज्ञके निमित्त अर्थात् यज्ञरूपी मेरे निमित्त ज्ञानोपदेश करना ही यज्ञदक्षिणा है, प्राणायाम ही परम बल है। जो पुरुष भक्तमण्डलीमें श्रीभागवत-धर्मका पूर्ण रूपसे प्रचार करेगा उस ब्रह्मके उपदेशकको मैं अपनी आत्मशक्ति (पराशक्ति) द्वारा अपनी आत्मामें स्थान दूँगा अर्थात् वह आत्म-समर्पण करनेमें कृतकार्य होगा।'

परोपकाररूप सेवा करना तो साधकके लिये सब अवस्थामें आवश्यक है किन्तु आत्मनिवेदन ऐसी अवस्था है जिसमें इस सेवा-का रूप विशेषकर ज्ञानभक्तिका प्रचार होता है जिस कार्यके करने-की विशेष सामर्थ्य श्रीउपास्यद्वारा उसको मिलती है, और वह इस शक्तिको जितना ही कार्यमें परिणत करता है, उतना ही अधिक यह शक्ति बढ़ती जाती है। ऐसा भावुक अपने जीवनके प्रभाव और क्रिया-कलापसे और श्रीउपास्यकी जो वह अपने हृदयक्षेत्रमें प्रेमनैवेद्यसे सेवा-पूजा करता है उसके द्वारा बहुत बड़ा उपकार

संसारका करता है और उसका प्रभाव अवश्य ही अदृश्यरूपसे योग्य जिज्ञासुओंके अन्तरमें पड़कर उनको श्रीचरणोन्मुख करता है। समर्पणका कार्य जो पिछली भावसाधनाके समय प्रारम्भ हुआ उसमें सिवा आत्मनिवेदनके शरीर, मन, बुद्धि, अहंकारका जो समर्पण है उसकी पूर्णता अब हो जानी चाहिये। भावुक अपने शरीरको श्रीभगवान्‌की वस्तु समझकर सिवा उनके कार्यके सम्पादनके दूसरे कार्यमें नहीं नियुक्त करता और इसी प्रकार अपने मन, बुद्धि, अहंकारको भी उन्हींके प्रिय कैङ्कर्यमें प्रयुक्त करता है, किन्तु कर्म करनेका अहंताभिमान उसमें कदापि नहीं आता। वह समझता है कि श्रीउपास्य अपनी शक्तिद्वारा उससे अपना कार्य करा रहे हैं। यथार्थमें प्राणिमात्र जो कुछ करता है वह श्रीभगवान्‌की शक्तिसे करता है, अपनी शक्तिसे नहीं, उसको तो निजकी कोई शक्ति है ही नहीं, किन्तु वह व्यर्थ अहंकार करता है कि मैंने किया और इस कारण कर्मसे बद्ध हो जाता है। जो कोई श्रीभगवान्‌की शक्तिको उनके कार्यमें अर्थात् कर्तव्य-धर्मपालन और परोपकार-सेवा-व्रतमें व्यय करता है वह श्रीभगवान्‌की दी हुई पूँजीका सद्व्यय करता है किन्तु जो उसे अधर्माचरणमें अथवा विषयभोगमें लगाता है, वह दुरुपयोग करता है जिसके लिये विशेष उत्तरदायी है। ऐसा भावुक अपने दैनिक और व्यवहारसम्बन्धी कार्यको भी श्रीभगवान्‌का कार्य समझकर करता है और उसके सफल-विफलसे उसको कोई गरज नहीं रहती। मनको श्रीभगवान्‌में अर्पित होनेके कारण उसको उनकी वस्तु समझ कदापि कुत्सित भावना और विषयवासनासे उसे कलुषित नहीं करता, सदा उसे

पवित्र और स्वच्छ रखता है, मनको सर्वदा श्रीउपास्यके चरणकमलमें लीन रखता है और उन्हींके कार्यसम्बन्धी भावनामें प्रवृत्त रहता है, अन्यमें नहीं।

अनन्यभाव

आत्मनिवेदनकी प्रथमावस्थामें अनन्यभाव अन्तिम है, जिसकी परिपक्वता होनेपर अर्थात् उसके कठोर नियमके निवाहे जानेपर और उसकी कठिन परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर भावुकको साक्षात् सेवामें नियुक्त होनेका सौभाग्य प्राप्त होता है। अनन्यभाव क्या है और कैसे धीरे-धीरे इसकी प्राप्ति होती है इसको जाननेके लिये आवश्यक है कि पूर्वकी अवस्था और भावका किञ्चित् दिग्दर्शन संक्षेपमें यहाँ किया जाय यद्यपि इसका उल्लेख हो चुका है। स्थावर, उद्भिज्ज और पशु-जगत्में श्रीभगवान् स्वयं अपनी प्रकृतिद्वारा उनकी ऊर्ध्वगतिके लिये करुणाभावसे चेष्टा करते हैं, अतएव उनको जैसा स्वभाव दिया गया वही अनवरत बना रहता है, उसीके अनुसार वे चलते हैं और साधारण भावमें उसमें परिवर्तन नहीं होता है। आजकल विज्ञानसे भी सिद्ध हुआ है कि स्थावर उद्भिज्ज आदिको भी मनुष्यके समान सुख-दुःख होते हैं। अतएव देखा जाता है कि वनस्पतिको शीत, उष्ण आदिसे बचानेके लिये पत्र, त्वचा आदि उनको दिये गये हैं, पुष्टिके लिये सूर्य, वायु, जल और रस नियत हुए जो उनको अनायास प्राप्त हैं। पशुको भी गरमी-सर्दीसे बचानेके लिये आवश्यकतानुसार रोमका निर्माण किया गया और

ाके भोजन घास-पात नियत किये गये जो उनको अनायास ऊते हैं। अबोध बच्चोंके लिये उनकी माताके स्तनमें दूधका ान्ध किया गया। यदि मनुष्य अपने स्वार्थ अथवा कुप्रवृत्तिके ारण इन पशुओंके साथ व्यर्थ छेड़छाड़ न करे और वे अपने ्भावके अनुसार रहने पावें, तो इनको विशेष क्लेशके होने- ी सम्भावना नहीं रहती। इस सृष्टिके प्रबन्धसे श्रीभगवान्‌की ारुणा और प्रेमयज्ञका स्पष्ट पता लगता है। पशुमें छोटा, बड़ा- ा खाद्य होनेपर भी, छोटेके बचावका पूरा प्रबन्ध है और अहंकारकी उत्पत्तिके लिये ही यह भाव वहाँ दिया गया है। मनुष्य- ारीरमें जब अहंकारका भाव आता है तबसे वह अनेक अंशा- ं स्वतन्त्र हो जाता है, क्योंकि यदि स्वतन्त्र न कर दिया जाय ो उसकी उन्नति नहीं हो सकती। परतन्त्र होकर जो कुछ क्रिया जाता है उसकी श्लाघा कदापि कर्ताको नहीं है, किन्तु प्रेरकको है। श्रीभगवान् चाहते हैं कि मनुष्य अपने पुरुषार्थसे प्रकृतिके प्रधान विकार स्वार्थ आदिपर विजय पाकर प्रेमानन्द- राज्यको जिसको प्रकृतिने प्रलोभन देकर उससे हर लिया है, प्राप्तकर श्रीचरणमें अर्पण करे। इसके लिये प्रेमयज्ञद्वारा शक्ति प्राप्तकर युद्ध तो साधकहीको करना पड़ता है, किन्तु श्रीभगवान् यज्ञ और युद्ध दोनोंमें सहायता करते हैं।

मनुष्यके इस प्रेमानन्दके अन्वेषणकी गति अथवा प्रेम- 'यज्ञ और इन्द्रियोंकी बलिका किञ्चित् वर्णन हो चुका है। प्रथम जीवात्मा इन्द्रियद्वारा तमोगुणी विषयके सुखमें आनन्दका

अन्वेषण करता है, फिर उससे निवृत्त होकर रजोगुणीमें और उसके बाद सत्त्वगुणीमें, क्योंकि इन सबोंमें प्रेमानन्दका प्रतिविम्ब विद्यमान रहता है। शुद्ध सत्त्वगुणी आनन्दके कारण भावुकमें त्यागका भाव अवश्य उत्पन्न होता है और वह त्याग करता भी है, किन्तु इससे भी उसे शान्ति नहीं मिलती है, क्योंकि शुद्ध सात्त्विक पदार्थ भी प्राकृतिक होनेके कारण स्वयं आनन्दरूप नहीं है, किन्तु उसके प्रतिविम्बहीका द्योतक है। अनेक अन्वेषण और उसके निमित्त कष्ट उठानेके बाद श्रीउपास्य-की कृपासे जीवात्माको अनुभव होता है कि प्रेमानन्द केवल श्रीउपास्यका भाव है और जीवात्मा उसका प्रिय अंश होनेके कारण उसकी अन्तरात्मामें भी उसकी कण है और पिण्डाण्ड (शरीर) में इस प्रेमानन्दका केन्द्र हृदय है और बाह्यमें जहाँ कहीं सत्त्वगुणी पात्रद्वारा उसको आनन्दका किञ्चित् अनुभव मालूम पड़ता है वह पदार्थके संयोगके कारण उसके अपने हृदयके आनन्दस्रोतके केवल एक कणके स्पन्दन होनेके कारण है। जैसे मथनीसे दूधको मथनेसे मक्खन निकलता है, उसी प्रकार विशुद्ध गुणवाला पात्र अथवा विशुद्ध गुणरूपी ही मथनी-से हृदयरूप दूधको मथनेसे अर्थात् चिन्तन करनेसे मक्खन-रूपी प्रेमानन्दका किञ्चित् अनुभव होता है जिसमें मथनी केवल निमित्तकारण है, क्योंकि मक्खन (प्रेमानन्द) दूध (हृदय) में गुप्तरूपमें विद्यमान है। किसी प्रिय पदार्थ अथवा दृश्यको बाह्य दृष्टिसे देखनेमें जो आनन्द मिलता है उससे अधिक आनन्द हृदयमें चिन्तन करनेसे मिलता है। इसी कारण एकान्तवास किया जाता

है जिसमें हृदयमें रमण करनेमें बाह्यसे बाधा नहीं मिले। इस समयमें भी एक भक्त ऐसे थे जो वृद्ध होनेपर भी श्रीवृन्दावन इस कारण कभी नहीं गये कि उनके हृदयस्थ वृन्दावनका आनन्द कहीं बाह्य वृन्दावनके देखनेसे कम न हो जाय। थोड़ा विचारनेसे स्पष्ट प्रतीत होगा कि हृदय ही श्रीउपास्य और उनके आनन्दभावका केन्द्र है।

ऐसा ज्ञान पाकर वह हृदयको शुद्धकर ध्यान, स्मरणद्वारा आनन्दके यथार्थ स्थान हृदयमें ही आनन्दका अन्वेषण करता है। इस साधनामें परिपक्वता होनेपर जीवात्माकी स्थिति जो जाग्रत् अवस्थामें नेत्रमें रहती है वह नेत्रसे हटकर हृदयक्षेत्रमें चली जाती है और तबसे वह हृदयसे देखता, सुनता, भावना करता और बाततक करता है। यह हृदयका निवास और जाग्रति मनका निग्रहकर उसको अतिक्रमकर आत्मामें स्थिति पानेसे सम्भव है, अन्यथा नहीं। ब्रह्मोपनिषद्में इसका प्रमाण है। हृदय परम रहस्यमय है जहाँ अविद्यान्धकारका नाश, प्रज्ञाकी जागृति, प्रेमप्रकाश और प्रियतममिलन केवल श्रीसद्गुरुद्वारा होते हैं, अन्यथा कदापि नहीं।

साधारण मनुष्यमात्रको भी यह स्वाभाविक विश्वास है कि यथार्थ आनन्द और कल्याणके आलय एकमात्र श्रीभगवान् हैं और श्रीभगवान् उनके प्रतिरूप श्रीसद्गुरुकी कृपासे और उनके उपदेशके पालनसे मिलेंगे। श्रीसद्गुरुका वास पराशक्तिमें है, अतएव श्रीसद्गुरु पराशक्तिके अन्तर्गत हैं। नास्तिकके भी अन्तरात्मामें

यह ज्ञान रहता है, यद्यपि वह बाहरसे इसे स्वीकार नहीं करता। यम, नियम और परोपकार-सेवासे हृदय शुद्ध होकर और प्रेमके जागरित होनेसे भावुकको श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्यका प्रत्यक्षकी भाँति ज्ञान हो जाता है और फिर उसके लिये इनमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। जैसा उसको अपने आत्माके अस्तित्वमें सन्देह नहीं रहता, उसी प्रकार इन दोनोंके अस्तित्व और सम्बन्धमें उसे सन्देह नहीं रह जाता। श्रीभगवान्की कृपासे श्रीसद्गुरुका पता उसे सत्पुरुषद्वारा मिल जाता है। भिन्न-भिन्न उपास्योंमें जिस श्रीउपास्यसे उसका सम्बन्ध है उनका यथार्थ वरण तो उसका हृदय ही करता है, किन्तु इसमें भी सत्पुरुष और शास्त्र सहायता कर सकते हैं। फिर उसमें नवोढाका भाव आ जाता है जिसके कारण बिना मिलनके भी भावुक अपने हृदयको श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्यको इस प्रकार प्रदान कर देता है कि फिर वह कदापि लौट नहीं सकता। भावुकको समयान्तरमें प्रायः श्रीचरणकी झलक अथवा श्रीचरणामृतके अमृत-रसका आस्वादन मिलता है, किन्तु वह इस सेवामें इसके लिये प्रवृत्त नहीं होता। वह समझता है कि श्रीचरणामृतका रस (तेजपुञ्ज) जो ध्यानके कालमें उसके हृदयमें आता है वह उसके द्वारा विश्वके हितके निमित्त संसारमें फैलनेके लिये है; अतएव इसको भी सेवाकार्य समझकर सहर्ष स्वीकार करता है। किन्तु जिस भावुकको इस उच्च सेवाका सौभाग्य प्राप्त नहीं है, वह इसके लिये कदापि प्रार्थना नहीं करता अथवा लालायित नहीं होता और किसी प्रकारकी उत्तेजनाको न पाकर भी अपने प्रेम और सेवामें पूर्णरूपसे दृढ़ ही रहता है। श्रीउपास्यकी सेवा और उनके श्रीचरणमें

प्रेमानन्दका उपहार करना ही भावुकका मुख्य लक्ष्य रहता है। भावुक श्रीउपास्यसे आनन्द अथवा अन्य कोई प्रिय वस्तुके पानेकी कदापि इच्छा नहीं रखता, क्योंकि ऐसा होनेसे उसके निष्काम प्रेममें धब्बा लग जायगा। बल्कि किसी उच्च कोटिके भावुककी उक्ति है कि 'मैं चाहता हूँ कि मेरे प्रेमको भी श्रीउपास्य न जानें, क्योंकि जाननेपर इसके बदलेमें कुछ दे देंगे जिससे मेरे प्रेममें न्यूनता आ जायगी'। यथार्थमें यही अनन्यता है अर्थात् श्रीउपास्यदेवकी सेवाके सिवा अन्य कोई कामनाकी इच्छा न रखना।

भावुक श्रीउपास्यकी साक्षात् सेवामें प्रयुक्त होनेके लिये अथवा सेवाकी आज्ञा साक्षात् रूपसे पानेके लिये अवश्य लालायित रहता है; किन्तु इसमें विलम्ब होनेसे उसके प्रेममें तनिक भी अन्तर नहीं पड़ता। वह इस अन्तरङ्ग सेवाके लिये अवश्य व्याकुल रहता है, उसके लिये वह अनेक कष्ट भी सहता है, मिलनके अनुरागकी ज्वालासे पीड़ित भी होता है, किन्तु कृतकार्य न होनेपर भी इन कष्टोंको भी श्रीउपास्यसे सम्बन्ध रहनेके कारण सुखद ही मानता है। कथा है—श्रीनारदजी श्रीभगवान्‌के यहाँ जा रहे थे, मार्गमें एक ज्ञानी और एक भक्त मिले। ज्ञानीने पहले नारदजीसे कहा कि श्रीभगवान्‌से आप पूछियेगा कि मुझको मुक्ति कब मिलेगी। ज्ञानीका प्रश्न सुनकर भक्तने भी अपने विषयमें दर्शन मिलनेके समय जिज्ञासा करनेको कहा। श्रीनारदजीने वापस आनेपर श्रीभगवान्‌का उत्तर सुनाया कि ज्ञानीको सात जन्मोंमें मुक्ति होगी और भक्तके लिये कहा कि इस इमलीके वृक्षमें जितने पत्ते हैं, उतने जन्मोंके बाद दर्शन होंगे। ज्ञानी सात

जन्मोंको दीर्घकाल समझ घबड़ा गया और रोने लगा, किन्तु भक्त प्रसन्न होकर नाचने लगा—ऐसा जानकर कि श्रीभगवान्‌के दर्शन कभी-न-कभी उसे अवश्य होंगे !

अनन्य प्रेमका लक्षण है कि प्रेमपात्र करोड़ों वर्षपर मिलें अथवा कभी न मिलें, किन्तु प्रेम और सेवामें कमी न हो और न अन्य प्रेमपात्र ग्राह्य ही हो । ऐसे भावुककी कठिन परीक्षा अवश्य होती है । इस मार्गमें उसे अनेक कष्ट मिलते हैं, दिन-रात उसे रोना भी पड़ता है, यह भी भय दिखलाया जाता है कि इस मार्गमें रहनेसे उसका सर्वनाश होगा । अनेक प्रलोभन भी दिखलाये जाते हैं और बड़े सुन्दर और मनोहर प्रेमपात्र उसके सामने लाये जाते हैं जिनमें प्रेम करनेसे उसे तत्काल आनन्द मिलेगा और अन्य श्रीउपास्यके विशेष गुण और माधुर्यकी चर्चासे श्रीउपास्यमें परिवर्तन करनेको कहा जाता है, किन्तु प्रेमी भावुक इनपर दृष्टिपात भी नहीं करता और अपने प्रेमके नियमसे कदापि नहीं टलता । किन्तु स्मरण रहे कि अपने श्रीउपास्यमें अनन्य भावका यह तात्पर्य नहीं है कि वह दूसरे श्रीउपास्यकी निन्दा करे अथवा सम्मान न करे । भावुक सब श्रीउपास्योंका, सब उपकारी सम्प्रदायोंका सम्मान करता है, बल्कि उन उपास्यों और सम्प्रदायों-के आन्तरिक भावका अनुभव करनेके लिये वह थोड़े कालके लिये अपनेको किसी उपासना अथवा सम्प्रदायविशेषके भावमें परिणत भी कर लेता है और इस प्रकार उसके आन्तरिक भावका अनुभव प्राप्त करता है । इन अनुभवोंको भी वह अपने श्रीउपास्यके कार्यके लिये समर्पण करता है । ऐसे भावुकके पास जिस

उपासना अथवा सम्प्रदायके अनुयायी आते हैं, उनको उनकी ही उपासना और सम्प्रदायमें वह दृढ़ करता है और इस कार्यमें उसका ऊपर कहा हुआ अनुभव बड़ा उपयोगी होता है। यद्यपि परमहंस श्रीरामकृष्णजी श्रीकालीमाताके उपासक थे, किन्तु उन्होंने सब उपास्योंके भावके अनुभवके लिये किञ्चित् काल वैसी ही वृत्तिको धारण किया। इसी कारण वे जिज्ञासुओंको अपने-अपने उपास्यमें दृढ़ कर देते थे और प्रत्येक उपासनाका रहस्य समझा देते थे। स्मरण रहे कि शुद्ध निवृत्तिमार्गका अनुसरण करनेवालोंको अनन्यतासे च्युत करनेके लिये प्रायः देव और असुरगण अब भी नाना प्रकारके प्रलोभन देकर और विघ्न कर मार्गसे च्युत करना चाहते हैं जैसा कि पूर्वकालमें होता था। ऐसा देखा गया है कि इस विघ्नकर्ताके दलके व्यक्ति ऋषि, संन्यासी, यहाँतक कि श्रीउपास्य-देव तकका रूप धारणकर साधकके समक्ष आते हैं और नाना प्रकारके असत्य वाग्जालसे मार्गसे च्युत करना चाहते हैं; किन्तु श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्यकी भक्तिसे भावुकको इन विघ्नोंसे कोई भय अथवा हानि नहीं होती। इस अनन्यभावके उत्तम आदर्श श्रीपार्वतीजी हैं जिन्होंने श्रीमहादेवजीकी निन्दा और श्रीविष्णु-भगवान्‌की प्रशंसा अपने विवाहके सम्बन्धमें सुनकर ऐसा कहा—

महादेव अवगुनभवन, विष्णु सकल गुनधाम।
जेहिकर मन रम जाहि सन, ताहि ताहि सन काम॥
जनम कोटि लगि रगरि हमारी। बरौं संभु नतु रहौं कुमारी॥

अनन्यताके लिये त्यागकी एक सांसारिक कहानी यों है—
एक गरीब जुलाहा एक बड़ी नामी वेश्यापर आसक्त हो गया।

उसने वेश्यासे अपनी आसक्तिकी बात कही, उत्तर मिला कि ढाई सौ रुपये देनेपर तुमको मिलन प्राप्त होगा। जुलाहेने पूछा कि यदि मैं ढाई सौ रुपये एक बार न देकर इसके लिये प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा जमा करता जाऊँ और जब वह जमा ढाई सौ हो जाय, तो मिलन होगा या नहीं ? उत्तर मिला कि ऐसा हो सकता है। जुलाहा नित्यकी जो मजूरी करता था उसमेंसे एक आना बचाकर वेश्याके यहाँ प्रतिदिन जमा करने लगा और अवशेष कमाईसे ही कष्टसे निर्वाह करने लगा। करीब बारह वर्षमें उसके ढाई सौ रुपये जमा हो गये जिसके बाद वह बड़े उमंगके साथ वेश्यासे मिलनेके लिये उसके गृहपर गया और वहाँ वेश्याके मिलनकी आशासे ठहरा रहा। कुछ समयके बाद वेश्या उसके पास मिलनेके लिये आयी, किन्तु उसी समय उस नगरमें रात्रिमें दस बजनेका घंटा बजा। दस बजनेका घंटा सुनते ही जुलाहा वेश्याको त्यागकर वहाँसे चला और वेश्यासे बड़े जोरसे रोके जानेपर भी नहीं रुका। उसके न माननेपर वेश्याने कहा कि यदि तुम इस समय चले जाते हो तो फिर तुम्हारा मुझसे मिलन न होगा और जमा रुपये भी वापस नहीं मिलेंगे, क्योंकि मैं इस समय तुम्हारे लिये तैयार हूँ। जुलाहेने इसपर भी ध्यान नहीं दिया और वहाँसे दौड़कर एक औलियाके कब्रपर पहुँचा और उसने कब्रको प्रणाम किया। उसका नित्यका नियम अनेक वर्षोंसे था कि ठीक दस बजे रातमें उस कब्रपर जाकर उस महात्माकी कब्रको प्रणाम करना और उस नियमको उसने उस रात्रिमें भी पालन किया और वेश्याके लिये अनेक दिनोंकी आसक्ति और

उसके लिये कष्टसे रुपयोंका जमा करना भी उसको इस प्रतिदिनके नियमके पालनमें रोक न सका। उस रात्रिमें कब्रके प्रणामके बाद उस महात्माके दर्शन उसे हुए जिन्होंने कहा कि आज तुम्हारी निष्ठा पूर्ण हो गयी, क्योंकि जिस वेश्याके लिये बारह वर्षकी कमाई तुमने व्यय की थी उसको भी मेरे लिये अनन्यताके कारण तुमने त्याग दिया। जुलाहेको दर्शनसे दिव्य ज्ञान हो गया और वह त्यागी हो गया। वेश्या भी उसके साथ-साथ वहाँ चली आयी थी, यह देखनेके लिये कि वह कौन प्रिय पदार्थ अथवा कर्म है जिसके लिये उसने उसको त्याग दिया जो उसकी बारह वर्षकी कमाईका फल था। वेश्या उसकी अनन्यता और निष्ठा और उसके फलको जानकर स्वयं भी विरक्त हो गयी।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीको किसीने कहा कि आपके श्रीउपास्य भगवान् श्रीरामचन्द्रजी केवल दश कलाके हैं किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण सोलह कलाके हैं, अतएव आप श्रीकृष्णचन्द्र महाराजको अपना इष्ट बनावें। श्रीगोस्वामीजीने सुनकर उत्तर दिया कि मैं तो अपने श्रीउपास्यको एक भी कलासे युक्त नहीं जानता था तथापि मेरा प्रेम उनमें था, किन्तु आज तो आपसे मैंने सुना कि उनमें दश कला हैं, इसलिये यह मेरे लिये बड़ा उत्तम संवाद है जो कदापि परिवर्तनका कारण नहीं हो सकता।

ऐसा अनन्य भावुक विश्वको श्रीउपास्यमय मान यथासामर्थ्य प्राणिमात्रका सम्मान और सेवा करता है, जिसमें भी विशुद्ध सुन्दर मनोहर पात्रको विशेष विभूति समझ विशेष

सम्मान करता है और वह जहाँ कहीं सत्य और निष्काम त्याग देखता है वहीं अपने श्रीउपास्यका भाव जानकर सिर झुकाता है। जहाँ कहीं पवित्र स्थान तीर्थ अथवा मन्दिरमें पूर्वकालका (जप-ध्यानद्वारा) सञ्चित तेजपुञ्ज है उसका अनुभव अन्तर्दृष्टिसे उसको हो जाता है और वहाँ उसके हृदयमें भाव आप-से-आप उत्पन्न हो जाता है। उसकी अपनी पूजाकी अथवा अन्य श्रीठाकुरजीकी प्रतिमा अथवा चित्र उसको दृष्टिमें वास्तवमें तेजोमय दीख पड़ते जिसका मधुर प्रभाव उसके हृदयपर पड़ता है। यह अनुभव काल्पनिक नहीं है किन्तु यथार्थ है और ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाणपर ही लिखा गया है। कभी-कभी उसके अन्तरमें शुष्कभाव आ जाता है और वह यह भी समझता है कि श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्यसे वह त्यक्त हो गया। और भी दूसरे प्रकार-से बड़ी मनोवेदना उसे होती है किन्तु इतनेपर भी उसके प्रेममें कमी नहीं होती, बल्कि ऐसी अवस्थामें उसके प्रेमकी वृद्धि हो जाती है।

जब भावुकके प्रेम-यज्ञमें बाधा पड़ती है और उसका चित्त श्रीउपास्यके चरणारविन्दसे पृथक् हो जाता है, चेष्टा करनेपर भी पूर्वकी भाँति संलग्न नहीं रहता, तो उसे अपने अनन्य भाव-में रुकावट मिलनेके कारण बड़ी यन्त्रणा होती है जो मरणके कष्टसे भी अधिक है। यही कारण है कि भक्तोंको जब-जब श्री-उपास्यके दर्शन होते हैं तब-तब केवल एक ही वर सब माँगते हैं, वह यह कि सदा मेरा चित्त श्रीचरणमें अनुरक्त रहे। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीका वचन है—

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहौं निरबान ।
जनम जनम रति रामपद, यह बरदान न आन ॥

अनन्यताका परम उत्तम आदर्श अवश्य चातकभाव है । जैसा कि पतिव्रता स्त्री अपने लिये कुछ परवा नहीं करती, केवल एक पतिकी सेवामें अनुरक्त रहती है और पति जब जो आवश्यक समझता है वह स्त्रीको देता है अथवा जैसी अवस्था उसके लिये ठीक समझता है उसी अवस्थामें उसे रखता है, ठीक यही दशा इस अनन्य अवस्थाकी है । श्रीउपास्य जैसा उचित समझते हैं, वैसी ही दशामें उपासकको रखते हैं और उपासक अपनी अवस्थाकी वर्तमान दशामें संतुष्ट रहकर तनिक भी ध्यान न देकर केवल श्रीउपास्यमें संलग्न रहता है । यह भाव पारमार्थिक अवस्थाके विषयमें है, जैसा कि भावुक सिद्धि नहीं चाहेगा, अन्तर्दृष्टि अथवा अन्तःप्रकाश अथवा गुह्य आन्तरिक अनुभवकी प्राप्तिके लिये इच्छुक न रहेगा, अथवा केवल अपने आनन्दके लिये श्रीउपास्यके दर्शन, स्पर्श, सामीप्यके लिये कामना नहीं करेगा, किन्तु वह आवश्यक सांसारिक कर्तव्योंको अपनी बुद्धि और ज्ञानके अनुसार अवश्य करेगा और सांसारिक अभावोंके मिटानेका भार कदापि श्रीउपास्यपर नहीं डालेगा । वह स्वास्थ्यके नियमोंको जानने-पर भी उनको भंग करके और उसके कारण व्याधिग्रस्त होकर कदापि यह नहीं चाहेगा कि श्रीउपास्य उसे व्याधिसे मुक्त कर दें । ऐसा करनेसे तो निष्कामपन जाता रहेगा । वह कदापि अपने सांसारिक अभाव और कर्तव्यपूर्तिके लिये श्रीउपास्यको कष्ट नहीं देगा । ऐसा करनेसे उसके अनन्य प्रेममें बड़ी न्यूनता आ जायगी ।

अनन्य भावुकका विशुद्ध अनुराग और त्याग (प्रेम-यज्ञ) श्रीउपास्यके चरणके मधुर प्रेम-रसको वैसा ही आकर्षित करता है जैसा कि चुम्बक लोहेको अथवा सूर्यकान्त मणि सूर्यकी किरणको; और फिर इन दोनों (गंगा, यमुना या आत्मा, परमात्मा) का संगम ऐसा होता है कि संगमपर (हृदयक्षेत्रमें) दोनोंके स्वरूपके वर्ण पृथक्-पृथक् रहनेपर भी उनमेंसे कोई भी एक दूसरे-से पृथक् हो नहीं सकता। इस संगम अर्थात् आत्मरमणसे श्री-भगवान्‌को परम आनन्द प्राप्त होता है, क्योंकि इसके द्वारा उनके प्रेमरस (तेजपुञ्ज) के प्रसारित होनेसे संसारका बड़ा कल्याण होता है जो उनका परम उद्देश्य है। इस आत्मरमणका वर्णन आगे होगा। त्यागरूपी समर्पणसे प्रेमरूपी प्रसाद मिलता है जिसके मिलनेपर भावमें स्वभावतः अनन्यभाव आ जाता है जिसके कारण वह केवल दूसरेका आश्रय ही नहीं चाहता, किन्तु उसको अपनी दृष्टिमें श्रीउपास्यके सिवा दूसरा कोई देखनेहीमें नहीं आता, यहाँतक कि कालान्तरमें वह अपनेको भी भूल जाता। किन्तु यह अनन्य प्रेमभाव केवल कथनी अथवा भावनामात्र नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष सत्ता है। यह भाव रोने (त्याग) के लिये है, हँसनेके लिये नहीं; अतएव इसका मार्ग अत्यन्त कठिन और दुर्गम है।

लिखा है—

वाग्भिः स्तुवन्तो मनसा स्मरन्तः
स्तुत्वा नमन्तोऽप्यनिशं न तृप्ताः।

भक्ताः श्रवन्नेत्रजलाः समग्र-
मायुर्हरेरेव समर्पयन्ति ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते ॥

भावुक भक्त दिन-रात वचनद्वारा श्रीभगवान्‌का स्तुतिवाद करके, मनद्वारा स्मरण करके, शरीरद्वारा प्रणति करके भी तृप्त नहीं होते हैं; वे नेत्रके जलको गिराते-गिराते सम्पूर्ण परमायु-को श्रीभगवान्‌हीके निमित्त अर्पण करते हैं। जो प्रेम सुख-दुःख किसीमें घटता नहीं, सब अवस्थामें जो प्रेम अनुकूल रहता है, संसारके शोक-क्षोभसे पीड़ित हृदयके लिये जो प्रेम एक-मात्र विश्रामस्वरूप है, जो अधिक काल होनेपर भी घटता वा नष्ट नहीं होता, बल्कि अधिक कालके कारण और लज्जा-भयके त्यागनेसे और भी अधिक मधुर हो जाता है, सज्जन भावुकका इस प्रकारका अहैतुक प्रेम अवश्य बड़ा दुर्लभ है।

इस अवस्थाके भावुकका चित्त सदा श्रीउपास्यमें संलग्न रहता है। जब कभी उसका चित्त श्रीउपास्यसे पृथक् हो जाता अथवा श्रीउपास्यकी सेवासे वह गाफिल हो जाता है, अथवा उतनी सेवा नहीं कर सकता जितनी कि वह करना चाहता है, तो ऐसी दशामें वह बड़ा आर्त और दुःखित हो जाता है जिसके कारण उसको बड़ी ही मनोवेदना होती है और यह एक प्रकार

यथार्थ विरहदुःख है, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। भावुकके लिये सेवा-धर्मसे च्युत होना बहुत ही बड़ी विपत्ति है। कथन है—

कह हनुमान विपति प्रभु सोई। जब तब सुमिरन भजन न होई॥

और भी—

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा चान्ध्यजडमूढता।
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते॥
(गरुडपु० २३४)

आसीनो वा शयानो वा तिष्ठन्वा यत्र कुत्रचित्।
अविच्छिन्नस्मृतिर्या वै सा सिद्धा परिकीर्तिता॥
स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥

जिस मुहूर्त वा जिस क्षणमें श्रीभगवान्‌का चिन्तन नहीं किया जाय वही हानि, वही महानिन्दा, वही अन्धापन, वही मूर्खता और वही गूँगापन है। बैठे हुए, सोते हुए, कहीं खड़े हुए, सदा-सर्वदा श्रीभगवान्‌का स्मरण रखना और कभी नहीं भूलना, इसीको सिद्धा भक्ति कहते हैं। सतत श्रीभगवान्‌का स्मरण करना चाहिये और उनको कभी नहीं भूलना चाहिये। इन दो विधि-निषेधोंके अन्य सब विधि-निषेध किङ्कर हैं; अर्थात् ये ही मुख्य हैं और अन्य इनकी अपेक्षा निकृष्ट हैं।

कबीरसाहबका वचन है—

जो कोइ या विधि मनको लगावै। मनको लगाये प्रभु पावै॥

जैसे नटवा चढ़त बाँसपर, ढोलिया ढोल बजावै।
अपना बोझ धरै सिर ऊपर, सुरति बरतपर लावै॥
जैसे भुवंगम चरत बनहिमें, ओस चाटने आवै।
कभी चाटै कभी मनितन चितवै, मनि तजि प्रान गँवावै॥
जैसे कामिनी भरै कूप जल, कर छोड़ै बतरावै।
अपना रंग सखियन सँग राचै, सुरति गगरपर लावै॥
जैसे सती चढ़ी खुर ऊपर, अपनी काया जरावै।
मातु पिता सब कुटुँब तियागै, सुरति पियापर लावै॥
धूप दीप नैवेद अरगजा, ज्ञानकी आरति लावै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, फेर जनम नहिं पावै॥

ऐसा अनन्य भाववाला जो कुछ करता है वह न अपने स्वार्थके लिये, न किसी ममताके लिये, न परमार्थके लाभके लिये, न उस कामको अपना निजका काम समझकर, न उसमें कर्तापनेका अभिमान रखकर करता है न उसकी बड़ाई वह चाहता है और न यह समझता कि मैं स्वयं कर रहा हूँ। वह तो समझता है कि श्री-उपास्य अपनी शक्तिसे उसके द्वारा काम करवा रहे हैं। काशीमें एक भक्त था, जिसका काम रास्तेके लैम्पोंको साफ करना था। वह प्रतिदिन लैम्पोंको साफ करता था और साफ करनेमें रटा करता था कि—

जानकीजीवन राम। करूँ हूँ तेरा काम।

वह यथार्थमें इस पदके भावके अनुसार ही कार्य करता था, अर्थात् उस लैम्प साफ करनेके कामको श्रीभगवान्का सौंपा हुआ कार्य समझ श्रीभगवान्के निमित्त करता था। उससे सब प्रसन्न रहते थे, उसका काम सदा उत्तम रीतिसे सम्पन्न होता रहा और

उसकी भक्ति उस कामके करते-करते बढ़ती गयी, और वह भक्त हो गया।

ऐसे भावुकको संसारकी सब वस्तुएँ उनके आन्तरिक भावकी दृष्टिसे, प्रेमानन्दमय ही दीख पड़ती हैं। बाह्यसे अमंगल भी मंगलप्रद, भयानक भी सुन्दर, परिवर्तन भी जीवन उसे श्रीउपास्यकी दृष्टिसे बोध होते हैं। हिंसक, क्रूर, दुष्ट, पातकी, क्रोधी, कामी, लोभी आदि व्यक्तियोंसे, प्रकाश अथवा अप्रकाश, पीड़ित किये जानेपर भी वह, उनको श्रीउपास्यका अंश ही जान, उनके प्रति हिंसाकी भावना कदापि नहीं करता, किन्तु उनके सुधारके लिये श्रीभगवान्‌से प्रार्थना करता है। श्रीमद्भागवत पुराणमें लिखा है—

> तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
> अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥
>
> (३।२५।२१)
>
> तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः।
> मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः॥
> न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात्।
> मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन्।
> ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति।
>
> (३।२९।३३-३५)

‘जो सहनशील, दयालु, शत्रुहीन, प्राणिमात्रके मित्र, गम्भीर स्वभाववाले, शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले और सुशील ही जिनका भूषण है, वे ही साधु हैं। उनसे भी, जिन्होंने अपने

सकल कर्म, उन कर्मोंके फल और शरीर ये सब ही मुझे अर्पण कर दिये हैं, उससे मेरी प्राप्ति होनेमें जिनको कोई प्रतिबन्धक ही नहीं रहा है, वे श्रेष्ठ हैं। अपना शरीर मुझे समर्पण करनेवाले, मुझे कर्मोंका फल अर्पण करनेवाले, कर्तापनेके अभिमानसे रहित और समदृष्टि रखनेवाले पुरुषसे अधिक उत्तम प्राणी मैं किसीको भी नहीं देखता हूँ। श्रीभगवान् ही जीवरूपसे सकल प्राणियोंमें विराजमान हैं, ऐसा जान सकल प्राणियोंका बहुत सम्मान मनसे करके प्रणाम करे।'

अनन्यभाववाला भावुक समझता है कि संसारमें जितने दीन-दुःखी, दरिद्र, पतित हैं वे श्रीउपास्यके बहुत बड़े प्रिय हैं, क्योंकि यह स्वाभाविक है कि माताका स्नेह सबसे छोटी सन्तान-पर उसकी दीनताके कारण अधिक होता है, और श्रीउपास्यका प्राणियोंके प्रति स्नेह माताके स्नेहसे भी अधिक मधुर और व्याप्त है। अतएव साधकका भी दीन-दुःखियोंपर अधिक स्नेह रहता है और उनके उपकारमें वह विशेष दत्तचित्त सब प्रकारसे होता है। जो अधर्म और अज्ञानमें फँसे हुए हैं उनको भी दीन ही समझना चाहिये और उनके उद्धारके लिये भी अवश्य यत्न होना चाहिये।

भावुकके निष्कामत्यागव्रतके धारण करनेकी प्रारम्भिक अवस्थामें उसे अनेक प्रबल विघ्न-बाधाएँ मिलती हैं। यदि वह अपने व्रतमें दृढ़ रहे तो अनेक प्रकारकी कठिन भविष्य विपत्तियों-के आनेकी पूरी सम्भावना रहती है और बड़े-बड़े कष्टोंमें वह पड़

भी जाता है जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, क्योंकि अन्तरात्मारूपी स्वर्ण क्लेशरूपी अग्निमें दग्ध होनेसे ही निर्मल होता है, किन्तु भावुक कष्ट पानेपर भी अपने व्रतसे विचलित नहीं होता। यदि संयोगवश कभी विचलित भी हो जाता है, तो फिर सँभलकर इस यज्ञमें प्रवृत्त हो जाता है और गिरनेके कारण विशेष सावधान हो जाता है और तबसे अधिक बलका प्रयोग करता है।

अनन्यभावका प्रधान तात्पर्य यह भी है कि भावुक सिवा श्रीउपास्यके अन्य किसीसे कोई चाह न रक्खे। जो कुछ करे वह केवल श्रीउपास्यकी सेवाके लिये, वचनका प्रयोग भी उन्हींके कार्यके लिये, भावना भी उन्हींके श्रीचरणके स्पर्शके लिये, यहाँतक कि उसकी दृष्टिमें सिवा श्रीउपास्यके अन्य कुछ इस संसारमें रहता ही नहीं; अर्थात् वह विश्वको श्रीउपास्यमय देखता है, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। ऐसे भावुकके समीप आनेपर हिंसक जीवका भी हिंस्रस्वभाव बदल जायगा। ऐसा भावुक अपने आत्माको भी श्रीउपास्यकी वस्तु जानकर उनके श्रीचरणमें ही अर्पित समझता है। यह आत्मसमर्पण प्रेमकी एकमात्र कसौटी या पूर्ण त्याग है। कथा है कि श्रीभगवान् बुद्धदेवजीको हानि पहुँचानेके लिये देवदत्त राजाने अपने नौकरको आज्ञा दी कि वे (श्रीबुद्ध भगवान्) जब भिक्षाके लिये आवें तो जो बड़ा दुर्दान्त हाथी है उसको छोड़कर उसके द्वारा श्रीभगवान्‌पर आक्रमण करवा देना ताकि वे उससे कुचल जायँ। यह बात श्रीबुद्ध भगवान्‌से लोगोंने कही और सचेत किया। किन्तु इस हाथीके आक्रमणकी परवा न कर वे नित्यकी भाँति भिक्षाके लिये गये

और उस हाथीके उनपर आक्रमण करनेपर और उनके समीप आनेपर वह पूरा शान्त हो गया और बकरीकी भाँति उनके निकट खड़ा रहा। विश्वव्यापी अनन्य भगवत्प्रेमका ऐसा ही प्रताप है।

मधुरभावका मुखबन्ध

जैसा कि गर्गसंहिताके प्रमाण, जो पूर्वमें उद्धृत किये गये हैं उसमें कथन है कि दूसरोंको कष्ट देकर भी अपने स्वार्थ-साधनकी कामना उपास्यद्वारा चाहना तामसिक भक्ति है। बिना हिंसाके यश, ऐश्वर्य आदिकी कामना राजसिक है। और मोक्षके लिये भक्ति करना सात्त्विक है। जीवात्मा-परमात्माका अनादि सम्बन्ध और उनकी करुणा आदि दिव्यगुण और त्याग (प्रेम-यज्ञ) के अनुभवके कारण उनमें निष्काम प्रेम अर्पण करना और उस प्रेमके कारण श्रीउपास्यके प्रीत्यर्थ उनके गुण, कर्म (त्याग) का अनुकरण कर उनकी सेवा (प्रेम-यज्ञ) में अहैतुक भावसे प्रवृत्त होना निर्गुण भक्ति है और यही यथार्थमें मधुरभावकी उपासना है। श्रीभगवान्‌के ऐश्वर्य भावसे प्रेरित होकर ऐश्वर्य अथवा मोक्षनिमित्त भक्ति करना गुणात्मक भक्ति है और श्रीभगवान्‌के त्याग (प्रेम-यज्ञ) और दिव्य गुण जो परम मधुर हैं उनसे प्रेरित होकर उसी भावको अपनेमें प्रदर्शित करनेके लिये और उसके द्वारा उनकी निर्हेतुक सेवा करना मधुरोपासना है, जैसा कहा जा चुका है। अतएव दास आदि सब निष्कामभाव इसके अन्तर्गत हैं, किन्तु यहाँ मधुरभाव विशेष अर्थमें अर्थात् आत्मनिवेदनकी आधिदैविक अवस्थाके लिये प्रयोग किया गया है; किन्तु इसके साधारण

स्वरूपका भी कहीं-कहीं उल्लेख होगा। सृष्टिके आदिमें श्रीभगवान् और उनकी पराशक्तिका सृष्टिसम्बन्धी प्रेमयज्ञमें प्रवृत्त होना ही उनका मधुरभाव है, क्योंकि केवल करुणासे प्रेरित होकर ही यह निष्काम त्याग-अनुष्ठान किया जाता है। सर्गके प्रारम्भमें श्रीब्रह्माजी, सप्तर्षि, रुद्र, कुमारगण आदिने इस सृष्टिके कार्यमें प्रवृत्त होकर इस मधुरभावको ही प्रकट किया; अर्थात् इन लोगोंने भी आत्मनिवेदन ही किया। श्रीशिवजी जगद्गुरुके कार्यका सम्पादन कर और ब्राह्मभावसे सर्वत्यागी बन इसी मधुरभाव (प्रेम-यज्ञ) को संसारके कल्याणके लिये प्रकट कर रहे हैं। उनका दिगम्बर (गुणातीत) होकर श्मशानमें (पिण्डाण्डमें हृदयका गुह्य भाग जहाँ प्रवेश करनेसे सब विकार प्रेमाग्निद्वारा दग्ध हो जाते हैं और उपाधियोंके बन्धनसे जीवात्मा मुक्त हो जाता है और जो ब्रह्माण्डमें त्रिलोकसे ऊपरका भाग है) वासकर उपासकोंको मायासे मुक्त करना और उनको श्रीउपास्योंमें युक्त करवा देना आदि परम मधुरभाव हैं। श्रीमहाविद्या अथवा आद्याशक्तिका, मातृस्नेहके परम त्यागद्वारा जगत्की रक्षा, पालन और तृप्ति करना और श्रीलक्ष्मी, श्रीसती, श्रीपार्वती, श्रीसीता और श्रीराधा आदि रूपका धारणकर परमत्यागको व्यक्त कर दिखलाना अवश्य परम मधुर-भाव है।

श्रीभगवान् विष्णु तो आनन्दभाव (प्रेम-यज्ञ) के रूप ही हैं और इस यज्ञके लिये विश्वमात्रमें स्थावर, उद्भिज्ज, पक्षी, पशु, मनुष्य, देव आदिमें स्वयं वासकर बहुत बड़ा मधुर (त्याग) भाव दिखला रहे हैं। इसके सिवा श्रीभगवान्ने अवतारोंको धारण कर

अपने मधुरभावको विशेष व्यक्त किया है । श्रीभगवान्‌ने प्रलयके समयमें वेदत्रयको लुप्त होनेसे बचानेके लिये और उद्धार करनेके लिये मत्स्यरूप धारण किया । पृथ्वीको अपने पृष्ठपर धारणकर जलमें निमग्न होनेसे बचानेके लिये कूर्मरूप धारण किया । पृथ्वीके जलमें डूबनेके कारण पातालमें जानेपर श्रीभगवान्‌ने वाराहरूप धारणकर उसका उद्धार किया । श्रीभगवान्‌के वाराह-रूपको यज्ञवाराह कहते हैं, क्योंकि अवतार धारण करना भी स्वतः परम यज्ञ है । श्रीमद्भागवत पुराण स्कं० ३ अ० १३ के श्लोक ३६ से ३९ तकमें श्रीभगवान्‌के वाराहरूपको यज्ञरूप दिखलाकर स्तुति की गयी है । उसमें ४० वाँ श्लोक यों है—

नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवता-
द्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने ।
वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावित-
ज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः ॥

'सकल मन्त्र, देवता और घृत आदि द्रव्यरूप, सकल यज्ञरूप और कर्मरूप तुमको वारंवार नमस्कार हो, वैराग्य, भक्ति और मनकी स्थिरतासे प्राप्त होनेवाले ज्ञानस्वरूप और ज्ञान देने-वाले गुरुरूप आपको वारंवार नमस्कार है ।'

इस आत्मसमर्पणके मधुर (त्याग) भावको श्रीप्रह्लादजीने अपने जीवन और कार्यकलापसे भलीभाँति दिखलाया है । पिता हिरण्यकशिपुके अनेक यत्न करनेपर भी श्रीप्रह्लादजीने श्रीभगवान्‌की भक्तिका त्याग नहीं किया, साथ ही उन्होंने पिताका सम्मान करना भी कदापि नहीं छोड़ा । श्रीभगवान्‌की भक्तिके नहीं त्याग

करनेपर हिरण्यकशिपुकी आज्ञासे राक्षसोंने शूलसे उनके मर्म-स्थानोंपर प्रहार किया, तथापि वे दृढ़ ही रहे। फिर वे दिग्गजोंके पैरोंसे कुचलवाये गये, सर्पोंसे डसवाये गये, पर्वतके शिखरसे गिराये गये, उन्हें विष भक्षण करवाया गया, वे भूखे रखे गये, शीतमें रखे गये, आँधीमें डाले गये, अग्निमें भी प्रवेश कराये गये, जलमें डुबाये गये, पत्थरकी वर्षा उनपर हुई, किन्तु इतनेपर भी उन्होंने श्रीभगवान्‌की भक्तिको नहीं त्यागा। उन्होंने भक्तिको अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय समझा और भक्तिकी रक्षाके लिये प्राणका त्याग उत्तम समझा। यही यथार्थ मधुरभाव है। जो इस पथमें पदार्पण करेगा उसकी परीक्षा (प्रेमयज्ञ) के लिये असुरभावरूपी हिरण्यकशिपु, जिसके भावुकको पूर्वमें सम्बन्ध था, अवश्य नाना प्रकारका उपद्रव भक्तिसे विचलित करनेके लिये करेगा; किन्तु यदि भावुकमें आत्मनिवेदनका मधुरभाव रहेगा, तो उसके बलसे वह श्रीप्रह्लादकी भाँति कितने ही विघ्नबाधाओंके आनेपर और प्राणके वियोगतककी सम्भावना होनेपर भी श्रीभगवान्‌का त्याग कदापि नहीं करेगा। इतने प्राणान्तक उपद्रव होनेपर भी श्रीप्रह्लाद श्रीभगवान्‌की अचला भक्तिके बलसे कदापि भयभीत तक नहीं हुए। श्रीप्रह्लादजीका मरण संनिहित होनेपर भी अपनी अचला भक्तिका त्याग नहीं करना आत्मनिवेदनभावका परमोज्ज्वल उदाहरण है। श्रीप्रह्लादने ही अपने पितासे नवधा भक्ति कही जिसमें आत्मनिवेदन अन्तिम भाव है। श्रीप्रह्लादजीकी उक्ति इस पुस्तकमें कई स्थानोंमें पूर्वमें दी जा चुकी है किन्तु यहाँ भी कुछ देना आवश्यक है। श्रीप्रह्लादने दैत्यबालकोंको भी भक्तिका उपदेश किया, जिसको

उन्होंने स्वीकार कर लिया और ऐसा कर उन्होंने दिखलाया कि भावुकके लिये श्रीभगवान्‌की भक्तिका उपदेश और प्रचार करना परमावश्यक है। श्रीप्रह्लादजीने दैत्य-बालकोंसे कहा—

तस्मात्सर्वेषु भूतेषु दयां कुरुत सौहृदम्।
आसुरं भावमुन्मुच्य यया तुष्यत्यधोक्षजः॥
धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग
ईक्षात्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः॥
(श्रीमद्भा० ७।६।२४, २६)

'इस कारण तुम असुर (स्वार्थ) भावको त्यागकर सकल भूतोंमें मित्रभाव और दयाभावको धारण करो जिससे अधोक्षज श्रीभगवान् प्रसन्न होते हैं। हे असुरो! धर्म, अर्थ और कामरूप जो त्रिवर्ग कहा जाता है और उसके निमित्त आत्मविद्या, कर्मविद्या, तर्कशास्त्र, दण्डनीति और नाना प्रकारकी जीविकाके जो साधन हैं वे सब वेदमें कहे हैं, परन्तु वे यदि अन्तर्यामी परमपुरुष भगवान्‌के प्रति आत्मनिवेदन करनेके साधन हों तो उनको मैं सत्य मानता हूँ, नहीं तो असत्य ही हैं।'

इस मधुरभावमें भावुकको विश्वके केन्द्र श्रीभगवान्‌का सगुण साकार रूप मुख्य लक्ष्य रहनेपर भी उनका विश्वरूप भाव भी प्रत्यक्षकी भाँति हो जाता है और यह श्रीप्रह्लादके आख्यानद्वारा सिद्ध हो गया। पिताके पूछनेपर कि श्रीभगवान् कहाँ हैं, श्रीप्रह्लाद-जीने कहा कि 'सर्वत्र हैं' और फिर पूछनेपर 'क्या इस खम्भेमें

हैं' उत्तर मिला कि 'हाँ, खम्भेमें भी हैं।' इसपर क्रोध करके जब हिरण्यकशिपुने उनको ऐसा कहकर कि 'यदि कोई श्रीभगवान् हैं तो इस समय आकर तुम्हारी रक्षा करें' मारना चाहा तो श्रीभगवान् उस खम्भेसे ही प्रकट हो गये। श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

> सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
> व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
> अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
> स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥
> (७।८।१८)

'इतनेहीमें सकल प्राणियोंमें होनेवाली अपनी व्याप्तिको सत्य करके दिखानेके निमित्त और अपने भृत्यका कहा हुआ वचन सत्य करनेके निमित्त न मनुष्यका आकार और न मृग (पशु) का आकार ऐसा अति अद्भुत रूप धारण करनेवाले श्रीभगवान् हरि उस सभाके खम्भेमेंसे प्रकट हुए।'

श्रीभगवान्‌का खम्भेसे तत्काल निकलकर श्रीनृसिंहावतार (अर्द्ध मनुष्य अर्द्ध पशु) धारणकर भक्तके वचनकी रक्षा करना बहुत बड़ा यज्ञ (त्याग) है, क्योंकि ब्रह्माके वरके कारण बिना ऐसा रूप धारण किये हिरण्यकशिपुका वध सम्भव नहीं था। अतएव यह परम मधुरभाव है और श्रीभगवान्‌की परम करुणा और भक्तवत्सलताका द्योतक है और इसी कारण श्रीप्रह्लादको उक्त रूप परम सुन्दर दीख पड़ा। श्रीभगवान्‌ने हिरण्यकशिपुका बधकर अपने वैकुण्ठके भृत्यको शापसे त्राण किया जो दयाका ही

कार्य है । श्रीप्रह्लादने श्रीभगवान्‌से अपने पिताको भक्तके द्रोहके पातकसे मुक्त होनेके लिये प्रार्थना की जो भक्तके दयाभावको प्रकट करता है, अर्थात् भक्त अपने हानि करनेवालेका भी उपकार ही करता है ।

श्रीवामनावतार भी इस मधुरभावका ही द्योतक है । जब श्रीवामन भगवान् बटुरूपमें श्रीबलिके यज्ञमें गये तब राजा बलि उनके मनोहर रूपको देखकर मोहित हो गये और उनकी पूजा-कर कहा कि 'जो आपको माँगना हो वह माँगिये, मैं दूँगा ।' श्रीभगवान्‌के मिलनेपर कौन ऐसा होगा जो सर्वस्वार्पण करनेपर उद्यत न हो जाय ? श्रीभगवान्‌द्वारा तीन डग पृथ्वी माँगनेपर जब श्रीबलि स्वीकारकर संकल्प करनेपर उद्यत हुए तब श्रीशुक्राचार्यने दान देनेमें मना किया और बलिको स्पष्ट समझा दिया कि इस दानसे तुम्हारा सर्वनाश हो जायगा, क्योंकि केवल इनके दो पगमें पृथ्वी और स्वर्ग समा जायँगे और तीसरे पगके समान देनेके लिये कुछ भी नहीं रह जायगा । किन्तु गुरुकी इस चितौनी-पर विश्वास करके भी बलि अपने समर्पणके संकल्पमें दृढ़ रहे और कदापि विचलित नहीं हुए । बलिने अपनी दृढ़ताको ऐसा कहकर दिखलाया—

श्रेयः कुर्वन्ति भूतानां साधवो दुस्त्यजासुभिः ।
दध्यङ्‌शिबिप्रभृतयः को विकल्पो धरादिषु ॥

(श्रीमद्भा० ८ । २० । ७)

'हे आचार्य ! दधीचि और शिवि आदि साधु पुरुष, जिनका त्यागना कठिन है ऐसे अपने प्राणोंको भी त्यागकर प्राणियोंके

ऊपर दया करते हैं, फिर भूमि आदिको देनेमें तो विचार क्या करना है ?'

संकल्पके बाद समर्पण करनेपर बलिको भी श्रीभगवान्‌के विश्वरूपके दर्शन हुए।

वहाँ ही लिखा है—

नदीश्च नाडीषु शिला नखेषु
बुद्धावजं देवगणानृषींश्च।
प्राणेषु गात्रे स्थिरजङ्गमानि
सर्वाणि भूतानि ददर्श वीरः ॥२९॥

'नाड़ियोंमें नदियाँ, नखोंमें शिला, बुद्धिमें ब्रह्माजी और इन्द्रियोंमें देवगण तथा ऋषियोंको देखा; इस प्रकार उन श्रीभगवान्‌के शरीरमें उस वीरने स्थावर-जङ्गमरूप सकल प्राणियोंको देखा।' बलिकी रानीने जो श्रीभगवान्‌से उस समय कहा वह आत्मनिवेदनभावका उत्तम द्योतक है, जो ऐसा है—

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते
स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः।
कर्तुः प्रभोस्तव किमस्य त आवहन्ति
त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः ॥

(८।२२।२०)

'हे श्रीभगवन्! तुमने अपनी क्रीड़ा करनेके निमित्त इस त्रिलोकीको उत्पन्न किया है, उसमें कुबुद्धि पुरुष अपना स्वामीपना मानते हैं परन्तु इस त्रिभुवनकी उत्पत्ति, स्थिति और परिवर्तन करनेवाले तुम्हें वह क्या समर्पण करेंगे? इससे वे पुरुष निःसन्देह

निर्लज्ज हैं जो अपनेको स्वतन्त्र समझते हैं, और कर्तापनेका अभिमान करते हैं, क्योंकि तुम्हारा ही सर्वस्व है ।'

उस समय श्रीभगवान्‌ने जो कहा, वह भक्तिमार्ग और मधुर भावका परम सार है—

> ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम् ।
> यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते ॥
> क्षीणरिक्थश्च्युतः स्थानात् क्षिप्तो बद्धश्च शत्रुभिः ।
> ज्ञातिभिश्च परित्यक्तो यातनामनुयापितः ॥
> गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः ।
> छलैरुक्तो मया धर्मो नायं त्यजति सत्यवाक् ॥

(८ । २२ । २४, २९, ३०)

'श्रीभगवान्‌ने कहा—'हे ब्रह्माजी ! मैं जिसके ऊपर अनुग्रह करनेकी इच्छा करता हूँ उसका धन, ऐश्वर्य आदि मैं उससे छुड़ा देता हूँ, क्योंकि धनादिके मदसे युक्त हुआ पुरुष लोकोंका और मेरा अपमान करता है । अहो ! इस वलिका धन छीना गया, यह अपने स्थानसे अलग हो गया, शत्रुओंने इसका तिरस्कार करके इसको बाँध लिया, जातिवालोंने इसको त्याग दिया, इसको पीड़ा भोगनी पड़ी, गुरुने इसको भर्त्सनाकर शाप दिया, तथापि दृढ़संकल्प होनेके कारण इसने सत्य (अपने निवेदनके संकल्प) को नहीं त्यागा और इसकी परीक्षाके लिये मैंने इसको अन्य धर्मका उपदेश किया तो भी इसने उसको नहीं छोड़ा, इस कारण यह सत्यवक्ता है ।' स्मरण रहे कि आत्मनिवेदनके मार्गको अनुसरण करनेवालेकी बड़ी कठिन परीक्षा अवश्य होती है और बाह्य दृष्टि-

से वह कष्टमें अवश्य पड़ता है, और जिनको वह माननीय मानता है ऐसे-ऐसे लोग प्रमाण देकर उसको इस मार्गसे विमुख होनेके लिये यत्न करते हैं और उसको बोध कराया जाता है कि इस मार्गको अनुसरण करनेसे उसका सर्वनाश होगा। इसमें बलिकी दशा भी प्रमाण है। इस प्रेम-मार्गसे चलना मानों काँटेपर होकर अथवा खड्गकी धारपर होकर चलना है, इसमें भीष्मकी शरशय्या मिलती है, न कि पुष्पशय्या। तीसरे पगके लिये बलिने अपने शरीरको श्रीभगवान्‌को अर्पण किया और उनके इस आत्मनिवेदनका क्या परिणाम हुआ उसमें श्रीमुखवचन है—

नित्यं द्रष्टासि मां तत्र गदापाणिमवस्थितम्।
मद्दर्शनमहाह्लादध्वस्तकर्मनिबन्धनः ॥

(८।२३।१०)

श्रीभगवान्‌ने श्रीप्रह्लादसे कहा कि वहाँ (श्रीबलिके पाताल राज्यके दरवाजेपर) हाथमें गदा लेकर द्वारपर खड़े हुए मुझे तू नित्य देखेगा और मेरे दर्शनसे जो तुझे बड़ा भारी आनन्द होगा उससे तेरा अज्ञान दूर होगा। श्रीभगवान्‌को अपने भक्तका द्वारपाल हो जाना और रक्षाके लिये सदा खड़े रहना, इससे अधिक उनकी मधुरता (त्याग) और क्या हो सकती है?

बलिके आत्मनिवेदनका रहस्य-भाव यह है कि मनुष्यके शरीर, मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि यथार्थमें श्रीभगवान्‌के कार्यमें अर्पण होनेके निमित्त बलि हैं अर्थात् नैवेद्य हैं किन्तु ये उनमें न अर्पण होकर स्वार्थसाधनमें प्रवृत्त किये जायँ तो वह असुरभाव है। श्रीभगवान् अपनी उक्त बलिके लेनेके लिये याचना करते हैं,

किन्तु सांसारिक सम्बन्धद्वारा इस समर्पणके करनेमें बाधा पहुँचती है और विपत्तिका भय दिखलाया जाता है, जैसा कि गुरु श्रीशुक्राचार्यने बलिके प्रति किया। सकाम कर्म इस निष्काम कर्ममें भोगका लोभ और उसके मिटनेका भय दिखलाकर मना करता है, किन्तु जो इस भुलावेमें न पड़कर समर्पण करते हैं श्रीभगवान् उनके दासकी भाँति बन जाते हैं। श्रीपरशुरामावतार आवेशावतार था और यह अवतार भी जगत्के उपकारके लिये ही हुआ।

बिना श्रीभगवान्के सगुणभावसे सम्बन्ध स्थापित किये श्री-भगवान्को विश्वव्यापी माननेपर भी कोई श्रीभगवान्के दिव्यगुणों-को अपनेमें न प्रकट और न प्राप्त और न सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। बल्कि यह भी सम्भव है कि विश्वके केन्द्ररूप श्री-भगवान्के साथ बिना सम्बन्ध स्थापित किये यदि जीवात्मा सांख्य-मार्गसे ऊर्ध्वकी ओर गमन करे तो मायाको अतिक्रम नहीं करके अव्यक्तमें लीन हो जा सकता है। केवल श्रीसद्गुरु और पराशक्ति-की कृपासे ही भावुक स्वर्गलोकके ऊपरकी दुस्तर मायाके जाल-का अतिक्रमकर श्रीउपास्यके चरणमें युक्त होता है। यही महा-श्मशान है जहाँ जगद्गुरु श्रीशिवजी रहकर उपासकोंको उनका विकार नष्टकर महा अविद्यामोहसे पार करते हैं। प्रथम स्नेह-भावसे स्मरण, चिन्तन, भजन, धर्माचरण और जीवोंपर दया और उपकारद्वारा श्रीउपास्यके दिव्यगुण और भाव उपासकमें प्रकट होते हैं जिनको श्रीउपास्यके निमित्त अभ्यास करनेसे अनुरागकी उत्पत्ति होती है और उस अनुरागके प्रगाढ़ होनेपर वह प्रेमके

प्रसादके पानेके योग्य होता है और तभी प्रेमद्वारा उसका श्री-उपास्यके साथ सम्बन्ध स्थापित होता है। श्रीउपास्यके प्रेम ही दिव्य गुणके रूपको धारणकर व्यक्त होते हैं, दोनों एक हैं दो नहीं। बिना दिव्य गुणोंकी प्राप्ति और अभ्यासके प्रेम केवल कथन और कल्पनामात्र है, वास्तविक नहीं। जिसका श्रीउपास्यके प्रति भक्ति और स्नेहका अभ्यास रहेगा, उसमें उनके दिव्य गुणका प्रकाश और अभ्यास अवश्य रहेगा और जिसमें गुणका अभाव होगा, उसमें स्नेहका भी अभाव अवश्य मानना चाहिये। नारद-सूत्रके अनुसार प्रेम अनिर्वचनीय होनेसे, गूँगेके स्वादके समान है। इसका वर्णन शब्दसे हो नहीं सकता है किन्तु इसके बाह्य-लक्षण और भावके अस्तित्वसे ही इसका अस्तित्व समझा जा सकता है। विशेषकर अहङ्कारके विकारका दमन, कर्मार्पण और आत्मत्वका प्रसार त्यागद्वारा परहित-साधन आदि हुए बिना यथार्थ प्रेमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। मधुर भावकी उपासनाका तात्पर्य ही यह है कि श्रीउपास्यके मधुरभाव जैसा कि करुणा, सत्य, क्षमा, त्याग, कोमलता, दया, पवित्रता, स्वयंप्रकाश, स्नेह, उपकार, सर्वात्मभाव आदिको अपनेमें प्रकाशित कर उनका अभ्यास करना और अपनेको श्रीउपास्यमें अर्पित करना और उनके ऐश्वर्यभावको, जो दोषीको दण्ड देना आदि है, उनको भी मधुर भावहीमें गिनना किन्तु उसका अनुकरण नहीं करना, क्योंकि श्रीभगवान् दयासे प्रेरित होकर ही दोषीको उसके सुधारके लिये दण्ड देते हैं और इसी कृपाके कारण ही उसके हृदयमें टिके रहते हैं, कदापि त्यागते नहीं। दण्ड न देना उन्हींका कार्य है।

श्रीभगवान्‌का यथार्थ ऐश्वर्य उनका करुणाभाव और प्रेमयज्ञ है जो सृष्टिका कारण है, अतएव यही जीवात्माका यथार्थ सम्बन्ध-भाव है और इसीको उसे अपनेमें प्रकट करना चाहिये। भजन, स्मरण, ध्यान आदि भी श्रीउपास्यके दिव्य गुण और प्रेमरूपी प्रसादके पानेके लिये ही हैं और उनका अभ्यास और संसारमें प्रचार करना उनकी उत्तम सेवा है। श्रीभगवान्‌के पावन नामके स्मरणमें गाढ़ प्रीति और जीवदया श्रीभगवान्‌की मुख्य सेवा है और प्रेमकी उत्पत्तिके लिये उत्तम साधना है। इस भावके भावुकको ये दो साधनाएँ प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हो जाती हैं और वह इनकी मधुरताको स्वयं अनुभव करता और दूसरोंको भी करवाता है। वह इनके आन्तरिक रहस्यको जानता है। श्रीभगवान्‌के सगुण भावका अर्थ मूलप्रकृतिके रज, तम, सत्त्वगुण अथवा शुद्ध सत्त्वगुणके भी अधीन होना कदापि नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकृति असत् और जड़ है, किन्तु उनकी पराप्रकृतिके दिव्य गुणोंके और भावोंका धारण करना है और उक्त दिव्य गुणों और भावोंका ही बना हुआ उनका शरीर होता है; अर्थात् उनके दिव्य शरीर दिव्य भाव और गुणकी ही मूर्ति हैं। इसी कारण श्रीभगवान् परम सुन्दर और शुभ्र हैं, क्योंकि सुन्दरता ही दिव्य गुण है और दिव्य गुण ही सुन्दरता है। वे दोनों एक दूसरेसे पृथक् कदापि हो नहीं सकते। यही कारण है कि संसारके प्राणिमात्र, ज्ञात अथवा अज्ञात, सब-के-सब श्रीभगवान्‌हीकी खोजमें व्यग्र हैं। जिस भावुकको एक बार भी श्रीभगवान्‌की झलक हृदयमें दृष्ट हुई अथवा हृदयमें उनके तेजःपुञ्ज (श्रीचरणका प्रेमामृतरस) का अनुभवका

सौभाग्य प्राप्त हुआ, वह फिर चातककी भाँति अनन्य भावसे आसक्त हो जाता है और सेवाके निमित्त अपनेको बिना अर्पण किये रह नहीं सकता। प्रेमरूपी मिश्रीपर सेवारूपी मक्खी स्वतः बैठ जाती है। प्रेमसेवामें नियुक्त होनेका परिणाम यह होता है कि अनुरागके धीरे-धीरे बढ़नेके कारण अन्ततोगत्वा वह सेवाकी पूर्तिके लिये आत्मसमर्पण करनेका सङ्कल्प करता है और जबतक इसकी पूर्ति न होती, तबतक वह अत्यन्त व्याकुल और व्यग्र रहता है। यही विरह-वेदना है और यहींसे शुद्ध मधुर भावका प्रारम्भ होता है। इस अवस्थाके आनेपर भावुकका ऊर्ध्वगमन श्रीसद्गुरु-के सहारेसे होता है।

आत्मनिवेदनकी मध्यमावस्था

मधुरभाव

आत्मनिवेदनभावकी दूसरी आधिदैविक अवस्थाको मधुर-भाव, गोपीभाव, प्रियाभाव, शृङ्गारभाव आदि नामोंसे कहते हैं, जिस भावका मुखबन्धमें किञ्चित् वर्णन हो चुका है। अन्य भावोंकी भाँति यह भी परम रहस्यमय आध्यात्मिक भाव है। यह वह भाव है जिसके लिये कल्पके आदिसे अनेक मन्वन्तरोंमें बड़ी तैयारी, कठिन साधनाएँ, दीर्घ तपस्या की गयी। स्वयं सृष्टिदेवी-ने जिसके लिये अपने ऊपर अनेक कष्ट उठाये, निगमागमपुराण-की जिसके लिये सृष्टि की गयी, ऋषियोंने जिसके लिये यज्ञ किया, और यह सृष्टिव्यापी प्रेम-यज्ञ ही जिसके लिये ठाना गया। श्रीसद्गुरुने कृपाकर जिस उपासकका श्रीउपास्यके साथ सम्बन्ध जोड़ दिया उन प्रिया-प्रियतमका यह अनेक कालके विच्छेदके बाद

मिलन है। यह आत्मनिवेदनरूपी विवाह-यज्ञके बाद दुल्हा (श्रीउपास्य) और दुलहिन (श्रीउपासक) का एकत्र होना है। प्रेम-यज्ञ अथवा विहार-लीला (जिसका उल्लेख आत्मनिवेदनकी प्रस्तावनामें हो चुका है) में अबतक उपासक बाह्यमें रहकर बाह्य सेवामें प्रयुक्त था किन्तु अब ऐसी अवस्था आ गयी कि वह यज्ञवेदीके भीतर अथवा लीलाके अन्तःपुरमें प्रवेशकर साक्षात् सेवामें प्रयुक्त होगा। कहा जा चुका है कि यह प्रेम-यज्ञ अथवा नित्य विहार-लीलाहीके द्वारा सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति, पालन आदि होते हैं। श्रीमद्भागवतपुराणका वचन है—

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा
भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि।
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं
प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः॥
(१।९।३२)

क्रीडस्यमोघसङ्कल्प ऊर्णनाभिर्यथोर्णुते।
तथा तद्विषयां धेहि मनीषां मयि माधव॥
(२।९।२८)

तिर्यङ्मनुष्यविबुधादिषु जीवयोनि-
ष्वात्मेच्छयात्मकृतसेतुपरीप्सया यः।
रेमे निरस्तरतिरप्यवरुद्धदेह-
स्तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय॥
(३।९।१९)

श्रीभीष्मजीने कहा कि 'अनेक साधनोंसे एकाग्र की हुई अपनी निष्काम बुद्धिको यादवश्रेष्ठ सर्वव्यापी श्रीकृष्णभगवान्-

में मैंने अर्पण किया है। वे (श्रीभगवान्) अपने परमानन्दमें निमग्न रहते हैं और किसी समय मायाको स्वीकारकर क्रीड़ा करनेके निमित्त सृष्टिको उत्पन्न करते हैं, किन्तु उस मायासे उनकी महिमा आच्छादित नहीं होती है। श्रीब्रह्माजीने कहा कि हे श्रीभगवन्! जैसे मकरी आप ही बहुत-से तन्तु उत्पन्न करके उनसे अपनेको ही आच्छादित कर लेती है, उसी प्रकार तुम सत्य संकल्प, आप ही ब्रह्मादि रूप धारणकर, सृष्टिद्वारा क्रीड़ा करते हो उसके (विहार—लीलाका) ज्ञान होनेकी बुद्धि मुझे दो। जो तुम विषयसुखकी प्रीतिसे रहित होकर भी, अपनी रची हुई धर्म-मर्यादाका पालन करनेकी इच्छासे पशु, पक्षी, मनुष्य और देवता आदि जीवयोनियोंमें अपनी इच्छाके अनुसार शरीर धारणकर क्रीड़ा करते हो, उन पुरुषोत्तमरूप तुम श्रीभगवान्को नमस्कार हो।'

यह वह अवस्था है जब कि मानसरोवरसे बिछुड़ा हुआ हंस अनेक कष्ट और क्लेशको सहनकर मार्ग बतानेवाले श्रीसद्गुरुकी कृपासे अपने सरोवरको पाकर उसमें अवगाहन करता है। इस प्रेम-मिलनका स्थान पिण्डाण्ड (शरीर) में हृदय है जो ब्रह्माण्डके कैलाश, वैकुण्ठ, साकेत और गोलोकके तुल्य है, जिसकी छाया इस लोकमें यों है। कैलाशकी छाया काशी, वैकुण्ठकी काञ्ची, साकेतकी अयोध्या और चित्रकूट, और गोलोककी वृन्दावन है। यह न शरीरका मिलन है और न मन और न बुद्धिका, किन्तु शुद्ध अन्तरात्माकी, जो उपाधियोंके और त्रिगुणके बन्धन और आसक्तिसे मुक्त होकर श्रीपराशक्ति और श्रीसद्गुरुके सहारेसे श्रीउपास्यसे मिलती है। स्मरण रहे कि इस प्रेम-मन्दिरमें प्रेम-मिलन किसी

स्वार्थसाधन अथवा निर्वाणके आनन्दके लिये भी नहीं होता है, किन्तु श्रीउपास्यके विश्व-हित प्रेमयज्ञ अथवा विहारलीलामें साक्षात् भावमें योग देकर उनकी और उनके विश्वरूपकी सेवा करनेके लिये होता है।

इस यज्ञ अथवा विहारलीलामें संयुक्त होनेके लिये श्रीपराशक्तिको सहचरी बनना परम कठिन कार्य है। शरीर, मन, बुद्धि अथवा अहंकार, पृथक् अथवा एकत्र, स्वयं न सहचरी बन सकते हैं और न पृथक् अथवा एकत्र होकर इस भावको उत्पन्न कर सकते हैं। श्रीगीताके अ० १४ में इस अवस्थाका यों वर्णन है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(२२–२६)

'हे अर्जुन! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके जो प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहरूप तीन कार्य हैं इनके स्वतः प्रवृत्त होनेपर उनमें आसक्ति नहीं करता और निवृत्त होनेपर फिर ग्रहणकी इच्छा नहीं करता। जो उदासीनकी तरह रहता है और सत्त्वादि

गुणोंके सुखदुःखादिरूप कार्योंसे विचलित नहीं होता है किन्तु ऐसा जानता है कि ये गुण अपने-अपने कार्योंमें स्वतः ही प्रवृत्त रहते हैं। जो पुरुष ऐसा रहता है और चञ्चल नहीं होता वह गुणातीत है। जो सुख-दुःखमें समान, स्वस्थ, मानसिक विकारोंसे रहित है, जिसको कंकड़, पत्थर और सुवर्ण तीनों समान हैं, जो धैर्यवान् है और जिसको स्तुति-निन्दा समान है, वह पुरुष गुणातीत है। जो अपमान-मान और शत्रु-मित्रको समान जानता है और जो किसी कार्यको (सकामभावसे) आरम्भ नहीं करता है, वह गुणातीत है। जो कोई अनन्य भक्तिसे मेरी सेवा करता है वह इन तीनों गुणोंको लाँघकर ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है।'

इस अवस्थामें अन्तरात्मा अपनी उपाधियों (स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर) और प्रकृतिके गुणों और विकारोंद्वारा आबद्ध न रहकर उनसे मुक्त हो जाता है, बल्कि उनपर प्रभुता लाभ करता है और श्रीसद्गुरुद्वारा हृदयमें आन्तरिक प्रेम-दीक्षासे दीक्षित होकर श्रीपराशक्ति (आध्यात्मिक ऊर्ध्वकुण्डलिनी) की सहायतासे त्रिगुणरूपी महासागरको पारकर शुद्ध चिच्छक्तिरूप बन जाता है जिसको श्रीपराशक्तिकी सहचरी बनना अथवा गोपी-भाव कहते हैं। जो कदापि शारीरिक न होकर शुद्ध आध्यात्मिक है। शरीरसे कोई स्त्री अथवा गोपी हो नहीं सकता, किन्तु शुद्ध आत्मा श्रीभगवान्‌की शक्ति ही है।

स्मरण रहे कि मनुष्य-शरीर भी छोटा ब्रह्माण्ड है अर्थात् जितनी वस्तु ब्रह्माण्डमें है वे सब बीजरूपमें शरीरमें भी हैं,

जिसके कारण इसका नाम पिण्डाण्ड है। साकेत, गोलोक, कैलास आदि जो श्रीभगवान्‌के लोक हैं वे इस शरीरमें हृदयमें हैं और इस हृदयमें भी श्रीभगवान् वास करते हैं। 'हृदि अयं हृदयम्' अर्थात् हृद् देशमें श्रीभगवान् हैं इसीलिये 'हृदय' नाम हुआ। अतएव बिना हृदयकी आध्यात्मिक गुहामें प्रवेश किये कोई सीधे साकेत अथवा गोलोकमें न जा सकता है और न श्रीभगवान्‌का सम्बन्ध, दर्शन और मिलन प्राप्त कर सकता है। अतएव हृदय मुख्य है जिसको निर्मल, पवित्र, जाग्रत् और करुणापूर्ण प्रेममय बनाना चाहिये, जिसके होनेपर श्रीसद्‌गुरु उसके गुह्यभागके द्वारको खोलकर भीतर प्रवेश करवा देंगे। श्रीसद्‌गुरुकी कृपासे अज्ञानान्धकारके दूर हुए बिना साधारण हृदयका भी पता और अवलोकन नहीं हो सकता, इसका गुह्यभाग तो दूर रहे। श्रीकबीर आदि महात्माओंने अन्तरके अनुपम दृश्य, झाँकी और आनन्दके अनुभवका बड़ी सुन्दरतासे वर्णन किया है जो परम सत्य है और वर्तमान कालमें भी योग्य भावुकोंको उसका अनुभव होता है।

ठीक समयपर यह प्रेमदीक्षा हृदयमें अन्तरात्माको श्रीसद्‌गुरुद्वारा दी जाती है। अबतक भावुक हृदयके प्रेमसरोवरके किनारेतक ही रहता था और उसके कणमात्रके स्पर्शसे गुजारा करता था; किन्तु अब श्रीसद्‌गुरुकी कृपासे वह निर्भय होकर श्रीसद्‌गुरुके हस्तकमलका आश्रय लेकर हृदयके प्रेमसरोवरमें प्रवेशकर स्नान करता है जिससे वह प्रेम (रस) मय

होकर गोपीभाव प्राप्त करता है अर्थात् तब वह प्रेमका रूप ही हो जाता है। ब्रह्मोपनिषद्का वचन है—

नेत्रे जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समादिशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं तद्विलक्षणम्॥

'जीवात्माका वास जाग्रत् अवस्थामें नेत्र, स्वप्नमें कण्ठ, सुषुप्तिमें हृदय और तुरीयामें इससे विलक्षण है।' जीवात्मा स्वप्नके बाद कभी-कभी स्वयं सुषुप्ति-अवस्थामें जाता है किन्तु दीक्षाकी साधनासे विहीन रहनेके कारण उसके अनुभवका उसे ज्ञान नहीं रहता है, केवल आनन्दकी स्मृति रह जाती है। सुषुप्ति केवल लयकी अवस्था नहीं है, किन्तु अपनी इच्छासे जब चाहे तब सुषुप्ति-अवस्थामें जाकर वहाँका अनुभव भी जागृतिमें बना रहे यह साधारण लोगोंमें नहीं है। श्रीसद्गुरु दीक्षाद्वारा जब हृदयके अन्धकारको दूरकर प्रकाश कर देंगे तबसे वहाँके अनुभवकी स्मृति जीवात्माको जाग्रत्-अवस्थामें भी रहेगी। साधारण सुषुप्तिमें भी मनुष्य हृदयके बाह्य भागहीमें स्थित होता है किन्तु श्रीसद्गुरुद्वारा प्रेमदीक्षा पानेपर जब वह उसके गुह्यभाग अर्थात् अन्तःपुरमें जिसको मानसरोवर भी कहते हैं प्रवेश करता है वही तुरीयावस्था और गोपीभाव है।

पद्मपुराणके पातालखण्डमें कथा है कि अर्जुनके श्रीभगवान्के निज लोकके रहस्य और उसमें प्रवेशकी उत्कण्ठा होनेपर श्रीभगवान्ने उनको श्रीत्रिपुरसुन्दरी (पराशक्ति)

की उपासना करनेका उपदेश दिया। श्रीभगवान्ने अर्जुनको ऐसा कहा—

> यस्यां सर्वं समुत्पन्नं यस्यामद्यापि तिष्ठति।
> लयमेष्यति तां देवीं श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीम्॥
> आराध्य परया भक्त्या तस्मै स्वं च निवेदय।
> तां विनैतत्पदं दातुं न शक्नोमि कदाचन॥

'जिससे सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है, जिसमें अब भी स्थित है, जिसमें लय होगा, उन त्रिपुरसुन्दरी (पराशक्ति) को पराभक्ति (प्रेमयज्ञ) से आराधना कर उन्हींमें आत्मनिवेदन करो। विना उनकी कृपाके मैं तुमको परमपद (विहार-लीला) में युक्त करनेमें असमर्थ हूँ।' अर्जुनके उपासना करनेपर और पराशक्तिमें अपनेको समर्पण करनेपर ऐसी आज्ञा हुई—

> ततो मयि प्रसन्नायां तवानुग्रहकारणात्।
> सद्यस्तु कृष्णलीलायामधिकारो भविष्यति॥

'श्रीदेवीने कहा कि मेरी प्रसन्नताके कारण तुम्हारे कल्याणके निमित्त तुमको शीघ्र श्रीकृष्णलीलामें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होगा।' इसके वाद श्रीपराशक्तिद्वारा नियोजित उनकी सहचरी श्रीसद्गुरुकी दीक्षासे दिव्य दृष्टि (आध्यात्मिक तृतीय चक्षु जिसका मुख्यकर हृदयसे सम्बन्ध है) को पाकर अर्जुनने श्रीभगवान्के दिव्यलोकको देखा जो सिद्धोंको भी अगोचर है। दिव्यलोकके दर्शनसे अर्जुन अचेत हो गये किन्तु उक्त श्रीसद्गुरु-रूपी शक्तिकी सहचरी जो उनके साथ थीं उन्होंने सचेत किया।

फिर सहचरीके उपदेशसे अर्जुनने वहाँके रम्य सरोवरमें स्नान किया और स्नानके वाद वाहर आनेपर अपनेको सुन्दरी वाला (शुद्ध चिच्छक्ति) के रूपमें पाया और पूर्व अवस्थाकी भावना एकदम विस्मरण हो गयी किन्तु देवीका सम्वन्ध विस्मरण नहीं हुआ। तब अर्जुनको दिव्यलोककी गोपियोंके दर्शन हुए और उन लोगोंकी सहायतासे वहाँके दो सरोवरोंमें स्नान करनेपर श्रीभगवान्‌की आज्ञासे श्रीराधाजीने उनको श्रीभगवान्‌के सन्निकट बुलवा लिया और तव उनको दर्शन मिले और वे नित्यलीलामें युक्त हुए। उक्त पुराणके ४४ वें अध्यायमें कथा है कि श्रीभगवान्‌के दिव्यलोकमें श्रीभगवान्‌की आज्ञासे श्रीब्रह्माजीने सद्गुरु वनकर श्रीनारदजीको अमृतसरोवरमें स्नान कराया (दीक्षा दी) जिसके वाद वे स्त्रीरूपमें परिणत हो गये और ऐसा परिवर्तन होनेपर ही श्रीपराशक्तिकी कृपासे उनको श्रीभगवान्‌के दर्शन हुए। श्रीनारदजीकी कथामें लिखा है कि श्रीवृन्दावनकी यमुना सुषुम्ना नाडी है। जैसा कि 'कालिन्दीयं सुषुम्ना या परमामृतवाहिनी।'

गर्गसंहिताके गोलोकखण्डमें कथा है कि श्रीमहारासके समयमें जव रासस्थलमें श्रीरुद्र और श्रीआसुरि मुनिका आगमन हुआ और जब उन लोगोंने रासके देखनेकी इच्छा प्रकट की तो प्रहरी गोपियोंद्वारा वे रोक दिये गये और कहा गया कि रासमण्डल-में केवल एक पुरुष श्रीभगवान् हैं और वहाँ बिना गोपीयूथके दूसरा कोई नहीं जा सकता; किन्तु यदि आपलोग इसमें प्रवेश

करना चाहते हैं तो मानसरोवरमें स्नान करें जिससे गोपीरूपकी प्राप्ति होगी और तभी लीलाकी परिधिमें प्रवेश पा सकते हैं। यह गोपीभाव प्राप्त करना शरीरसे गोपी होना नहीं है। शरीर आदिमें जो अहंभाव है उसको त्यागकर शुद्ध आत्मामें स्थित होना गोपीभाव है। गोपीभाव आत्माको प्राप्त होता है जब अहंकार, ममता, अज्ञानको त्यागकर शुद्ध जीवात्मा अपनेको श्रीभगवान्‌में अर्पित करता है।

उपासकको श्रीउपास्यमें युक्त करनेके लिये श्रीजगद्‌गुरु शिवको योग-ज्ञानके सिवा प्रेमकी दीक्षा भी देनी पड़ती है।

ऊपरकी कथाओंमें इस अवस्थाके भावुककी आन्तरिक अवस्थाका रूपकमें वर्णन है। आत्मनिवेदन करनेपर श्रीपरा-शक्ति और श्रीसद्‌गुरुकी कृपासे प्रथम प्रेमदीक्षाद्वारा श्रीशिवका तृतीय नेत्ररूपी दिव्य (आध्यात्मिक) चक्षुके जाग्रत् होने और खुलनेसे वह हृदयके अष्टदलकमलमें जो श्रीउपास्यका दिव्यलोक है उसमें प्रवेश करता है और फिर वहाँके प्रेमसरोवरमें स्नानकर अर्थात् वहाँ ही द्वितीय दीक्षा पाकर वह पुरुषभावसे नितान्त मुक्त हो जाता है; अर्थात् अन्तरात्मा अहंकारभावसे पूर्ण मुक्त हो जाता है। इसकी पूर्वकी अवस्थामें भावुकको दिव्य लोककी झलक और उसके प्रेमसरोवरके रसकी कणाका आस्वाद मिलता था किन्तु उसमें प्रवेश करनेमें वह समर्थ नहीं था।

इस आत्मनिवेदनके बाद श्रीसद्‌गुरुकी दीक्षासे वह गोपी-भाव प्राप्त करता है। फिर उसकी दो और दीक्षाएँ होती हैं और

तब ऐसा भावुक यदि श्रीकृष्णोपासक है तो श्रीराधाजीकी कृपासे उनकी सहचरी बनकर श्रीभगवान्‌की नित्य गोलोक (वृन्दावन) लीलामें प्रवृत्त होता है जो उसके हृदयमें ही हो रही है। यदि भावुक विष्णुभक्त है तो हृद्देशके वैकुण्ठमें श्रीलक्ष्मीजीकी सहचरी बनकर श्रीभगवान्‌की नित्यलीलामें प्रवेश करेगा। श्रीरामोपासक हृद्देशके साकेतमें श्रीसीताजीकी सहचरी बनकर नित्य विहार-लीलामें युक्त होंगे। श्रीशिव अथवा शक्तिके उपासक हृद्देशके कैलास क्षेत्रमें श्रीपार्वतीजीकी सहचरी बनकर नित्य विहारलीलामें स्थान पावेंगे। यह गोपीभाव शुद्ध आध्यात्मिक है और केवल श्रीसद्गुरुकी साक्षात् प्रेमदीक्षासे प्राप्त होता है। वहाँ (पातालखण्डमें) गोपियोंके विषयमें लिखा है—

एताः श्रुतिगणाः ख्याता एताश्च मुनयस्तथा ॥
अत्र राधापतेरङ्गात् पूर्वा याः प्रेयसीतमाः ॥
अतः परं मुनिगणास्तासां कतिपया इह ।
इयमुग्रतपा नाम एषा बहुगुणा स्मृता ॥

'[दिव्यलोकमें किसी गोपीने अर्जुनसे कहा—] इन गोपियोंमेंसे ये श्रुतियाँ कही जाती हैं और ये मुनिगण हैं। पूर्वमें जिन (व्रजबालाओं) का नाम आया है वे भगवान्‌की परम प्रियतमा हैं और उन राधावल्लभके ही शरीरसे उत्पन्न हुई हैं (अर्थात् चिच्छक्ति हैं)। इनके बाद मुनि-रूपा गोपियाँ हैं उनमेंसे कुछ यहाँ हैं—यह उग्रतपा हैं [अर्थात् इसने बड़ी तपस्या की है] और इसका नाम बहुगुणा (अनेकगुणवाली) है।'

उक्त पातालखण्डमें श्रीभगवान् और रुद्रका संवाद है जिसमें श्रीभगवान्का वाक्य है—

सखायः पितरो गोपा गावो वृन्दावनं मम।
सर्वमेतन्नित्यमेव चिदानन्दरसात्मकम् ॥
इदमानन्दकन्दाख्यं विद्धि वृन्दावनं मम।
यस्मिन् प्रवेशमात्रेण न पुनः संसृतिं विशेत् ॥
वृन्दावनं परित्यज्य नैव गच्छाम्यहं क्वचित्।
निवसाम्यनया सार्द्धमहमत्रैव सर्वदा ॥
सकृदावां प्रपन्नो यस्त्यक्तोपाय उपास्यते।
गोपीभावेन देवेश! स मामेति न चेतरः ॥

'इस (आध्यात्मिक) भावमें मेरे सखा, पिता, माता, गोपगण, गौ, वृन्दावन ये सब नित्य चिदानन्द रसात्मक हैं। इस आनन्दकन्दभावको वृन्दावन समझो जिसमें प्रवेश करने-मात्रसे फिर संसारबन्धनमें नहीं पड़ता है। मैं वृन्दावनको त्यागकर कहीं अन्यत्र नहीं जाता हूँ, यहाँ अपनी विद्याके साथ सदा रहता हूँ। जो हम दोनोंमें (श्रीउपास्य और उनकी शक्ति) एक बार निवेदन करके और अनन्यभावके कारण दूसरे उपाय-को त्यागकर गोपीभाव (शुद्ध चिच्छक्ति) बनकर मेरी उपासना करता है वह मुझको प्राप्त करता है, अन्यको नहीं।' ऊपरके वचनोंसे इस भावकी आध्यात्मिकता भलीभाँति स्पष्ट सिद्ध होती है।

व्रजकी गोपियोंने भी श्रीभगवान्की प्राप्तिके लिये श्रीकात्या-

यनी (पराशक्ति) की आराधना की और गर्गसंहितामें लिखा है कि श्रीराधाजीने भी सनातन प्रथाके अनुसार श्रीभगवान्‌की प्राप्तिके लिये श्रीतुलसीकी आराधना की ।

इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिये श्रीसद्‌गुरु और पराशक्तिकी प्रत्यक्ष सहायताकी आवश्यकता है। अबतक श्रीसद्‌गुरु भावुकके हृदयमें अपने तेजको प्रेषणकर और आवश्यक भावनाको उत्पन्न-कर सहायता करते थे और कभी-कभी अन्तरमें दर्शन भी देते थे किन्तु इस अवस्थामें श्रीसद्‌गुरु हृद्देशमें प्रत्यक्ष होकर और पराशक्तिकी विशेष ज्योतिको वहाँ जाग्रत्‌कर अन्तरात्माको दीक्षा देते हैं और अन्तरस्थ चक्रोंकी शक्तियोंको स्वयं जाग्रत्‌कर भावुककी अन्तरात्माको गोपीभाव (चिच्छक्तिरूप) में परिवर्तित कर देते हैं ।

ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, अ० ११० में कथा है कि श्रीभगवान्‌ने श्रीनन्दयशोदाको रहस्यके उपदेशके लिये श्री-राधाजी (पराशक्ति) के निकट भेजा । श्रीभगवान्‌ने श्रीयशोदा-से कहा—

भक्तात्मकं च यज्ज्ञानं तुभ्यं राधा प्रदास्यति ।
तस्याश्च मानवं भावं त्यक्त्वाशां च करिष्यति ॥
नन्दाय दत्तं यज्ज्ञानं तच्च तुभ्यं प्रदास्यति ।
गच्छ नन्दव्रजं मातर्नन्देन सह सादरम् ॥

'श्रीभगवान्‌ने कहा कि हे माता ! भक्तिसम्बन्धी ज्ञान तुमको श्रीराधाजी देंगी । उनको मनुष्य न मानकर उनकी

आज्ञाका पालन करो। जो ज्ञान उन्होंने श्रीनन्दजीको दिया वह तुमको भी देंगी। अतएव श्रीनन्दजीके साथ व्रजमें जाओ।'

इस भावकी मुख्य अधिष्ठात्री श्रीपराशक्तिकी किस प्रकार प्रसन्नता लाभ होगी यह कहा जा चुका है। सारांश यह है कि प्रत्येक जीवात्मा पराशक्तिकी चिच्छक्तिमात्र (सहचरी) है और प्रेमयज्ञ अथवा विहारलीलामें सहायता करनेके लिये ही उसका प्रादुर्भाव हुआ और उसकी सब शक्तियाँ श्रीपराशक्तिकी शक्तियाँ हैं। इस सम्बन्ध और उद्देश्यको भूलकर जीवात्माको अहंकार (पुरुषभाव) के कारण उन शक्तियोंको अपनी वस्तु मान उनको प्रेमयज्ञमें नियोजित न कर, जिसके निमित्त वे दी गयीं, उस यज्ञके विरुद्ध, स्वार्थसाधनमें प्रयोग करना, असुरभाव है, जिसका दमन करना पराशक्तिकी प्रसन्नताके लिये आवश्यक है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इस असुरभावका यों वर्णन है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥

(१६। ७)

'दम्भ दर्प, अभिमान, क्रोध, अतिनिष्ठुरता और अज्ञान आसुरी सम्पद्के छः गुण हैं; जो आसुरी सम्पत्सम्पन्न होकर जन्म ग्रहण करते हैं उनको ये सब आश्रय करते हैं।' दैवीसम्पत्ति (देखो गीता अ० १६ श्लोक १ से ३ तक) द्वारा आसुरी सम्पत्तिका पराभव करने और काम क्रोध लोभका बलिदान देनेसे पराशक्तिकी विशेष प्रसन्नताका लाभ होता है। पराशक्तिके

भी अनेक भाव हैं। श्रीकालीशक्तिकी क्रियाशक्ति अर्थात् कर्मयोग (पञ्चमहायज्ञादि निष्काम कर्म) द्वारा आसुरीभाव (तमोगुण) का पराभव होता है और यही मार्कण्डेयपुराणकी सप्तशतीके युद्धका आन्तरिक तात्पर्य है। श्रीगायत्रीकी ज्ञानशक्ति (ज्ञानयोग) द्वारा स्वार्थ (रजोगुण) का पराभव होता है, और श्रीलक्ष्मी, श्रीपार्वती, श्रीसीता अथवा श्रीराधाजीकी आनन्दमयी शक्ति (भक्तियोग) द्वारा सत्त्वगुणका पराभव होकर शुद्ध प्रेम (भक्ति) की प्राप्ति होती है जो तीनों गुणसे परे है। इस आनन्दमयी शक्तिको इच्छाशक्ति और कामशक्ति भी कहते हैं और यही शक्ति सृष्टिका बीज है। इसी कारण श्रीउपास्य और उनकी आनन्दमयी शक्तिके सम्बन्धको विहारलीला अथवा प्रेमयज्ञ कहते हैं। इस शक्तिकी गायत्रीका नाम कामगायत्री है और बीजका नाम कामबीज है, क्योंकि यह शुद्ध आनन्दभाव है। यथार्थ काम यह आनन्दभाव ही है और नश्वर सुख जो रजोगुणके विषयके सम्बन्धद्वारा मिलता है वह इसकी छाया-मात्र होनेके कारण स्पृहा अथवा अशुद्ध काम है, कदापि आनन्द नहीं है।

श्रीपराशक्ति जब व्यक्तभाव धारण करती हैं तो वह स्वयं भक्तोंके बोधके लिये इस भावको प्रकट करती हैं। श्रीसती और श्रीपार्वतीजीने दक्ष और हिमवान्के गृहमें जन्म लेकर इस भावको दिखलाया। श्रीसतीने दक्ष-यज्ञमें श्रीमहादेवकी निन्दा सुनते ही योगाग्निसे अपने शरीरको इसलिये दग्ध किया कि वह शरीर शिवनिन्दक पितासे सम्बन्ध रखता था।

श्रीपार्वतीजीने सप्तर्षिद्वारा श्रीमहादेवके संग विवाह करनेसे विरत होनेके लिये उपदेश पाकर उन्हें जो नीचे दी हुई बात कही वह इस भावकी अनन्यताकी उत्तम निष्ठा है—

जनम कोटि लगि रगर हमारी। बरौं संभु न तु रहौं कुमारी ॥
तजौं न नारद कर उपदेसू। आप कहहिं सत बार महेसू ॥

परम पावन श्रीरामावतारमें मधुरोपासनाके लिये बहुत उत्तम सामग्रियाँ संसारको मिलीं। श्रीभगवान्‌के जितने गुण और भाव हैं सबोंके बड़ी सुन्दरतासे इसमें विकास हुए। इस अवतारके अनुपम भाव और रहस्यका वर्णन ठीक-ठीक कौन कर सकता है? यहाँ संक्षेपमें कुछ दिखलाया जाता है और इसमें प्रमाण केवल गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके श्रीरामचरितमानससे लिया गया है। श्रीभगवान्‌के मनोहर रूपका प्रभाव जो श्रीजनकजीपर पड़ा उसका वर्णन यों है—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भये बिदेह बिदेह बिसेखी ॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि सोइ कि आवा ॥
सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥
इनहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा ॥
सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँद हू के आनँददाता ॥

श्रीभगवान्‌को देखकर जनकपुरके नर-नारी, बालकोंमें प्रेमका उपजना, श्रीचित्रकूटमें कोल-भीलोंमें भी श्रीभगवान्‌के प्रति प्रेमका उत्पन्न होना और उस प्रेमको सेवाद्वारा प्रकाशित करना, और वन-पयानके समय ग्रामवासियोंके चित्तमें प्रेमका उद्रेक होना, इस मधुरभावका ही प्रभाव है, क्योंकि ये सब उनको श्रीभगवान्

न जान केवल मनुष्य मानकर उनके मधुरभावके कारण ही आसक्त हुए। वनगमनके समयके मार्गके पुरवासियोंके भावका वर्णन यों है—

सुनत तीरवासी नरनारी। धाये निज निज काज बिसारी॥
राम लषण सिय सुन्दरताई। देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई॥
राम लषण सिय रूप निहारी। सोच सनेह विकल नर नारी॥
करि केहरि बन जाहिं न जोई। हम सँग चलहिं जो आयसु होई॥
जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई। फिरब बहोरि तुमहिं सिर नाई॥
सुनि सब बाल बृद्ध नरनारी। चलहिं तुरत गृह काज बिसारी॥
राम लषन सिय रूप निहारी। पाइ नयन फल होहिं सुखारी॥
सजल नयन अति पुलक सरीरा। सब भये मगन देखि दोउ बीरा॥
बरनि न जाइ दसा तिन केरी। लही रंक जनु सुरमनि ढेरी॥
एकहिं एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छन एहीं॥
रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥
एक नयन मगु छबि उर आनी। होहिं सिथिल तन मानस बानी॥
एक कलस भरि आनहिं पानी। अँचइय नाथ कहहिं मृदुबानी॥
मुदित नारिनर देखहिं सोभा। रूप अनूप देखि मन लोभा॥
इक टक सब जोवहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद्र चकोरा॥
तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत काम कोटि मन मोहा॥
राम लषन सिय सुंदरताई। सब चितवहिं मन बुधि चित लाई॥
थके नारि नर प्रेम पियासे। मनहु मृगी मृग देखि दियासे॥
एक कहहि यह सहज सुहाये। आपु प्रगट भे बिधि न बनाये॥
जहँ लगि वेद कहहिं विधि करनी। श्रवन नयन मन गोचर बरनी॥
देखहु खोजि भुवन दस चारी। कहँ अस पुरुष कहाँ अस नारी॥

इहि बिधि कहि कहि बचन प्रिय, लेहिं नयन भरि नीर।
किमि चलिहैं मारग अगम, सुठि सुकुमार सरीर॥

परसत मृदुल चरन अरुनारे । सकुचति महि जिमि हृदय हमारे ॥
जो जगदीस इनहिं वन दीन्हा । कस न सुमनमय मारग कीन्हा ॥
जो माँगे पाइय विधि पाहीं । राखिय सखि इन आँखिन माहीं ॥
जे नर नारि न अवसर आये । ते सियराम न देखन पाये ॥
सुनि सरूप पूछहिं अकुलाई । अब लगि गये कहाँ लगि भाई ॥
समरथ धाइ विलोकहिं जाई । प्रमुदित फिरहिं जन्म फल पाई ॥

अवला बालक वृद्ध जन, कर मीजहिं पछिताहिं ।
होहिं प्रेमबस लोग इमि, राम जहाँ तहँ जाहिं ॥

सुख पायो विरंचि रचि ते ही । ये जेहिके सब भाँति सनेही ॥
खग मृग मगन देखि छवि होहीं । लिये चोरि चित राम बटोही ॥
अजहुँ जासु उर सपनेहु काऊ । बसहिं राम सिय लषन बटाऊ ॥
राम धाम पथ पाइहि सोई । जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई ॥

श्रीचित्रकूटके कोल भील किरातोंके प्रेमका वर्णन उनकी उक्तिद्वारा यों है—

धन्य भूमि वन पंथ पहारा । जहँ जहँ नाथ पाँव तुम धारा ॥
धन्य विहँग मृग काननचारी । सुफल जनम भये तुमहिं निहारी ॥
हम सब धन्य सहित परिवारा । देखि नयन भरि दरस तुम्हारा ॥

बेद वचन मुनि मन अगम, ते प्रभु करुनाऐन ।
वचन किरातनके सुनत, जिमि पितु बालक वैन ॥

इस अवतारमें श्रीभगवान्‌का गुह निषादको मित्र बनाना, शबरीके जूठे फलका खाना, पक्षी काकभुशुण्डिको भक्ति प्रदान करना, पिताकी आज्ञा और सत्यके पालनके लिये वनवासका कष्ट प्रसन्नतासे सहकर संसारका उपकार करना, भालू-बंदरोंसे मित्रता करना, शत्रुके बन्धु राक्षस विभीषणको शरणागति देना

आदि परम मधुरभाव हैं। मधुरभावका तत्त्व है कि इसमें उपासक श्रीउपास्यके मधुर (त्याग-करुणा) भावसे स्वयं आकर्षित होकर, निष्काम प्रेम-सेवाके लिये आत्मनिवेदन करता है और श्रीउपास्य भी उपासकके आन्तरिक प्रेम और त्यागके कारण, न कि भोग, द्रव्य आदि वाह्य उपहारके लिये, आकर्षित होते हैं। श्रीभगवान्‌ने दुर्योधनके घरमें परमोत्तम भोगको छोड़कर विदुरके घरमें भाजी खायी। थोड़े समय पूर्व यह देखा गया कि व्रजमें श्रीठाकुर-जी किसी श्रीगोस्वामीजीके परमोत्तम भोगको न ग्रहणकर एक गरीब साधुके यहाँ जो जौकी सूखी रोटी भोग लगती थी, उसको भोग लगाते थे। इस भावमें भावुक श्रीउपास्यको अपने प्रेमानन्द-का उपहार सेवाके लिये समर्पण करता और श्रीउपास्य उसको प्रसाद बनाकर उसको जगत्‌के हितके लिये वितरण करते हैं।

श्रीभरत, श्रीलक्ष्मणजी, श्रीहनुमान्‌जी आदि कृपापात्रोंका त्याग इस अवतारमें परम मधुर और प्रेमभावका द्योतक है। श्रीसीताजीके वनवासके दुःखको परम सुख मानना, लङ्कामें हरण होनेपर अपने प्राणके वियोगकी पूरी सम्भावना आनेपर भी श्रीभगवान्‌पर निर्भर रहना, उनके मधुरभावका अवश्य परमो-त्कृष्ट पवित्र उदाहरण है। किन्तु गर्भावस्थामें वनमें त्यागी जानेपर भी उसको श्रीभगवान्‌के यशकी रक्षाके लिये उत्तम ही समझना और उसके लिये तनिक भी शोकित न होकर बड़ी प्रसन्नतासे वनवासके कष्ट सहन करना ऐसा मधुरभाव है कि इसके विषयमें यही कहना अलम् है कि 'न भूतो न भविष्यति'। मधुरभावकी पुष्टिके

लिये वियोग आवश्यक है। इसकी भी श्रीसीताजीके इन दो बारके वियोगसे और भी श्रीलक्ष्मणजीके त्यागसे बड़ी सुन्दरतासे पूर्ति हुई। लङ्कामें श्रीसीताजीकी अग्नि-परीक्षाका तात्पर्य है कि भावुक प्रेमाग्नि और शोकाग्निमें पड़नेपर भी ज्यों-का-त्यों रहे, अपने भावसे न डिगे, तभी वह परीक्षामें उत्तीर्ण होता है।

रावण भी श्रीरघुनाथजीका वैरी भक्त था और उसकी निरन्तर इच्छा थी कि श्रीभगवान्‌के हस्तकमलसे मेरा वध हो और मैं उनके समक्ष शरीरका त्याग करूँ। श्रीभगवान्‌ने उसकी इस इच्छाको पूर्णकर उसपर अपनी करुणाका ही प्रदर्शन किया। वैरी भक्त भी वैरभावके कारण दिनरात अपने चित्तको श्रीभगवान्‌में ही संलग्न रखता है जिस सतत चिन्तनका उत्तम फल उसको अवश्य मिलता है।

श्रीभगवान् जो अपनी परम प्रियतमा पराशक्तिके सम्बन्धसे प्रेम-यज्ञ अथवा परम पावन अनादि विहारलीला करते हैं उसका भी अभिनय श्रीचित्रकूटमें किया गया। विनयपत्रिकामें श्रीचित्रकूट-के विषयमें यों लिखा है—'भूमि बिलोकु रामपदअङ्कित, बन बिलोकु रघुबर बिहार थल।' श्रीचित्रकूटकी रहस्यलीलाका यों उल्लेख है—

पर्णकुटी प्रिय प्रीतम संगा। प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा॥
सीय लपन जेहि बिधि सुख लहहीं। सोइ रघुनाथ करैं जोइ कहहीं॥
एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निज कर भूपन राम बनाये॥
सीतहिं पहिराये प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला परमाधर॥
रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित करत श्रुति सुधा समाना॥

श्रीजानकीजीके हरण होनेपर श्रीभगवान्‌ने श्रीहनुमान्‌जी-द्वारा उनके पास ऐसा संदेशा भेजा—

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एक मन मोरा ॥
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं । जानु प्रीतिरस इतने माहीं ॥

ऊपरका वाक्य श्रीभगवान् और उनकी शक्तिके अनादि प्रेम-सम्बन्धका सूचक है ।

लङ्कामें रहनेके समय श्रीसीताजीकी दशाका जो समाचार श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरघुनाथजीको कहा वह इस मधुरभावके भावुकके चित्तका ठीक द्योतक है—

नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन निज पद यन्त्रिका, प्रान जाहिं केहि बाट ॥

श्रीभगवान्‌के इस परमपावन अवतारका स्वयं नाम ही ऐसा मधुर है कि इसके प्रेमपूर्वक उच्चारण-श्रवणसे ही भक्तिभावका सञ्चार अनायास होता है और कलियुगके लोगोंके त्राणके लिये तो यह महामन्त्र है जिसके उपदेशसे श्रीमहादेवजी काशीमें लोगोंको मुक्तिके मार्गमें पदार्पण करवाते हैं । आत्मनिवेदनशील अथवा मधुरभावके भक्तका तो यह नाम प्राण है । जब हिरण्य-कशिपुकी आज्ञासे होलिका राक्षसीने बालक श्रीप्रह्लादको गोदमें लेकर अग्निमें प्रवेश किया तो होलिका जो अग्निसे जलनेवाली नहीं थी वह तो जल गयी किन्तु भक्त प्रह्लादका इस रामनामके प्रभावसे एक रोम भी दग्ध नहीं हुआ । तब श्रीप्रह्लादने पितासे ऐसा कहा—

रामनाम जपतां कुतो भयं
पावनैकभवतापभेषजम्
पश्य तात मम गात्रसन्निधौ
पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ॥

श्रीरामनामके जप करनेवालेको क्या भय है जो परमपावन और संसार-तापकी ओषधि है। पिताजी! देखिये, मेरे शरीरके निकट अग्नि भी जलके समान हो गयी। श्रीभगवान् रामचन्द्र आदर्श पुत्र, आदर्श पति, आदर्श भ्राता, आदर्श प्रभु, आदर्श मित्र, आदर्श पिता, आदर्श शिष्य, अर्थात् सब प्रकारसे आदर्श हुए।

द्वापरके अन्तमें, विशेषकर कलियुगके जीवोंके हितके लिये श्रीकृष्णावतार हुआ। महाविष्णुके सब अवतार और भाव यथार्थमें एक हैं, उनमें भेद नहीं है। भिन्न-भिन्न समयकी आवश्यकताके अनुसार भगवान् भिन्न-भिन्न रूप धारण किया करते हैं। अतएव श्रीरामावतार और श्रीकृष्णावतारमें वास्तविक भेद नहीं है। विशेषकर कलियुगके लिये दोनों अवतार आदर्श हैं। इसी कारण कलिसंतरणोपनिषद्में जो नामका महामन्त्र कलियुगके लिये उक्त है उसमें दोनों अवतारोंका नाम है। गर्गसंहिताका वचन है—

त्वं रामचन्द्रो जनकात्मजेयं
भूमौ हरिस्त्वं कमलालयेयम्।
यज्ञावतारोऽसि यदा तदेयं
श्रीदक्षिणा स्त्री प्रतिपत्निमुख्या ॥

(गोलोक खं० १६। २३)

श्रीकृष्णचन्द्रो रघुवंशचन्द्रमा
यदा तदा त्वं जनकस्य नन्दिनी ।
(मथुराखण्ड अ० १५ । ३२)

श्रीब्रह्माजीने श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा कि जब आप श्रीभगवान् श्रीरामचन्द्र थे तो श्रीराधाजी श्रीजानकीजी थीं और जब आप श्रीविष्णु थे तो वे श्रीलक्ष्मी थीं और जब आप यज्ञपुरुष थे तो वे दक्षिणा थीं । श्रीउद्धवने श्रीराधाजीसे कहा कि जब श्रीकृष्णचन्द्र श्रीरघुनाथजी थे तब आप श्रीजानकीजी थीं ।

गोपीभावकी प्रस्तावना

श्रीकृष्णावतारके बाद ही कलियुग आनेवाला था अतएव इस अवतारमें, विशेषकर कलिके अल्पज्ञ लोगोंके हितके लिये, चरित्र किये गये । कलियुगमें विरक्त धर्मका निर्वाह कठिन होगा ऐसा जान श्रीभगवान्ने श्रीअक्रूर, श्रीउद्धव और श्रीअर्जुन आदि गृहीजनोंको अपना सखा बना और ज्ञान-भक्तिका उपदेश करके दिखला दिया कि कलिमें गृहस्थाश्रममें रहकर भी श्रीभगवान्की परम भक्तिकी प्राप्ति सम्भव है । इसी प्रकार कलियुगके लोग प्रेमके तत्त्वको ठीक-ठीक नहीं समझ सकेंगे, ऐसा जान आत्म-निवेदन करनेवाले भक्तोंको गोपीरूपमें व्रजमें प्रकटकर इस प्रेम-भक्तिके मार्गको भलीभाँति उनके पावन चरित्रद्वारा प्रकट करवा दिया गया । गर्गसंहितामें कथा है कि स्वयं श्रुतियों, सिद्धों और मुनिगणोंने ही व्रजमें गोपीरूपमें अवतार लिया था । वे गोपियाँ प्रेमका स्वरूप ही थीं । और भी लिखा है कि गोपियाँ वेदकी ऋचाएँ थीं ।

मधुरभावका पूर्ण विकास करना इस अवतारका मुख्य उद्देश्य है जो बड़ी सुन्दरतासे पूर्ण हुआ। मधुरभावमें त्याग आवश्यक है जो श्रीरामावतारकी भाँति यहाँ भी दिखलाया गया। श्रीभगवान्का स्वयं जन्म कारागारमें हुआ जहाँ उनके माता-पिता बन्दी थे और उनके माता-पिताको बाललीलाके निरीक्षणका आनन्द त्यागकर उसे श्रीनन्द-यशोदाको देना पड़ा। जब बाल्यावस्थामें गोकुलमें पूतना आदिके अनेक भय होने लगे तो श्रीनन्दजी सपरिवार अपनी प्रिय जन्म-भूमि गोकुल छोड़कर श्रीवृन्दावनकी ओर चले गये।

श्रीवृन्दावनमें श्रीभगवान्की मधुर उपासना बाल्यावस्थाके समयकी ही की जाती है जहाँ मधुरभावकी सब सामग्रियाँ एकत्र थीं। व्रजभूमि और श्रीयमुनाजी इस समय भी परम रम्य और मनोहर हैं। फिर श्रीभगवान्के आगमनके समयका तो कहना ही क्या है? इस समय भी व्रजके समान भावुक लोग कहीं अन्यत्र नहीं जान पड़ते और वहाँकी भाषा और उसकी कविता अब भी परम मधुर है। सब जातियोंमें गोप अर्थात् वैश्यजाति विशेष दयालु और परोपकारी होती है, अतएव इसी जातिको श्रीभगवान्की बाललीलाकी क्रीड़ा देखने और उसमें योग देनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। गौसे अधिक उपयोगी और उपकारी जीव संसारमें नहीं है, क्योंकि उसके दूध, घृत, मूत्र, विष्ठातक परम उपयोगी हैं। शास्त्रवचन है कि गोशाला सदा पवित्र है और वहाँ भोजनके निमित्त चौका करनेकी आवश्यकता नहीं है। अतएव श्रीभगवान्ने गौकी सेवा करके मधुरभावका उत्तम उदाहरण संसारको दिखलाया।

वृक्षोंमें भी परम सुन्दर कदम्ब वृक्ष है और इसी सुन्दर वृक्षसे श्रीभगवान्‌ने अधिक सम्बन्ध रक्खा। दृश्योंमें वनका दृश्य अवश्य अपूर्व होता है, और वन पत्र, फल, फूल, लकड़ी आदिद्वारा मनुष्यको और चारा आदिके द्वारा पशुको तृप्त करता है; इसके अतिरिक्त वर्षाकालमें आश्रय देकर सहायता करता है अतएव अवश्य मधुर और उपकारी है। इसी कारण श्रीभगवान् अधिकतर वनमें रहते थे, वनके फूलोंकी ही माला धारण करते थे, और लीला भी वहीं की गयी। उनका नाम ही वनविहारी है। सब वर्णोंमें पीत वर्ण परमोत्तम है, यह प्रेमका वर्ण है, अतएव श्रीभगवान्‌का वस्त्र पीत है। पक्षियोंमें मोर सुन्दर पक्षी है और वह भी मेघका परम प्रेमी है, अतएव उसके पक्षका मुकुट श्रीभगवान्‌ने मस्तकपर धारण किया। बाल्यावस्था सब अवस्थाओंमें निर्दोष चिन्ताहीन, सुखमय होती है और स्त्रियाँ दयार्द्र और त्यागशीला होती हैं, अतएव श्रीभगवान्‌ने गोपबालकों और गोपियोंको अपने संगद्वारा शिक्षा दी। बाजेमें वंशीसे उत्तम किसीकी ध्वनि नहीं है, अतएव उन्होंने वंशीको धारण किया। ऐसे परम मधुर श्रीभगवान्‌के व्रजके समान मधुर स्थानमें मधुर गोप सखाके संग मधुर गोमाताकी मधुर सेवामें अनुरक्त रहते हुए और अपनी मधुर मुरलीकी मधुर ध्वनिसे लोगोंको तृप्त करते हुए परम मधुर गोपियोंने प्रेमके मधुरभावको साक्षात् दृश्य मानकर संसारको मधुरभावमें प्रवेश करनेका मार्ग सुगम कर दिया।

इस समयके लोगोंके लिये व्रजकी गोपियाँ प्रेमके आदर्श हैं जैसा कि नारदसूत्रमें भी लिखा है—'यथा व्रजगोपिकानाम्'

अर्थात् परम प्रेमके लिये व्रजकी गोपियोंका आचरण ही दृष्टान्त है। ठीक है, इन गोपियोंके संसारमें प्रकट करनेका मुख्योद्देश्य ही यही था, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। चूँकि यह मुख्य भाव है, और भक्ति-भावका प्रायः अन्तिम प्रकरण है, अतएव यहाँ पुनः उपसंहारकी भाँति भक्तिकी साधनाका दिग्दर्शन श्रीगोपियोंके चरित्रके सम्बन्धमें किया जायगा। आदर्श दिखलानेके निमित्त गोपियोंके पावन चरित्रमें भक्तिके भाव प्रारम्भिक अवस्थासे सिद्धावस्थातक दर्शित हैं।

स्मरण रहे कि श्रीभगवान्‌की साकार लीला ऐतिहासिक तो अवश्य है अर्थात् मर्त्यलोकमेंकी गयी है, किन्तु उसके द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वोंका प्रकाश किया गया है। ऐसी ही श्रीकृष्णलीला है। इसके आध्यात्मिक रहस्योंको समझनेके लिये यहाँ सृष्टि-तत्त्वका बहुत संक्षेपमें उल्लेख करना आवश्यक है। श्रीभगवान्‌की आदि शक्तिके संग क्रीडा (Vibration or Motion) द्वारा ज्योतिर्मय शब्द ब्रह्म (प्रणव-वंशी-ध्वनि) से यह सृष्टि हुई और चलती है। विज्ञानसे भी सिद्ध है कि किसी प्राकृतिक अथवा मानसिक क्रियाविशेषसे स्पन्दन अर्थात् शक्ति उत्पन्न होती है और इस शक्तिरूप स्पन्दन-(Vibration) का आकार शब्द (Sound) है, और जहाँ स्पन्दन और शब्द हैं वहाँ ज्योति भी है। सूर्यके पर्यायवाची 'रवि' शब्दका अर्थ ही शब्द करनेवाला है; अर्थात् सूर्यमें ज्योति है तो वहाँ शब्द भी है। इसी कारण गायत्री (शब्द) का सविता (ज्योति) से सम्बन्ध है। आधिभौतिक जगत्‌में भी यही क्रम है।

प्रथम अदृश्य शब्द स्पर्श (आकाशवायु), तब ज्योति (सूक्ष्म रूप और रस (अग्नि और जल) और अन्तमें गन्ध (पृथ्वी अर्थात् स्थूलरूप) क्रम यह है ।

(१) श्रीभगवान्, महेश्वर, श्रीमहाविष्णु, श्रीसदाशिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, अशब्द अर्थात् प्रणवकी तीसरी मात्रा 'म' सत् (परब्रह्मको अर्द्धमात्रा मानकर) हैं। (२) इनका 'एकोऽहं बहु स्याम्' रूपी प्रेम-संकल्प ही इनकी परा (आद्या) शक्ति प्रेमानन्दमयी चिच्छक्ति, परमज्योति, प्रणवकी दूसरी मात्रा 'उ' पराशब्द अर्थात् आद्याशक्ति श्रीलक्ष्मी, श्रीदुर्गा, श्रीसीता, और श्रीराधा हैं। श्रीभगवान्की अपनी पराशक्तिमें सृष्टि-संकल्परूपी प्रेमानन्द-शक्तिका सञ्चार करना ही प्रेम-यज्ञ अथवा लीला-विहार है और इसीको वंशीध्वनि भी कहते हैं। यह वंशीध्वनि अर्थात् शक्ति-सञ्चार-रूपी विहार-लीला (प्रेमोच्छ्वास) अथवा प्रेम-यज्ञ नित्य होता रहता है जो संसारकी स्थिति, जीवन और पालनका कारण है और जिसके रुकनेसे संसारकी गति रुक जायगी। यह ध्वनि (गायत्री) अर्थात् प्रेम-लीला अथवा यज्ञ (यज्ञका भी प्राण मन्त्र अर्थात् शब्द है) श्रीभगवान् और उनकी परम प्रिया पराशक्तिके एकत्र होनेसे होता है, अन्यथा केवल एकसे सम्भव नहीं है। (३) सत्-रूप महेश्वरके द्रष्टा होनेपर असत्-रूप मूल-प्रकृति, जो दृश्यकी भाँति होकर परब्रह्म (प्रणवकी अर्द्धमात्रा) को आवृत करती हुई-सी अध्यारोपित है और जिसके कारण इसे माया, अविद्या अथवा अपराशक्ति कहते हैं, त्रिगुण (रज, तम

और सत्त्व) में विभक्त होकर अपने विविध संमिश्रणसे नाम-रूपात्मक जड़ जगत्का समवायकारण होती है। यह प्रणवकी प्रथम मात्रा 'अ' है। क्योंकि बिना दो विरुद्ध शक्तियोंके संयोगके सृष्टि हो नहीं सकती, अतएव यह आवश्यक ही है। यह महेश्वर-की ही शक्ति है। इस अविद्या-शक्तिकी प्रबल और मुख्य सेना काम और अहंकार है जिसपर बिना विजय पाये मायासे मुक्त होना असम्भव है। इस मायाका पूरा अतिक्रम ज्ञानसे न होकर केवल श्रीभगवान्की शरणागति अर्थात् उनमें आत्मसमर्पण करनेसे होता है।

मूल-समष्टिचैतन्य पराशक्तिके तीन प्रधान दिव्य गुण अथवा शक्तिविशेष हैं। (१) सन्धिनी—जो संयोजक, धारकके समान कार्य करती हैं। यह जड प्रकृतिके रूपोंको और उनके अणुओंको आधारकी भाँति एकत्र रखती है जिसके कारण उनकी स्थिति बनी रहती है। (२) संवित्-शक्ति—जो चेतना, ज्ञान, विज्ञान, सद्बुद्धिका कारण है और इच्छा, क्रिया आदि शक्तिका भी हेतु है; (३) ह्लादिनीशक्ति—जो विशुद्ध आनन्द और परम प्रेमका कारण है और इस कारण यह सबका जीवन और परम लक्ष्य है। सब-के-सब इसीका अन्वेषण करते हैं। इन्द्रिय-विषयके संयोगसे जो सुख मिलता है वह इसकी छायाकी कणके समान है और मानसिक सुखमें इसकी विशेष छाया है। यह आनन्दशक्ति परम प्रेमका केन्द्र होनेके कारण सत्, चित्भावसे उच्च है और यही श्रीभगवान्में जीवात्माको युक्त करनेवाली है। श्रीभगवान् महेश्वर इन तीन शक्तियोंका आधार होनेपर भी जड

प्रकृतिके सुख, ताप और मिश्र गुणवाले त्रिगुणसे परे हैं अर्थात् ये तीन गुण उनमें नहीं हैं। ऊपरके कथनकी पुष्टि श्रीविष्णुपुराण-के निम्नाङ्कित वचनसे होती है—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥

(१।१२।६८)

(४) ईश्वरके अनेक होनेकी इच्छाकी पूर्तिके लिये जैसे अखण्ड मूल-प्रकृति नाना भाव और रूपमें परिवर्तित होकर अन्तमें मनुष्य-शरीर आधारके निमित्त प्रस्तुत करती है, उसी प्रकार अखण्ड परा चैतन्यशक्ति भी अपनी योगमायाद्वारा श्रीभगवान् महेश्वरको अनेक अंशोंमें चिदात्मारूपमें विकसित कर एक-एक अंशको प्रत्येक पिण्ड (शरीर) में स्थापित करती है। यह चिदात्मा श्रीभगवान्‌की शक्तिकी भाँति है, न कि उनके समान स्वतन्त्र पुरुष। बृहद्भागवतामृतमें इस विषयमें ऐसा प्रमाण है—

अनादिसिद्धया शक्त्या चिद्विलासस्वरूपया।
महायोगाख्यया तस्य सदा ते भेदितास्ततः॥

(२।२।१२५)

भगवान्‌की चिद्विलासमयी अनादिसिद्ध महायोग (योगमाया) नामक शक्तिसे वे जीव विभिन्न रूपमें प्रकट होते हैं, इस जीवात्मा-को विष्णुपुराणमें श्रीभगवान्‌की क्षेत्रज्ञशक्ति कहा है (६।७।६१)। यह व्यष्टिरूपमें कारणशरीररूप क्षेत्रका अभिमानी है जिसकी संज्ञा 'प्राज्ञ' है। इस प्राज्ञकी छाया लिङ्ग-शरीरमें 'तैजस' है और उसकी छाया स्थूल शरीरमें 'विश्व' है। ऊपरके विष्णुपुराणके

प्रमाणसे भी सिद्ध है कि जीवात्मा श्रीभगवान्‌की शक्ति है, स्वतन्त्र पुरुष नहीं ।

ज्ञानयोगकी सिद्धि होनेपर 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सोऽहम्' आदि भाव आता है; जिसमें 'त्वम्' 'अहम्' प्रधान रहता है और 'तत्' 'ब्रह्म' 'सः' के साथ एकता 'अहं' के सम्बन्धसे होता है जिसके कारण अहंभाव एक प्रकारसे विद्यमान रह जाता है, यद्यपि यह अहं शरीरादि उपाधिके प्रति न रहकर ब्रह्मके विषयमें रहता है। ज्ञान-मार्गका सिद्धान्त है कि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती है, जिस कारण मुक्ति ज्ञानका परम लक्ष्य है और उसके द्वारा मुक्तिका लाभ होता है। इसमें मुक्तिकी कामना भी रहती है और मुक्तिकामना भी बिना अहंभावके रह नहीं सकती। इस कारण केवल ज्ञानसे भगवत्प्राप्ति नहीं होती है जिसके बिना यथार्थ शान्ति मिल नहीं सकती। भक्तिमें तो आत्मार्पणके कारण आत्मविस्मृति हो जाती है और आत्मा स्वतन्त्र रहता ही नहीं जो मुक्ति चाहे। इस प्रकार वहाँ अहं और मुक्ति-कामना दोनोंका अभाव हो जाता है और केवल श्रीभगवान् ही रह जाते हैं। इस प्रकार मोक्षके त्यागसे और आत्मार्पणसे परम शान्ति मिलती है। गीताके भक्तियोगके १२ वें अध्यायमें कथन है कि 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (१२) अर्थात् त्यागसे शान्ति मिलती है वहाँ मोक्षके त्यागसे ही तात्पर्य है। इसी कारण गीतामें कथन है कि शरणागत होनेसे परम शान्ति और परमा भगवत्पदवीकी प्राप्ति होती है (१८ । ६२) अतएव मोक्षसे परम शान्ति न

चाहकर शरणागतिद्वारा भगवत्प्राप्तिके निमित्त अध्यवसाय करना पड़ता है। इसी कारण कथन है कि निर्वाणमोक्षके वाद भी महानिर्वाण, परनिर्वाण आदि पदवी हैं। मार्कण्डेय-पुराणके सप्तशतीस्तोत्रका कथन है कि माया ज्ञानीको भी मोहमें डालती है, जैसा कि—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
वलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥

इसी कारण गीताका कथन है कि परम प्रवल मायासे केवल श्रीभगवान्‌के शरणमें जानेसे छुटकारा मिलता है, अन्यथा नहीं (७। १४)। ज्ञान-मार्गमें सत्-चित्-भावका उदय होनेसे अहंभाव और कामका दमन होता है किन्तु अत्यन्त लोप न होकर वे दूसरे आकार अर्थात् मुक्ति-कामनाके रूपमें वर्तमान रहते हैं। केवल ह्लादिनीशक्तिके सम्वन्धसे विशुद्ध निष्काम प्रेमद्वारा इन दोनोंका लोप होता है जो विना आत्मनिवेदनके अन्य प्रकारसे सम्भव नहीं है। जिसका ज्ञानी साधकमें अभाव रहता है। तन्त्रमें कथा है कि श्रीशिवद्वारा कामके भस्म होनेपर कालान्तरमें उस भस्मसे भण्डासुर उत्पन्न हुआ जो अत्यन्त प्रवल था, उसने देवताओंके राज्यको हरण कर लिया। श्रीशक्तिने परम मधुर मूर्ति धारणकर शस्त्रमें केवल ईक्षु-दण्ड और पुष्पद्वारा उसे नष्ट किया। इसका रहस्य यह है कि कामके ऊपर पूर्ण जय ज्ञानद्वारा न होकर प्रेम अर्थात् ह्लादिनी-शक्तिद्वारा अहंभावके पूर्ण लोप होनेपर होती है जब कि काम केवल दमन न होकर प्रेममें परिवर्तित हो जाता है। कामको केवल दवा देनेसे कालान्तरमें वह वहुत प्रवल होकर प्रकट होता है।

यही गोपीभाव है जिसमें स्वार्थमूलक काम भक्तिद्वारा प्रेममें परिवर्त्तित हो जाता है जो त्यागमूलक है। कामशून्य त्याग-मूलक निर्गुण प्रेम-भक्तिसे ह्लादिनीशक्ति अर्थात् आनन्दभावकी प्राप्ति होती है। यह निर्गुणा भक्ति सत्त्वगुणसे भी ऊपर है जिस सत्त्वसे ज्ञान होता है (गीता १४। १७)। इस निर्गुणा भक्ति-का लक्षण गीता अ० १४में श्लोक २२से २५ तकमें देकर जिस निर्गुणा भक्तिसे आत्मसमर्पण होता है उसका वहाँ २६ वें श्लोकमें यों वर्णन है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

'जो साधक अव्यभिचारी (अनन्य) भक्तियोगसे मेरा निरन्तर सेवन करता है वह तीनों गुणोंको अच्छी प्रकार अतिक्रम कर (मुझ) ब्रह्मको प्राप्त करता है।' उपर्युक्त साधन-भजनद्वारा जीवात्माको यह बोध होता है कि आत्मा श्रीभगवान्‌का निज अभिन्न अंश होनेके कारण उनकी शक्ति है, स्वतन्त्र नहीं है और जीवात्माका श्रीभगवान्‌का अंश होना श्रीभगवान्‌के परम त्यागका फल है जो सृष्टिकी उत्पत्ति और उसके हितके लिये किया जाता है और भी यह प्रत्येक अंश अन्य अंशोंसे भिन्न नहीं है। यहाँ यह भी समझना है कि ऊपरके ज्ञानके कारण जीवात्माको श्री-भगवान्‌के इङ्गितके अनुसार उनके निमित्त उनके कार्यको सेवाकी भाँति सम्पादन करना कर्त्तव्य है। ऐसे ज्ञान और आचरणसे और श्रीभगवान्‌के अकारण करुणा और त्यागका बोध होनेसे श्रीभगवान्‌-के प्रति निर्हेतुक प्रेमकी उत्पत्ति होती है और जब उस प्रेमाग्निसे

ममता, अहंकार, कामनाका ध्वंस होकर प्रेमानुरागकी प्रेरणासे वह आत्माको श्रीभगवान्‌की वस्तु जानकर उनके सेवार्थ सहर्ष अर्पण करता है, इसीको अव्यभिचारिणी प्रेमलक्षणा भक्तियोगकी सेवा कहते हैं। इसकी प्राप्ति होनेपर निवेदितात्मा श्रीभगवान्‌के हाथोंमें यन्त्रकी भाँति हो जाता है जो स्वयं कुछ न कर यन्त्री श्रीभगवान्‌द्वारा प्रेरित होकर उनके ही निमित्त व्यवहार करता है। अव्यभिचारिणी सेवा-भक्तिका तात्पर्य है कि सिवा भक्तियोगकी सेवाके अन्य कुछ न रहे। ऐसा साधक भक्तिके सिवा अन्य सब धर्म अर्थात् ज्ञान, योग आदिसे सम्बन्ध नहीं रखता, क्योंकि ज्ञानमें 'अहं ब्रह्मास्मि' भाव और योगमें सिद्धिकी आकांक्षा भगवत्‌सेवा-भावकी विरोधिनी है, अतएव इनका भी त्याग करना पड़ता है। इसी कारण श्रीमद्भागवत पुराण स्कं० ११ अ० १२ श्लोक १ और २ और अ० १४ श्लो० २० और २१ में कथन है कि भगवत्प्राप्ति योग, सांख्य (ज्ञान), धर्म आदिसे न होती है, केवल सत्संगद्वारा भक्ति प्राप्त करनेसे होती है। श्रीविश्वनाथने अपनी गीताकी टीकामें ऊपरके गीताके श्लोकके अर्थमें कहा है कि अव्यभिचारिणी भक्तिमें ज्ञान, योगका त्याग करना पड़ता है। गीताके अन्तमें सब धर्मोंको त्यागकर शरणमें जानेका उपदेश है उसका यही तात्पर्य है कि सेवा-भक्तिके विरोधी सब धर्मोंका त्यागना आवश्यक है और केवल श्रीभगवान्‌पर निर्भर रहना ही शरणागत होना है।

स्मरण रहे कि आत्मार्पण केवल मौखिक कथन नहीं है और न केवल भावनासे यह साध्य है। जो जीवात्मा परमात्माके

अनादि अंश-अंशी-सम्बन्धके ज्ञानके कारण आत्मार्पणद्वारा उनका भजन अर्थात् सेवामें प्रवृत्त होता है उसकी सेवा अर्थात् भजनमें श्रीभगवान् भी प्रवृत्त होते हैं। इसकी पुष्टिमें गीतामें उनका ऐसा कथन है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
(४।११)

'हे अर्जुन! जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं उन्हें भी मैं उसी प्रकार भजता हूँ। इस रहस्यको जानकर बुद्धिमान् मनुष्य सर्वथा मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं।'

जो प्रेमवश भगवान्को आत्मार्पणकर योगयुक्त होता है, उसको श्रीभगवान् आत्मार्पण करते हैं। अतएव भक्ति, भक्त, भगवान्, गुरु और मन्त्र—ये पाँचों एक ही हैं, इनमें भेद नहीं है। इनके अतिरिक्त यह चराचर जगत् भी भगवान् ही हैं, जिनमें पावन सुन्दरता उनकी विशेष विभूति है और दीन, दुखी एवं असहाय आदि उनकी कृपाके विशेष पात्र हैं। अतएव गुरु, भक्त और दीन-दुखी आदिको प्रत्यक्ष श्रीभगवान् जान उनसे विशेष प्रेम करना चाहिये और उनकी सेवामें रत रहना चाहिये। यह प्रेम-मार्गकी मुख्य साधना है।

आत्मार्पण क्या है? इसका अनुभव कथनमात्रसे नहीं हो सकता, इसी तत्त्वको प्रकाशित करनेके लिये गोपियोंका प्रादुर्भाव हुआ, जिससे कि वे अपने पवित्र जीवनके क्रिया-कलापसे संसारको विदित कर दें कि आत्मार्पण क्या है? अन्यथा इसका जानना

कठिन ही नहीं, असम्भव है। इस प्रकरणमें आगे यह दिखलाया जायगा कि गोपियोंका भाव क्या था ?

जब साधारण लोग श्रीभगवान्‌की पवित्र व्रजकी गोपी-लीलाके रहस्यको न जानकर उसमें अपने हृदयकी दुर्बलताके कारण अपवित्र भावना करने लगे और उससे अधिक हानि होने लगी तब वङ्गालमें श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने प्रकट होकर इस पवित्र गोपी-भावके यथार्थ तत्त्वको अपने जीवनद्वारा प्रदर्शित किया और लोगोंपर विदित किया कि कृष्ण-प्रेम जो विशुद्धातिविशुद्ध परम पावन है वह यथार्थमें क्या है ? उन्होंने प्रेम और सेवाकी प्रधानता दिखलायी और सेवामें नाम-स्मरण और नामके प्रचारको मुख्य बतलाया। उनका यह भी उपदेश है कि नाम-स्मरण अर्थात् भजन-कीर्तन निरहंकार, निर्मान और दान्त (सहिष्णु) होकर करना चाहिये और दूसरोंका मान-सत्कार करना चाहिये जैसा कि श्रीमद्भागवत पुराणमें भी आज्ञा है। ऐसे ज्ञानको, जिससे एकता-के गौरवसे भगवत्सेवासे विमुख होना पड़े, (जो जीवात्माका परम कर्त्तव्य है) उन्होंने अच्छा नहीं कहा। यथार्थमें ऐसा ज्ञान जिसका परिणाम आत्मस्थिति लाभकर केवल प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त होना है अथवा आत्माको ब्रह्म जानकर ही सन्तुष्ट रहना है जो उत्तम और मोक्षप्रद अवश्य है और सब साधकोंको प्रथम आत्मस्थिति अवश्य लाभ करना चाहिये किन्तु यह अन्तिम लक्ष्य नहीं है, क्योंकि इससे भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। किन्तु श्रीश्रीमहाप्रभुको भी ऐसा ज्ञान अवश्य ध्येय था जो जीवात्मा और परमात्माके अनादि

सम्बन्धके * कारण सेवार्थ श्रीभगवान्‌में युक्त अर्थात् अर्पित करना है। इस प्रकारका भक्तिमिश्रित ज्ञानसे साधक सर्वत्र सबमें एक श्रीभगवान्‌को ही वर्तमान जान सबसे प्रेम करता है, किसीसे द्वेष नहीं करता। ऐसे ज्ञानीको ऐकान्तिक अर्थात् अव्यभिचारिणी भक्तिकी प्राप्ति होती है जैसा कि गीतामें लिखा है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(७।१७)

उनमें भी मुझमें नित्ययुक्त अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मेरेको ऐसा ज्ञानी भक्त अत्यन्त प्रिय है और उसको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ। ऐसे ज्ञानीमें प्रेम मुख्य रहता है जिसके कारण परस्पर प्रीतिद्वारा अभेद होकर भक्त यन्त्र बन जाता है। एक परम प्रसिद्ध परम विद्वान् परम विरक्त एकान्तसेवी भक्तप्रवरका यही सिद्धान्त है कि अहंता, ममता, स्वार्थ आदिका त्यागकर आत्मार्पणकर श्रीभगवान्‌के हस्तकमलमें यन्त्र बन उनकी प्रेरणासे ही कर्म करना सर्वोच्च अध्यात्मयोग है। ऐसा ही गोपीभाव है। पद्मपुराणके पातालखण्डमें लिखा है—

बहिरङ्गैः प्रपञ्चस्य स्वांशैर्मायादिशक्तिभिः।
गोपनादुच्यते गोपी राधिका कृष्णवल्लभा॥
(५१।५२)

---

* उपनिषद्‌में जीवात्माको ब्रह्माग्निका विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) और श्रीशंकराचार्यके षट्पदीस्तोत्रमें ब्रह्मरूप समुद्रका तरंग कहा गया है। श्रीमहाप्रभुका अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त था।

अपनी बाह्य अंशभूत मायादि शक्तियोंद्वारा प्रपञ्चरूप जगत्-का गोपन अर्थात् रक्षा करनेसे श्रीकृष्णप्रिया राधाजी गोपी कही गयी हैं।

जीवात्माका जो परमात्माके साथ अनादि सम्बन्ध है उसको अविद्याके सम्बन्धसे भूलकर शरीरादि उपाधिमें तादात्म्यबुद्धि रखनेसे जीवात्मा अपनेको स्वतन्त्र मानता है और अविद्याके कार्य अहंता, ममता, विषयासक्तिके कारण अपनेको कर्त्ता, भोक्ता मानता है और यह भूल जाता है कि उसके बाह्य उपाधि और सब आभ्यन्तरिक शक्ति, आत्मातक श्रीभगवान्‌के हैं और उन्हींके कार्य-सम्पादनार्थ वे उसे दिये गये हैं। ऐसी प्रबल अहंकारमय अवस्थाको पुरुषभाव कहते हैं जो असत्य है, क्योंकि सृष्टिमें केवल श्रीभगवान् ही एक स्वतन्त्र पुरुष सर्वनियन्ता हैं, और अन्य सब, जीवात्मातक उनके अंश और शक्ति और शक्तिके परिणाम हैं। ये सब श्रीभगवान्‌की शक्ति अविद्या और विद्यासे स्वभाव, गुण और कर्मके अनुसार सञ्चालित होते हैं। अविद्या और उसका परिणाम अहंकार, वासना और सकाम कर्मद्वारा जीवात्मा मायाके बन्धनमें पड़कर संसृतिके नाशवान् सुख-दुःख, जन्म-मरण आदि क्लेश भोगता है। जब भगवत्कृपासे विद्याका आश्रय पानेसे ज्ञानद्वारा ऊपर कथित अज्ञानका नाश होता है और जीवात्माको अपने शुद्ध स्वरूप और परमात्माके साथ अनादि सम्बन्धका ज्ञान होनेसे यह भान होता है कि संसार विषयके भोगके लिये न बनकर श्रीभगवान्‌की लीला है जिसके केवल एक-मात्र सूत्रधार श्रीभगवान् स्वयं हैं और ऐसा समझ अपने अज्ञान-

जनित अहंकार, ममता, स्वार्थ आदि जो पुरुषभाव हैं उनको त्यागकर और प्रेमसे प्रेरित होकर श्रीभगवान्‌की शक्ति आत्मा श्रीभगवान्‌के आध्यात्मिक लीलाविहारमें सेवार्थ संयुक्त होनेके निमित्त अर्पण करनेके व्रतको धारण करता है और श्रीभगवान् भी अपनी ह्लादिनीशक्तिको आकर्षण प्रदानकर स्वीकृति देते हैं, तो ऐसी अवस्थाको गोपीभाव कहते हैं।

गोपीभावके वर्णनके पहले और उसकी उत्कृष्टताको समझनेके लिये यह वर्णन करना आवश्यक है कि श्रीभगवान्‌के *आनन्दकी छाया (प्रतिबिम्ब) फिर उस छायाकी छाया,* क्रमशः किस प्रकार त्रिगुणमें पड़ी है और किस प्रकार जीवात्माके पतन होनेपर उस छायाके सहारे एक छायाकी सीढ़ीसे दूसरी छायापर, फिर तीसरीपर, इसी प्रकार त्रिगुणसे पार होता है और तत्पश्चात् श्रीभगवान्‌के शुद्ध आनन्दभावमें युक्त होकर फिर स्वराज्य प्राप्त करता है। जीवात्मा किसी एक छायामें अनुरक्त रहनेपर उसके ऊपरकी छायाकी उत्तमताका अनुभव होनेपर नीचेको छोड़कर ऊपर जाता है, फिर इसी प्रकार उसके ऊपर, अन्तमें छायामात्रको अतिक्रम कर मूलमें पहुँचता है।

यथार्थ आनन्दका मूल तो श्रीभगवान्‌की स्वयं ह्लादिनीशक्ति (आनन्दभाव) है जिसकी छाया शुद्ध सात्त्विक, रजोगुणमिश्रित सात्त्विक रजोगुणी और तमोगुणी विषयोंमें भी रहती है। संसारमें जहाँ कहीं आनन्दका कण अथवा सुखका भाव देखा जाता है

वह श्रीभगवान्के आनन्दभावका केवल प्रतिबिम्ब है। बृहदारण्यक उपनिषत्में लिखा है—

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मात्।

ये श्रीभगवान् पुत्रसे अधिक प्रिय, धनसे भी अधिक प्रिय और सब दूसरी वस्तुओंसे अधिक प्रिय हैं।

प्रत्येक गुणमें तीनों गुण अन्तर्गुणकी भाँति रहते हैं, अतएव तीन गुणोंके नौ रूप हैं। बृहदारण्यक उपनिषत्के चौथे अध्यायके तीसरे ब्राह्मणके ३३ वें मन्त्रमें और तैत्तिरीय उपनिषत्की ब्रह्मानन्दवल्लीके ९ वें मन्त्रमें ब्रह्मानन्दकी क्रमागत छाया विषयोंमें पड़नेका वर्णन है। नीचेसे ऐसा क्रम है— (१) तामसी सुख जो प्रायः परस्त्रीगमन, मांसभोजन, परद्रव्यापहरण आदि द्वारा प्राप्त होता है, वह प्रायः दूसरोंके धर्मको नाश अथवा उनको कष्ट देनेसे ही मिलता है, अतएव यह आसुरी है। इसमें जो रत हैं उनको तो प्रवृत्तिमार्गमें भी पदार्पण करनेका अधिकार नहीं है। (२) विवाहित भार्यामें और मांसके सिवा अन्य भोज्य पदार्थमें आसक्ति, विषयसुखके लिये धनोपार्जनकी लिप्सा आदि राजसिक सुखमें प्रवृत्ति पशु-धर्म है, जो आसुर भावको पराभव करनेसे प्राप्त होता है; किन्तु यह भी निकृष्ट है। (३) पुत्रके उत्पन्न करनेके लिये भार्यामें आसक्ति, ऐहिक और पारलौकिक सुखके लिये पुत्र, धन, गृह आदिकी कामना और धर्मकी रक्षा करके उसका संग्रह और पालन, स्वर्ग-प्राप्तिकी कामनासे कर्मोंको करना और उसके लिये द्रव्य और वस्तुका संग्रह करना आदि सात्त्विक-राजसिक भाव

है जिसको देवभाव कहते हैं और यह पशुभावके पराभव करनेसे प्राप्त होता है। यह प्रवृत्तिमार्ग है। (४) स्त्री, पुत्र, परिवार, बन्धु, पड़ोसी, मित्र, दीन, दुःखी, कोई पवित्र पात्र जो सहज सुन्दर, मनोहर, चित्ताकर्षक बोध हो उनमें स्वाभाविक स्नेह अर्थात् इनसे कोई सुख अथवा लाभके पानेकी आशा न रखकर सहज, स्वाभाविक और अकृत्रिम स्नेह और उसके कारण उसकी हितसाधना राजसिक-सात्त्विक भाव है और यह निवृत्तिमार्गकी प्रथम सीढ़ी है। देवभावके पराभव होनेसे यह भाव आता है। इस भावमें दीन-दुखियोंपर दया और उनके दुःखकी निवृत्तिके लिये चेष्टा मुख्य रहती है। (५) जिस पवित्र शुद्ध सात्त्विक पात्रमें स्वाभाविक और सहज स्नेह हो उसको श्रीभगवान्‌की विभूति मान उसके चिन्तन, सेवनद्वारा श्रीभगवान्‌में निष्काम स्नेह करना शुद्ध सात्त्विक भाव है और यह भगवत्-प्रेमका बीज है। इस भावमें जीव-दया, विशेषकर दीनदुखियोंपर करुणा और उनके हितसाधन—इनकी मात्रा अधिक बढ़ जाती है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात्सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि।

सत्त्वसे रज-तमको नाशकर विशुद्ध सत्त्वसे सत्त्वगुणका पराभव करे। (६) स्नेहकी अधिकताके कारण श्रीभगवान्‌की 'विभूति' में सेवा-भावकी यथेष्ट पूर्ति न होनेसे* और उससे शान्तिको न

---

* शाण्डिल्यसूत्रका वचन है—प्राणित्वान्न विभूतिषु; प्राकृतिक प्राणीके नश्वर होनेके कारण विभूतिद्वारा भक्तिका लाभ नहीं हो सकता।

पानेसे जिसका अन्वेषण इस यात्रामें मुख्य है वह अपने स्नेहको सीधे आनन्दका मूल श्रीभगवान्‌के साकाररूपमें अर्पण करता है और विश्वको भी श्रीभगवान्‌का रूप और अंश बोधकर उनमें भी अनुराग रखता है और विश्वके हितसाधनको श्रीभगवान्‌की सेवा मानता है। इसमें शान्ति (मोक्ष) लाभकी आकांक्षा वर्तमान रहनेपर यहाँतक गुणमय भाव है। (७) जिसको श्रीभगवान्‌की कृपासे उनकी करुणा (मधुरता) की झलकका अनुभव होता है वह मोक्षकी आकांक्षाको त्यागकर श्रीभगवान्‌के केवल इस करुणा (प्रेम) भावमें आसक्त हो जाता है और इससे कदापि पृथक् होना नहीं चाहता। तब उसका अनुराग प्रेममें परिणत हो जाता है। यहाँसे निर्गुण अर्थात् अप्राकृत भक्ति प्रारम्भ होती है। ऊपरके क्रमसे जाना जायगा कि जिसमें इन्द्रियोंके विषय-भोगकी आसक्ति है उसका तो मधुरभावकी भक्तिमें अधिकार ही नहीं है। पशु-धर्ममें रत विषयीको श्रीभागवत पुराण, श्रीगीत-गोविन्द आदि मधुरभावके ग्रन्थोंके पढ़नेसे शुद्धभावकी जागृति न होकर उनमें इसके परम विरुद्ध भावकी उत्पत्ति हो सकती है और वे पावन श्रीकृष्णलीलाके तत्त्वको न जानकर (ज्ञान न पाकर) उसमें विषयका सम्बन्ध समझेंगे। ऐसोंका इसमें अधिकार नहीं है। यह लीलाभाव केवल भक्तोंके लिये प्रकाशित किया गया है। किसी-किसीका मत है कि वर्तमान कालमें श्रीभागवत पुराणको भक्तोंके सिवा अन्यसे गुप्त रखना उचित था।

श्रीभगवान्‌हीके आनन्दभावका नाम 'काम' है और वे ही

यथार्थ 'कामगुरु' हैं। इस कामके प्रतिविम्ब 'आसुरी काम' को श्रीपराशक्ति श्रीकाली होकर नाश करती हैं, मलिन काम जो पशुभाव है वह पशुपति श्रीशिवजीके सम्बन्धसे शुद्ध सात्त्विक राजस हो जाता है और यदि यह सात्त्विक राजस (प्रवृत्तिमार्ग) बहुत प्रवल और दुष्ट होता तो श्रीशिवजी जो निवृत्तियोगीश्वर हैं वे इस नीच कामदेवको अपने तृतीय नेत्र—ज्ञानचक्षुसे भस्म कर देते हैं। यह तृतीय नेत्र सब मनुष्योंमें है किन्तु गुप्त है और श्रीसद्गुरुकी कृपासे खुलता है। किन्तु श्रीभगवान्‌का भक्तिमार्ग प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंसे विलक्षण है। इस मार्गमें सांसारिक विषयोंको त्यागना नहीं है किन्तु उनको तत्त्वकी दृष्टिसे श्रीभगवान्‌की वस्तु मान और उनके द्वारा प्राप्त सुखको श्रीभगवान्‌के आनन्द-भावका केवल प्रतिविम्ब जान दोनोंको इस भावदृष्टिसे शुद्धकर श्रीभगवान्‌में अर्पण करना है जिसके होनेपर वे श्रीभगवान्‌के प्रसाद बन जाते और तबसे मोह और बन्धनमें पड़नेके बदले श्रीभगवान्‌की सेवाकार्यमें सहायक बन जाते हैं। यही कारण है कि 'काम'ने भस्म होकर श्रीभगवान्‌के पुत्ररूपसे जन्म लिया; अर्थात् परिवर्तन प्राप्तकर अपने शुद्धभावको ग्रहण किया। विषयी पुरुष स्त्री, पुत्र, धन और काम्य वस्तुमें भोगकी आसक्ति रख और उनके मूल-कारण श्रीभगवान्‌के आनन्दभावको न जानकर बन्धन और क्लेशमें पड़ता है किन्तु भावुक उनको छाया जान और मूलकी दृष्टिसे श्रीभगवान्‌की वस्तु मान उनको शुद्धकर सेवाके कार्यमें नियुक्त करनेके लिये श्रीभगवान्‌में अर्पण करता है और तबसे उनका सम्बन्ध उसको कदापि दुःखदायी और क्लेशकर नहीं होता। सारांश यह है

कि पशुभाव अर्थात् नीच कामाचारको तो प्रवृत्तिमार्गमें भी स्थान नहीं है, फिर इसकी चर्चा भक्तिमार्गके सम्बन्धमें तो स्वप्नमें भी नहीं आनी चाहिये।

इस परम पावन गोपीभावमें 'रस' 'काम' 'कामदेव' 'रमण' 'रति' 'स्मर' 'रासक्रीडा' आदि शब्द व्यवहार किये गये हैं किन्तु वे सब उनके यथार्थ उच्च आध्यात्मिक भावमें हैं। 'काम' श्रीभगवान्‌का आनन्द—(प्रेम) भाव है जिससे सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है। लिखा है—'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' अर्थात् श्रीभगवान् महेश्वरने अनेक होनेके लिये अपने काम (आनन्द) भावको प्रकट किया। शब्दकल्पद्रुममें लिखा है कि श्रीविष्णुका नाम 'स्मरगुरु' अर्थात् कामगुरु है। इस काम (प्रेम) की उत्पत्ति श्रीभगवान्‌के हृदयसे है 'कामस्तु ब्रह्मणो हृदयाज्जातः'—(शब्दकल्पद्रुम।) अतएव कामका नाम 'ब्रह्मसूः' और 'आत्मभूः' भी है। मेघदूतमें लिखा है—

जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।

श्रीशक्तिका नाम 'कामाक्षा' भी आनन्दमयीके भावमें है। इसी कारण श्रीभगवान् रामचन्द्र और श्रीजानकीजीका विहारस्थल चित्रकूटके मुख्य पर्वतका नाम 'कामद' अर्थात् 'प्रेमप्रद' है।

कबीर आदि महात्माओंने भी इस शुद्ध आध्यात्मिक भावको रूपकमें वर्णन करनेके लिये ऐसे ही शब्दोंका व्यवहार किया है। सूफी महात्माओंने भी प्रेमके वर्णनमें मदिरा, तीर, खंजर, बुलबुल आदि शब्दोंका व्यवहार किया है। मदोन्मत्त खराब

है किन्तु प्रेमोन्मत्त परमोत्तम है, यद्यपि दोनों उन्मत्त दशाएँ हैं। विषयमें रमण और रति खराब है किन्तु आत्मामें रमण और रति परमोत्तम है। शक्तिपथमें भी मांस, मदिरा, मैथुन इसी आध्यात्मिक भावमें व्यवहृत हैं कदापि भौतिक अर्थमें नहीं, परन्तु शोकका विषय है कि आजकल इसका भौतिक अर्थ मानकर दुरुपयोग होता है।

इस प्रेम-मन्दिरमें (जहाँ यज्ञ अथवा विहार-लीला हो रही है) प्रवेश करनेमें प्रथम बाह्य अवस्था श्रीउपास्यके विश्वव्यापी करुणा-भावका साक्षात् अनुभव और चिन्तन है जिससे हृदय द्रवीभूत होकर शुद्ध हो जाता, श्रीभगवान्की करुणाकी एक कणा (स्नेह) लब्ध हो जाती और ऐसा होनेपर भावुक श्रीभगवान्की करुणाके वितरणरूपी सेवामें निष्कामभावसे प्रवृत्त होनेके लिये अपनेको अर्पण करता और यही उसके जीवनका केवल लक्ष्य हो जाता है। श्रीभगवान्की करुणा असीम और वर्णनातीत है। यह सृष्टि स्वयं उनकी करुणाका परिणाम है। श्रीशाण्डिल्यसूत्रमें लिखा है 'मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्' यह सृष्टि मुख्यतः श्रीभगवान्की केवल करुणा-का परिणाम है, उनको इसमें लेशमात्र स्वार्थ नहीं। करुणाभावसे ही प्रेरित होकर श्रीभगवान्ने भृगुके पदाघातको सहकर उनसे यह कहकर क्षमा माँगी कि आपके चरणको मेरे कठोर हृदयके स्पर्शसे चोट लगी होगी और श्रीरामावतारमें वनवासके कष्टको सहन किया और गर्भावस्थामें भी श्रीसीताजीका त्याग किया। श्रीभगवान्ने संसारके दुःखसे कातर होकर ही संसारके पाप और कष्टको दूर करनेके लिये अनेक अवतारके धारण करनेका कष्ट सहर्ष स्वीकार

किया, और अब भी सर्वत्र व्याप्त रहकर रक्षा और पालन करते हैं। श्रीभगवान्‌की अकारण करुणा और परम त्यागका चिन्तन-स्मरण करनेसे और श्रीभगवान्‌की करुणा (कृपा) बिन्दुके पवित्र स्पर्शसे हृदयके शुद्ध होनेपर, उस परम दुर्लभ करुणाको विश्वमें वितरण करनेकी सेवाके संकल्पके अर्थ श्रीभगवान्‌को वरण किया जाता अर्थात् करुणावरुणालय श्रीभगवान्‌को अपना हृदयेश्वर इष्ट और केवल लक्ष्य बनाया जाता है। इस अवस्थामें उपासकको साक्षात् रूपसे बोध होता है कि श्रीभगवान्‌के कौन रूप उसके श्रीइष्टदेव हैं और तबतक साधारण वरण करनेमें यदि कोई भूल रही हो तो वह भी सुधर जाती है। यह भावसम्बन्ध उसे प्रत्यक्ष हो जाता है। यह प्रेमद्वारा वरण श्रीसद्गुरुकी सहायतासे होता है।

गोपीभाव, उसकी पवित्रता और रहस्य

श्रीगोपियोंने प्रथम श्रीभगवान्‌को वरण किया अर्थात् आत्मार्पण-का व्रत धारणकर उन्हें अपना हृदयेश्वर बनाया, किन्तु उनका यह सम्बन्ध शुद्ध आध्यात्मिक जीवात्मा-परमात्माका सम्बन्ध था, कदापि शारीरिक और निकृष्ट भोगसम्बन्ध नहीं था। उस समय जब कि श्रीभगवान्‌ने स्थूल शरीरको धारण किया तो उनके प्रेमियोंका अहोभाग्य था कि वे उनके निकट उनके रूपको प्रत्यक्ष देखकर तृप्त हों, उनकी साक्षात् सेवाके लिये अपनेको अर्पण करें और उनके वियोगसे दुःखी हों। भक्त श्रीमीराबाईने भी भगवद्भक्तोंकी सत्संगति और श्रीभगवान्‌की सेवा स्वच्छन्दतासे करनेके लिये अपने पति और

राज्यका त्याग किया, जो साधारण धर्मके अनुसार अविहित हो सकता है; किन्तु विशेष धर्मके अर्थात् प्रेमलक्षणा भक्तिके अनुसार श्रीमीराबाईकी अवस्थाके भावुकके लिये ठीक था। इसी प्रकार श्रीगोपियोंने भी श्रीभगवान्‌के लिये साधारण धर्मका त्याग अवश्य किया और इसीके बलपर स्त्रीस्पर्शको श्रीभागवतपुराणमें श्रीपरीक्षितके प्रश्नमें परदाराभिमर्शन कहा है। किन्तु यह स्पर्श आत्मा और परमात्माके मिलनका केवल बाह्यद्योतक था जो आत्मा-परमात्माकी ही नित्यशक्ति है। स्त्रीके साथ एकान्तभाषण भी साधारण धर्मानुसार मना है। पाशविक कामचर्याका तो इसमें स्पर्शतक नहीं था। श्रीगोपियोंका शुद्ध और निर्मल प्रेम था। लिखा है—

> कामबीजोपासनेन सखीत्वञ्च समाश्रयेत्।
> रतिरागं सदा प्राप्य प्रेम्णा जन्म तृतीयकम्॥
> विषयाविष्टचित्तस्य कृष्णावेशः सुदूरतः।
> वारुणीदिग्गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयात्॥

कामबीज (पराशक्ति) की उपासनासे सखी (शुद्ध चिच्छक्ति) भावको प्राप्त करे और तब श्रीउपास्यकी लीलामें सम्मिलितरूप रागरतिको पाकर प्रेमद्वारा तीसरा जन्म प्राप्त करे। विषयासक्तके लिये कृष्णप्रेम दूरकी वस्तु है, क्या पूरब जानेवाला पश्चिमकी वस्तु पा सकता है?

श्रीगोपियोंके कृष्ण-प्रेमका श्रीचैतन्यचरितामृतमें यों वर्णन है—

> आत्मेन्द्रिय प्रीति-इच्छा, तार नाम काम।
> कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा करे प्रेम नाम॥
> कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल।
> कृष्ण-सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल॥
> आत्मसुख दुःख गोपी ना करे विचार।
> कृष्ण-सुख हेतु करे सब व्यवहार॥

लोक-धर्म, वेद-धर्म, देह-धर्म कर्म ।
लज्जा, धैर्य, देहसुख, आत्मसुख मर्म ।।
सर्व त्याग करये करे कृष्णेर भजन ।
कृष्ण-सुख हेतु करे प्रेमेर सेवन ।।
इहाके कहिये कृष्णे दृढ़ अनुराग ।
स्वच्छ धौत वस्त्र जैछे नाहि कोन दाग ।।
अतएव काम प्रेमे बहुत अंतर ।
काम अंधतम प्रेम निर्मल भास्कर ।।
अतएव गोपीगणे नाहि काम गन्ध ।
कृष्ण सुख हेतुमात्र कृष्णेर संवन्ध ।।

श्रीभगवान्के यशका परस्पर कथन भी रति है जैसा कि श्रीमद्भागवतपुराण स्क० ११ के निम्न श्लोकसे विदित है—

परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥
(३ । ३०)

विषयाविष्ट चित्तद्वारा श्रीभगवान्में प्रीति असम्भव है । जो वस्तु पश्चिम दिशामें है उसको पूर्व दिशामें खोजनेसे कैसे उसका लाभ हो सकता है ।

और भी लिखा है—

यस्त्यक्त्वा प्राकृतं कर्म नित्यमात्मरतिर्मुनिः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा स्याच्चेत् परतमा गतिः ॥
(महाभारत शा० प० अ० १९४)

आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं

विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।

(छान्दोग्योपनिषद् ७ । २५ । २)

'जो मुनि सांसारिक काम्यकर्मोंको त्यागकर नित्य आत्मामें रति (रमण) करता है वह सब प्राणियोंकी आत्माकी आत्मा (परमात्मा) से एक हो जाता है । यही परमगति है । ये सब आत्मा ही हैं, ऐसा देख, मनन और जानकर जो आत्मामें रति (निदिध्यासन) और क्रीडा (श्रवण) करता है और आत्मामें मिथुन (मनन) करता है वही आत्मानन्द (साक्षात्कार) पाता है, वही स्वतन्त्र राजा होता है, उसकी सब लोकमें प्रभुता होती है ।'

जिन प्रातःस्मरणीय गोपियोंकी लीलाके पढ़नेसे नीच काम-का नाश होता है, फिर उस लीलामें इसका लेशमात्र भी कैसे रह सकता है ? लिखा है:—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३३ । ४०)

'हे राजन् ! जो पुरुष श्रद्धावान् होकर, गोकुलकी स्त्रियोंके साथ श्रीकृष्णजीकी इस (रास) क्रीडाको क्रमसे सुनेगा अथवा पढ़ेगा वह उन श्रीकृष्ण भगवान्में उत्तम भक्ति पाकर थोड़े ही कालमें जितेन्द्रिय होता हुआ, हृदयमें रहकर रोगके समान अनर्थ करनेवाले कामका अत्यन्त तिरस्कार करेगा ।'

गोपीभाव और निरन्तर स्मरण

वरण करनेकी अवस्थाके बाद उच्च साधनाकी अवस्था आती है। इसमें श्रीउपास्यके गुणगान, भजन, संकीर्तन, स्मरण आदि मुख्य हैं। श्रवणसे वन्दनतक इसके अन्तर्गत हैं। इस अवस्थामें मुख्य चित्त और बुद्धिको श्रीउपास्यमें ऐसा अर्पण करना है कि वे उनके हो जायँ और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली भावनाओंके सिवा अन्य भावनाएँ कदापि उनमें नहीं आवें। इस अवस्थामें प्रेमरूपी मक्खन और सेवारूपी मिश्री श्रीउपास्यको नैवेद्यमें अर्पण किये जाते हैं, जैसा कि कहा जा चुका है। श्रीगोपियोंमें यह भाव परिपूर्ण था। गोपियोंका प्रेम श्रीभगवान्‌में ऐसा प्रगाढ़ और अनन्य था कि उनके शरीर, वचन, मन, आत्मा, सब श्रीभगवान्‌में अर्पित थे, वे केवल उन्हींके लिये उनका प्रयोग करतीं, उन्हींकी सेवामें नियुक्त रहतीं और उन्हींकी तुष्टिके लिये शरीर आदिकी रक्षा करतीं। उनका सोना, जागना, नित्य-क्रिया, गृह-कार्य, भूषण, वसन, भोजन, गान, स्मरण, विचरण, वार्तालाप, श्रवण, दर्शन आदि सबोंका श्रीभगवान्‌हीसे सम्बन्ध था, एक भी श्रीभगवान्‌से रहित नहीं था।

गोपीभावमें यह परम मुख्य है कि सांसारिक कर्तव्यके करते हुए भी उन कामोंको भी श्रीभगवान्‌का ही काम और सेवा समझ चित्तको श्रीभगवान्‌में निरन्तर संलग्न रखना चाहिये जैसा कि श्रीगोपियाँ करती थीं। यही श्रीगोपियोंकी विशेषता थी। श्रीमद्भागवत-पुराण, स्कं० १० में इस अवस्थाका यों वर्णन है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥
(४४ । १५)

'जो गोपियाँ, गौके दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दहीको मथनेमें, लीपनेमें, सोते हुए बालकोंके झूलेको झटकी देनेमें, रोते हुए बालकोंको चुप करनेमें और बुहारी करनेमें चित्तमें प्रेम-युक्त और गद्गदकण्ठ होकर इन श्रीभगवान् कृष्णका गान करती हैं, वे घरके सब काम करते हुए भी श्रीभगवान् कृष्णकी ही ओर चित्त लगानेवाली गोकुलकी स्त्रियाँ धन्य हैं' । इस अवस्थाका वर्णन श्रीचैतन्य महाप्रभुने परमोत्तम प्रकारसे यों किया है—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मसु ।
तदेवास्वादयत्यन्तर्नवसङ्गरसायनम् ।

अन्य पुरुषमें आसक्त रमणी घरके कामोंको करनेमें व्यस्त रहनेपर भी चित्तमें जिस तरह उसके नवीन सहवासरसका आस्वादन करती रहती है, उसी प्रकार संसारके कर्मोंमें लिप्त रहनेपर भी श्रीभगवान्के प्रेम-रसका आस्वादन चिन्तनद्वारा करना चाहिये । इस प्रकारकी एकाग्रता जो श्रीगोपियोंमें थी वह मनके विक्षेपका नाशकर उसे शान्त करने और श्रीभगवान्में अनुरक्त करनेके निमित्त परम आवश्यक है । योगसूत्र भी इसकी पुष्टि करता है जैसा कि—

तत्र प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः । (१ । ३२)

'मनकी एकाग्रता अर्थात् एकहीमें संलग्न रखना मनके विक्षेप-के नाशमें आवश्यक है ।'

इस प्रकार श्रीगोपियाँ श्रीभगवान्‌में तन्मय थीं कि अपने नेत्रसे केवल श्रीभगवान्‌को ही देखतीं, अर्थात् संसार ही श्रीभगवान्‌की मधुर मूर्तिसे परिपूर्ण उनको दीख पड़ता, कानसे जो सुनतीं वह श्रीभगवान्‌हीके नामका रूपान्तर उन्हें बोध होता, मनमें जो भावना आती वह श्रीभगवान्‌से ही सम्बन्ध रखती और वे जो कुछ उच्चारण करतीं उसका भी यथार्थ लक्ष्य श्रीभगवान् ही रहते। उनका मन श्रीभगवान्‌के चरणोंकी सेवामें संलग्न रहता, उनके वचन श्रीभगवान्‌के मधुर यशके गानमें प्रवृत्त रहते, उनका शरीर श्रीभगवान्‌के कैंकर्यके लिये अर्पित और नियुक्त रहता और उनकी आत्मा श्रीभगवान्‌की दासी बनकर आन्तरिक सेवामें नियुक्त रहती। जब श्रीभगवान्‌की मनोहर मूर्तिका उन्हें दर्शन होता तब वे चित्तको दीपपतंगके समान श्रीभगवान्‌पर न्योछावर करना चाहतीं और कहा जाता है कि नेत्रकी पलकके गिरनेके कारण जो इस रूप-रसके आस्वादमें उन्हें व्याघात होता था, वह भी उन्हें असह्य था। जैसा कि भक्त साधकोंकी निष्ठा होती है कि वे श्रीभगवान्-सम्बन्धी चर्चा करते, उनके पावन यशका गान करते, उनके पवित्र नाम और कीर्तिका स्मरण, भजन करते और इस प्रकार श्रीभगवान्‌के प्रेमका प्रचारकर संसारका कल्याण करते हैं, ठीक वही भाव इन गोपियोंमें था। वे गोपियाँ दिनरात मधुरस्वरसे श्रीभगवान्‌के पावन गुणोंका गान करतीं, उनके मनोहर नामका स्मरण करतीं, उनके अकृत्रिम और

चित्ताकर्षक रूपको अपने हृदय-मन्दिरमें स्थापितकर प्रेमनैवेद्य-द्वारा पूजा करतीं और जब उनका चित्त सर्वतोभावसे श्रीभगवान्‌में संलग्न हो जाता तो आनन्दके आधिक्यसे उन्हें रोमाञ्च होते, प्रेमाश्रु उनके नेत्रोंसे निकलने लगते, कण्ठ रुक जाते और वे प्रायः बेसुध हो जातीं मानो जाग्रत्-अवस्थाका सर्वथा तिरोभाव हो जाता। यह साधनाकी अवस्था भाव अवस्थाके लिये प्रार्थी होनेके तुल्य है; अर्थात् भावुक दास आदिभावमें प्रवेश करनेके लिये इसके द्वारा प्रार्थना करता है और उस भावका अनुकरण भी करता है। पद्यावलीके निम्नलिखित वाक्य श्रीगोपियोंके इस भावकी परमोत्तमता-के सूचक हैं—

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥
अयि नन्दतनूज किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पादपङ्कजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय॥
नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

'हे श्रीभगवन्! मैं न धन, न जन, न सुन्दरी और न कविता-शक्ति चाहता हूँ। मुझको केवल जन्म-जन्मान्तरमें तुझमें निष्काम भक्ति होवे। हे श्रीनन्दनन्दन! विषयभवसागरमें निमग्न

मुझ किङ्करको अपने चरणकमलोंपर पड़ी हुई रेणुके समान जान करके ग्रहण करो । हे प्रभो ! कब तुम्हारे नामको उच्चारण करते-करते मेरे नेत्रसे आनन्दाश्रु गिरेगा; गद्‌गद कण्ठ होनेसे वाणी बंद हो जायगी और आनन्दके आविर्भावसे सर्वांग रोमाञ्चित हो जायँगे ! हे सखि ! वे श्रीभगवान् करस्पर्शसे मुझे अपनाकर चरणरत दासी बनावें, अथवा दर्शन बिना मर्माहत करें, अथवा वे जैसा चाहें वैसा करें किन्तु मेरे एकमात्र प्राणनाथ वे ही हैं, दूसरा कोई नहीं ।' श्रीतुलसीदासजीकी भी ऐसी ही एक उक्ति है—'जौं तुम तजहु भजौं न आन प्रभु यह प्रमान पन मोरे । मन वच करम नरक सुरपुर जहँ तहँ रघुबीर निहोरे ॥'

गोपीभाव और विश्वकल्याण

श्रीगोपियोंका जन्म ही संसारमें श्रीभगवान्‌के प्रेमका आदर्श दिखलानेके लिये होनेके कारण उनके जीवन ही उपकारव्रतमें प्रवृत्त थे, जो उपकारी नहीं है वह कदापि श्रीभगवान्‌की भक्तिका अधिकारी नहीं हो सकता । पद्मपुराणके पातालखण्ड अ० ६१ में लिखा है—

कोमलं हृदयं नूनं साधूनां नवनीतवत् ।
वह्निसन्तापसन्तप्तं तद्यथा द्रवति स्फुटम् ॥
परतापच्छिदो ये तु चन्दना इव चन्दनाः ।
परोपकृतये ये तु पीड्यन्ते कृतिनो हि ते ॥
सन्तस्त एव ये लोके परदुःखविदारणाः ।
आर्त्तानामार्त्तिनाशार्थं प्राणा येषां तृणोपमाः ॥

(२९—३३)

'साधु (भक्त) का हृदय मक्खनके तुल्य कोमल होता है जो कि अग्निरूप परदुःखके संयोगसे पिघल जाता है। जो चन्दन-के तुल्य दूसरेके दुःखको मिटानेवाले हैं वे ही चन्दनपदवाच्य हैं और जो परोपकारार्थ क्लेश सहते हैं वे ही यथार्थ कृती हैं। जो दुःखियोंके दुःखके निवारणके लिये अपने प्राणोंको तृणतुल्य समझते हैं, संसारमें वे ही परदुःखापहारी मनुष्य साधु (भक्त) हैं।' इस परोपकारी कर्मको भी भावुक श्रीभगवान्‌के निमित्त ही करते हैं।

श्रीमद्भागवत पुराणमें लिखा है—

तत्कर्म हरितोषं यत् सा विद्या तन्मतिर्यया।
हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः॥

(४ । २९ । ४९-५०)

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥

(११ । ११ । २९)

'जिससे श्रीभगवान्‌की पुष्टि हो वही कर्म है अर्थात् वही कर्तव्य है; और जिससे उनमें रुचि हो वही विद्या है, क्योंकि श्रीभगवान् सब प्राणियोंकी आत्मा प्रकृतिरूप हैं तथा ईश्वर हैं। शरणागत भक्त सबोंके साथ कृपालु, अद्रोही, सबोंके प्रति क्षमा-शील, सत्यप्रतिज्ञ, निन्दा आदि दोषोंसे रहित, समभाववाले और सबके उपकारी होते हैं।'

इस अवस्थाकी सिद्धावस्थामें भावुकको श्रीभगवान् उसकी, और उसके द्वारा जगत्‌की तृप्तिके लिये, अपने प्रेमामृतका प्रसाद प्रदान करते हैं। इस अवस्थाको श्रीकृष्णलीलामें गोपियोंका वेणुगीत

सुनना कहा है। श्रीभगवान् जो अपने तेजःपुञ्ज (आनन्दमयी शक्ति) को आध्यात्मिक वंशीध्वनिद्वारा संसारके हितके लिये सञ्चार करते रहते हैं उसका यह हृदयमें श्रवण, अनुभव और दर्शन है, क्योंकि शब्द (ध्वनि) से स्पर्श और स्पर्शसे रूप होता है। दिव्य आध्यात्मिक वंशीध्वनि दिव्य अध्यात्मलोकमें 'परा' रूपमें और उसके नीचे 'पश्यन्ती' (वेणुगीत) है, जिस आनन्द-मयी जीवनशक्तिका संसारके हितके लिये सदा सञ्चार होता रहता है। इस वेणुगीतके हृदयमें गोचर होनेसे ही हृदयकमल खिल जाता और अवशेष वासना नष्ट हो जाती है।

गोपीभाव और विशुद्ध प्रेम

भगवत्प्रेमामृतका स्पर्श ऐसा मधुर है कि भावुक प्रेमसे उन्मत्त हो जाता और तबसे उसका चित्त संसारकी उत्तमोत्तम वस्तुमें भी कभी आसक्त न होकर केवल श्रीउपास्यके चरणकमलमें उनकी परम सेवाके निमित्त लीन रहता। नारदसूत्रका वचन है—

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवत्यात्मारामो भवति।

'जिस प्रेमके अनुभवसे भावुक मत्त हो जाता है, स्तब्ध (निश्चेष्ट) हो जाता है और आत्माराम (अपने हृदयस्थ श्रीभगवान्-में रमण करनेवाला) हो जाता है।' श्रीकृष्ण भगवान्की वंशी भी इस आध्यात्मिक प्रेमनादकी वाह्य सूचक थी और इसका क्या आश्चर्यजनक प्रभाव श्रीगोपियोंपर पड़ा वह नीचेके श्रीमद्भागवत पुराणके वचनोंसे विदित होगा——

वर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।

रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः ॥
इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम् ।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे ॥
नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-
मावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे-
र्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥
(१०।२१।५, ६, १५, १९)

'जिस प्रकार श्रीभगवान्‌ने श्रीगोपियोंके चित्तको आकृष्ट किया, वह कहते हैं—उनके मस्तकपर मोर-पंखका शिरोभूषण था, नट-के समान उनका शरीर था, वे दोनों कानोंमें कनेरके फूल पहने थे, सुवर्णके सदृश पीला जरीका पीताम्बर और वैजयन्ती (पाँच वर्णके सुगन्धित फूलोंकी गूँथी हुई) माला धारण किये हुए वे श्रीकृष्ण भगवान् वंशीके छिद्रोंको अधरामृत (मुखकी वायु) से पूर्ण करते (बजाते) और गोपवृन्दोंके मुखसे अपनी कीर्तिका गान सुनते हुए अपने चरणोंके चिह्नोंसे सबको रमणीय प्रतीत होनेवाले वृन्दावनमें गये। हे राजन्! इस प्रकार स्मरण करनेवाली वे गोकुलकी सभी स्त्रियाँ, सकल प्राणियोंका मन हरनेवाले वंशीके शब्दको सुनकर श्रीकृष्ण भगवान्‌के स्वरूपकी मधुरता आदिका वर्णन करती हुई पद-पदपर, परमानन्दमूर्ति श्रीभगवान्‌में मनसे रमण करने लगीं। एक गोपी कहने लगी कि अरी! जीवित प्राणियोंकी बात तो अलग रही,

इन निर्जीव नदियोंने भी श्रीभगवान्‌की मुरलीका गान सुनकर, भँवरोंके रूपसे सूचित होनेवाले प्रेमसे अपने प्रवाहके वेगको रोक दिया है और वे श्रीभगवान्‌को कमलरूपी भेंट अर्पण करती हुई अपनी तरङ्गरूपिणी भुजाओंसे श्रीभगवान्‌के चरण-युगलको, जैसे दृढ़ताके साथ आलिङ्गन होना चाहिये, वैसे ग्रहण करती हैं। गाय बाँधनेकी रस्सीको सिरपर रखे हुए श्रीभगवान् और बलराम-जीकी वंशीध्वनिसे गौ, मोर आदि जङ्गम प्राणियोंमें चलना-फिरना बंद हो जाता और वे स्थावरकी भाँति हो जाते थे तथा वृक्ष आदि स्थावरके शरीरोंमें रोमाञ्च होकर उनमें जङ्गमका गुण देखने-में आता था जो बड़े ही आश्चर्यकी बात है।' इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। श्रीभगवान् जो स्थावर और जङ्गम दोनोंके जीवन हैं और विश्वके मित्र, कारण तथा अन्तिम लक्ष्य हैं; अपने प्रेमयज्ञसे सबकी पुष्टि कर रहे हैं, उनके वंशीध्वनिरूप आह्वानका प्रभाव किस-पर नहीं पड़ेगा और कौन इसे अस्वीकार करेगा? यह ध्वनि प्रणव शब्द अथवा अन्य रूपमें हृदयमें सुनी जाती है किन्तु यह श्वासोंका शब्द 'हंस' अथवा 'सोऽहम्' नहीं है और न कर्णके बंद करनेके दीर्घ अभ्याससे जो नाना प्रकारकी ध्वनि (जिसमें वंशीध्वनि भी है) सुननेमें आती है वह है, क्योंकि इसके अन्तिम शब्द भी भूलोकके ही आकाशका है, अतएव भौतिक है। किन्तु श्रीभगवान्‌की वंशीध्वनि आध्यात्मिक 'पश्यन्ती' शब्द है जो चर्मके कर्ण-इन्द्रियके गोचर न होकर केवल शुद्ध और प्रेमाप्लुत हृदयमें ही प्रकट होता है। आजकल भी योग्य भावुक इस ध्वनिको सुनते हैं।

संसारमें भी यह भाव है कि मनोहर और पवित्र रूप अथवा मधुर ध्वनिके निमित्त प्रेम उपजनेपर प्रेमी प्रेमपात्रके साथ तन्मय होना चाहता है, क्योंकि प्रेमका स्वभाव ही एकीकरण है। रूप-प्रेमका उत्तम दृष्टान्त दीप-पतङ्ग है जो दीपके प्रेमके कारण अपनेको उसमें अर्पण करता है। ध्वनिके प्रेमके लिये मृग भी अपनेको अर्पण करता है। ऐसे ही साधनाकी परिपक्वता होनेपर और श्रीभगवान्‌के चरणामृत और मधुर वंशीध्वनिद्वारा प्रेमकी जागृति होनेपर भावुक श्रीभगवान्‌की साक्षात् सेवाके लिये अर्थात् आत्मनिवेदन करनेके लिये व्याकुल और व्यग्र होता है और इस अभावके कारण असह्य वेदना अनुभव करता है। लिखा है—

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे॥

(पद्यावली)

अटति यद्भवानह्नि काननं
त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। १५)

गोपियाँ कहती हैं कि 'श्रीभगवान्‌के विरहका निमेष-काल भी मेरेलिये युगके समान है, नेत्रोंकी अश्रुधारा वर्षा-कालकी वर्षाके समान चल रही है। और सम्पूर्ण संसार शून्य दीख पड़ता है। हे श्रीभगवन्! जब तुम दिनके समय वनमें विचरण करते हो तब तुम्हें न देखनेवाले प्राणियोंको त्रुटिमात्रका समय

भी युगके तुल्य हो जाता है और जब सन्ध्याके समय तुम लौट-कर आते हो तब घुँघुराले केशोंसे युक्त और अतिसुन्दर तुम्हारे मुखको बड़े प्रेमके साथ देखनेवाले प्राणियोंको, नेत्रोंकी पलक बनानेवाला ब्रह्मा भी मूर्ख प्रतीत होने लगता है; अर्थात् दर्शनमें पलक लगनेमात्रका अन्तर भी नहीं सुहाता है।'

इस अवस्थामें भावुक श्रीभगवान्‌के बिना क्षणभर भी रह नहीं सकता है। एक जिज्ञासुने एक महात्माके निकट जाकर निवेदन किया कि मुझे श्रीभगवान्‌की प्राप्तिका उपाय बतलाइये। वे उसको नदीमें स्नान करवानेके लिये ले गये और उन्होंने उसे गहरे जलमें ले जाकर छोड़ दिया। वह जलमें ऊबडूब करने लगा जिसके बाद महात्माने उसे निकाल लिया। बाहर आनेपर महात्माने उससे पूछा कि तुम्हारे डूबते रहनेके समय क्या भावना तुम्हारे चित्तमें थी ? उसने उत्तर दिया कि केवल एकमात्र यही भावना थी कि किसी प्रकार श्वास लेनेके लिये वायु मिले, इसके सिवा अन्य कुछ नहीं थी। तब महात्माने कहा कि जिस प्रकार डूबते समय तुमको केवल श्वासमात्रके लिये वायुके पानेकी इच्छा थी, अन्य कुछ नहीं; उसी प्रकार जब एकमात्र प्रबल वाञ्छा श्रीभगवान्‌की प्राप्तिके लिये होगी, जिनके बिना (श्वासके तुल्य) तुम रह नहीं सकोगे, और इसके सिवा अन्य कोई भावना न रहेगी, तभी वे मिलेंगे। यह दृष्टान्त भक्तिभावके लिये अवश्य उपयुक्त है।

तीसरी अवस्था सम्बन्धकी है। श्रीउपास्यसे साक्षात् मिलन और उनकी साक्षात् सेवामें प्रवृत्त होनेके लिये भावुक बहुत व्यग्र

हो जाता है और यह उत्कण्ठा उसमें ऐसी प्रबल हो जाती है कि दिन-रात यही भावना उसके चित्तको कब्जा किये रहती है। इसी धुनमें वह निमग्न रहता, और संसारके सब कुछ उसको फीके लगते हैं। वह इस मिलनके लिये कठिन-से-कठिन त्याग करता, ऐसा कोई कष्ट नहीं जिसको इसके लिये वह सहर्ष सहन नहीं करता और ऐसी कोई सेवा नहीं जिसको श्रीउपास्यकी प्रीतिके लिये वह सम्पादन नहीं करता। वह इस मिलनके लिये मानों व्रत धारण करता है। श्रीगोपियोंने इस भावमें श्रीभगवान्‌के मिलनेके लिये व्रत धारण किया और विशेष नियमको धारण कर श्रीकात्यायनी (पराशक्ति) देवीकी उपासना की। इसका भाव यह है कि श्रीपराशक्ति और श्रीजगद्गुरुकी इस भावमें विशेष सहायताकी आवश्यकता होती है जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। इस अवस्थाका वर्णन श्रीमद्भागवत पुराणमें यों है:—

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनानन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाशयः॥
(११ । १४ । २३)

क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित्॥
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह॥
क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्शनिर्वृतः।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः॥
(७ । ४ । ४१—४३)

और भी—

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीञ्च । तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि । (नारदसूत्र)

'भगवान्‌के स्मरणसे रोमाञ्च हुए विना, चित्तके द्रवीभूत हुए विना और आनन्दाश्रु वहाये विना हृदयकी शुद्धि नहीं होती । श्रीप्रह्लाद कभी तो श्रीभगवान्‌के चिन्तनसे अन्तःकरण क्षुब्ध होनेपर रोदन करने लगते थे, कभी भगवच्चिन्तनसे आनन्द प्राप्त होनेपर हँसने लगते थे और कभी-कभी ऊँचे स्वरसे श्रीभगवान्‌के गुणोंका गान करते थे । कभी-कभी वह बड़ी (हे हरे ! हे प्रभो ! इत्यादिकी) गर्जना करते थे, कभी निर्लज्ज होकर नृत्य करने लगते थे और किसी समय श्रीभगवान्‌के चिन्तनमें अत्यन्त लवलीन होनेपर तन्मय होकर अपने-आप भी श्रीभगवान्‌की लीलाओंका अनुकरण करने लगते थे, कभी-कभी श्रीभगवत्स्वरूपमें लीन हो जानेके कारण वह सुखमें निमग्न होते थे, उनके शरीरमें रोमाञ्च हो जाते थे और अचल प्रेमसे उत्पन्न हुए आनन्दके अश्रुओंसे युक्त होनेके कारण उनके नेत्र कुछ-एक मुँद जाते थे, तब वह कुछ भी न बोलकर स्वस्थ वैठे रहते थे । जो प्रेमसे गद्गदकण्ठ हो, शरीरसे रोमाञ्चित हो, नेत्रोंसे हर्षके अश्रु बहाकर परस्पर श्रीभगवान्‌के विषयकी वार्ता करते हैं, वे अपने कुलोंका उद्धार करते हैं और पृथिवीको पवित्र करते हैं ।

वे तीर्थको भी पवित्र करते हैं, वे कर्मोंको भी पवित्र करते हैं और शास्त्रको सुशास्त्र (लोकमान्य शास्त्र) कर देते हैं।'

भावुक इस गोपीभावकी अवस्थामें कभी-कभी अपनेको भूल करके जाग्रत् अवस्थासे अन्य अवस्थामें चला जाता जिसको 'भाव' की अवस्था कहते हैं और तब वह हृदयमें श्रीउपास्यके आन्तरिक समागमके आनन्दका अनुभव करता है। इस भावके मिटनेपर भी इसका प्रभाव भावुकपर रहता है, अर्थात् उसके शरीरमें विलक्षण पवित्र कान्ति और लावण्य आ जाता है, उसका हृदय सदा श्रीउपास्यके प्रेमसे पूरित रहता और उसके कार्यकलाप, रहन-सहन, वार्तालाप और भावना, इन सभीमें, श्रीउपास्यकी तन्मयताकी छाप स्पष्ट देख पड़ती है। उसके जीवनका सूत्र श्रीउपास्यके हाथमें रहता और उनके द्वारा वह यन्त्रके समान जैसा प्रेरित होता वैसा ही करता है।

गोपीभाव और अनात्मभावका ध्वंस

इस अवस्थामें श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्यकी कृपासे उसके हृदयका मोहान्धकार दूर हो जाता है, और उन्हींकी कृपाद्वारा उसमें आनन्दमयी ह्लादिनीशक्ति (आध्यात्मिक ऊर्ध्वकुण्डलिनी) की यथेष्ट जागृति होती है। आभ्यन्तरिक षट्चक्र वेधे जाते हैं, तीनों उपाधियाँ शुद्ध और पवित्र की जाती हैं, अन्तरात्मा उन उपाधियोंमें कैदीकी भाँति बद्ध न रहकर जैसा कि साधारण मनुष्योंकी दशा है, उनसे मुक्त हो जाती है। उस समयसे अन्तरात्मा उपाधियोंके गुणोंसे पराभूत और प्रेरित न होकर

उनका प्रभु बन जाती और उनको श्रीभगवान्के काममें प्रयोजित करती है। यह हठ अथवा मन्त्रयोगसे आधिभौतिक अधःकुण्डलिनीको जगाना नहीं है, अथवा स्थूल चक्रोंका उत्थान करना नहीं है जिससे प्रायः हानि होती है, क्योंकि वास्तविक चक्र और कुण्डलिनीशक्ति स्थूल शरीरमें नहीं हैं, यहाँ तो उनका केवल प्रतिरूप है जिसको आधिभौतिक उपायसे छेड़छाड़ करनेसे वे आध्यात्मिक कार्यके लिये अयोग्य हो जाते हैं। भावुकमें ये सब आन्तरिक परिवर्तन श्रीसद्गुरु और पराशक्ति श्रीउपास्य-द्वारा होता है, अतएव ठीक-ठीक होता है और इससे कोई अनिष्ट फल नहीं होने पाता। हठयोग आदिद्वारा इनके उत्थानके यत्नमें प्रायः बड़ी हानि और व्याधि भी हो जाती हैं, साधक प्रायः विक्षिप्त हो जाता है और यदि हृदय परम शुद्ध न रहे तो काम-क्रोधादिकी ऐसी वृद्धि हो जाती है कि साधकका पतन हो जाता है। यह श्रीसद्गुरुद्वारा प्राप्त एक दीक्षा है। यही श्रीगोपीके सम्बन्धमें चीर (वस्त्र) हरण लीला कही गयी है। गोपीके चीर (वस्त्र) से तात्पर्य शरीररूपी तीनों उपाधियोंसे है जिनको श्रीउपास्य अपने हस्तकमलके पवित्र स्पर्शसे शुद्ध-स्वच्छ और मल एवं विकारसे रहित कर देते हैं और तब वह (दीक्षित गोपीरूप भावुक) उनको धारण करते हुए भी श्रीउपास्यके मिलनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकता है जो कि उपाधिके मलिन रहनेपर कदापि सम्भव नहीं है। इसका मुख्य आध्यात्मिक भाव यह है कि यह 'मिलन' शुद्ध अन्तरात्मा 'प्राज्ञ' का है जिसको अपनी उपाधि (वस्त्र) की आसक्तिसे मुक्त होकर शुद्ध चिद्रूपमें

(अर्थात् प्राकृतिक जड़ उपाधियोंको त्यागकर अर्थात् इस प्रकार उनके विना नंगे होकर) श्रीउपास्यके निकट जाना चाहिये और तबसे उसकी उपाधि भी ऐसी होनी चाहिये जो शुद्ध, स्वच्छ और मल और विकारसे रहित हो जो श्रीउपास्यके पवित्र स्पर्श अर्थात् छापके उसपर पड़ जानेसे सम्भव है। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने गोपियोंके वस्त्रों (उपाधियों) को लेकर अपने हस्तकमलके स्पर्शसे शुद्धकर वापस कर दिया और उपाधि (वस्त्र) में जो उन लोगोंको आसक्ति थी उसको थोड़े कालके लिये विवस्त्र (निरुपाधि) करके छुड़ा दिया। श्रीभगवान्‌ने उन्हें वतला दिया कि अन्तरात्मा किस प्रकार गुणमयी उपाधिको त्यागकर भी श्रीचरणमें युक्त हो सकती है।

श्रीमद्भागवत पुराणमें लिखा है—

भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये।

(१०। २२। ८-९)

'योगेश्वर (श्रीसद्गुरुगण) के भी ईश्वर श्रीभगवान् ऐसा जानकर कि श्रीगोपियोंका व्रत करना उनकी प्राप्तिके लिये है, उनके व्रतके फलको देनेके निमित्त मित्रोंसहित वहाँ जा पहुँचे। इसमें योगेश्वर शब्दका व्यवहार श्रीभगवान्‌के लिये इसी कारण है कि गोपियोंका व्रत प्रेम-योगकी दीक्षा पानेके निमित्त था और सखाके साथ आनेका तात्पर्य है कि इस दीक्षामें श्रीसद्गुरु (सखा) और श्रीउपास्य दोनोंकी आवश्यकता रहती है। इस दीक्षाके वाद भावुककी ठीक अवस्था उस नवोढाके समान हो जाती है जिसको पतिसे सम्बन्धका निश्चय तो अनेक दिन पहले

हो गया था किन्तु अब उसके मिलन अर्थात् गौनाका समय नज़दीक आ गया और जिसके कारण वह रंगीन वस्त्र (प्रेमरञ्जित उपाधि) धारण करती है । इस अवस्थाका महात्मा कबीरने होली-रागमें यों वर्णन किया है—

आई गवनवाँकी सारी, उमिरि अबहीं मोरि बारी ॥टेक॥
साज समाज पिया लै आये, और कहरिया चारी ।
बम्हना बेदरदी अँचरा पकरिकै, जोरत गँठिया हमारी ।
सखी सब पारत गारी ॥ १ ॥
विधि गति वाम कछु समुझ परत ना, वैरी भई महतारी ।
रोय रोय, अँखिया मोर पोछत, घरवासे देत निकारी ।
भई सबको हम भारी ॥ २ ॥
गवना कराय पिया लै चलले, इतउत बाट निहारी ।
छूटत गाँव नगरसे नाता, छूटै महल अटारी ।
करमगति टरै न टारी ॥ ३ ॥
नदिया किनारे बलम मोर रसिया, दीन्ह घुँघट पट टारी ।
थरथराय तन काँपन लागे, काहू न देख हमारी ।
पिया लै आये गोहारी ॥ ४ ॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह पद लेहु विचारी ।
अबके गौना बहुरि नहिं औना, करि ले भेट अँकवारी ।
एक बेर मिलिले प्यारी ॥ ५ ॥

इस अवस्थाको 'हंस' की अवस्था भी कहते हैं ।

श्रीभगवान्‌का याज्ञिक ब्राह्मणोंसे भोजन माँगना और उनके अस्वीकार करनेपर उनकी स्त्रियोंका भोजन प्रदान करना भी आध्यात्मिक भावसे पूर्ण है । श्रीभगवान् चाहते हैं कि यज्ञ उनमें अर्पित हो किन्तु सकामभाववाले (प्रवृत्तिमार्गवाले) इस आज्ञाको

न मान अपने स्वार्थके लिये यज्ञ करते हैं। यहाँ याज्ञिक ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंका भक्ति-मार्गको अनुसरण करनेवालोंसे तात्पर्य है, क्योंकि वे सादर अपने कर्मको श्रीभगवान्‌में अर्पण करते हैं। श्रीभगवान्‌ने ब्राह्मणपत्नियोंका समर्पित भोजन अपने सखाओंको दिया, इसका यही तात्पर्य कि श्रीभगवान्‌में जो कर्म अर्पित किये जाते हैं उनको वे संसारके कल्याणमें व्यवहृत करते हैं, जैसा कि बार-बार कहा जा चुका है। इसी प्रकार श्रीगोवर्द्धनलीला भी रहस्यमय है।

रासोत्सवभाव

जिस आत्मनिवेदनके लिये अनेक जन्मोंमें कठिन साधनाएँ की गयीं, अनेक प्रकारके दुःसह क्लेश भोगे गये, जो कदापि त्याग करनेलायक नहीं हैं उनका भी त्याग किया गया, कंटकाकीर्ण पथसे गमन करना पड़ा, मानो शरकी शय्यापर सोना पड़ा, कामादि शत्रुओंके प्रबल आघातको बर्दाश्त करना पड़ा, प्रिय आत्मीय और परिजनके बिछोहको भोगना पड़ा और संसारकी दृष्टिमें जो कुछ प्रिय और मधुर हैं उन सबको स्वाहा करना पड़ा, उसकी पूर्तिका अब समय आ गया है। अब अन्तरात्माके कल्पान्तरके बिछुड़े हुए अपने प्रियतमके मधुर मिलनका शुभ अवसर आ गया जिस मिलनसे केवल प्रेमीको ही शान्ति नहीं मिलती है किन्तु विश्वभर इस मिलनसे तृप्त होता है। यह जन्म-जन्मके विरहिणीके अनेक भ्रमण और कष्टके बाद अपने प्रियतम-का लाभ करना है। नवोढा (भावुक) जो अनेक कालसे अपने प्राणप्रियके चित्रको अपने हृदयमन्दिरमें पूजा करती थी और

जिसको उसने अपना सर्वस्व अर्पण किया था उसका यह साक्षात् मिलन है ।

ऐसे प्रेममिलनके समय सृष्टि भी आनन्दसे पूर्ण हो जाती है, स्थावर-जंगम सब प्रफुल्लित हो जाते हैं, यहाँतक कि देवगण भी इसके दर्शनके लिये बड़े अधीर हो जाते हैं, क्योंकि इसके द्वारा श्रीभगवान्‌के सृष्टियज्ञके ठाननेका उद्देश्य पूर्ण होता है जिसके होनेसे विश्वमात्रकी तृप्ति होती है । आत्मनिवेदनके लिये इस मिलनके पूर्व भावुकको फिर एक दीक्षा दी जाती है जिसके होनेसे वह इस परम मिलनमें योग देनेके योग्य होता है । इस दीक्षाको श्रीगोपीलीलामें श्रीभगवान्‌की वंशीध्वनिद्वारा आह्वान है । यथार्थमें यह शब्ददीक्षा शब्दद्वारा ही होती है । इस अवस्थामें श्रीभगवान्‌की परम मधुर वंशीध्वनि अन्तरमें सुननेमें आती है जो उनका आह्वान है और जिसको श्रवणकर भावुक उसी शब्द (आनन्दमयी शक्ति) में अपनेको तन्मय करके उसीके सहारेसे श्रीभगवान्‌के समीप पहुँचता है अर्थात् नादज्योतिरूपा शक्ति ही उसको श्रीउपास्यके अन्तःपुरमें ले जाती है । तब वह श्रीभगवान्‌के रमण (रास) लीलामें साक्षात् भावसे युक्त होता है । नवोढा (भावुक) ने श्रीउपास्यके साथ नेहका सम्बन्ध होते ही, सब कुछ अर्पण कर दिया था, किन्तु साक्षात् मिलन रिक्तहस्त न हो, इसलिये केवल आत्माको रख लिया था जिसको अब साक्षात् मिलनमें अर्पण करेगी । अबतक इस साक्षात् मिलन और आत्मसमर्पणकी चाह और तैयारी की जिसकी स्वीकृति हो गयी थी किन्तु अब अर्पण करनेका सुअवसर आ गया । यह अन्तिम

त्याग है। भावुक शुद्ध गोपी बनकर श्रीउपास्यमें आत्मनिवेदन करता है। श्रीगोपियोंके इस दिव्य अभिनयका वर्णन श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धकी रासपञ्चाध्यायी अ० २९ से ३३ तकमें है।

श्रीरासपञ्चाध्यायीमें कथा है कि शरद् ऋतुके अन्तमें आश्विनकी पूर्णिमाकी रात्रिमें श्रीभगवान्‌ने वंशीध्वनिकर रासलीलामें युक्त होने (आत्मनिवेदन) के लिये गोपियोंको आह्वान किया जिसकी प्रतीक्षा वे दिन-रात कर रही थीं और जो उनके जीवनका एकमात्र लक्ष्य था। इस वंशीध्वनिकी दीक्षा पाते ही गोपियाँ अपने गृह-परिजन आदिको उसी क्षण विना विलम्बके अनायास त्यागकर उस ध्वनिमें तन्मय होकर वहाँ पहुँचीं जहाँ श्रीभगवान् थे। श्रीमद्भागवत पुराण स्कं० १० अ० २९ में लिखा है—

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥४॥

'परम प्रेमकी वृद्धि करनेवाली वंशीध्वनिको सुनकर, जिनके मन श्रीभगवान्‌ने खींच लिये हैं ऐसी गोपियाँ, एक दूसरेसे अलक्षित होकर, जहाँ श्रीभगवान् थे वहाँ ध्वनिके मार्गसे चली गयीं, उस समय जानेकी शीघ्रतासे उनके कानोंके कुण्डल हिलते थे।' कहा जाता है कि इस ध्वनिके सुनते ही जो गोपी जिस अवस्थामें थी वैसी ही श्रीभगवान्‌की ओर दौड़ चली अर्थात् जिस कार्यमें प्रवृत्त थी उसको अधूरा ही ज्यों-का-त्यों छोड़कर चल दी। यथार्थमें श्रीभगवान्‌का आह्वान पाकर कौन विलम्ब कर सकता

है ? इस आह्वानकी पूर्तिमें वाह्य दृष्टिसे जो त्याग और कष्ट हैं वे परम आवश्यक हैं और परमार्थकी दृष्टिसे सुखप्रद हैं। श्रीभगवान्‌के परमप्रिय पाण्डवोंने जैसा कष्ट सहा और त्याग किया उससे अधिक और क्या हो सकता है ? किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि श्रीभगवान् भक्तपर दया करके ही इन त्याग और कष्टोंके द्वारा उसको निर्मल बना देते हैं। इस अवस्थामें अब अन्तिम त्याग करना पड़ता है अर्थात् जो कुछ लेशमात्र भी आसक्ति किसी सात्त्विकभावके लिये भी रह गयी हो उसको भी त्यागकर केवल नग्न (विशुद्ध) आत्माको श्रीभगवान्‌में अर्पण करना पड़ता है।

गोपियोंने तो श्रीभगवान्‌के प्रेमके लिये पिता, पुत्र, परिजन, भाई, कुटुम्ब, गृह, समाज, शयन, भोजन, लोकलज्जा आदिका पहले ही त्याग कर दिया था अर्थात् उन्हें यह तनिक भी परवा नहीं थी कि श्रीभगवान्‌के प्रेमके लिये स्तुति होगी अथवा निन्दा, उनके स्वजन उनको त्यागें अथवा रखें, गृह रहना पड़े अथवा वनमें, भोजन मिले अथवा उपवास करना हो; किन्तु वे अपने सच्चे प्रेमसे टलनेवाली नहीं थीं। वास्तवमें उन्हें इस प्रेमके कारण अनेक कष्ट भोगने पड़े थे, किन्तु इससे उनके प्रेमकी वृद्धि हुई, कमी नहीं। अब इस आत्मनिवेदनके समय उन्हें अन्तिम त्याग करना पड़ा अर्थात् पतितकको त्यागकर वे श्रीभगवान्‌की शरणमें गयीं। वे कभी लुक-छिपकर श्रीभगवान्‌के निकट नहीं गयीं परन्तु जाते समय परिजनोंसे मना किये जानेपर भी गृह और परिजनोंके सम्बन्धको त्यागकर श्रीभगवान्‌के चरणोंमें सम्मिलित हुईं। परिजनोंके

निवारणको न मानकर श्रीगोपियोंका जाना उनके साथ सम्बन्धको पूर्णरूपसे त्यागना था। गोपियाँ समझ गयी थीं कि परिजनके निवारण करनेपर जानेसे वे वापस आनेपर गृहमें स्थान न पावेंगी अर्थात् उनका परिजन, गृह, धन आदिसे सदाके लिये विच्छेद होगा किन्तु श्रीभगवान्की सेवाके निमित्त अपनेको अर्पण करनेकी भावनासे उन्होंने इस सर्वस्व-विच्छेदकी तनिक भी परवा न की। इसमें भी आध्यात्मिक रहस्य है। इस परम भाव अर्थात् आत्म-निवेदनके करते समय उस दीक्षित प्रेमीको इस समर्पणसे रोकनेके लिये मायाकी ओरसे बहुत बड़ी चेष्टा की जाती है, बड़े-बड़े प्रलोभन दिखलाकर उसको इससे निवृत्त करनेका यत्न किया जाता है और यदि वह लोभसे विचलित न होता तो बहुत बड़े भय और क्लेशकी सम्भावना दिखलायी जाती है। भगवान् बुद्धको निर्वाणदशाकी प्राप्तिके पूर्व मायाके दलके प्रलोभन और भयका बड़ा कठिन सामना करना पड़ा और उनके प्रभावसे बचनेपर ही उनको निर्वाणका लाभ हुआ। इस अवस्थामें प्रेमी दीक्षितको मोक्षका लोभ भी दिखलाया जाता है और मोक्षके लोभको दिखलाकर इस परम त्यागसे निवृत्त करनेका यत्न किया जाता है। अन्य मार्गका अनुसरण करनेवाले प्रायः इस प्रबल मायाके भुलावेमें पड़कर गिर जा सकते हैं, किन्तु भक्तकी श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्यदेव रक्षा करते हैं। यह अन्तिम त्याग परमावश्यक है। श्रीतुलसीदासजीका वचन है—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥

तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रजबनितनि, भये जग मंगलकारी ॥
नाते नेह रामके मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं ।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य प्रान तें प्यारो ।
जासों होय सनेह रामपद, एतो मतो हमारो ॥

यह भाव नवोढाके नैहरसे पतिके गृहमें जानेका है जहाँसे फिर वह कदापि वापस नहीं आवेगी । नवोढाको अपने हृदयेश्वरसे प्रथम मिलनमें जो सुख होता है और जो सांसारिक सब सुखोंमें मधुर समझा जाता है वह इस मिलनके आनन्दकी दृष्टिसे तुच्छाति-तुच्छ है । उसको इस परम पयान (गौने) के समय नैहररूप शरीरके सम्बन्धियोंसे सम्बन्ध त्यागना है जो रोदन करके इस सम्बन्धको तोड़नेसे विरत करनेकी चेष्टा करते हैं । महात्मा कबीरदासजीने इस भावका यों वर्णन किया है—

मिलना कठिन है, कैसे मिलौंगी पिय जाय ॥ टेक ॥
समुझि सोचि पग धरौं जतनसे, बार बार डिग जाय ।
ऊँची गैल, राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय ॥
लोकलाज कुलकी मरजादा, देखत मन संकुचाय ।
नैहर बास बसौं पीहरमें, लाज तजो नहिं जाय ॥
अधर भूमि जहँ महल पियाका, हम पै चढ़ो न जाय ।
धन भइ वारी पुरुष भये भोला, सुरत झकोरा खाय ॥
दूती सतगुरु मिले बीचमें, दीन्हो भेद बताय ।
दास कबीर पियासे भेंटे, सीतल कंठ लगाय ॥

और भी—

पिया मिलनकी आस, रहौं कबलौं खड़ी।
ऊँचे चढ़ि नहिं जाय, मनें लज्जा भरी॥
अंतर पट दे खोलि, सबद उर लावरी।
दिल विच दास कबीर, मिलै तोहिं बावरी॥

श्रीभगवान्के सामने पहुँचनेपर भी उस प्रेमीकी परीक्षा होती है और उसको फिर एक बार कहा जाता है कि उसके लिये अब भी सम्भव है कि वह आत्मार्पणरूप प्रेमाहुति न करके अपनी पूर्वकी अवस्थामें लौट जाय अथवा मोक्ष स्वीकार कर ले। श्रीभगवान्ने इस प्रकार श्रीगोपियोंके प्रेमकी परीक्षा की और उन लोगोंको गृह लौटनेको कहा। इसके उत्तरमें गोपियोंने जो कहा वह इस भावकी प्रगाढ़ताको भलीभाँति दरसाता है—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥
कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्म-
न्नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥
चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।

पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥
(श्रीमद्भा० १०। २९। ३१, ३३, ३४)

श्रीगोपियोंने कहा कि 'हे श्रीभगवन्! ऐसा निषेधरूप मर्मघाती भाषण करना तुम्हें उचित नहीं है। जैसे आदिपुरुष श्रीविष्णु मोक्षकी इच्छा करनेवालोंको अङ्गीकार करते हैं वैसे ही सब विषयोंको त्यागकर तुम्हारे चरणतलका सेवन करनेवाली हमें तुम अङ्गीकार करो, त्यागो मत। हे श्रीभगवन्! कुशल पुरुष अपने नित्यप्रिय, अन्तर्यामी आत्मारूप तुममें अपनी आत्माको अर्पणकर रमण करते हैं, क्योंकि इस लोकमें संसारदुःख देनेवाले पतिपुत्रादिकोंसे क्या करना है? इस कारण तुम हमारे ऊपर प्रसन्न होओ, दीर्घकालसे लगी हुई तुममें आत्मसमर्पण करनेकी हमारी आशाको मत भंग करो। जो तुम घर लौट जानेको कहते हो, वह होना कठिन है, क्योंकि हमारा चित्त, इतने समयपर्यन्त सुखसे घरके कार्यमें व्यस्त था उसको तुमने हर लिया, हमारे घरके काममें लगे हुए हाथोंको तुमने चेष्टारहित कर दिया, अब हमारे पाँव भी तुम्हारे चरणकमलके समीपसे दूसरे स्थानमें एक पगभर जानेको समर्थ नहीं हैं, फिर हम गोकुलको कैसे जायँ और वहाँ जाकर क्या करें?'

इसके बाद श्रीगोपियों और श्रीभगवान्का अलौकिक और परम पावन मिलन हुआ जो अवश्य आध्यात्मिकभावमें आत्माका परमात्माके साथ मिलन अर्थात् आत्म-निवेदन है। वहाँ लिखा है—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥४२॥

'हे राजन् ! इस प्रकार उन श्रीगोपियोंके शरणागतिसूचक भाषण सुनकर अपनी आत्मा (श्रीपराशक्ति) में रमण करनेवाले योगेश्वरेश्वर श्रीभगवान्‌ने गोपियों (चिच्छक्तियों) के साथ रमण (शक्तिसञ्चारलीला) किया।' यहाँ श्रीभगवान्‌के लिये 'योगेश्वरेश्वर' और 'आत्माराम' विशेषण दिया गया है जिससे स्पष्ट अर्थ यह है कि यह आध्यात्मिकभावमें प्रेम-योगकी दीक्षा है और जैसे आत्मामें रमण किया जाता है उसी प्रकार यह भी जीवात्मा-परमात्माका आभ्यन्तरिक हृदयस्थ रमण था, बाह्य (शारीरिक) कदापि नहीं। इस परमदुर्लभ मिलनके आनन्दके अनुभवसे अन्तरात्मामें अपनी उत्कृष्टताका भाव आना सम्भव है, क्योंकि मिलन होते ही पूर्ण आत्मनिवेदन और एकीभाव नहीं होता। इस मानके होनेपर श्रीभगवान् अलक्षित हो जाते हैं। हृदयसे श्रीभगवान्‌के अलक्षित होनेपर अन्तरात्मा अत्यन्त ही विह्वल और व्यग्र होकर अन्वेषणमें प्रवृत्त होता है। संसारमें मित्र-मित्र, पति-पत्नी, पिता-पुत्र आदिका वियोग प्रायः असह्य और हृदयविदारक होता है जिसके कारण विरहीको संसार शून्य देख पड़ता है। भोजन आदि आवश्यक कर्म भी बंद हो जाते और उसका चित्त दिन-रात अपने बिछुड़े हुए प्रियपात्रके मिलनके लिये स्वाभाविक रूपसे व्यग्र रहता है। जब कि सांसारिक सम्बन्धके बिछोहमें ऐसी दशा होती है तो फिर विश्वके आत्मा आनन्दकन्द करुणापुञ्ज श्रीभगवान्‌की साक्षात्

सेवासे विच्छेद होनेसे विरहीकी क्या दशा होगी ? इसका वर्णन कठिन है, किन्तु यह विच्छेद-विरह अन्तरात्माके लिये परमावश्यक है और इसी कारण उसके हितके लिये ही यह भाव प्रदान किया जाता है । प्रेमकी परीक्षा और वृद्धि प्रियतमके विछोहहीसे होती है । किसी-किसीके लिये समीपतासे इसके घटनेकी सम्भावना रहती है । इसी नियमके अनुसार श्रीभगवान् भी श्रीगोपियोंके बीचसे उनमें मद और मानके आनेपर उनका शमन करनेके लिये और श्रीगोपियोंके कल्याणके लिये अन्तर्द्धान हो गये । श्रीमद्भागवत पुराणका यह स्पष्ट वाक्य है ।

रासोत्सवभाव और तन्मयता

श्रीभगवान्के अन्तर्द्धान होनेपर गोपियाँ हृतात्मा (जिसकी आत्मा हर ली गयी हो) होकर श्रीभगवान्के अन्वेषणमें प्रवृत्त हुईं । श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है—

गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्त्तयः ।
असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः॥
गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम् ।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्॥
(१० । ३० । ३-४)

'उन प्रिय श्रीभगवान्की गति, हास्य, देखना और भाषण आदिकी ओर ही उनका मन लगा हुआ था, इतना ही नहीं, किन्तु देह भी एकताको प्राप्त हो रही थी, और श्रीभगवान्के तुल्य ही जिनकी क्रीडा-विलासोंका प्रारम्भ हो रहा था, ऐसी श्रीकृष्णमयी और श्रीकृष्णप्रिया गोपियाँ, 'श्रीभगवान् मैं ही हूँ', ऐसा परस्पर

कहने लगीं। वे एक साथ मिलकर ऊँचे स्वरसे श्रीभगवान्‌का गान करती थीं और उन्मत्तके समान होकर एक वनसे दूसरे वनमें, फिर तीसरेमें, इस प्रकार घूमती हुई श्रीभगवान्‌को ढूँढ़ने लगीं और आकाशके सदृश स्थावर-जंगम प्राणिमात्रके भीतर और बाहर व्याप्त उन पुराणपुरुष श्रीभगवान्‌का पता वृक्षोंसे पूछने लगीं।'

वृक्षके सिवा लता, पुष्प, फलवाले वृक्ष, पशु और पृथ्वी-तकसे श्रीगोपियोंने श्रीभगवान्‌की सुधि पूछी। विरहदशामें प्रियतम-के निमित्त चिन्ता और भावना विशेष प्रबल और व्यापक होनेके कारण प्रेमकी मात्रा बहुत बढ़ जाती है और गोपियोंमें इसका ऐसा प्राबल्य हुआ कि वे अपनेको श्रीभगवान् मानने लगीं। प्रेम-की प्रबलतासे आत्मविस्मरण अवश्यम्भावी है और तब अन्तरात्मामें केवल एक श्रीउपास्यका भाव रह जाता है—यह भी आत्मनिवेदन-के अन्तर्गत है। गोपियाँ स्थावर-जंगम आदि सबसे श्रीभगवान्‌के विषयमें पूछने लगीं। सो ठीक था। इसका भाव यह है कि रासोत्सव आध्यात्मिक भाव होनेके कारण आत्मा और परमात्माका एकीभाव है न कि स्थूल शरीरका। अतएव स्थावर-जंगमके भीतर भी जो श्रीभगवान् अपने विश्वरूप भावमें विराज रहे हैं, यह ज्ञान इस अवस्थामें आत्मस्थिति और सर्वात्मदृष्टिके कारण प्रत्यक्ष हो जाता है जिससे गोपियोंको, जिनमें सर्वात्म-दृष्टि मुख्य था, ये सब चैतन्य भगवदंश बोध हुए। इस विरहके कारण गोपियाँ श्रीभगवान्‌में ऐसी तन्मय हो गयीं कि उनकी लीलाओंका अनुकरण करने लगीं, जैसा कि पूतनाका स्तन पीना, शकटका तोड़ना,

तृणावर्तवध, गौओंकी चरवाही, गोवर्धनधारण, कालियदमन, अग्नि-भयनाश आदि। और इनके द्वारा उनको किञ्चित् शान्ति मिलने लगी।

इस गोपीभावके प्रेमयोगमें अहंताका लय आत्मामें और आत्माका अर्पण श्रीभगवान्‌में होकर केवल एक भगवान् ही रह जाते हैं। जब अहंभाव ही न रहा तो अहंभावसम्बन्धी कोई कर्म कैसे हो सकता है? आत्मा यन्त्र बन जाता है और उसके द्वारा केवल श्रीभगवान्‌की ही लीला की जाती है। जीवात्माके पृथक् भावकी लीलाकी तो इतिश्री हो जाती है। यहाँ दोके लिये स्थान नहीं रहता। इसी कारण गोपियाँ रासके पूर्व अपने सम्बन्धकी लीला न कर तन्मयताके कारण श्रीभगवान्‌की लीलाका अनुकरण करने लगती हैं। कबीर साहबने अहङ्काररूप मस्तककी बलि अर्थात् अर्पणकर एकीभूत होनेका वर्णन यों किया है—

यह तो घर है प्रेमका, खालाका घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ परै, तब पैठे घर माहिं॥
सीस उतारे भुइँ धरै, तापर राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव॥
प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥
प्रेम पियाला जो पियै, सीस दच्छिना देय।
लोभी सीस न दे सकै, नाम प्रेमका लेय॥
छिनहिं चढ़ै छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावे सोय॥
जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं हम नाहिं।
प्रेमगली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं॥

औरोंका भी कथन है—

ब्रह्म नहीं माया नहीं, नहीं जीव नहिं काल।
अपनीहू सुधि ना रही, रह्यो एक नँदलाल॥

नीचेका श्रीगोपियोंका श्रीउद्धवके प्रति कथन जो वियोगके समयका है इसी एकीभावका द्योतक है—

स्याम तन स्याम मन स्याम है हमारो धन,
आठों जाम ऊधौ हमें स्यामही सो काम है।
स्याम हिये स्याम जिये स्याम विनु नाहिं जिये,
आँधेकी-सी लाकरी अधार स्याम नाम है॥
स्याम गति स्याम मति स्याम ही है प्रानपति,
स्याम सुखदाई सों भलाई सोभाधाम है।
ऊधौ तुम भए बौरे पाती लैके आए दौरे,
जोग कहाँ राखैं यहाँ रोम-रोम स्याम है॥

इस प्रेमके एकीभावका उत्तम वर्णन परम रसिक भक्त-सुजान रसखानिने बड़ो उत्तमतासे किया है, जो यों है—

मानुष हौं तो वही रसखानि, बसौं नित गोकुल गाँवके ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नंदकी धेनु मझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरिको, जो धर्यौ कर-छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं, मिलि कालिन्दी कूल कदंबकी डारन॥
या लकुटी अरु कामरियापै, राज तिहूँ पुरको तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधिको सुख, नन्दकी गाइ चराइ बिसारौं॥
रसखानि कबौं इन आँखिन सों, ब्रजके वन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हौं कलधौतके धाम, करीलकी कुंजन ऊपर वारौं॥
मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंजकी माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितम्बर लै लकुटी वन, गोधन ग्वारनि संग फिरौंगी॥

भावतो वोहि मेरो रसखानि सो, तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधरकी, अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥
एक समै मुरली धुनिमें, रसखानि लियो कहुँ नाम हमारो।
ता दिन तें परि वैरी विसासिनि, झाँकन देति नहीं है दुआरो॥
होत चवाव बचावतौं सु क्यों करि, क्यों अलि भेंटिये प्रानपियारो।
दीठि परी तबहीं चटको, अटको हियरे पियरे पटवारो॥

प्रियके प्रेम-दर्शनकी लालसाका उत्तम वर्णन श्रीग्रन्थसाहबमें यों है—

कागा सब तन खाइयो, चुन चुन खइयो मास।
दो नयना मत खाइयो, पिय देखनकी आस॥
कागा नैन निकारके, ले जा पीके द्वार।
पहिले दरस दिखाइके, पीछे लीजो खाय॥

लीलानुकरणका सिद्धान्त ऐसा ही है—यथार्थ रूप आभ्यन्तरिक गुणका द्योतक है अर्थात् गुण रूपद्वारा प्रकाशित होता है। रूप-रसकी चाह यथार्थमें गुणकी चाह है। यथार्थ प्रेम-भक्ति गुणके स्मरण-चिन्तनसे होती है और वही पक्की है जैसा कि नारद-पाञ्चरात्रमें लिखा है—

माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।

कहा जाता है कि श्रीराधाजी भी श्रीरुक्मिणीकी भाँति श्रीभगवान्‌के गुणको सुनकर ही आकर्षित हुईं, क्योंकि वह प्रथम दूसरे स्थानमें दूर रहती थीं। श्रीगोपियाँ भी श्रीभगवान्‌को सबोंका प्रिय आत्मा परम सुहृद् जान उनकी निर्हैतुक सेवाके निमित्त उनकी शरणमें आयीं, न कि अपने किसी स्वार्थके निमित्त।

श्रीमद्भागवतपुराणमें कहा है कि यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंकी पत्नियाँ भी उनके गुणकी कथा सुनकर उनके दर्शनके निमित्त पूर्वसे ही परम उत्सुक थीं (१० । २३ । १२) जिस कारण श्रीभगवान्‌की ओरसे भोजनकी माँग सुनकर अपने पतियोंसे भी निवारित होनेपर उनके यज्ञको त्यागकर श्रीभगवान्‌के समीप आ गयीं और श्रीभगवान्‌के दर्शनसे उनका आभ्यन्तरिक मल दूर हो गया (२२)।

गोपीप्रेम परकीया कहा जाता है, इसका भाव यह है कि स्वकीयामें परस्पर स्वार्थ-सुख रहता है किन्तु परकीया प्रेमसे तात्पर्य है कामगन्धशून्य प्रेम जिसमें कामके मूल्य अहंभावका ही लोप हो जाता है, तो फिर किसी प्रकारका काम अथवा स्वार्थ उस अवस्थामें कैसे रह सकता है ? इसमें स्वार्थ—काम न रहकर शुद्ध त्यागमूलक प्रेम रहता है अर्थात् प्रेमी अपने प्रियतमकी सेवा और आनन्दके निमित्त अपने अहंभावको ही स्वाहा करता है।

गीतामें ज्ञान, योग, भक्त-लक्षण, भक्तिकी साधना आदिका उपदेशकर अन्तमें शरणागतिका उपदेश है जिस शरणागति अर्थात् आत्म-निवेदनके होनेसे धर्म यानी साधनाका अन्त हो जाता है, क्योंकि शरणागतिमें अहंभाव ही नहीं रहता जैसा कि श्रीगोपियोंको हुआ। श्रीगोपियोंके रासोत्सवमें सम्मिलित होकर शरणागतभाव प्राप्त करनेसे अवशेष इच्छाके सहित उनका अहंभाव नष्ट हो गया। शरणागत होकर अहंभावके अर्पण हो जानेसे जीव-धर्मका सम्पादन नहीं हो सकता और तवसे श्रीभगवत्सम्बन्धी धर्मोंका सम्पादन श्रीभगवान्‌की प्रेरणासे यन्त्रकी

भाँति उसके द्वारा होता है। जो गोपीभावका प्रेमयज्ञ है। गीताके अन्तिम उपदेश शरणागतिसे इसका सूत्रपात हुआ इसी कारण गीतामें श्रीगोपियोंके आदर्शका उल्लेख नहीं है। श्रीमद्भागवत पुराणमें, जिसको श्रीवेदव्यासने महाभारतके बाद लिखा, इस प्रेम-मार्गका पूरा वर्णन है।

श्रीमद्भागवत पुराणमें जिसमें श्रीगोपीभावका वर्णनकर विदित किया गया कि शरणागति क्या है और कैसे होती है? श्रीभगवान्‌ने श्रीउद्धवको उपदेश देते समय श्रीगोपियोंकी भक्ति और प्रेमकी बड़ी प्रशंसा की और उनके प्रेमको आदर्श माना। प्रेम-तत्त्वके उपदेश पानेके लिये ही श्रीभगवान्‌ने श्रीउद्धवको श्रीगोपियोंके निकट भेजा था। पहले भी जो श्रीउद्धवको उन्होंने उपदेश दिया तथा उसमें जो श्रीगोपियोंकी प्रेमभक्तिकी प्रशंसा की वह श्रीमद्भागवत पुराण स्कन्ध ११ अ० १२ में यों वर्णित है—

ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥१२॥

'समाधिमें स्थित होकर मुनिजन तथा समुद्रमें मिल जानेपर नदियाँ जैसे अपने नाम और रूपको गँवा देते हैं, उसी प्रकार अतिशय स्नेहवश निरन्तर मुझमें ही मन लगे रहनेके कारण उन्हें अपने शरीरादिकी तनिक भी सुधि न रही।' श्रीगोपियाँ रासमें सम्मिलित होकर आत्मस्थित हो गयीं इसीलिये उन्हें अपने शरीरादिकी सुधि न रही।

साधकोंके लिये श्रीभगवान्का यथार्थ लीलानुकरण यही है कि लीलाके दिव्य भावोंको अपने चरित्रमें प्रकट करना जैसा कि दया, त्याग, परदुःखसे दुखी होना, परसुखसे सुखी होना, क्षमा, सत्य, धैर्य, पवित्रता, संयम, ज्ञान, सन्तोष आदि। श्रीभगवान्का अमानुषी दिव्य चरित्र मनुष्योंकी सामर्थ्यसे बाहर अवश्य है किन्तु उसका चिन्तन और भक्ति-भावसे लीला-नुकरणका दर्शन तथा यथासम्भव उनके त्याग, पर-हित-साधन, क्षमा, अपराधीपर भी कृपा करना आदि दिव्य भावका अभ्यास आवश्यक है। इसी शैलीके अनुसार श्रीचैतन्य महाप्रभुने परम पापी जगाई-मधाईके उनके परम भक्त श्रीनित्यानंदजीको मारनेपर भी उन दोनोंका उद्धार किया और वे उत्तम भक्त बन गये। श्रीमद्भागवत पुराण स्क० ७ में एक· यतिकी ऐसी ही उक्ति है जिसके पालनसे परम लाभ होगा। यथा—

नाहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम्।
एतेषां श्रेय आशासे उतैकात्म्यं महात्मनि॥

(१३।४२)

'हे राजन्! स्वभावसे ही विषमता (द्वेष, निन्दा, अपकार) आदि करनेवालेकी न मैं निन्दा करता हूँ और न प्रशंसा करता हूँ, किन्तु उलटे उनकी श्रीभगवान्में सायुज्यमुक्ति हो जानेके लिये शुभ कामना करता रहता हूँ।' यथार्थ अहङ्काररहित भक्तके निमित्त ऐसी धारणा परम आवश्यक है और इसी कारण इस परमावश्यक भावनाका उल्लेख किया गया।

यथार्थ श्रद्धा और प्रेमसे की हुई श्रीभगवान्की दिव्य लीलाके

अभिनयका यदि योग्य रसिक भावुक भक्त श्रद्धा और प्रेमसे अवलोकन करेंगे, तो इससे श्रीभगवान्‌के चरणकमलमें प्रीति होने-में अवश्य ही बड़ी सहायता मिलेगी। कलियुगमें तो इससे विशेष लाभ सम्भव है इसलिये श्रीगोपियोंने स्वयं लीला करके दिखला दिया कि लीलाका श्रद्धासे अनुकरण अथवा दर्शन श्रीभगवान्‌की प्राप्तिके उपायोंमें उत्तम उपाय है। श्रीगोपियोंकी इस तन्मयताका वर्णन श्रीमद्भागवत पुराणके उसी प्रसंगमें यों है—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥ ४३ ॥

'श्रीगोपियाँ श्रीभगवान्‌में अपने चित्तको संलग्न किये हुई, उन्हींकी वार्ता परस्पर करती हुई, उन्हींकी लीलाओंका अनुकरण करती हुई, उन्हींमें अपनी आत्माको अर्पित किये हुई, उन्हींके गुणका गान करती हुई अपने घरकी याद (बाह्य भाव) को भूल गयीं।' इसके बाद श्रीगोपियोंने कातर होकर बड़े ही स्नेह और अनुरागसे श्रीभगवान्‌के पावन यशका गानकर अपने हृदयके प्रेमोच्छ्वासको प्रकट किया। वे केवल साक्षात् सेवामें विच्छेदके कारण व्याकुल थीं और यही उनकी विरह-वेदनाका मुख्य कारण था। उन्होंने कहा—

व्रजजनार्तिहन्वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३१ । ६)

'हे गोकुलवासियोंकी पीड़ा दूर करने वाले वीर ! तुम्हारा हास्य भक्तोंके गर्वको नष्ट करनेवाला है, इस कारण हे प्राणोंके

सखे ! तुम हमें अपनी दासी जान स्वीकार करो और हम स्त्रियोंको अपने कमलके सदृश सुन्दर मुख दिखाओ ।' इसके बादकी उनकी दशाका यों वर्णन है—

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।
रुरुदुः सुस्वरं राजन् ! कृष्णदर्शनलालसाः ॥
(श्रीमद्भा० १०।३२।१)

'हे राजन् ! श्रीभगवान्के दर्शनके लिये अति उत्कण्ठित हुई गोपियाँ उपर्युक्त प्रकारसे गाती और नाना प्रकारके प्रलाप करती हुई फूट-फूटकर रोने लगीं ।' इसके बाद श्रीभगवान् प्रकट हो गये । श्रीगोपियोंके इस वियोगके समयके आचरण और भावमें भक्तिमार्गकी साधनाओंका उत्तम आदर्श प्रदर्शित किया गया है ।

यहाँ श्रीभगवान्में तन्मयता, लीलानुकरण, उनके साकार भावमें प्रेम रखते हुए भी विश्वको उनका रूप मानना, कीर्तन, गुणगान, मन और आत्माका समर्पण तथा वियोगके असह्य होनेपर रोदन अर्थात् हृदयका प्रेमोच्छ्वास—ये प्रेमके दिव्य भाव गोपियोंमें मुख्यरूपसे हैं । भावुक भक्तके पवित्र प्रेमके कारण उसके श्रीउपास्यमय हृदयद्वारा जो नामोच्चारण होता है वह ऐसा मधुर और भावपूर्ण होता है कि उसके कारण केवल भावुकमें ही भावकी दशा नहीं उत्पन्न होती किन्तु सुननेवालेपर भी इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है और उनमें भी अनेकोंमें भावका किञ्चित् आविर्भाव आ जाता है । ऐसा ही प्रभाव श्रीगोपियोंके नामगानमें होता था । जैसा कि पद्यावलीमें लिखा है—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

'हे प्रभो! कब तुम्हारे नाम लेनेसे मेरे नेत्रोंसे आनन्दाश्रु चलने लगेंगे, मुख गद्गद वचनोंसे रुद्ध हो जायगा और पुलकोद्गमके कारण सर्वाङ्ग कण्टकित हो जायँगे।' गोपियोंका क्रन्दन उनकी अन्तरात्माका आध्यात्मिक क्रन्दन था, जिसके होनेपर फिर श्री-भगवान् कृपा करनेमें विलम्ब नहीं करते।

रसिक भक्तके जीवनमें यह विरहभाव अधिक दिनोंतक चलता है, क्योंकि प्रेमकी प्रगाढ़ता, त्यागकी कठोरता, साक्षात् सेवाके लिये व्यग्रता, श्रीउपास्यके करुणाभावका संसारमें प्रसार, प्रेमगङ्गाके वारिसे सिञ्चित होकर प्रेमरूपी हृदयकुसुमका विशेष विकास और आत्मार्पणका अधिकार, ये सब इसी भावमें पुष्ट और परिपक्क होते हैं, अतएव भक्तोंको यह भाव परम वाञ्छनीय रहता है। नारदका वचन है—'तत्परं विरहेति'। प्रेमकी पूर्तिके लिये विरह आवश्यक है। लिखा है—

अद्भुत प्रियतमकी प्रभा, सबमें रह्यो समाय।
व्याकुलता जा हिय बसै, प्रियतम ताहि लखाय॥

पूर्वकालमें श्रीसीताजीने इस भावको प्रदर्शितकर जगत्को तृप्त किया। श्रीलक्ष्मीजी क्षीरसागरमें श्रीभगवान्‌के शयनके समय उनके चरणकमलमें स्थित रहकर इसी भावका प्रदर्शन करती हैं। श्रीगोपियोंके जीवनका भी अधिक भाग इसी विरहदशामें बीता और इसी कारण वे प्रेमका आदर्श हुईं। इस दशामें रसिक भक्तको

समय-समयपर हृदयमन्दिरमें श्रीउपास्यसे मिलन होता है और फिर वे पृथक् भी हो जाते हैं। भक्त इस मिलनके आनन्दकी स्मृति और अनुभवमें मत्त रहकर सदा-सर्वदा श्रीउपास्यके ही चरणकमल-में अपने आत्मातकको अर्पित रखता है और उन्हींके स्मरणमें निमग्न रहता है। यद्यपि बाहरसे संसारयात्राके अन्य कर्मोंको भी करता है किन्तु उसकी अन्तरात्मा सदा श्रीउपास्यमें अनुरक्त रहती है, कदापि पृथक् नहीं होती। यद्यपि वह श्रीउपास्यकी करुणा और तेजपुञ्जको संसारके हितके लिये वितरण करके परमसेवामें नियुक्त रहता है किन्तु साक्षात् सेवाकी लालसाके कारण विच्छेदसे वह बड़ा दुःखित रहता है और इस विरहज्वालासे वह दग्ध होता रहता है।

कलियुगमें श्रीजयदेवजी, श्रीमती मीराबाई, भक्तशिरोमणि स्वामी श्रीहरिदासजी महाराज, श्रीअयोध्याके श्रीयुगलानन्यशरणजी, बंगालके शक्तिके उपासक श्रीरामप्रसाद आदि भक्तोंने इस भावको भक्तोंके हितके लिये प्रकाशित किया था। किन्तु कलियुगमें इस महाभावका पूर्ण प्रकाश वङ्गप्रदेशीय नवद्वीपके श्रीमहाप्रभु चैतन्य-चन्द्रने किया। उन्होंने अपने जीवनद्वारा गोपीप्रेम और श्रीराधा-भावको बड़ी मधुरतासे प्रकाशित किया। जब उनको अपने हृदय-मन्दिरमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन होते थे, तो वे प्रेमसे पुलकित हो जाते थे जिसका प्रभाव उनके रोम-रोमपर देखा जाता था, प्रेमके अश्रु उनके नेत्रोंसे बहने लगते थे। प्रेमके कारण कण्ठ अवरुद्ध हो जाता था, उनके रोम-रोमसे श्रीभगवान्का तेज-पुञ्ज निकलने लगते थे जिसका स्पष्ट प्रभाव दर्शकोंपर पड़ता था,

और ऐसी अवस्थामें वे अपनेको कभी-कभी श्रीउपास्य भी मानते थे और वैसा ही आचरण करते थे। जब विरहका भाव उनमें आता था, तो उनके हृदयका स्पन्दन बंद हो जाता, नाड़ी रुक जाती, मुँहमें लार आने लगती, संज्ञा एकदम जाती रहती, मृत्युके लक्षण देखनेमें आते, यहाँतक कि कभी-कभी रोमकूपोंसे रुधिरतक निकलने लगता था। कभी-कभी हाय श्रीकृष्ण! हाय प्राण-नाथ! हाय वृन्दावन! आदि कहकर रुदन करते। श्रीभगवान्‌के नाम कर्णगोचर करानेसे बड़ी कठिनतासे उनका यह भाव छूटता और संज्ञा आती थी। श्रीकृष्णप्रेम क्या है? गोपीविरह क्या है? श्रीराधाभाव क्या है? नामोच्चारणद्वारा श्रीभगवान् कैसे शीघ्र कृपा करते हैं? इन बातोंको श्रीमहाप्रभुने अपने जीवनद्वारा संसारको स्पष्ट दिखला दिया। श्रीभगवान्‌के भक्तको कैसा उपकारी होना चाहिये? श्रीभगवान्‌के नाममें पतितोंके भी उद्धार करनेके लिये कैसी अद्भुत शक्ति है? और भक्तको किस प्रकार श्रीभगवान्‌के नाम और प्रेमका प्रचारकर जगत्‌का कल्याण करना चाहिये? इन सब बातोंको श्रीमहाप्रभुने अपने जीवनद्वारा भलीभाँति प्रकाशित कर दिया। इस प्रेमतत्त्वको जाननेके लिये श्रीमहाप्रभुकी जीवनी अवश्य पढ़नी चाहिये। श्रीमहाप्रभुके बाद इस भावको बड़ी सुन्दरतासे मातृभावके उपासक कलकत्तेके महात्मा श्रीरामकृष्ण परमहंसजीने दिखलाया। उनको भी यह परम भाव हुआ करता था और विरह-के भावमें उनकी भी अवस्था आसन्न मृत्युकालके समान हो जाती थी। इनका भी श्रीउपास्यसे मिलन होता और फिर विच्छेद भी होता। इनमें भी दोनों भाव देखे जाते थे। कीर्तन, स्मरण,

परोपकार और भक्तिका प्रचार श्रीभगवान्‌की मुख्य सेवा है जिस-पर इन्होंने भी बहुत जोर दिया, जैसा कि श्रीचैतन्य महाप्रभुका सिद्धान्त था। इनकी भी जीवनी और उपदेश अवश्य पढ़ना चाहिये। माँ श्रीकालीकी मधुर उपासनाके महत्त्वको इन्होंने विशेष रूपसे प्रकट किया। इनके बाद बंगालमें महात्मा श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी-जी हुए। उनमें भी इस भावका प्रकाश होता था। इनको भी श्रीसद्‌गुरुसे सम्बन्ध था और श्रीसद्‌गुरुकी कृपासे ही इनको प्रेम-भक्तिका लाभ हुआ। श्रीसद्‌गुरुतत्त्वको और नामके महत्त्वको भी इन्होंने अच्छी तरह प्रकाशित किया। कीर्तन, स्मरण, परोपकार और ज्ञान-भक्तिका विशेष प्रचार परमावश्यक है इसपर इन्होंने भी जोर दिया। इनकी भी जीवनी और उपदेश पठनीय है।

प्रेमतत्त्वके आध्यात्मिक रहस्यको दिखलानेका एक तात्पर्य यह भी है कि भावुकगण समझें कि आजकल भी स्थूल शरीरसे सम्बन्ध रखते हुए भी इस परम प्रेमभावके आनन्दका अनुभव हो सकता है, जैसा कि पूर्वके भक्तशिरोमणि श्रीगोपीगण आदिको हुआ था। ऊपरके महानुभावोंके जीवनवृत्तान्तसे इसकी अधिक पुष्टि हो गयी।

रासोत्सवभाव और प्रेमयोगदीक्षा

श्रीगोपियोंके आत्मविस्मृत हो जानेपर रासमण्डलमें श्रीभगवान् प्रकट हुए जिसपर श्रीगोपियाँ इस प्रकार प्रसन्न हुईं मानो उनके मृत शरीरमें जीवन आ गया। उस समय श्रीगोपियोंके प्रश्नपर श्रीभगवान्‌ने जो उत्तर दिया उसमें भक्तिमार्ग, विरह-वियोगकी

परमावश्यकताका तत्त्व और श्रीगोपियोंके प्रेमका उत्कर्ष वर्णन श्रीमद्भागवत पुराणमें यों है । श्रीभगवान्‌ने कहा है—

भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा ।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ॥

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥
एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।
मयापरोक्षं भजता तिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः ॥
न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥

(१० । ३२ । १८, २०—२२)

'श्रीभगवान्‌ने कहा कि हे सुमध्यमाओ ! जो निष्काम उपकार करते हैं उनमें एक केवल दया और दूसरे माता-पिताके समान स्नेहके कारण करते हैं, उनमें दयालुका धर्म उत्तम और स्नेहवाले-का मध्यम है । मेरे प्रति अत्यन्त प्रेम करनेपर भी जो मैं कभी-कभी प्रेमी भक्तको विरह-व्यथासे व्याकुल करता हूँ उसका कारण यह है कि विरहके द्वारा ही प्रेमकी तीव्रता बढ़कर पूर्णताकी प्राप्ति होती

है। जिस प्रकार किसी दरिद्रको धन प्राप्त होकर फिर उस धनके नाश हो जानेसे उसको निरन्तर धनकी चिन्ता बनी रहती है। हे गोपियो! मुझे प्राप्त करनेके निमित्त तुमने योग्य-अयोग्यका विचार, धर्म-अधर्मका विचार और बान्धवोंका स्नेह ये सब त्याग किये हैं, तुम लोगोंकी मुझमें निश्चल वृत्ति रहे इस कारण तुम्हारे प्रेमका भाषण गुप्त रीतिसे सुननेके लिये मैं अन्तर्द्धान हो गया था। हे प्रिय सखियो! तुम, तुम्हारा प्रिय करनेवाले मेरे ऊपर दोषदृष्टि रखनेके योग्य नहीं हो। निष्कपट भावसे मेरी सेवा करनेवाली तुम्हारे साधु-के समान आचरणका मैं अपने सदाचरणसे प्रत्युपकार करनेमें देवताओंकी आयुसे भी समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि तुमने कठिनता-से तोड़नेयोग्य गृहरूपी बेड़ियोंको तोड़कर मेरी सेवा की है, अतः तुम्हारे सत्कार्यका तुम्हारे सुन्दर स्वभावसे ही प्रत्युपकार होवे।' इस वाक्यसे गोपियोंके त्यागका महत्त्व प्रत्यक्ष है।

वियोग-परीक्षामें उत्तीर्ण होनेपर श्रीगोपियोंका आत्मसमर्पण स्वीकृत हुआ और उनकी शुद्ध आत्माको अपनानेके लिये श्रीभगवान्-ने उन लोगोंके साथ रास किया जो परम आध्यात्मिक भाव है। आध्यात्मिक रासके बाह्य अनुकरणके वर्णनसे आन्तरिकका किञ्चित् पता लग जायगा। दो-दो गोपियोंके मध्यमें एक-एक श्रीभगवान्, अनेकरूप होकर, उनके कोमल हाथोंको अपने हस्तकमलसे पकड़कर और इस प्रकार मण्डल बनाकर मिलकर नृत्य और गान करने लगे जिसमें श्रीभगवान् और दोनों गोपियाँ, इन तीनोंने एक होकर रास किया। स्त्रियोंसहित देवतागण अपने-अपने विमानोंमें बैठकर आकाशमण्डलसे इस अलौकिक और अप्राकृत

लीलाको देखने लगे और दुन्दुभि बजाकर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे। श्रेष्ठ गन्धर्वगण श्रीभगवान्‌के निर्मल यश गाने लगे और वे गन्धर्व, किन्नर रसके आवेशमें आकर स्वयं नृत्य करने लगे। यदि यह रासोत्सव केवल वाह्य दृश्य रहता जिसका अनुकरण सब कोई कर सकता है अथवा काम-सञ्चार रहता तो इसकी इतनी महिमा नहीं होती और न गोपियोंको केवल इससे शान्ति ही मिलती। यथार्थमें यह परमदुर्लभ आध्यात्मिक भाव है। श्रीब्रह्मवैवर्तपुराणके कृष्ण-जन्मखण्डके चौथे अध्यायमें लिखा है कि रासमण्डल गोलोकमें है। मनुष्य-शरीर (पिण्डाण्ड) में रासमण्डल हृदयका एक गुह्य भाग है, जहाँ प्रिया-प्रियतमका मिलन होकर आत्मसमर्पण पूर्ण होता है।

श्रीउपास्यके मिलनके लिये दीर्घ अन्वेषण-भ्रमण, कठोर व्रत-विधान, अनवरत सेवा, दारुण त्याग, दुःसह क्लेश, प्रबल विरह-सन्ताप, कठिन परीक्षा आदिके सहर्ष भोगनेपर और श्रीसद्गुरुकी कृपा प्राप्त करनेपर जब अन्तरात्मा रासोत्सवरूपी महाभावके प्राप्त करनेपर आत्मसमर्पण करती है और वह समर्पण स्वीकृत हो जाता है, तब उपासक श्रीउपास्यका एक दिव्य अङ्ग हो जाता है जिसका श्रीउपास्य अपने जगत्‌की रक्षा और पालनके कार्यमें उपयोग करते हैं। ऐसा होनेसे जगत्‌का बड़ा कल्याण होता है, प्राणिमात्रको इससे लाभ होता है, इसी कारण इसका नाम रासोत्सव है। श्रीनारदसूत्र ७१ में लिखा है—

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति।

श्रीभगवान्‌की प्राप्तिसे अर्थात् आत्मनिवेदन करनेपर पितर आनन्दित होते हैं, देवतागण नृत्य करते हैं और पृथ्वी सनाथा (कृतकृत्य) होती है। तैत्तिरीय उपनिषद्में जो निम्नलिखित अवस्थाका वर्णन है वह भी यही उच्चभाव है।

आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिं वाक्-पतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः ।

वह यथार्थ स्वराज्य (श्रीभगवान्‌का आनन्दभाव जिससे च्युत हो गया है) को प्राप्त करता है। विश्वात्मा श्रीभगवान्‌के साथ युक्त होनेसे सब भूतोंके मन, वाक्य, चक्षु, श्रोत्र और विज्ञान-पर उसका आधिपत्य होता है अर्थात् वह भी सर्वव्यापीके समान हो जाता है।

श्रीभगवान्‌ने अपने प्रिय अंश चिच्छक्तिको जिस उद्देश्यसे संसारमें भेजा था (प्रकृतिको जयकर श्रीभगवान्‌के दिव्य गुणोंको प्रकाशित करना और संसाररूपी क्षीरसागरके सम्बन्धसे प्रेमरूपी मक्खन प्राप्तकर उस अनुपम नैवेद्यके साथ विशुद्ध अन्तरात्माका श्रीभगवान्‌की साक्षात् सेवाके लिये आत्मसमर्पण करना) उस उद्देश्यकी यह पूर्ति है।

जीवात्माकी दीर्घ जीवनयात्राकी, गन्तव्य स्थानपर पहुँचने-से, यह समाप्ति है। श्रीपराशक्ति और श्रीभगवान्‌के एकत्र मिलने-से बड़ा मण्डल (ब्रह्माण्डका केन्द्र) बन जाता है जिसके द्वारा शक्तिका सञ्चार होकर संसारकी स्थिति और पालन होता है। यही शक्तिसञ्चार समष्टि-रासक्रीडा है। जिस रासक्रीडामें स्वयं

श्रीपराशक्ति प्रवृत्त हैं, तो उनके अंश चिच्छक्तियों (जीवात्मागण) का भी यह परम कर्तव्य है कि वे भी आत्मसमर्पणकर इसमें प्रवृत्त होकर योग दें।

रासकालमें श्रीभगवान् अनेक हो गये इससे सिद्ध है कि वे योगेश्वरेश्वर थे और यह रास प्रेमयोगकी दीक्षा थी। जिसको अनेक होनेकी सामर्थ्य है वह कामाचारमें क्यों प्रवृत्त होगा? रासपञ्चाध्यायीके प्रथम श्लोकमें ही कथन है कि श्रीभगवान्ने योगमायाका आश्रयकर रासोत्सव करना चाहा। यथार्थमें यह रासलीला प्रेम-योगकी दीक्षाद्वारा आत्मा और परमात्माका एकीभाव है जिसमें श्रीभगवान्ने श्रीगोपियोंके सम्बन्धमें श्रीसद्गुरुका भी कार्य किया। उनका कथन है कि 'आचार्यं मां विजानीयात्' अर्थात् मुझको गुरु जानो। श्रुति भी कहती है कि 'सर्वेषां गुरुः' अर्थात् वे सबके गुरु हैं। श्रीमद्भागवत पुराण स्क० १० में याज्ञिक ब्राह्मणोंने अपनी स्त्रियोंके श्रीभगवान्के निकटसे लौटनेपर उनकी प्रशंसामें और अपनी निन्दामें श्रीभगवान्को जगद्गुरु कहा है (२३। ४१)। आत्मा परमात्माका ही रूप (अंश) है किन्तु अविद्याके कारण अहंभाव अर्थात् स्वतन्त्र भाव इसके पृथक्त्वका कारण है। इस अहंभावके दूर होनेके लिये प्रथम आत्मस्थिति आवश्यक है अर्थात् कारण शरीरके अभिमानी प्राज्ञमें अहंभावयुक्त अन्तःकरणका लय आवश्यक है जो भगवत्कृपासे बुद्धियोगके पानेसे होती है (गीता १०। १०)। प्राज्ञका स्थान इस शरीर (पिण्ड) में हृदय है जिसका प्रमाण पहले दिया जा चुका है। इस कारण यथार्थ व्रज हृदय है जिसमें वृन्दावन

अर्थात् रासस्थल उसका अष्टदलपद्म है । इस अभ्यन्तरस्थ वृन्दावनका ब्रह्मसंहितामें यों वर्णन है—

सहस्रपत्रकमलं गोकुलाख्यं महत्पदम् ।
तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांशसम्भवम् ॥
कर्णिकारं महद्यन्त्रं षट्कोणं वज्रकीलकम् ।
षडङ्गषट्पदीस्थानं प्रकृत्या पुरुषेण च ॥
प्रेमानन्दमहानन्दरसेनावस्थितं हि यत् ।
ज्योतीरूपेण मनुना कामबीजेन सङ्गतम् ॥
तत्किञ्जल्कं तदंशानां तत्पत्राणि श्रियामपि ।

'भगवान् श्रीकृष्णके परमपदका नाम गोकुल है। यह सहस्रदलकमलके समान है । इस कमलकी कर्णिका अनन्त ब्रह्मके अंशसे उत्पन्न है, इस कारण यह श्रीभगवान्‌का धाम है । यह गोकुलरूप कोमल कर्णिका एक षट्कोण बृहत् यन्त्र है । यह वज्र-कीलक है अर्थात् प्रोज्ज्वल हीरेकी कीलके समान उज्ज्वल प्रभा-शाली और कामबीजसमन्वित है । इसके षट्कोण षट्पदी महामन्त्रसे वेष्टित हैं । इसकी कर्णिकाके ऊपर प्रकृति-पुरुष अर्थात् श्रीश्रीराधाकृष्ण नित्य रस-रास-विहार करते हैं । यह चित्-धाम, यह रस-रास-मण्डल पूर्णतम आनन्द-रससे पूरित है । और ज्योतिःस्वरूप और कामबीज महामन्त्रसे सम्मिलित है । इस कमल-के (अष्ट) दलमें असंख्य भगवदंश (आत्मनिवेदित) शक्तियाँ (गोपीगण) विराजित हैं ।' वाराहपुराणमें भी श्रीवृन्दावनके आध्यात्मिक स्वरूपका वर्णन है—

तत्रापि महदाश्चर्यं पश्यन्ते पण्डिता नराः ।
कालियह्रदपूर्वेण कदम्बो महितो द्रुमः ॥
शतशाखं विशालाक्षि पुण्यं सुरभिगन्धि च ।
... ...
तस्य तत्रोत्तरे पार्श्वेऽशोकवृक्षः सितप्रभः ॥
... ...
न कश्चिदपि जानाति विना भागवतं शुचिम् ।

ऊपरके वचनका आशय यह है कि इस अदृश्य वृन्दावनको केवल पवित्र भक्त जानते हैं, अन्य नहीं । बृहद्गौतमीय तन्त्रमें इस वृन्दावनका ऐसा वर्णन है—

तत्र या गोपकन्याश्च निवसन्ति ममालये ।
योगिन्यस्त्वमरा नित्यं मम सेवापरायणाः ॥
कालिन्दीयं सुषुम्नाख्या परमामृतवाहिनी ।
अत्र देवाश्च भूतानि वर्तन्ते सूक्ष्मरूपतः ॥
सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित् ।
तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषा ॥

'इस वृन्दावनमें गोपियाँ मेरे धाममें निवास करती हैं जो योग-सिद्ध, अमर और मेरी सेवामें नित्य लगी रहती हैं । इसमें सुषुम्ना ही यमुना है जिससे परम अमृतकी वर्षा होती है । यहाँ देवतागण, प्राणिगण सूक्ष्मरूपसे वास करते हैं । मैं सर्वदेवमय इस वृन्दावनको कभी नहीं त्यागता हूँ । यह तेजोमय रम्य-स्थान है जो चर्म-नेत्रसे नहीं देखा जा सकता ।'

ऐसे अप्राकृत वृन्दावनमें अप्राकृत रासलीला प्राकृतिक स्थूल शरीरमें न होकर दिव्य आत्मस्वरूपमें की गयी ।

इस आध्यात्मिक वृन्दावन-प्राप्तिकी एक मुख्य साधनाके विषयमें श्रीचैतन्यचरितामृतका ऐसा आदेश है—

वृन्दावने अप्राकृत नवीन मदन।
कामबीज कामगायत्री जाँर उपासन॥

ऊपरके वचनका तात्पर्य है कि श्रीभगवान्‌का जो कामबीज एकाक्षर मन्त्र है उसमें पञ्चाक्षरी काम-गायत्री जोड़नेसे जो षट्-पदी मन्त्र है उसके निरन्तर प्रेमपूर्वक जप-ध्यानसे अभ्यन्तर शुद्ध होकर इस अदृश्य वृन्दावनकी प्राप्तिका अधिकार होता है। यह कामबीजयुक्त षट्पदी परम गुह्य मन्त्र गुरुगम्य है, और केवल अधिकारीको ही प्राप्त होता है।

रासोत्सवमें जो अंगस्पर्श हुआ और जिसके लिये गोपियाँ व्याकुल थीं और जिसके निमित्त आक्षेप होता है कि परस्त्री-स्पर्श अग्राह्य है उसका तात्पर्य निम्नलिखित है। उपनयन-दीक्षामें भी आचार्य शिष्यके शरीरके नाभि आदि भागके चक्रमें हस्तस्पर्श कर मन्त्रकी शक्तिसे उसमें जागृति प्रदान करता है। मन्त्रदीक्षामें भी गुरु मस्तकपर हाथ रख शक्ति-सञ्चार करता है और कर्णद्वारा मन्त्र प्रदान करता है। अङ्गन्यास, करन्यासका भी तात्पर्य अभ्यन्तरस्थ शक्तिकी जागृति करना है। एक महात्माके शिष्यका कथन है कि गुरुने दीक्षाकालमें जब मन्त्र प्रदानकर शक्ति-सञ्चार किया, तब शिष्यकी अन्तरस्थ कुण्डलिनी शक्तिकी जागृति हुई जो नीचेसे ऊपर चली गयी और उसके तेजकी ज्वाला मेरुदण्डमें ऐसा बोध हुआ कि

शरीर भीतरमें जल रहा है। आत्मविद्या (Mesmerism) में नेत्रसे परस्पर देखनेसे शक्ति-सञ्चार होता है। परलोकविद्या (Spiritualism) के चक्रमें एक दूसरेके हस्तस्पर्शसे शक्तिका प्रादुर्भाव किया जाता है। श्रीशिवजी ताण्डवनृत्यद्वारा और डमरू बजाकर शक्ति वितरण करते हैं। रासकी प्रेम-दीक्षामें हस्तस्पर्श, परस्पर अवलोकन, गान और नृत्यद्वारा श्रीभगवान्‌ने शक्ति-सञ्चार गोपियोंमें करके उनको दीक्षित बनाया। समूह शक्ति-सञ्चारके निमित्त मण्डल अथवा गोष्ठीकी आवश्यकता है, अतएव वहाँ इसका निर्माण किया गया। विष्णुपुराणमें कथन है कि गोपियाँ केवल श्रीकृष्णके नामका ही गान करती थीं। जैसा कि—

जगौ गोपीजनस्त्वेकं कृष्णनाम पुनः पुनः।
(५। १३। ५२)

इस प्रेमदीक्षाकी शक्ति-सञ्चारसे प्रायः गोपीगण अहंभावको त्यागकर हृदयके अनाहतचक्रमें प्राज्ञ (कारण शरीराभिमानी साक्षी चेतन) अर्थात् आत्मभावको प्राप्त हुई जहाँ श्रुतिके अनुसार आत्माका वास अंगुष्ठमात्र रूपमें है। श्रीमद्भागवत पुराण स्क० १० में कथन है कि याज्ञिक ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंने भगवद्दर्शनसे साक्षात् अपने तापको इस प्रकार त्याग किया जैसे प्राज्ञमें स्थिति पानेसे अहंभावसे छुटकारा होता है (२३। २३)। प्राज्ञ अर्थात् शुद्ध आत्मामें स्थिति पानेसे अहंभाव मिट जाता है और फिर उस आत्माको परमात्मामें अर्पण करना गोपीभाव है। ऐसा आत्मार्पण ही रासरमण है जिसके द्वारा आत्मा-परमात्मा दोनों रमण करते हैं। इस प्रकार अहंभावको त्यागकर और शुद्ध

आत्मा बनकर गोपियोंकी आत्मा श्रीभगवान्में रासोत्सवकी दीक्षा-द्वारा अर्पित हुई जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक गोपीकी आत्माने (जो भगवान्की शक्ति थी) अपने अभ्यन्तर श्रीभगवान्की प्राप्ति की, क्योंकि मनुष्यशरीरमें केवल आत्मा ही नहीं है किन्तु प्रत्येक शरीरमें परिपूर्ण परमात्मा श्रीभगवान्का भी वास है। गोंसे तात्पर्य जीवोंसे है जिनके रक्षक—पालक श्रीभगवान् हैं इसी कारण उनका नाम गोपाल है। गोप और गोपी ऐसे जीवात्मा हैं जिन्होंने अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको जानकर और उपाधियोंके अहङ्कारको त्यागकर अपने गोपालमें अपनेको अर्पण किया जो रास-सम्मेलनद्वारा होता है। इसी रासके प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवत पुराण स्क० १० का ऐसा कथन है—

रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः॥
(३३।३)

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया॥
गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥
(३३।२०,३६)

'रासोत्सवके उपस्थित होनेपर गोपियोंकी मण्डलीके बीचमें योगेश्वर श्रीभगवान् दो-दो गोपियोंमें एक-एक स्वरूपसे विराजमान हुए। श्रीभगवान्ने आत्मा (विशेषकर आत्मनिवेदित आत्मा) में रमण करनेवाले होकर जितनी गोपी थीं, उतने ही रूपको धारणकर, उन (आत्मनिवेदन करनेवाली) गोपियोंकी आत्मामें रमण किया।

जो गोपियोंके, उनके पतियोंके और सभी प्राणियोंके भीतर विराजमान हैं वही श्रीभगवान् अपनी लीलासे यहाँ देहधारी होकर (आत्मरमण) क्रीडा करनेसे दोषी नहीं हैं ।'

इस प्रसंगमें विष्णुपुराणका यों वचन है—

तद्भर्तृषु तथा तासु सर्वभूतेषु चेश्वरः ।
आत्मस्वरूपरूपोऽसौ व्यापी वायुरिव स्थितः ॥
(५ । १३ । ६१)

श्रीमद्भगवद्गीतामें इस विषयका यों कथन है—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥
(१३ । १७, २२)

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
(१५ । १५)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
(१८ । ६१)

ऊपरके वाक्योंका सारांश यही है कि श्रीभगवान् परमात्मा सब प्राणियोंमें और उनके हृदयमें वास करते हैं । इसी हृदयस्थ भावमें श्रीभगवान्का वास रहनेके कारण कहा है कि वृन्दावनको त्यागकर वे कहीं नहीं जाते 'वृन्दावनं परित्यज्य स क्वचिन्नैव गच्छति' अभ्यन्तरमें हृदयमें आत्मार्पण होना ही रासोत्सवका रमण है ।

श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत, तृतीय खण्डमें इस रमण और प्रेम-दीक्षाका वर्णन श्रीरामकृष्ण परमहंसने इसप्रकार किया है—

'साधना करते-करते प्रेमका एक शरीर बन जाता है। उसमें प्रेमके चक्षु, प्रेमके कर्ण आदि बनते हैं, उस चक्षुसे वह श्रीभगवान्‌को देखता है और उस कर्णसे उनकी वाणी सुनी जाती है। शरीरके अन्य अवयव भी प्रेमके ही बनते हैं। उस प्रेमके शरीरद्वारा आत्म-रमण होता है। श्रीभगवान्‌में अत्यन्त प्रगाढ़ प्रेमके होनेपर जब सर्वत्र सबमें साधक श्रीभगवान्‌को ही देखता है, तभी यह अवस्था आती है (पृष्ठ १९६)। ....उक्त अवस्थामें सब अद्भुत दर्शन होता है। आत्माका रमण प्रत्यक्ष देखा। मेरे समान एक पुरुष मेरे शरीरमें प्रवेश किया। छहों कमलोंके प्रत्येक कमलके साथ वह रमण करने लगा। पद्ममें रमण करनेसे वह प्रस्फुटित होकर ऊर्ध्वमुख हो जाता था। इस प्रकार मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रार, सब पद्म विकसित हो गये। उनके नीचे मुख ऊपर उठ गये जिसको मैंने प्रत्यक्ष देखा *।' (पृष्ठ १५७)

---

* यह श्रीपरमहंसदेवका श्रीसद्गुरुका अनुभव परम सत्य है। श्रीसद्गुरु विशेषकर अभ्यन्तरहीमें मिलते हैं, बाह्यमें नहीं। योगशास्त्रके अनुसार आज्ञाचक्रमें अथवा उसके ऊपर हंसक्षेत्रमें गुरुका वास है। योगसूत्रमें भी लिखा है कि 'ललाटे सिद्धदर्शनम्' अर्थात् ललाटमें सिद्धोंके दर्शन होते हैं। विशेषकर स्थूल शरीरको समाधिकी अवस्थामें डालकर श्रीसद्गुरु अभ्यन्तरमें योगदीक्षा देते हैं। षट्चक्रोंके पद्मोंको श्रीसद्गुरु स्वयं अपने हस्तकमलसे खोलते हैं जैसा कि श्रीपरमहंसदेवका अनुभव है जो परम सत्य है। जो शरीरकी क्रियाद्वारा स्वयं चक्रोंको बेधना आदि करना चाहते हैं उससे बड़ी हानि होती है अर्थात् स्थूल शरीरमें चक्रके गोलक हैं उनपर क्रियाका प्रभाव पड़कर वह चक्रको ठीक प्रस्फुटित

प्रेम-योगकी दीक्षाद्वारा आध्यात्मिक कुण्डलिनी (ह्लादिनी) आनन्दमयी शक्तिकी जागृति होनेपर उक्त शक्ति नीचेके तीन चक्रोंको, जो अहंभाव और कामके संवित्का केन्द्र है, शुद्धकर अर्थात् अहंभावको सर्वात्मभावमें और कामको प्रेममें परिणतकर जब हृदयमें श्रीभगवान्‌से युक्त होती है, तो इस व्यष्टि ह्लादिनी शक्तिद्वारा श्रीभगवान्‌में इस सर्वात्मभावकी शक्तिको अर्पण करनेको रमण कहते हैं। इस प्रकार श्रीभगवान्‌की आत्मशक्ति श्रीभगवान्-

---

होनेमें अयोग्य बना देता है और इस जन्ममें उस चक्रका प्रस्फुटित होना रुक जाता है। षट्‌चक्र स्थूल शरीरमें न होकर सूक्ष्म शरीरमें हैं। प्रायः श्रीसद्‌गुरु स्थूल शरीरको समाधिस्थकर अभ्यन्तरमें योगदीक्षा देते और चक्र आदिको जागृत करते हैं। किसीको सोते समय भी यह हो सकता है किन्तु उसको जागनेपर स्मरण नहीं रहेगा। अतएव साधकोंको धैर्य रखना चाहिये। हो सकता है कि स्वप्नावस्थामें सुषुप्तिके ऊपर ले जाकर श्रीसद्‌गुरुने योगदीक्षा देकर अभ्यन्तरकी आवश्यक जागृति करा दी हो। यदि जाग्रत्‌में उसकी स्मृति नहीं है तो इससे कोई क्षति नहीं। इसका लक्षण यह है कि ऐसा होनेपर चित्त बिना ही चेष्टा स्वाभाविक ही श्रीभगवान्‌में प्रेमपूर्वक संलग्न रहेगा और शान्त रहेगा। श्रीविजयकृष्ण गोस्वामीजीको गयाके अक्षयोनिपहाड़के पातालगंगा स्थानमें हिमालयके अगम्य उत्तरीय मानसरोवरसे एक श्रीसद्‌गुरुने अपने सूक्ष्मशरीरमें आकर नामयोगकी दीक्षा दी और उनका शरीर समाधिमें प्रायः दो सप्ताहतक बेसुध पड़ा रहा। उनकी भी प्रेमदीक्षा ही थी। श्रीगौराङ्गमहाप्रभु और श्रीपरमहंस रामकृष्णदेव अचेतन हो जाते थे जो भावावेश था। उसका भी यही तात्पर्य है कि यथार्थ शिक्षा-दीक्षा श्रीभगवान्‌के संग रमण, क्रीड़ा आदि शुद्ध आभ्यन्तरिक भाव हैं जो अभ्यन्तरमें हृदयमें होते हैं। ये बाह्य स्थूल शरीरके सम्बन्धके भाव नहीं हैं।

में अर्पित होती है। ऐसा अर्पण परम आनन्द और कल्याणका कारण है और इससे विश्वका मंगल होता है। यह कुण्डलिनी शक्ति स्थूल शरीरकी कुण्डलिनी शक्ति नहीं है। यह परम आध्यात्मिक शक्ति, कारण शरीर और प्राज्ञमें जागृति होनेपर, जागृत होती है और यह जागृति निष्काम प्रेमजनित त्यागद्वारा होती है।

इस प्रकार श्रीसद्गुरुकी दीक्षासे साधक अहंभाव और कामको त्यागकर ह्लादिनी शक्तिके सम्बन्धसे गोपीभाव प्राप्त करता है अर्थात् सर्वात्मस्थिति लाभ करता है। उसीका अधिकार हृदयके वृन्दावनमें श्रीभगवान्‌के साथ रमण अर्थात् एकीभाव होनेका है किन्तु जिसमें अहंभाव और कामभाव विद्यमान है उसको उसमें कदापि अधिकार नहीं है। किन्तु गोपी होना स्थूल शरीर-का धर्म नहीं है। अर्थात् केवल अपने स्थूल शरीरको गोपी अथवा सखी माननेसे इस भावकी प्राप्ति न होगी। यह आभ्यन्तरिक आध्यात्मिक शुद्ध आत्माका भाव है जिसकी प्राप्ति केवल शरीरकी दृष्टिसे गोपी अथवा सखी माननेसे नहीं होती, प्रत्युत अधःपतन होता है। यहाँ सब कुछ अप्राकृतिक आत्मभाव है, कदापि नामरूपात्मक प्राकृतिक भाव नहीं।

यह भाव बिना प्रेमाग्निसे अभ्यन्तर शुद्ध हुए, और काम तथा अहंभावके लोप हुए नहीं प्राप्त हो सकता। रासोत्सवद्वारा कामपर पूर्ण विजय प्राप्त हुई और काम प्रेममें परिवर्तित हो गया। यहाँ रासमण्डलमें कामोद्दीपनकी सब सामग्रियाँ मौजूद रहनेपर भी वे सब मधुरभावमें परिवर्तित हो गयीं और शुद्ध प्रेमकी वृद्धिमें

सहायक हुईं। श्रीभगवान् साक्षात् मन्मथके मन्मथ और मदन-मोहन थे। जिनके प्रेमके स्पर्शसे कामपर पूर्ण विजय रासोत्सवमें प्राप्त हुआ और अब भी प्राप्त हो सकता है। श्रीमद्भागवत पुराण स्क० १० में लिखा है कि श्रीभगवान् रासोत्सवमें 'अवरुद्ध-सौरत' अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचारी बने रहे (३३।२६)। भागवत पुराण, स्क० ११ अध्याय ४ में कथा है कि बदरिकाश्रममें श्रीभगवान्के अवतार नर-नारायणकी तपस्यामें विघ्न करनेके लिये इन्द्रने कामदेवको भेजा, उसने वहाँ वसन्त ऋतु आदि कल्पनाकर अनेक अप्सरागणको उत्पन्न किया। श्रीभगवान्ने अविचलित रह-कर और कामपर क्रोध न कर मधुरभावद्वारा उसकी पराजय की। श्रीभगवान्ने उन देवाङ्गनाओंसे कहा कि आपलोग भय न करें और मेरे आतिथ्यको स्वीकार करें, और ऐसा किये विना आश्रम न छोड़ें। ऐसा कहकर श्रीभगवान्ने अनेक अलंकृता परम सुन्दरियों-का निर्माण किया जो श्रीभगवान्की सेवा करती हुई दिखलायी दीं। उनको देखकर देवगण मोहित हो गये। श्रीभगवान्ने कहा कि इनमेंसे किसी एकको जो तुम्हारे अनुरूप हो, ले जाओ। देवतागण उनमेंसे परम सुन्दरी उर्वशीको लेकर स्वर्गमें गये। ऊपरकी कथासे भी सिद्ध है कि कामपर पूर्ण विजय मधुरभावद्वारा प्राप्त होती है जो रासोत्सवका एक उद्देश्य था।

धन्य हैं श्रीश्रीगोपियाँ, जिन्होंने अपने आदर्श और त्यागमय-प्रेममय जीवनद्वारा इस प्रेमपथको प्रेमियोंके लिये प्रकाशित कर दिया। श्रीगोपियोंसे प्रेमकी दीक्षा मिलनेपर श्रीउद्धवने उनके विषयमें जो कुछ कहा सो श्रीमद्भा० स्क० १० में यों है—

सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे ।
विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहः कृतः ॥
आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥

(४७। २७, ६२, ६४)

'हे महाभागाओ ! तुम्हें विरहसे श्रीभगवान्के प्रति जो प्रेमलक्षणा एकान्तभक्ति प्राप्त हुई, वह तुमने मुझे सहजमें ही दिखा दी, ऐसा करके तुमने मेरे ऊपर भी बड़ा अनुग्रह किया है । अहो ! मेरी तो प्रार्थना है कि इन श्रीगोपियोंके चरणोंके रेणुको सेवन करनेवाली श्रीवृन्दावनमें उत्पन्न हुई लता और ओषधियोंमेंसे मैं कोई होऊँ, क्योंकि जिनका त्यागना कठिन है ऐसे अपने स्वजन और प्रवृत्तिमार्गको त्यागकर श्रुतियोंको भी जिसका मिलना दुर्लभ है, ऐसा श्रीभगवान्की प्राप्तिका मार्ग इन्होंने स्वीकार किया है । जिन श्रीगोपियोंका श्रीभगवान्की कथाओंका गाना त्रिलोकीको पवित्र करता है उन नन्दके गोकुलकी स्त्रियोंके चरण-रेणुको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ।' श्रीमुखवाक्य है—

सहाया गुरवः शिष्या भुजिष्या बान्धवाः स्त्रियः ।
सत्यं वदामि ते पार्थ ! गोप्यः किं मे भवन्ति न ॥

(गोपीप्रेमामृत)

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् ।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः ॥
(आदिपुराण)

'हे अर्जुन ! श्रीगोपियाँ मेरी क्या नहीं हैं यह मैं कह नहीं सकता । वे मेरी सहाय, गुरु, शिष्य, दासी, बन्धु, प्रेयसी जो कहो सब ही हैं । मेरा माहात्म्य, मेरी पूजाविधि, मेरी श्रद्धा और मेरा अभीष्ट श्रीगोपियाँ जानती हैं, इसका तत्त्व दूसरे लोग नहीं जानते ।'

इस भावकी प्राप्तिपर भी प्रेमसेवा अवश्य बनी रहती है । किन्तु यह शुद्ध साक्षात् आध्यात्मिक सेवा है जिसमें निवेदित आत्मा केवल निमित्तमात्र केन्द्र बन जाता है और स्वयं श्रीभगवान् उसके द्वारा संसारके मंगलके लिये अपने कार्योंको करते हैं । ऐसी आत्मा तबसे श्रीसद्गुरु और श्रीभगवान्का कार्य करती है क्योंकि श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्यमें भेद नहीं है । आत्मनिवेदनके कारण एकीभाव हो जाता है और तबसे सारे कार्य यन्त्रकी भाँति बनकर किये जाते हैं ।

गोपीभाव यथार्थमें अनादि है और गोपी शब्दका अर्थ रक्षा करनेवाली है अर्थात् श्रीभगवान्के संसारकी रक्षाके काममें योग देनेवाली । विगत कल्पके भक्तगण गोपीरूपमें श्रीभगवान्के साथ सृष्टिके प्रारम्भसे ही रहकर श्रीभगवान्की अन्तरङ्ग सेवामें अनुरक्त रहते हैं और व्रजमें इन्हीं भक्तोंने जन्म लेकर अपने जीवनद्वारा प्रेममार्गको विशेषरूपसे प्रकट कर दिया और इस मार्गके यात्री स्वयं बनकर श्रीभगवान्की प्राप्तिके साधन और भावको प्रकाशित कर दिया । प्रत्येक भावुक अन्तमें गोपी बनकर भगवान्

श्रीकृष्णचन्द्रको प्राप्त करेगा। इसी प्रकार श्रीरामोपासक श्रीसीताजीकी सहचरी बनकर उनकी कृपासे आत्मसमर्पण कर अर्थात् महारासमें प्रवृत्त हो श्रीभगवान्‌की प्राप्ति करेंगे, जैसा कहा जा चुका है। इसी प्रकार अन्य उपासकगण अपने-अपने श्रीउपास्यकी शक्तिकी सहचरी बन श्रीउपास्यमें आत्मसमर्पण करेंगे। सब उपासकोंके मार्ग, साधन, भाव और लक्ष्य एक हैं, केवल नाममें भिन्नता है। श्रीभागवतका वचन है—

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्यसारमसमोर्द्ध्वमनन्यसिद्धम्।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥
(१०।४४।१४)

'मथुरावासिनियोंने श्रीभगवान्‌को देखकर कहा कि अहो! श्रीगोपियोंने कैसी अनिर्वचनीय तपस्या की जिसके कारण वे सर्वदा नेत्रसे श्री, ऐश्वर्य और यशके एकान्त आस्पद, दुष्प्राप्य, अनन्यसिद्ध, असमोर्द्ध्व, लावण्यसाररूप श्रीभगवान्‌की रूपसुधाका पान करती हैं।'

श्रीराधाभाव

मारः स्वयं नु मधुरद्युतिमण्डलं नु
माधुर्यमेव नु मनोनयनामृतं नु।
वेणीमृजो नु मम जीवितवल्लभो नु
बालेऽयमभ्युदयते मम लोचनाय॥
(कृष्णकर्णामृत)

यह राधाभाव गोपीभावसे उच्चभाव है। इसके भी दो भेद हैं। श्रीराधा स्वयं पराशक्ति हैं और गोलोकमें श्रीभगवान्‌की नित्य-

लीलामें रासस्थलमें प्रवृत्त रहती हैं। इसी कारण इनका नाम रासेश्वरी है अर्थात् विना इनके रासलीला अर्थात् सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति, पालन हो ही नहीं सकते। श्रीलक्ष्मी, श्रीपार्वती, श्रीगायत्री, श्रीसीता, श्रीराधा एक ही पराशक्तिके भिन्न-भिन्न रूप और नाम हैं। इसका वर्णन ब्रह्मवैवर्तमें भलीभाँति है। वहाँ श्रीकृष्णजन्म-खण्ड अ० १२४ में लिखा है—

त्वं सीता मिथिलायां च त्वच्छाया द्रौपदी सती।
रावणेन हृता त्वं च त्वं च रामस्य कामिनी ॥९७॥

'श्रीभगवान् श्रीराधासे कहते हैं कि हे श्रीराधे! मिथिलामें तुम श्रीसीता हुई और सती द्रौपदी तुम्हारी छाया हैं। श्रीभगवान् रामचन्द्रकी तुम भार्या हो और रावणने तुम्हींको हरण किया था।' और भी ब्रह्मवैवर्तपुराणमें लिखा है—

कृष्णवामांशसम्भूता राधा रासेश्वरी पुरा।
तस्याश्चांशांशकलया बभूवुर्देवयोषितः॥
बभूव गोपीसंघश्च राधाया लोमकूपतः।

(प्रकृतिखण्ड अ० ४८। ४१)

अहं यज्ञश्च कलया त्वं स्वाहांशेन दक्षिणा।
त्वया सार्द्धं च फलदोऽप्यसमर्थस्त्वया विना॥
अहं पुमांस्त्वं प्रकृतिर्न स्रष्टाहं त्वया विना।
त्वं च सम्पत्स्वरूपाहमीश्वरश्च त्वया सह॥

(श्रीकृष्णज० ख० अ० ५९। ७३-७४)

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका सर्वथाधिका।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

'श्रीभगवान् महेश्वरके वाम अंशसे रासेश्वरी (जगद्धात्री) श्रीराधाकी उत्पत्ति हुई और उनके अंशांश और कलासे देवस्त्रियाँ हुईं। श्रीराधाके लोमकूपोंसे गोपियोंके यूथकी उत्पत्ति हुई। श्रीभगवान् श्रीराधासे कहते हैं कि मैं कलाद्वारा यज्ञ हूँ, तुम दक्षिणा हो, तुम्हारे युक्त होनेसे मैं फल देता हूँ किन्तु बिना तुम्हारे असमर्थ हूँ। मैं पुरुष हूँ, तुम प्रकृति हो और तुम्हारे बिना मैं सृष्टि नहीं कर सकता। तुम विभूतिरूप हो और तुमसे युक्त होकर ही मैं ईश्वर हूँ। श्रीराधिका कृष्णमयी, परदेवता, सर्वलक्ष्मी-मयी, सर्वकान्ति, सम्मोहिनी और परा नामसे कीर्तित हैं।'

गर्गसंहितामें लिखा है—

कृष्णः स्वयं ब्रह्म परं पुराणो
लीला त्वदिच्छा प्रकृतिस्त्वमेव।
(मथुराखण्ड अ० १५)

'हे श्रीराधे! श्रीकृष्ण स्वयं पुराण परब्रह्म और तुम प्रकृति हो और तुम्हारी इच्छासे संसारलीला होती है।'

क्योंकि आनन्दमयी पराशक्तिका जीवन ही परम प्रेम है, वही परम प्रेम और पराभक्तिकी आश्रय और दात्री हैं और उपासक तथा श्रीउपास्यके बीच वही प्रेमसूत्रसे सम्बन्ध जोड़कर दोनोंका मिलन करानेवाली हैं। अतएव वे भी अपनी दयाके कारण श्रीउपास्यके सम्बन्धमें प्रकट होती हैं और प्रकट होनेपर अपने दिव्य जीवनद्वारा प्रेमतत्त्वके परमोच्च भावको प्रकटकर प्रेममार्गको विशेष प्रकाशित और सुगम कर देती हैं। श्रीभगवान्‌का संसारके हितके लिये प्रेमयज्ञप्रदर्शन अवश्य ही मधुर है किन्तु श्रीपराशक्तिका

श्रीभगवान्‌के लिये प्रेमयज्ञ करना उससे कहीं अधिक मधुर (मधुराति-मधुर) है जिसके आस्वादके लिये स्वयं श्रीभगवान् व्याकुल रहते हैं। अवतारद्वारा श्रीपराशक्ति अपने मधुर (त्याग) भावको प्रकट करती हैं और श्रीभगवान् उसका आस्वादन लेकर जगत्‌को तृप्त करते हैं। श्रीभगवान्‌के प्रेमीलोग इस भावको स्वयं पाकर संसारमें वितरण करते हैं। श्रीपराशक्तिने सती होकर अपने शरीरतकको श्रीभगवान् शिवजीके लिये अर्पण किया और पार्वती होकर कठिन तपस्याद्वारा अपने अद्भुत प्रेम–त्यागको जगत्‌के कल्याणके लिये प्रकाशित किया। श्रीसीताजीने स्वेच्छासे वनवास-स्वीकार, हरणके कष्टको धैर्यसे सहन, लङ्कायुद्धके बाद श्रीभगवान्‌की आज्ञाके अनुसार अग्निमें प्रवेश, गर्भावस्थामें त्याग होनेपर भी अविचलित और प्रसन्न रहकर, और फिर यज्ञके समय पृथ्वीमें प्रवेशकर अपने अलौकिक प्रेम–त्यागको जगत्‌के हितके लिये प्रकाशित किया। श्रीलक्ष्मीजी, श्रीगायत्री आदि शक्तियाँ भी अपने जीवनद्वारा ऐसा ही कर रही हैं।

श्रीराधाजीने भी व्रजमें प्रकट होकर ऐसा ही किया जो उनका दूसरा भाव है। आत्मसमर्पण करनेतक तो गोपीभाव है जो इस आध्यात्मिक भावकी मध्यमावस्था है किन्तु इस समर्पणकी पूर्ति होनेपर जो भाव है वह यथार्थ राधाभाव है, जिसको श्रीमतीने प्रकाशित किया, क्योंकि इसको केवल वही प्रकाशित कर सकती हैं।

प्रसिद्ध श्रीचैतन्यमहाप्रभु और राय रामानन्दके संवादमें साधन-साध्यका क्रम यों है—(१) वर्णाश्रमधर्मानुसार कर्त्तव्य-

पालन, (२) श्रीभगवान्‌में कर्मार्पण, (३) वाह्य कर्मज द्रव्यमय कर्मका त्याग (गीता ४ । ३२-३३), (४) ज्ञानमिश्रा भक्ति, (५) शास्त्रज्ञानशून्या भक्ति (गीता ६ । ४६), (६) प्रेम-भक्ति, (७) दास्यप्रेम, (८) सख्यप्रेम, (९) वात्सल्यप्रेम, (१०) कान्ताप्रेम अर्थात् गोपीभाव, (११) राधाप्रेम अर्थात् राधाभाव* ।

---

* इस क्रमका यह तात्पर्य नहीं है कि एक दूसरेसे निकृष्ट अथवा उच्च है । अधिकार भेदसे सब आवश्यक हैं । नीचेकी साधना परिवर्तित होकर ऊपरका रूप ग्रहण करती है और इस प्रकार किसीका एकदम लोप अथवा त्याग नहीं होता। प्रथम पैड़ी वर्णाश्रमधर्मका दूसरे कर्मार्पणमें लोप न होकर वह और अन्य कर्म भी श्रीभगवान्‌का कार्य जानकर उनके निमित्त किये जाकर उनको अर्पण होते हैं । तीसरेमें वाह्य कर्म मुख्यकर आभ्यन्तरिक कर्ममें परिवर्तन हो जाता है । चौथेमें कर्म ज्ञानकी दृष्टिसे किये जाते हैं । पाँचवेंमें कर्म भक्ति अर्थात् सेवाकी भाँति किये जाते हैं । छठेमें सेवा प्रेममें परिणत हो जाती है । सातवेंमें प्रेम आभ्यन्तरिक अध्यात्मसेवामें परिणत हो जाता है और ऐसी साक्षात् सेवा ही प्रेमका यथार्थ रूप समझा जाता है । यह सातवाँ भाव मुख्य है । आठवेंमें सातवाँ सेवाभाव बना रहता है किन्तु निरन्तर सेवाके कारण सम्बन्ध निकटस्थ हो जाता है । यह सेवाका परिणाम है, न कि मुख्य साधना । सेवाके द्वारा निकटस्थ हुए बिना प्रथमसे ही जो भावुक अपनेको दासके ऊपरके भावका समझेंगे और दासभावको निकृष्ट समझेंगे वे भूल करेंगे । दासकी श्रीभगवान् भी सेवा करने लगते हैं और तब परस्पर सेवा होनेसे सख्यभाव हो जाता है किन्तु भावुक सख्यभावमें भी अपनेको सेवक ही समझता है । नवें वात्सल्य और दसवें गोपीभावमें भावना मधुर हो जाती है किन्तु सेवाभाव बना रहता है । श्रीगोपियाँ

श्रीराधाजीने अपने जीवनमें गोपीभाव और अपने (राधा) भाव दोनोंको दिखलाया। श्रीभगवान्‌के लिये उनका प्रगाढ़ और परम मधुर प्रेम, अतुलनीय आत्मत्याग, ऐकान्तिक, अविरत और अचल अनुरक्ति और भावपूर्ण अन्तरङ्ग सेवा, मधुर गुणगान, अपरिमित करुणा आदि दैवी गुण ऐसे थे कि उनकी उपमा कहीं मिल नहीं सकती, क्योंकि इन गुणोंके वही आश्रय हैं। श्रीगोपियोंको भी श्रीकृष्णप्रेम श्रीमतीकी कृपासे ही प्राप्त हुआ। श्रीराधाजीने श्रीकृष्णविरहका यथार्थ स्वरूप, उसकी महिमा, उसकी मधुरता, उसका प्रभाव, उसकी ज्योति, उसकी विश्वहित शक्ति आदिको भलीभाँति दरसाया, जिसका वर्णन यहाँ होना कठिन है। यह परम आध्यात्मिक भाव शब्दोंद्वारा कैसे वर्णन हो सकता है? कलियुगी जीवोंपर बड़ी कृपा करके श्रीचैतन्य महाप्रभुने

भी श्रीभगवान्‌से यही प्रार्थना करती थीं कि हमें दासी बनाइये। दासमें बाह्य और अभ्यन्तरका भेद ठीक नहीं है; क्योंकि यह प्राकृतिक बाह्यभाव कदापि नहीं है किन्तु शुद्ध आभ्यन्तरिक आध्यात्मिक साक्षात् भाव है। श्रीराधाभाव तो सर्वथा वर्णनातीत है। गोपीभाव और राधाभावसे यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि केवल श्रीकृष्णोपासकको ही यह भाव प्राप्त होगा, अन्यको नहीं। सब प्रकारकी उपासनाओंकी जो अन्तिम साध्य अवस्था है वही गोपीभाव, राधाभाव है जो व्रजलीलामें प्रदर्शित किया गया। श्रीराधा तो यथार्थमें तत्त्व है जो पराशक्ति हैं और सब उपासनाओंमें इनका स्थान है। इसी पराशक्तिकी संज्ञा गायत्री, दुर्गा, सीता, राधा और योगमें आभ्यन्तरिक कुण्डलिनी शक्ति है। ये सब एक हैं, पृथक् नहीं।

श्रीराधाभावको अपने जीवनमें बड़ी सुन्दरतासे प्रकट किया। उनको श्रीराधाजीका अवतार मानना चाहिये, अथवा यों कहिये कि श्रीभगवान्‌ने श्रीराधाजीके परम दुर्लभ प्रेमकी मधुरताको व्यक्तभावमें स्वयं आस्वादन करनेके लिये और कलियुगके लोगोंके कल्याण-निमित्त उसको प्रकट करनेके लिये स्वयं श्रीमहाप्रभुरूपको धारण किया। पूज्यपाद श्रीस्वरूपदामोदरने लिखा है—

श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयै-
वास्वाद्यो येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यं चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभात्
तद्भावाढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥

'जिस प्रेमसे श्रीराधा मेरे अद्भुत मधुरभावका आस्वादन करती हैं वह श्रीराधाकी प्रेममहिमा कैसी है? श्रीमती राधा जो मेरे मधुरभावका आस्वादन करती हैं वह कैसा है? मेरी मधुरताका आस्वादन कर श्रीमती राधाको जो आनन्द होता है वह कैसा है? इन तीन जिज्ञासाओंकी पूर्तिके लिये महाभावमें भावित श्रीमती शचीदेवीके गर्भमें श्रीमहाप्रभु चैतन्य गौरचन्द्रका प्रादुर्भाव हुआ।'

राधाभाव महाभाव है जिसमें शक्ति और शक्तिभावमें भेद नहीं रहता अर्थात् पूर्ण एकता हो जाती है। ललितमाधवके नीचे-के वाक्यसे विदित है कि श्रीराधाजी श्रीभगवान्‌की ह्लादिनीशक्ति होनेके कारण उनसे अभिन्न हैं और श्रीकृष्णावतारमें दो रूपमें प्रकट होनेपर आभ्यन्तरिक दृष्टिसे दोनों एक शक्ति-शक्तिमान्‌की

भाँति थे और फिर श्रीचैतन्य महाप्रभुमें दोनोंकी एकता हुई। यथा—

> राधाकृष्णप्रणयविकृतिर्ह्लादिनीशक्तिरस्मा
> एकात्मानावपि भुवि पुरा देहभेदं गतौ तौ।
> चैतन्याख्यप्रकटमधुना तद्द्वयञ्चैक्यमाप्तं
> राधाभावद्युतिसुवलितं नौमि कृष्णस्वरूपम् ॥

जब महाप्रभुमें एकताका भाव आता था तो वे ठाकुरके मञ्चपर चढ़ जाते थे और उसी प्रकारकी बातें करते थे।

इस प्रकार व्रजलीलाके रासोत्सवद्वारा श्रीभगवान् और उनकी आनन्दमयी ह्लादिनी पराशक्तिमें जो अभिन्न सम्बन्ध है उसको श्रीभगवान्ने श्रीराधाजीके सम्बन्धद्वारा, भक्तोंके आनन्दके लिये प्रकट किया। श्रीराधाजी जिस प्रकार श्रीभगवान्में सर्वतो-भावसे अनुरक्त और तन्मय रहती थीं उससे अधिक श्रीभगवान् उनके दर्शन-स्पर्शके लिये उत्सुक और व्यग्र रहते थे और श्रीभगवान्-को भी श्रीराधाका बाह्य वियोग सदा असह्य रहता था। कहा जाता है कि द्वारकामें भी यह वियोगका दुःख कभी-कभी प्रकट होता था। जब वृन्दावनका भाव उनमें आता था तो वे 'हे राधे !' आदि कहकर मूर्च्छित हो जाते थे और तब वहाँ जो श्रीवृन्दा-वन बना हुआ था उसमें ले जानेसे बाह्य संज्ञा प्रकट होती थी।

श्रीभगवान्ने व्रजमें रहकर अपना अगाध प्रेम श्रीराधाके प्रति अनेक लीलाओंद्वारा दिखलाया। श्रीभगवान्ने श्रीराधाके दर्शनके लिये वैद्य, योगिनी, मालिन, मनिहारी, विदुषी, दिव्यांगना

आदि नाना रूपोंको धारण किया। क्यों न करें, उनका तो कथन ही है कि भक्तके हाथ मैं विका हुआ हूँ और यहाँ तो प्रेमका मूल ही स्वयं श्रीमती थीं। इन लीलाओंका रहस्य यह है कि भावुकमें प्रेमकी उत्पत्ति होनेसे श्रीभगवान् उसके पास स्वयं आते हैं और उसके बाह्यसे भी साथ युक्त रहते हैं और तब उनको उस भावुक भक्तसे पृथक् रहना असह्य हो जाता है। श्रीभगवान् छद्मवेषमें भी भावुकको मिलते हैं और अज्ञात भी मिलते हैं जैसा व्रजमें होता था। भावुकको श्रीभगवान्को ढूँढ़नेकी आवश्यकता नहीं है, प्रेमरूपी मक्खन पास रखनेसे वे स्वयं इसको लेनेके लिये आवेंगे, यहाँतक कि प्रेमको चुरा करके भी ले लेंगे। मक्खनचोरी-का रहस्य यह है कि भावुकसे उसके प्रेमधनको श्रीभगवान् स्वयं ले लेते हैं अर्थात् उसके कारण सम्बन्ध हो जाता है किन्तु जाग्रत् अवस्थाके अभिमानी 'विश्व' (जीवात्मा) को प्रारम्भमें इसका कुछ ज्ञान नहीं रहता और यही चोरी है। उस अवस्थामें ज्ञान न होना ही उत्तम है। कुछ दिनोंके बाद यह सम्बन्ध प्रकट हो जाता है। अतएव इन लीलाओंके अभिनयके देखनेसे प्रेमोत्पत्तिमें बड़ी सहायता मिलती है।

श्रीभगवान् श्रीराधाके उत्कर्षको प्रकाशित करनेके लिये रासमण्डलसे श्रीमती राधाजीको लेकर अन्तर्द्धान हो गये। श्रीजयदेवजीने लिखा है—'राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरीः' अर्थात् श्रीराधाजीको हृदयमें रखकर गोपियोंको त्याग दिया। यहाँ श्रीभगवान्के श्रीराधाको हृदयमें धारण करनेसे इस क्रीडाके

आध्यात्मिक भावको दरसाना है। दूसरा भाव यह है कि केवल श्रीराधाजी (पराशक्ति) ही श्रीभगवान्‌के हृदयमें वास करनेयोग्य हैं और केवल श्रीराधा (पराशक्ति) के हृदयमें श्रीभगवान्‌का वास है अर्थात् इन दोनोंमें साक्षात् सम्बन्ध है और अन्य जितनी चिदात्माएँ हैं, वे उच्च-से-उच्च क्यों न हों, जीवन्मुक्त महात्मातकके दर्जेमें क्यों न पहुँच गये हों, महर्षिकी अवस्था क्यों न प्राप्त हों उन सबका श्रीराधाकी भाँति अभिन्न तथा साक्षात् सम्बन्ध श्रीभगवान्‌से कदापि नहीं है। जब कोई सम्बन्ध होगा तब केवल पराशक्ति (श्रीराधा, श्रीलक्ष्मी, श्रीसीता, श्रीदुर्गा, श्रीगायत्री आदि जो यथार्थमें एक ह्लादिनीशक्ति हैं) द्वारा ही होगा। बिना पराशक्तिसे प्रथम सम्बन्ध स्थापित किये अथवा पराशक्तिके आश्रयमें बिना आये सीधे सम्बन्ध कदापि नहीं हो सकता, जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है। सम्बन्धका क्रम ऐसा है। श्री-भगवान्‌के हृदयमें श्रीराधा हैं अथवा उनका स्वयं हृदय ही श्रीपराशक्ति (श्रीराधा) हैं और अन्योन्याश्रयके कारण श्रीपराशक्तिके हृदयमें श्रीभगवान् विराजमान हैं। श्रीपराशक्ति जो एक समष्टि चिच्छक्ति हैं उनके हृदय (मध्य) में विश्वकी छोटी-बड़ी सब चिदात्माएँ हैं। अतएव चिदात्माओंको श्रीपराशक्तिसे सम्बन्ध होनेपर ही श्रीभगवान्‌से सम्बन्ध होगा। आत्मनिवेदनद्वारा श्रीराधाभावकी प्राप्ति होनेपर ही श्रीसद्‌गुरुलोगोंका नियत वास श्रीपराशक्तिमें होता है और तबसे पराशक्तिका प्रकट वास उनके हृदयमें होता है। अतएव अन्तरात्माका सम्बन्ध प्रथम श्रीसद्‌गुरुसे होगा, तब उनके

द्वारा श्रीपराशक्तिसे और तत्र पराशक्तिद्वारा श्रीभगवान्‌से। इसीलिये उपनयनमें गायत्री-दीक्षा आचार्यद्वारा दी जाती है अन्यथा नहीं। इसी कारण साधक अपने हृदयमें श्रीसद्गुरुके रूपको स्थापनकर फिर श्रीसद्गुरुके हृदयमें पराशक्तिके साथ श्रीउपास्यकी युगल मूर्तिका ध्यान करते हैं। यही सम्बन्धका क्रम है। यही राधाभावका रहस्य है।

श्रीगोपियोंको भी श्रीभगवान्‌से सम्बन्ध श्रीराधाजीकी सहचरी (सखी) बननेसे हुआ और भावुक (गोपियों) के आत्मनिवेदन (रासोत्सव) के समय श्रीराधाजीको अपने हृदयमें धारणकर श्रीभगवान्‌के गोपियोंसे अन्तर्द्धान होनेका रहस्य यही है कि अन्तरात्मा केवल श्रीपराशक्तिद्वारा ही श्रीभगवान्‌को पा सकती है, अन्यथा नहीं। गोपियोंको श्रीभगवान् फिर श्रीराधाजीके संग होनेपर ही मिले। श्रीगोपियोंकी श्रीराधाजीके न मिलनेके पूर्वकी उक्ति श्रीमद्भा० स्क० १० में यों है—

> अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
> यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः॥
>
> (३०।२८)

'श्रीराधाजीने वास्तवमें श्रीभगवान्‌की उत्तम आराधना की है, क्योंकि हम सबोंको त्यागकर, उनकी आराधनासे संतुष्ट श्रीभगवान् उनको एकान्त स्थानमें ले गये हैं।' रासविहार दो प्रकारके हैं एक तो श्रीभगवान्‌के दिव्यलोकमें निवेदित चिदात्माएँ और श्रीभगवान् एकत्र होकर साक्षाद्भावसे नित्य विहार करते हैं जिसकी अधिष्ठात्री श्रीराधा (पराशक्ति) हैं और इस शक्तिसञ्चाररूपी

क्रीडाद्वारा निःसृत परम तेजःपुञ्जरूपी प्रेमगंगा अथवा ध्वनि (गायत्री) से सृष्टिमात्र पालित और परितृप्त होती है। इस रासविहारका दूसरा भाव, विश्वके नीचेके भागोंमें श्रीभगवान्‌के विश्वरूपके सम्बन्धसे, प्रेमयज्ञका रूप धारण करता है जिस सृष्टि-यज्ञमें ब्रह्मादि देवगण, ऋषिगण, रुद्रगण आदि सम्मिलित हैं और यह यज्ञ विश्वके हितके लिये विश्वभरमें सर्वत्र हो रहा है। जब जीवात्मा अपने स्वार्थको त्यागकर, श्रीभगवान्‌की सेवाके निमित्त इस विश्व-व्यापी प्रेम-यज्ञमें अनेक कालतक योग देकर और सर्वस्व अर्पण कर अपने अनुष्ठानकी पूर्तिके लिये आत्मनिवेदनरूपी अन्तिम पूर्णा-हुति देना चाहता है, तो श्रीसद्‌गुरु कृपाकर उसको प्रेमदीक्षासे विभूषितकर और आध्यात्मिक भावसे गोपी बनाकर अर्थात् आत्म-स्थिति लाभ करवाकर पराशक्तिसे सम्बन्ध करा देते हैं और तब पराशक्तिरूपा श्रीराधाजी उस अन्तरात्मारूपी गोपी (अपनी सहचरी) को श्रीभगवान्‌की रासस्थलीमें ले जाकर उसका आत्म-निवेदन श्रीभगवान्‌के चरणकमलमें करा देती हैं। तबसे वह नित्य रासलीलामें श्रीभगवान्‌के साथ श्रीराधा (पराशक्ति) के सम्बन्धके कारण उनके द्वारा युक्त हो जाती है और विहारमें युक्त होकर और केन्द्र बनकर श्रीभगवान्‌की सेवारूप जगत्‌का कल्याण करती है। आत्मनिवेदन श्रीभगवान्‌के विश्वरूपमें नहीं हो सकता, किन्तु श्रीभगवान्‌का नित्य और शाश्वत दिव्यरूप जो विश्वरूपका बीज है आत्मसमर्पण उसीमें होता है। सांख्यमार्गसे विश्वके कारण अव्यक्तमें अर्पण करनेसे केवल लय-

दशाकी प्राप्ति होगी । इस नित्य रासलीलाके द्वारा ही श्रीराधा (पराशक्ति) से चिदात्माओंका प्रादुर्भाव होता और फिर वे अपने शुद्ध रूप और स्थानमें आत्मनिवेदनद्वारा पहुँचती हैं । नित्य विहार-लीलासे विश्वरूपी प्रेमयज्ञकी उत्पत्ति है और जीवात्माका इस प्रेम-यज्ञकी समाप्ति करनेपर फिर उसी नित्यलीलामें प्रवेश होता है । जबतक सृष्टि चलती रहेगी और उसकी तृप्तिके लिये श्रीभगवान् विहारलीलामें प्रवृत्त रहेंगे, तबतक यह आत्मनिवेदित आत्मा (महात्मा) भी विश्राम न लेकर श्रीभगवान्‌के विहारमें योग देते रहेंगे और जब कल्पके अन्तमें श्रीभगवान् विश्राम करेंगे तब वे भी उनके साथ विश्राम करेंगे, फिर भावी नयी सृष्टिके प्रारम्भमें श्रीभगवान्‌की इच्छाके अनुसार सृष्टिकार्यमें योग देंगे ।

चिदात्माओंका श्रीराधा (पराशक्ति) से सम्बन्ध और फिर श्रीभगवान्‌के सम्बन्धके विषयमें गोविन्दलीलामृतमें एक उत्तम उक्ति है, जो यों है—

> विभुरतिसुखरूपः स्वप्रकाशोऽपि भावः
> क्षणमपि न हि राधाकृष्णयोर्या ऋते स्वः ।
> प्रवहति रसपुष्टिं चिद्विभूतीरिवेशः
> श्रयति न पदमासां कः सखीनां रसज्ञः ॥

'चिद्विभूतिसमूह (चिदात्माओं) के अतिरिक्त जिस प्रकार श्रीभगवान्‌की पुष्टि नहीं होती, उसी प्रकार श्रीराधाकृष्णका भाव व्यापक, अति महान्, अति सुखस्वरूप और स्वयं प्रकाशमान होने-पर भी वह जिन सखियों (चिदात्मारूपी गोपियों) की सहायता (आत्मनिवेदन) बिना नाना रसों (भावोंका जिनसे संसारका

कल्याण होता है) का पोषक नहीं होता उन इन सखियों (आत्मनिवेदिता गोपियों–श्रीसद्गुरु) के चरणोंका कौन रसज्ञ भक्त आश्रय नहीं लेगा ?'

आधिभौतिक राधाभावकी प्रवेशावस्था यह है कि अपनेको बिल्कुल विस्मरणकर श्रीभगवान्में प्रेमाप्लुत अन्तरात्माकी ऐसी निरन्तर स्वाभाविक तन्मयता और अनुरक्ति हो जाय जिससे अनेक यत्न करनेपर भी वह श्रीभगवान्से कदापि पृथक् नहीं हो सके।

श्रीराधाजीसे न श्रीभगवान् वास्तवमें पृथक् हो सकते हैं और न श्रीराधाजी उनसे; क्योंकि शक्तिमान् और शक्ति किस प्रकार भिन्न हो सकती हैं अर्थात् शक्ति बिना आधार (शक्तिमान्) के रह नहीं सकती और शक्तिमान् शक्तिके बिना शवतुल्य है। अतएव राधाभावमें भावुक और श्रीउपास्य एक हो जाते हैं वे एक क्षणके लिये भी पृथक् नहीं हो सकते। जिस प्रकार बालकके गर्भसे निकल जानेपर फिर पूर्वकी निश्चेष्ट गर्भावस्थाकी पुनः प्राप्ति असम्भव है उसी प्रकार इस भावके आनेपर प्राकृतिक जीवभाव-का कदापि क्षणभरके लिये भी फिर आना असम्भव है। सूर्यमें तम किस प्रकार रह सकता है ? और भी लिखा है—

राधा भजति श्रीकृष्णं स च तां च परस्परम्।

(ब्रह्मवै० प्रकृ० अ० ४८)

तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिगरीयसी॥

(उज्ज्वलनीलमणि)

'श्रीराधाजी श्रीकृष्ण भगवान्की उपासना करती हैं और श्री-

कृष्ण भगवान् श्रीराधाकी उपासना करते हैं। श्रीगोपियोंमें श्रीराधा और श्रीचन्द्रावली प्रधान हैं, किन्तु इनमें भी श्रीराधाजी सर्वश्रेष्ठा हैं। क्योंकि ये स्वयं महाभावस्वरूपिणी और गुणोंमें अतिश्रेष्ठ हैं।'

कहा जाता है कि श्रीराधा श्रीभगवान्‌के प्रेमचिन्तनकी प्रगाढ़ताके कारण प्रायः श्रीभगवान्‌के रूपमें परिणत हो जाती थीं और श्रीभगवान् श्रीराधिकाका रूप धारण करते थे। गर्गसंहितामें लिखा है—

> श्रीकृष्ण कृष्णेति गिरा वदन्त्यः
> श्रीकृष्णपादाम्बुजलग्नमानसाः।
> श्रीकृष्णरूपास्तु बभूवुरङ्गना-
> श्चित्रं न पेशस्कृतमेत्य कीटवत्॥

'वाणीसे भगवान् श्रीकृष्णके नामका उच्चारण करती हुई और उनके चरण-कमलोंमें चित्तको संलग्न किये श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णरूपा हो गयीं। इसमें आश्चर्य नहीं है। जिस प्रकार दूसरा कीट भृङ्गीके पास आकर वैसा ही बन जाता है उसी प्रकार ये भी श्रीकृष्णमयी हो गयीं।' गर्गसंहितामें कथा है कि एक बार श्रीराधाजीसे सिद्धाश्रममें श्रीभगवान् और श्रीभगवान्‌की रानियों-की भेंट हुई और सबका एकत्र वास हुआ। रात्रिमें श्रीभगवान्‌की रानियोंने देखा कि श्रीभगवान्‌के चरणोंमें छाले पड़ गये हैं जिसके कारण पूछनेपर श्रीभगवान्‌ने कहा कि तुमलोगोंने श्रीराधाजीको गरम दूध पिला दिया, जिसके कारण मेरे चरणोंमें ये छाले पड़ गये हैं, क्योंकि मेरे चरण सदा उनके हृदयमें रहते हैं। यथा—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे
पादारविन्दं हि विराजते मे।
अहर्निशं प्रश्रयपाशबद्धं
लवं लवार्द्धं न चलत्यतीव ॥
अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽङ्घ्रा-
वुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति।
मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै
युष्माभिरुष्णं तु पयः प्रदत्तम् ॥
(ग० सं० द्वारकाखण्ड अ० १७। ३५-३६)

'श्रीराधाके हृदयमें मेरे चरणकमल सदा दिनरात स्नेहपाशमें बँधे विराजमान रहते हैं, जरा भी हटते नहीं। उनके गरम दूधके पीनेसे मेरे पगमें छाले पड़ गये। तुमलोगोंने राधाको थोड़ा गरम दूध न देकर अधिक उष्ण दूध पिला दिया है।' श्री-हनुमान्‌जीका हृदय भी श्रीरामनामांकित था। श्रीवृन्दावनमें एक मृत साधुकी हड्डी नामांकित पायी गयी अर्थात् जिस नामको वे सतत स्मरण करते थे वही उनकी हड्डियोंमें भी अङ्कित हो गया था।

श्रीमती राधाजीके भाव और तत्त्वको कौन वर्णन कर सकता है जिनके श्रीचरण (पदपल्लवमुदारम्) को स्वयं श्रीभगवान्‌ने अपने करकमलोंमें धारण किया और ऐसा करके मधुर प्रेमभावकी उत्कृष्टता सिद्ध कर दी। गीतगोविन्दमें श्रीभगवान्‌की ऐसी उक्ति है—

करकमलेन करोमि चरणमहमागमितासि विदूरम्।
क्षणमुपकुरु शयनोपरि मामिव नूपुरमनुगतिशूरम् ॥

'श्रीभगवान् श्रीराधाजीसे कहते हैं कि तुम बहुत दूरसे आयी हो। मुझे अपने हाथोंसे अपनी चरणसेवा करनेकी आज्ञा दो। और अपने चरणस्थ नूपुरके समान आश्रित जान मुहूर्तभरके लिये शय्यापर मुझे स्थान देकर उपकृत करो।'

श्रीराधाजीके प्रेम, त्याग, तन्मयता, करुणा आदि अवर्णनीय हैं। परम भाग्यशाली प्रेमियोंको उनकी कृपासे इसके कणमात्रका किञ्चित् अनुभव होता है। श्रीभगवान्‌के वृन्दावनसे चले जानेपर श्रीगोपियों और श्रीराधाजीको श्रीभगवान्‌के विच्छेद-विरहके कारण प्रेमका विशेष विकास हुआ, क्योंकि वियोग इसकी पुष्टि और वृद्धिका प्रबल कारण है। श्रीराधाजीपर कलङ्क लगनेपर उन्होंने श्रीभगवान्‌के यशकी रक्षाके लिये अत्यन्त कठिन परीक्षा दी। श्रीराधाजीने छिद्रयुक्त बाँसके पात्रमें जलको कूपसे निकाला, किन्तु जलका एक बिन्दु भी उस पात्रमेंसे नहीं गिरा, पात्र जलसे पूर्ण रहा। उन्होंने परीक्षाद्वारा श्रीभगवान्‌के साथ, अपने अनादि आध्यात्मिक प्रेमसम्बन्धको सिद्ध कर दिया और इसी सम्बन्धको जतानेके लिये ही उन्होंने परीक्षाको स्वीकार किया।*

---

* इस प्रेममार्गमें, जिसकी गोपीभाव और राधाभाव पराकाष्ठा है कठिन परीक्षा होती है, इस परीक्षामें उत्तीर्ण होनेसे अभ्यन्तरके सब विकार जिनमें अहंता, ममता, काम आदि मुख्य हैं और जिनका दमन परम कठिन है अत्यन्त नष्ट हो जाते हैं। परिणाम इसका भगवत्प्राप्ति है जो सर्वोच्च राधाभाव है। इस पथकी अग्नि-परीक्षामें आत्मीय, गृह, धन, मित्र, परिवारसे वियोगकी सम्भावना आती है अथवा कभी-कभी हो भी जाती है, लोक-निन्दा भी होती ही है, क्योंकि जनसाधारण जिनका दृष्टिकोण और विचार सङ्कीर्ण और कलुषित हैं और आध्यात्मिक विषयोंसे जो अनभिज्ञ हैं वे इस मार्गके तत्त्वको न समझकर इसमें

श्रीशिवजीके श्रीकालीके चरणतलमें रहनेका भाव यही है कि श्रीशिवजी उनकी आद्याशक्तिके चरणकी प्राप्तिसे ही मिल सकते

दोष देखते हैं, जैसा कि आजकल भी व्रज-लीलाके विषयमें अनेकोंकी धारणा है। गोपियोंको, यज्ञपत्नियोंको श्रीभगवान्‌की शरणमें आनेमें बाधा दी गयी, सांसारिक सम्बन्धके सर्वनाशकी पूरी सम्भावना आ गयी। श्रीगोपियाँ अनेक निन्दाको सहर्ष सह्य करती थीं किन्तु ये सब मायाकृत विघ्नबाधा और परीक्षा थीं। अहंता, ममता और कामके कुछ भी लेश रहनेसे ये विघ्न-बाधाएँ लक्ष्यसे विचलित कर देती हैं और विचलित होनेसे समझना चाहिये कि इन तीन बड़े दोषोंका अन्त अभी नहीं हुआ किन्तु जब इन तीनोंका लोप हो जाता है, तब प्रबलसे प्रबल विघ्न-बाधा भावुकको श्रीभगवान्‌की सेवासे कदापि विचलित नहीं कर सकती। अतएव इन तीनोंसे छुटकारा पाना ही प्रेम-मार्गका मुख्य लक्ष्य है। ममता और कामका भी मूल अहंता है, अतएव अहंताका सर्वतोभावसे अभाव होकर आत्मार्पणकी पूर्ति ही राधाभाव है। उन लोगोंने इनकी कुछ भी परवा न कर सहर्ष श्रीभगवान्‌के साक्षात् शरणमें पदार्पण किया जिसका परिणाम यह हुआ कि विघ्न-बाधाओंसे उनकी कुछ भी हानि नहीं हुई, क्योंकि वह तो केवल परीक्षा थी। यज्ञ-पत्नियोंके पतियोंने उनके वापस आनेपर उनकी प्रशंसा की, अपनी निन्दा की और श्रीगोपियोंके पति-पुत्रोंको उनके वापस आनेपर यह स्मरण नहीं रहा कि वे कहीं उनके कहनेके विरुद्ध बाहर गयी थीं— उन लोगोंने उनको घरमें सदा वर्तमान ही समझा। इसमें सबसे कठिन वियोग-परीक्षा है किन्तु यह अन्तिम भाव होनेके कारण परम आवश्यक और साक्षात् भगवत्प्राप्ति करानेवाला है। श्रीगोपियोंको भी अन्तमें यह भाव आया और श्रीचैतन्य महाप्रभुने भी अपने जीवनमें इसी भावको प्रदर्शित किया। कहा जाता है कि प्रभात-प्रयाणके कुछ पूर्व श्रीगोपियोंको श्रीभगवान्‌ने अन्तिम प्रेम-दीक्षा देकर कृतार्थ किया और इस प्रकार आध्यात्मिक यथार्थ महामिलन उनके साथ हुआ जिसके बाद वियोग सम्भव नहीं है। क्योंकि यह अन्तिम भावका प्रदर्शन है, अतएव इस परमावश्यक विषयको चेतावनीकी भाँति लिखना आवश्यक समझा गया। यद्यपि यह प्रसङ्गके बाहर है।

हैं । अतएव श्रीशिवजीको श्रीपराशक्तिके चरणकी प्राप्तिद्वारा प्राप्त करना चाहिये । इसी परम सत्यको सिद्ध करनेके लिये श्रीभगवान्‌ने श्रीराधाजीके चरणकमलकी पूजा और धारणा की ।

उपासक लोग ललाटके चन्दनके मध्यमें जो रक्त, पीत, श्याम अथवा श्वेतबिन्दी (बिन्दु अथवा वर्तुल) अथवा ऊर्ध्वपुण्ड्रके समान रेखा अथवा त्रिकोण (जिसका अधोभाग दीर्घ और ऊर्ध्व सूक्ष्म रहता है) का निर्माण करते हैं, वह श्रीपराशक्तिका सूचक है और वैष्णव लोग इसको 'श्री' कहते भी हैं जिसका अर्थ श्रीलक्ष्मी(श्रीपराशक्ति) है । वैष्णवगण इस मध्यवर्ती चन्दनको विशेषकर हरिद्राको रक्त वर्णमें परिणतकर उसके मध्यवर्ती पुण्ड्रको श्री कहते हैं जो भी इसी सिद्धान्तको पुष्ट करता है अतएव साधनाकी अवस्थामें चन्दन धारण करनेका तात्पर्य श्रीपराशक्तिका सम्बन्ध और कृपाकी प्रार्थना है और सिद्धावस्थामें वह सम्बन्धकी प्राप्तिका सूचक है । सतत स्मरणमें सहायता करना भी चन्दनका तात्पर्य है और इसी निमित्त नामाङ्कित वस्त्रके भी धारण करनेकी प्रथा है ।

जो भक्त श्रीभगवान्‌में आत्मसमर्पण करता है उस भक्तमें भी श्रीभगवान् आत्मसमर्पण करते हैं । भक्त चाहता है कि श्रीभगवान् उसके आत्मसमर्पणको स्वीकार कर उसके द्वारा अपना कार्य करें; और श्रीभगवान् चाहते हैं कि भक्त उनकी शक्तिको लेकर उस कार्यको सम्पादन करे जिसमें भक्तका ही यश फैले । श्रीभगवान्‌की संज्ञा है 'अमानी मानदः' अर्थात् वे अपना मान नहीं चाहकर

भक्तका मान करना चाहते हैं। इस प्रकार यह समर्पण परस्पर है। श्रीमद्भागवत पुराण स्क० ११ में लिखा है—

> किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो
> दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम्।
> योऽरोचयन्सह मृगैः स्वयमीश्वराणां
> श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठः ॥
> (२९।४)

हे जगद्बन्धो! तुम अनन्य भावसे अपनी शरणमें आये हुए दासोंके अधीन हो जाते हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है? तुमने तो जिनकी चरण-पादुकाओंपर बड़े-बड़े जगदीश्वर मुकुट रगड़ा करते थे, ऐसा होते हुए भी वानर-भालु आदि वन-जन्तुओंतकसे मैत्री की है—उनके साथ प्रसन्नतापूर्वक निवास किया है।

श्रीभगवान्‌का अपने प्रणको त्यागकर भक्त श्रीभीष्मके प्रणकी रक्षा करना प्रसिद्ध ही है। श्रीभगवान्‌के भक्त बलिका प्रहरी बननेका उल्लेख हो ही चुका है। श्रीभगवान्‌का अर्जुनके सारथीका काम करना प्रसिद्ध ही है। द्वारकामें भी श्रीभगवान् राजा उग्रसेनकी ही मातहतीमें रहते थे। श्रीयुधिष्ठिरके यज्ञमें उनको साधारण दृष्टिसे नीच सेवाका कार्य करना प्रसिद्ध है जिसके द्वारा उन्होंने सिद्ध किया कि कोई आवश्यक कार्य नीच नहीं है, सब समान है।

भक्तके श्रीराधाभावकी प्राप्ति करनेसे श्रीभगवान् और उस भक्तमें कोई भेद नहीं रह जाता। यह प्रेमद्वारा एकीभाव है, क्योंकि परम प्रेम, प्रेमी और प्रेमपात्रमें कोई भेद नहीं रहने देता।

तत्त्वकी दृष्टिसे एकता हो जाती है, किन्तु श्रीभगवान्‌के परम मंगल विश्वसेवाकार्यके लिये किञ्चित् भेद रह जाता है। भक्त चाहता है कि श्रीभगवान्‌के इस सेवाकार्यके लिये भेद रहे; किन्तु श्रीभगवान् चाहते हैं कि भेद मिट जाय, जैसा कि कहा जा चुका है। दोनोंकी रुचि रहती है अर्थात् एक आनन्दघन शुद्ध चैतन्य सर्वात्मकी दृष्टिसे एक होनेपर भी जिस प्रकार श्रीपराशक्ति अभिन्न होनेपर भी श्रीभगवान्‌की सेवामें स्वयं अनुरक्त रहती हैं उसी प्रकार उनकी कृपासे निवेदित शुद्ध आत्मा भी रत रहती है। ऐसी आत्मा श्रीभगवान्‌की सेवाके लिये श्रीभगवान्‌की इच्छाके अनुसार निरहंकार होकर और केवल निमित्तमात्र बनकर श्रीभगवान्‌द्वारा प्रेरित होकर, जैसा वे चाहते हैं, वैसी सेवा करती है, यहाँतक कि कार्यब्रह्म होकर त्रिलोकके चलानेका कार्यतक करती है। किन्तु कदापि कोई आत्मा श्रीभगवान्‌से अभिन्न रहनेपर भी स्वरूपसे श्रीभगवान् नहीं हो सकती। जैसे वृक्षके बीजमें सम्पूर्ण वृक्ष निहित रहता है और कालान्तरमें उस बीजसे सम्पूर्ण वृक्ष प्रकाशित हो जाता है, इसी प्रकार चिदात्मामें श्रीभगवान्‌की विभूति और शक्ति गुप्तरूपसे निहित रहती हैं जिनका विकास करना सृष्टिका उद्देश्य है और इसी कारण चिदात्माके संवित्‌की क्रमशः वृद्धि होती है जो दीक्षाप्रकरणमें कहा जायगा और चिदात्मा ब्रह्मा अर्थात् कार्य-ब्रह्म तक हो सकती है। किन्तु स्वयं श्रीभगवान् कदापि नहीं, क्योंकि परब्रह्मके रूप होनेके कारण उनकी शक्ति, विभूति अपरिमित हैं। यह प्रसिद्ध है कि आजकलके बलि आगामी कल्पमें

इन्द्र होंगे, श्रीपरशुरामजी ब्रह्मा होंगे। योगवाशिष्ठमें लिखा है कि चिदात्मा पुरुषार्थसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव हो सकता है। ये त्रिदेव कार्यब्रह्म हैं अर्थात् प्रकृतिके गुणोंको धारणकर त्रिलोक अथवा ब्रह्माण्डके नायक हैं, किन्तु श्रीभगवान् (महाविष्णु, सदाशिव) का रहस्यस्थान ब्रह्माण्डके परे है और वे अनेक ब्रह्माण्डके नायक हैं। सायुज्यके होनेपर कुछ अभिन्नता हो जाती है किन्तु यह भी स्वयं श्रीभगवान् होना नहीं है । लिखा है—

हरिभक्तिप्रदं साक्षाद्भक्तिमुक्तिप्रसाधनम्।
त्रैलोक्यकर्षणं देवि हरिसान्निध्यकारकम्॥

'श्रीराधा पराशक्ति साक्षात्‌रूपसे मुक्ति (त्रिगुणसे मुक्त करनेवाली) और भक्ति देनेवाली हैं और केन्द्र बनकर तीनों लोकोंके लिये (आकर्षिणी, आनन्दमयी, प्रेममयी और जीवनी) शक्ति हैं और श्रीभगवान्‌के निकट ले जानेवाली हैं। श्रीराधातत्त्वके भी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक भाव हैं। श्रीराधा (पराशक्ति) से साक्षात् सम्बन्ध और उनकी विशेष कृपा उनकी (पराशक्ति) परम प्रिया सहचरी निवेदितात्मा सिद्धा गोपीरूप श्रीसद्‌गुरुके सम्बन्धसे ही सम्भव है जिनकी चर्चा सर्वत्र की गयी है और जिनकी सहायताके बिना न सम्बन्धभाव-की प्राप्ति हो सकती है और न आत्मनिवेदन हो सकता है और न गोपीभावकी प्राप्ति हो सकती है। इस कारण श्रीजगद्‌गुरुके तत्त्वका आगे वर्णन किया जायगा।

जितनी साधनाओंके उल्लेख हो चुके हैं उनके आधिभौतिक

भावमें कम-से-कम प्रवेश करनेपर ही श्रीसद्गुरुकी साक्षात् कृपाका लाभ हो सकता है, अतएव यह प्रकरण अन्तमें लिखा गया। क्रम यह है कि सबसे पहले सब साधनाओंके आधिभौतिक भावमें क्रमशः एक साधनाके बाद दूसरेमें प्रवेश करना चाहिये; फिर इनकी साधनाकी अवस्थामें और उसके बाद सिद्धावस्थामें, इसके बाद उन साधनाओंके क्रमशः आधिदैविक भावकी तीनों अवस्था और अन्तमें साधनोंके आध्यात्मिक भावकी तीनों अवस्थाएँ लब्ध होती हैं। यह प्रकरण यह कहकर समाप्त किया जाता है कि भगवत्प्रेम परम दुर्लभ है। लिखा है—

कृष्णभक्तिरसभाविता मतिः
क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्र लौल्यमपि मूल्यमेकलं
जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते॥

'जो कहीं भी श्रीभगवान्‌की भक्तिके रससे भींगी हुई बुद्धि मिले तो उसे खरीदिये, किन्तु उसकी कीमत केवल एक स्नेह (नेह) है जो कोटि जन्मके पुण्यसे भी प्राप्त नहीं हो सकता।'

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति किल्बिषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥

गुरुतत्त्व

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तन्नमामि ॥

आनन्दमानन्दकरं प्रसन्नं
ज्ञानस्वरूपं निजबोधरूपम् ।
योगीन्द्रमीड्यं भवरोगवैद्यं
श्रीमद्गुरुं नित्यमहं भजामि ॥

'मैं श्रीसद्गुरुको प्रणाम करता हूँ जो ब्रह्मानन्दके समान परम सुखद, केवल ज्ञानस्वरूप, द्वन्द्वसे परे, आकाशके समान (निर्लेप), 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके लक्ष्य, केवल, एक, नित्य, विमल, अचल, साक्षीके समान सबमें वर्तमान और भाव (विकार) और गुणोंसे रहित हैं। मैं नित्य श्रीसद्गुरुका भजन करता हूँ जो आनन्दके देनेवाले, प्रसन्न, ज्ञानरूप स्वयंबोधस्वरूप, योगीन्द्र और संसाररूपी रोगके वैद्य हैं।'

जो त्रिगुणमयी मायाके पार हो चुके हैं, मायाके सब भेदोंको अच्छी तरह देख चुके हैं; वर्तमान सर्गमें जितना ज्ञान होना सम्भव है उसमें जिनको कुछ शेष नहीं रहा, और इस सूर्यमण्डलमें सर्वत्र जिनकी संज्ञा जा सकती हो, जिनको श्रीभगवान्के साथ अभेद होनेके कारण किसीके भी साथ कोई भेद नहीं रहा हो, जिनमें सब आन्तरिक, आध्यात्मिक शक्तियोंका पूर्ण विकास हो

गया हो, ऐसे महात्मा विश्वके सब प्राणियोंके निमित्त उनमें असीम दया रहनेके कारण ईश्वरप्रियार्थ निर्वाण अर्थात् विदेहमुक्तिको नहीं लेकर (जिसके पानेके योग्य वे रहते हैं) दैवी प्रकृतिमें रह-कर सृष्टिकी भलाई करनेका सेवा-व्रत प्रसन्नतासे अपने ऊपर लेते हैं और लोगोंको ईश्वरोन्मुख करने और श्रीभगवान्‌के साथ संयुक्त करनेके लिये स्वयं श्रीभगवान् जिनके द्वारा अपना विश्वहित कार्य करते हैं वे ही श्रीसद्‌गुरु हैं । इसी श्रेणीके कतिपय महानुभावोंको ऋषि अथवा महर्षि भी कहते हैं । ऐसे श्रीसद्‌गुरुओंकी चर्चा श्रीमद्भागवत पुराणमें यों है—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥
(६ । १४ । ५)

'हे महामुने ! मुक्तसिद्धोंमें भी जो प्रशान्तचित्तसे नारायण-परायण महात्मा हैं वे बहुत दुर्लभ हैं, करोड़ोंमें कोई एक ही ऐसे होते हैं ।' श्रीशंकराचार्य महाराजने श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ४ श्लोक १५ और १९ के भाष्यमें ऐसे जगत्-त्राता जीवन्मुक्त सद्‌गुरुओंकी चर्चा की है जिनको उन्होंने आधिकारिक नाम दिया है जो श्रीभगवान्‌के इच्छानुसार संसारकी भलाईमें प्रवृत्त रहते हैं ।

लिङ्गपुराणके ७ वें अध्यायमें इन सद्‌गुरुओंका योगाचार्य नामसे विस्तृत वर्णन है और वहाँ लिखा है कि भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न सद्‌गुरु प्रकट होते हैं; और इन सब श्रीसद्‌गुरुओंके नायक श्रीजगद्‌गुरु श्रीशिवजी हैं जिनके नाम और शक्तिसे ये

श्रीसद्गुरुगण ज्ञान-भक्तिका प्रचार और योग्य शिष्योंको श्रीभगवान्में सम्मिलित करते हैं। श्रीमद्भागवत पुराणमें लिखा है—

कस्तं चराचरगुरुं निर्वैरं शान्तविग्रहम्।
आत्मारामं कथं द्वेष्टि जगतो दैवतं महत्॥
(४।२।२)

'जो स्थावर-जंगमरूप विश्वके गुरु, वैरभावरहित केवल शान्त-स्वरूप, आत्मस्वरूपमें रमण करनेवाले और जगत्के परम पूजनीय देवता हैं ऐसे श्रीशिवजीके साथ कौन कैसे द्वेष कर सकता है? लिङ्गपुराण अ० ७ में इन श्रीसद्गुरुओंके अनेक नाम उल्लेख करके लिखा है—

हिरण्यनाभः कौशल्यो लौकाक्षिः कुथुमिस्तथा॥४६॥
कुशिकश्चैव गर्गश्च मित्रः कौरुष्य एव च॥५१॥

अर्थात् इनके नाम हैं—

'हिरण्यनाभ, कौशल्य, लौकाक्षि, कुथुमि, कुशिक, गर्ग, मित्र, कौरुष्य।'

इनके शिष्य-प्रशिष्योंका भी उल्लेख है। लिङ्गपुराणमें इन लोगोंका वासस्थान उत्तराखण्डके हिमालय और सुमेरु पर्वतमें सिद्धाश्रम बताया है। लिङ्गपुराण अ० २४ में लिखा है—

हिमवच्छिखरे रम्ये भृगुतुङ्गे नगोत्तमे।
नाम्ना भृगोस्तु शिखरं प्रथितं देवपूजितम्॥४९॥
तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति दृढव्रताः॥५०॥

योगात्मानो महात्मानस्तपोयोगसमन्विताः ॥५१॥
हिमवच्छिखरे रम्ये महोत्तुङ्गे महालये ॥७७॥
सिद्धक्षेत्रं महापुण्यं भविष्यति महालयम् ।
तत्रापि मम ते पुत्रा योगज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥७८॥
भविष्यन्ति महात्मानो निर्ममा निरहङ्कृताः ॥७९॥
हिमवच्छिखरे रम्ये जटायुर्यत्र पर्वतः ।
तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति महौजसः ॥९२॥
हिरण्यनाभः कौशल्यो लौकाक्षिः कुथुमिस्तथा ॥९३॥
दिव्यां मेरुगुहां पुण्यां त्वया सार्द्धश्च विष्णुना ।
भविष्यामि तदा ब्रह्मँल्लकुलीनाम नामतः ॥१२९॥
कायावतार इत्येवं सिद्धक्षेत्रं च वै तदा ।
भविष्यति सुविख्यातं यावद्भूमिर्धरिष्यति ॥१३०॥
तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति तपस्विनः ।
कुशिकश्चैव गर्गश्च मित्रः कौरुष्य एव च ॥१३१॥
योगात्मानो महात्मानो ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥१३२॥

'श्रीमहादेवजी श्रीब्रह्माजीसे कहते हैं कि रमणीय हिमालय पर्वतके श्रेष्ठ भृगुतुङ्ग पर्वतमें देवपूजित भृगुनामका शिखर है, उसको मेरा रूप जानो । उस पर्वतमें दृढ़व्रत मेरे पुत्रगण योगात्मा महात्मा और तपयोगनिष्ठ होंगे । सुन्दर हिमालयके सबसे ऊँचे शिखरपर सिद्धक्षेत्र नामका पुण्यद महालय होगा । वहाँ मेरे पुत्रगण ब्रह्मवादी, योगी, महात्मा होंगे जो ममता और अहङ्कारसे शून्य रहेंगे । रम्य हिमालयशिखरमें जटायु पर्वत है; वहाँ भी मेरे पुत्र बड़े वीर्यशाली होंगे । उनके नाम हिरण्यनाभ, कौशल्य, लौकाक्षि और कुथुमि हैं । हे ब्रह्मन् ! तुम्हारे और विष्णुके साथ दिव्य

सुमेरु-गुहाका आश्रय करके नकुलीश नाम होकर मैं वहाँ रहूँगा; जबतक पृथ्वी रहेगी तबतक कायावतार नामका यह सिद्धक्षेत्र विख्यात होगा। वहाँ भी मेरे विख्यात तपस्वी पुत्रगण होंगे जिनके नाम हैं कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य।' लिङ्गपुराणमें सैकड़ों योगेश्वरोंके नाम हैं। किन्तु उनमें ऊपरकथित नाम मुख्य हैं, क्योंकि इनका उल्लेख दो स्थानोंमें आया है।

ये सभी सब कालमें, योग्य साधकोंको प्राप्त होते हैं। श्रीमद्-भागवत पुराण स्क० १२ अ० २ श्लोक ३७ और ३८ में * लिखा है कि श्रीदेवापि और श्रीमरु, जिनका कलाप ग्राममें आश्रम है, कलियुगमें वर्णाश्रमधर्मकी रक्षा करेंगे और श्रीश्रीधर स्वामी अपनी टीकामें लिखते हैं कि 'कलापग्रामो नाम योगिनामावासः प्रसिद्धः' अर्थात् कलाप ग्राम महात्माओंका प्रसिद्ध निवासस्थान है। इससे सिद्ध है कि कलाप ग्राममें अनेक सिद्ध सद्गुरु महात्मा-गण रहते हैं जिनका मुख्योद्देश्य धर्मकी रक्षा करना और साधकोंको दीक्षित बनाना है। श्रीमद्भागवत पुराणके स्क० १० अ० ८७ श्लोक ५ से ७ † तकमें लिखा है कि एक बार श्रीनारदजी श्रीसनकादिको देखनेके लिये श्रीनारायणके आश्रममें गये तो वहाँ कलाप ग्रामके ऋषियोंसे आश्रमको आवेष्टित पाया। श्रीमहाभारतके मौशलपर्वके अध्याय ७ के अन्तमें कथा है कि प्रभास-प्रयाणके

---

* देवापिः शन्तनोर्भ्राता मरुश्चेक्ष्वाकुवंशजः।
कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ॥

† तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः।
परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरूद्वह॥ ७॥

बाद श्रीअर्जुन श्रीभगवान्‌की मुख्य रानियोंको लेकर हिमालयको पारकर कलाप ग्राममें गये और वहाँ उनको रखकर चले आये *। यह कलियुगके प्रारम्भके समयकी घटना है। यह कलाप ग्राम उत्तर कुरुमें किसी अगम्य स्थानमें है। श्री १०८ विजयकृष्ण गोस्वामीजीका कथन है कि आजकल जो तिब्बतका सरोवर मानसरोवर कहकर प्रसिद्ध है वह यथार्थ मानसरोवर नहीं है। यथार्थ मानसरोवर उससे उत्तर अगम्य स्थानमें है, कलाप ग्राम भी उसीके निकट है और श्रीनारायणाश्रम भी वहाँ ही है।

श्रीमद्भागवत पुराण स्क० ३ अ० ४ में कथा है कि श्रीभगवान्‌के महाप्रयाणके बाद जब श्रीविदुरने श्रीउद्धवको उपदेश करनेकी प्रार्थना की तब श्रीउद्धवने उत्तर दिया कि आप श्रीमैत्रेय ऋषिसे उपदेश लें, क्योंकि श्रीभगवान्‌ने प्रस्थानके पूर्व उक्त ऋषिको आपको उपदेश करनेके लिये मेरे सामने आज्ञा दी थी। वहाँ ही पाँचवें अध्यायमें कथा है कि जब विदुरजीने श्रीमैत्रेय ऋषिसे उपदेश पानेकी प्रार्थना की तब उक्त ऋषिने भी स्वीकार किया कि श्रीभगवान्‌ने आपको उपदेश करनेके लिये मुझको आज्ञा दी थी। यह घटना कलियुगके प्रवेशके बाद हुई। इससे सिद्ध है कि कलियुगमें ज्ञान-भक्तिकी दीक्षा श्रीमैत्रेय ऋषिद्वारा भी होती है। वहाँ ही चतुर्थ अध्यायमें कथन है कि राजा परीक्षितने श्रीशुकदेवजीसे प्रश्न किया कि जब ब्रह्म-शापसे सम्पूर्ण यदुकुल ध्वंस हुआ और श्रीभगवान्‌ने भी प्रस्थान किया, तब यादवोंके मुख्य श्रीउद्धव

---

* हिमवन्तमतिक्रम्य कलापग्रामवासिनः।
द्वारिकावासिनो ये तु पुरुषाः पार्थमन्वयुः ॥७५॥

कैसे जीवित रह गये। इसके उत्तरमें श्रीशुकदेवजीने कहा कि अपने ज्ञान-धर्मके उपदेशका क्रम उनके बाद भी जारी रहे, इसी निमित्त श्रीभगवान्‌ने श्रीउद्धवको यहाँ रहने दिया। इससे भी सिद्ध है कि आप्तकाम श्रीसद्‌गुरु महात्माओंद्वारा दीक्षा-उपदेशका क्रम सदा जारी रहता है।

मुण्डकोपनिषद् मुण्डक ३ खण्ड २ के ११ वें मन्त्रमें इन सद्‌गुरुओंका यों उल्लेख है—

'नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः।'

श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में इन श्रीसद्‌गुरुओंका यों वर्णन है—

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥
(२।१२)

'पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश यह पञ्चात्मक भूत जब योगगुणमें प्रवृत्त हो जाता है अर्थात् परिवर्तित होकर शुद्ध हो जाता है और तेजोमय शरीरको प्राप्त हो जाता है, उस समय मनुष्यको जरा, रोग या मृत्यु नहीं सताती।' रुद्रयामलमें गुरु-माहात्म्य यों है—

गुरुरेव परो मन्त्रो गुरुरेव परो जपः।
गुरुरेव परा विद्या नास्ति किञ्चिद्‌गुरुं विना॥
यस्य तुष्टो गुरुर्देवि तस्य तुष्टा महेश्वरी।
येन सन्तोषितो देवि गुरुः स हि सदाशिवः॥
तस्माद् गुरुं भजेद्भक्त्या तोषयेत् सततं गुरुम्।

'श्रीमहादेवजी कहते हैं कि गुरु ही परम मन्त्र, परम जप और पराविद्या हैं, गुरुके बिना कुछ भी नहीं है। जिसपर गुरुकी कृपा हुई, उसपर महेश्वरी (पराशक्ति) की भी कृपा होती है और हे देवि! जिसने गुरुको संतुष्ट किया वही सदाशिव है। इस कारण गुरुका भजन करे और सतत गुरुको प्रसन्न रक्खे।'

दक्षिण देशमें ऐसे एक सद्गुरु दक्षिणामूर्ति नामसे प्रसिद्ध हैं। श्रीचिदम्बरम्के मन्दिरमें जहाँ श्रीशिव और श्रीनारायण दोनोंकी मूर्ति मध्यमें है उसमें प्रवेशके प्राकारमें श्रीदक्षिणामूर्तिकी प्रतिमा है जिसका भाव यह है कि प्रथम श्रीसद्गुरुकी प्राप्ति होनेपर ही फिर जगद्गुरु श्रीशिवसे सम्बन्ध होता है और उसके बाद श्रीउपास्य मिलते हैं। दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रमें श्रीसद्गुरुका उत्तम वर्णन यों है—

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः॥
निधये सर्वविद्यानां भिषजे भवरोगिणाम्।
गुरवे सर्वलोकानां दक्षिणामूर्त्तये नमः॥

'सारांश यह कि चिदाकाशमें गुरु युवा हैं, शिष्य वृद्ध हैं, उपदेश मौनभावसे होता है किन्तु उसीसे शिष्योंका संशय नाश हो जाता है। सद्गुरुद्वारा आध्यात्मिक दीक्षा इसी प्रकार अन्तरमें दी जाती है।'

इन सद्गुरुओंका त्रिकालमें कभी अभाव नहीं हो सकता। जैसे इन्द्रादि देवताओंका अपना-अपना नियत कार्य सृष्टिमें है

जिसके सम्पादनमें वे लोग सदा नियत रहते हैं वैसे ही धर्मकी रक्षा करना, दिव्य ज्ञान और भगवद्भक्तिका प्रचार करना, राजविद्याके मार्गसे चलनेवालोंको सहायता देना और उसकी दीक्षा प्रदानकर शिष्यको श्रीपराशक्ति और श्रीउपास्यके चरणमें समर्पित करा देना आदि इन श्रीसद्गुरुओंके नियत कार्य हैं जिनमें वे सदा प्रवृत्त रहते हैं। अतएव श्रीसद्गुरु तो सदा प्रस्तुत पाये जाते हैं किन्तु शिष्यकी ही कमी है। कर्म, अभ्यास, ज्ञान और भक्तियोगमें निपुणता प्राप्त करनेके अनन्तर साधकको इनसे सम्बन्ध होता है और अदृश्य भावसें अन्तरमें प्रेषित इनके आदेशके अनुसार चलनेसे अथवा इनकी कृपासे किसी सत्पुरुषसे सम्बन्ध प्राप्तकर उनके उपदेशके पालनसे वह इनके शिष्य होनेके योग्य होता है। तब उसको इन श्रीसद्गुरुओंकी साक्षात् प्राप्ति होती है, वरं सद्गुरु स्वतः ऐसे साधकके निकट प्रकट होते हैं। ऐसा नहीं है कि श्रीसद्गुरु अपनेको इस निमित्त गुप्त रखते हैं कि जिसमें मनुष्य अज्ञानी बना रहे। किन्तु जैसे कोई वैज्ञानिक पण्डित किसी बालकको विज्ञानका विषय यत्न करनेपर भी तबतक नहीं समझा सकता जबतक कि बालक प्रौढ़ होकर उसके समझनेकी शक्ति प्राप्त न कर ले, ऐसे ही जबतक कोई अपनेको इनका कृपापात्र, अथवा अदृश्य सम्बन्ध, अथवा साक्षात् शिष्य होनेके योग्य न बना ले, तबतक श्रीसद्गुरुका मिलना उसके लिये किञ्चित् भी लाभकारी न होगा और न वह तबतक दर्शन देनेपर भी श्रीसद्-गुरुको पहचान सकेगा अथवा उनका सम्मान करेगा। यह हो सकता है कि मिलनेपर उनका तिरस्कार कर दे। आवश्यक

योग्यताके प्राप्त करनेके पूर्व साधकको श्रीसद्गुरुके साक्षात् दर्शन होनेसे उसकी हानि होगी क्योंकि वह उनके साक्षात् तेजपुञ्जको नहीं सह सकेगा। सुना जाता है कि देवताओंके साक्षात् दर्शनसे कई लोग जो योग्य न थे विक्षिप्त हो गये। इनके कृपापात्र अथवा शिष्य होनेके योग्य होनेके लिये जो कुछ कर्त्तव्य है वह सब शास्त्रोंमें प्रकाशित है और उसका वर्णन इस पुस्तकमें किया गया है जिसके अनुसार चलनेसे साधक उनके सम्बन्धके योग्य अवश्य हो जायगा, और तबतक जितनी सहायता आवश्यक है उतनी सहायता साधकको अप्रकाश्यरूपसे श्रीगुरुलोग अवश्य देंगे और देते हैं। साधक प्रायः कभी-कभी गम्भीर निद्रामें अपने सूक्ष्म शरीरमें रहकर श्रीसद्गुरुसे उपदेश पाता है और उस उपदेशके कारण उन्नति भी करता है किन्तु अनेक कालतक वह जाग्रत्-अवस्थामें इनको नहीं जानता, क्योंकि स्थूल शरीरसे जीवात्माकी जाग्रत्-अवस्थाकी संज्ञासे पृथक् होकर सूक्ष्म शरीरमें जानेके पूर्व किञ्चित् कालके लिये वह अचेतन हो जाता है और फिर लौटते समय भी अचेतन होकर जाग्रत्-अवस्थामें आता है, अतएव सूक्ष्म शरीरमें रहकर जो-जो उपदेश उसे मिलते हैं अथवा दृश्य देखनेमें आते हैं, वे जाग्रत्में स्मरण नहीं रहते; तथापि वह उसके फलसे वञ्चित नहीं रहता। जब अभ्यासद्वारा चित्त शुद्ध, समाहित, भावान्वित और एकाग्र होता है, तब भावुक बिना अचेतन हुए सूक्ष्म शरीरमें जाता और आता है, और तब वहाँके सब कुछ अनुभव जाग्रत्में भी स्मरण रहते हैं।

संसारमें जो कोई शुद्ध उद्देश्यसे परोपकारी विशेषतः परमार्थ सम्बन्धी कामके करनेमें प्रवृत्त होता है उसकी श्रीसद्गुरु अज्ञातभावसे अवश्य सहायता करते हैं, क्योंकि निष्काम परोपकार व्रत उनको परम प्रिय है जिसमें प्रवृत्त होनेसे उनकी कृपा और सहायता अवश्य मिलती है। वे ऐसे उपकारीके चित्तमें उसकी योग्यतानुसार ऐसी सद्भावना प्रेषण करते हैं जिससे उसको उस कार्यके करनेमें आवश्यक सहायता मिलती है। ये श्रीसद्गुरुगण इस सृष्टिरूपी वाटिकाके मनोहर पुष्प हैं जो श्रीभगवान्के करुणाभावके साथ घनिष्ठ तादात्म्य स्थापनकर उनके करुणापुञ्जका बड़ा केन्द्र इस निमित्त बन गये हैं कि उनके द्वारा संसारका हित और तृप्ति हो। इसी कारण इन महानुभावोंने निर्वाणपदका त्याग किया जिसका ग्रहण करनेसे वे इस विश्वहित कार्यको नहीं कर सकते थे। अतएव ये लोग श्रीभगवान्की दैवी करुणाके रूप ही हैं जिसके कारण इनका केवल कार्य यह है कि श्रीभगवान्के करुणारसका केन्द्र बनकर उसको विश्वमें प्रवाहित करना। ये लोग सदा-सर्वदा केवल विश्वका उपकार करनेमें ही उद्यत रहते हैं जिसमें योग्य साधकोंका श्रीभगवान्से सम्बन्ध स्थापित कराना और भावुकको श्रीभगवान्में युक्त करना इनका मुख्य कार्य है। श्रीभगवान्का मुख्य कार्य, जो सृष्टिमें धर्मकी वृद्धि और अधर्मका ह्रास करना है वह मुख्यकर इन्हीं महात्माओंके द्वारा श्रीभगवान् सम्पादन करते हैं और जब बहुत बड़ी आवश्यकता आ जाती है तब और विशेषकर इन्हींकी प्रार्थनापर श्रीभगवान् अवतार लेते हैं, क्योंकि वे भक्तके वशमें हैं।

इन्हींके त्यागके कारण इस घोर कलियुगमें भी अबतक धर्म वर्तमान है। विवेक-चूडामणिमें इनका लक्षण यों है—

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥ ३९॥
अयं स्वभावः स्वत एव यत्पर-
श्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम्।
सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कश-
प्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल॥ ४०॥

'शान्त प्रकृतिवाले महात्मा वसन्त ऋतुके सदृश केवल संसारका हित करते रहते हैं, वे कठिन संसारसागरसे विना स्वार्थके अन्य जनोंको तारते हुए आप भी तर जाते हैं। दूसरोंके श्रम (कष्ट) का नाश करनेमें तत्पर रहना महात्माओंका स्वयं सिद्ध स्वभाव है। जैसे यह चन्द्रमा सूर्यकी कर्कश प्रभासे सन्तप्त पृथिवीको स्वयं ही तृप्त किया करता है।'

विद्यार्थिगण विद्यारम्भके समय 'ओं नमः सिद्धेभ्यः' कहकर इन्हीं महात्माओंका स्मरण और प्रणाम करते हैं। श्राद्धमें 'महायोगी' कहकर कई वार इन्हींका स्मरण—प्रणाम करना पड़ता है, जैसा कि—

देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च।
नमः स्वधायै स्वाहायै नित्यमेव नमो नमः॥

श्रीउपास्य और श्रीसद्‌गुरुमें भेद नहीं है, दोनोंको समान मानना चाहिये। श्रीमद्‌भागवत पुराण स्क० ११ में लिखा है—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्या सूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥
(१७।२७)

यो वै मद्भावमापन्न ईशितुर्वशितुः पुमान्।
कुतश्चिन्न विहन्येत तस्य चाज्ञा यथा मम॥
(१५।२७)

'श्रीभगवान् कहते हैं कि मनुष्य श्रीसद्‌गुरुको मेरा साक्षात् स्वरूप जाने, उनका तिरस्कार न करे और यह मनुष्य हैं ऐसा जानकर उनकी निन्दा न करे, क्योंकि वे सर्वदेवमय हैं। जो सत्पुरुष, ध्यानयोगके द्वारा, मुझ सर्वनियन्ता स्वतन्त्रस्वभावके साथ एकताको प्राप्त हुआ है मेरी आज्ञाके समान उसकी आज्ञाको कोई भी अवहेलना न करे।' (यह उसकी अप्रतिहताज्ञा नामवाली सिद्धि है)। और भी—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

'गुरु ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और परब्रह्मरूप हैं—ऐसे श्रीसद्‌गुरुको नमस्कार है।' यह भी अटल नियम है कि बिना श्रीसद्‌गुरुकी कृपा प्राप्त किये कदापि किसी अवस्थामें श्रीउपास्यसे सम्बन्ध नहीं हो सकता है। इस नियममें कभी रियायत नहीं हो सकती। बिना श्रीसद्‌गुरुकी कृपाके श्रीउपास्यमें वास्तविक प्रेम-का भी प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। शुद्ध निर्हेतुक और स्वाभाविक

प्रेमकी प्राप्ति श्रीसद्गुरुकी कृपासे ही सम्भव है। चूँकि श्रीसद्गुरुद्वारा श्रीउपास्यकी प्राप्ति होती है इस कारण साधकोंके लिये श्रीसद्गुरुका दर्जा श्रीउपास्यसे बड़ा है। प्रथम पूजा-ध्यान श्रीसद्गुरुका होता है, तत्पश्चात् श्रीउपास्यका। इसी कारण दक्षिणके श्रीचिदम्बरम्के मन्दिरमें श्रीसद्गुरु दक्षिणामूर्तिकी प्रतिमा प्रवेशके बादके प्राकारमें है जिसके बाद श्रीभगवान् विष्णु और श्रीमहादेवजीकी प्रतिमा मध्यमें है। चूँकि श्रीसद्गुरुगण योगदीक्षा जगद्गुरु श्रीशिवजीके नामसे और उन्हींकी शक्तिसे देते हैं, अतएव प्रत्येक भावुकको श्रीसद्गुरुसे सम्बन्ध होनेपर श्रीजगद्गुरु श्रीशिवजीसे भी सम्बन्ध होता है और उसके बाद श्रीउपास्यकी प्राप्ति होती है। इसी कारण श्रीशिवजी व्रजमें श्रीगोपेश्वररूपमें हैं, और श्रीसद्गुरु (दुर्वासा) और श्रीगोपेश्वर शिवजीकी कृपासे श्रीगोपियोंको श्रीभगवान्की प्राप्ति हुई। अतएव श्रीचिदम्बरम् मन्दिरमें जो श्रीपतञ्जलि ऋषिका बनवाया हुआ है उसमें श्रीशिव, श्रीविष्णु दोनों विराजमान हैं, क्योंकि साधकको दोनोंकी आवश्यकता है।

श्रीसद्गुरुकी उत्कृष्टताके विषयमें श्रीसहजो बाईका निम्न-कथित बड़ा सुन्दर पद्य है—

राम तजूँ पै गुरु न बिसारूँ, गुरुके सम हरिकूँ न निहारूँ ॥ १ ॥
हरिने जन्म दियो जग माहीं, गुरुने आवागमन छुटाहीं ॥ २ ॥
हरिने पाँच चोर दिये साथा, गुरुने लई छुटाय अनाथा ॥ ३ ॥
हरिने कुटुंब जालमें गेरी, गुरुने काटी ममता बेरी ॥ ४ ॥
हरिने रोग भोग उरझायो, गुरु जोगी करि सबै छुटायो ॥ ५ ॥
हरिने कर्म भर्म भरमायो, गुरुने आतम रूप लखायो ॥ ६ ॥
हरिने मोसूँ आप छिपायो, गुरु दीपक दै ताहि दिखायो ॥ ७ ॥

फिर हरि बंध-मुक्ति गति लाये, गुरुने सब ही भर्म मिटाये ॥ ८ ॥
चरनदास पर तन मन वारूँ,गुरु न तजूँ हरिकूँ तजि डारूँ॥ ९ ॥

साधक जब प्रवृत्तिमार्गको असार समझ निवृत्तिमार्गके अनुसरण करनेका संकल्प कर उसमें पदार्पण करता है और स्वार्थको त्यागकर और प्रेमसे प्रेरित होकर श्रीउपास्यकी सेवाके निमित्त अपनेको अर्पित करता है और अपने आचरणको शुद्ध और हृदयको पवित्र और स्वच्छकर एक सर्वात्मभावके कारण परदुःखसे दुःखी और परसुखसे सुखी होकर निःस्वार्थ भावसे पर-हित-निरत-सेवाके व्रतका धारण करता है तभीसे श्रीसद्गुरुका ध्यान उसकी ओर आकर्षित होता है और वे उसे अप्रकाश्यभावसे आवश्यक सहायता देने लगते हैं। ऐसे साधकको प्रायः किसी पुस्तक अथवा सत्संगतिद्वारा अथवा अन्यभाँति आवश्यक उपदेश मिल जाते हैं और कभी-कभी उसके मनमें भी आवश्यक भावनाका स्फुरण हो जाता है। प्रायः स्वप्नमें भी आदेश होता है किन्तु परम आवश्यक है कि साधक श्रीसद्गुरुको वरण करके अर्थात् श्रीसद्गुरुमें दृढ़ विश्वासकर उनके चरणमें अपनेको अर्पित करे, उनके परम करुणा और त्याग आदिकी भावनाकर उनमें अविचल प्रीति स्थापित करे और उनका ध्यान-स्मरण नियमसे प्रति-दिन किया करे। चूँकि श्रीसद्गुरुके दिव्य रूपको साधकने अब-तक नहीं देखा है अतएव केवल उनके श्रीचरणका हृदयमें ध्यान करे! इसी कारण प्रायः मन्दिरोंके सामने 'श्रीगुरुपाद' बनाया हुआ रहता है जिसका भाव यह है कि प्रथम अदृश्य श्रीसद्गुरुके चरणकी सेवा और आश्रय करनेपर ही श्रीउपास्य मिलते हैं। श्रीसद्गुरुके मन्त्रका जप, उनका ध्यान, उनका स्मरण और उनकी परम करुणा और

संसारके कल्याणके लिये अद्भुत त्यागका मनन और उन साधनाओं-का अभ्यास जिनका वर्णन हो चुका है, श्रीसद्गुरुकी प्राप्तिके लिये आवश्यक हैं। इन अभ्यासोंमें निःस्वार्थ परोपकार और ध्यान मुख्य हैं। लिङ्गपुराणमें भी लिखा है कि इन श्रीसद्गुरुओंकी साधनामें ध्यान मुख्य है। उनका नाम ध्यानयोगी भी है। यथार्थतः ध्यानमें परमाद्भुत शक्ति है। शुद्ध निष्काम हृदयका भावयुक्त ध्यान ध्येयको अवश्य आकर्षण करता है। यदि साधकका शुद्ध हृदय निःस्वार्थ प्रेम और अहैतुक उपकारके भावसे प्लावित न रहेगा तो वह हृदय श्रीसद्गुरुके आदेश अथवा प्रभावको, अभ्यन्तर-में आनेपर भी, ग्रहण नहीं कर सकेगा। श्रीसद्गुरुकी प्राप्तिके लिये भी उनकी भक्ति और उनके करुणाभावको अपने जीवनमें प्रकाशित करना भावुकके लिये आवश्यक है अर्थात् उसके लिये परोपकारव्रत, विशेषकर परमार्थ-सम्बन्धीका, धारण करना आवश्यक है। जो श्रीसद्गुरुके समान संसारके पारमार्थिक कल्याणके लिये त्याग करना नहीं चाहता, उसको श्रीसद्गुरुसे साक्षात् सम्बन्ध हो नहीं सकता, क्योंकि यहाँ समानताका अभाव है। श्रीसद्गुरुके ध्यान और कृपाके आकर्षण करनेका मुख्य उपाय उनके लिये शुद्ध और निष्काम हृदयकी प्रबल पिपासा और अनुराग है, अर्थात् जब साधककी अन्तरात्मामें श्रीसद्गुरुके निमित्त प्रबल व्याकुलता उत्पन्न होगी जिसकी निवृत्तिके लिये वह सर्वस्व त्यागनेपर भी उद्यत होगा और त्याग तथा परोपकार-सेवा-व्रतको धारण करेगा, तब श्रीसद्गुरु कृपा करनेमें विलम्ब न करेंगे। श्रीसद्गुरुकी कृपा होनेपर साधकको प्रायः प्रथम ऐसे

सत्पुरुषसे सम्बन्ध होता है जिनको श्रीसद्गुरु प्राप्त हैं और फिर उस सत्पुरुषद्वारा श्रीसद्गुरुसे सम्बन्ध हो जाता है। विवाहका रूपक लेनेसे इस नवोढा भावुकके सम्वन्धमें सत्पुरुष अगुआ अथवा घटक हैं और श्रीसद्गुरु पुरोहित जो मिलनके समय मन्त्र-द्वारा दोनोंको एक कर देते हैं। श्रीधनी धर्मदासजीका एक विनयका पद है जो श्रीसद्गुरुकी प्राप्तिके निमित्त व्याकुलता और पिपासासूचक हृदयकी कातरोक्तिका उत्तम नमूना है। यह पद श्रीसद्गुरुके निमित्त अन्तरात्माके प्रबल अनुरागको प्रकट करता है जिसके होनेपर ही वे मिलते हैं—

गुरु पैयाँ लागौं नाम लखा दीजो रे ॥ टेक ॥
जनम जनमका सोया मनुवाँ, शब्दन मार जगा दीजो रे।
घट अँधियार नैन नहिं सूझै, ज्ञानका दीप जला दीजो रे ॥१॥
विषकी लहर उठत घट अंतर, अमृत बूँद चुआ दीजो रे ॥२॥
गहरी नदिया अगम बहे धरवा, खेयके पार लगा दीजो रे ॥३॥
धरमदासकी अरज गुसाईं, अबके खेप निभा दीजो रे ॥४॥

इस विनयका भाव यह है कि कारण-शरीरका अभिमानी प्राज्ञ जीवात्मा जो वास्तव अन्तरात्मा है वह सोये हुए के समान है अर्थात् जाग्रत्-अवस्थाकी उसे सुधि नहीं है। श्रीभगवान्की वंशी-ध्वनिके स्पर्शरूपी आघातसे श्रीसद्गुरु इस प्राज्ञको जगाते हैं और तब उसके हृदयका अज्ञानान्धकार नष्ट होकर वहाँ श्रीपरा-शक्तिकी ज्योतिका प्रकाश होता है जिसके होनेपर दिव्य दृष्टि खुलती है।

जो पवित्र भावुक प्रेम-यज्ञमें अपनेको स्वाहा करना चाहता है अर्थात् केवल श्रीभगवान्के निमित्त परोपकाररूपी सेवाव्रतके

सिवा अन्य सब स्वार्थकामना जिसकी मिट गयी है उसीको श्रीसद्गुरुकी प्राप्ति होती है और ऐसेको श्रीसद्गुरु अवश्य मिलते हैं। श्रीतुलसीदासजीको श्रीहनुमान्‌जी श्रीसद्गुरुरूपमें मिले। शुद्ध और निःस्वार्थ होकर परोपकारव्रतमें प्रवृत्त होते ही साधकको प्रथम श्रीसद्गुरु उसे अप्रकटभावसे सहायता करने लगते हैं जो विचारनेसे साधकको अच्छी तरह प्रतीत होता है और जिसमें उसे कोई सन्देह नहीं रहता; किन्तु साक्षात् सम्बन्ध उपयुक्त समय आनेपर ही होता है जिसके लिये साधकको धैर्य रखना चाहिये। साधकका निश्चय ऐसा होना चाहिये कि श्रीसद्गुरु शीघ्र मिलें अथवा अनेक जन्मोंके बाद, किन्तु मैं अपने लक्ष्यसे विचलित न होऊँगा। सेवामें प्रवृत्त रहना साधकका धर्म है, दर्शन देना श्रीसद्गुरुका काम है। श्रीसद्गुरु श्रीउपास्यकी कृपासे ही मिलते हैं। श्रीगोस्वामीजीका वचन है—

'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता'

श्रीभगवान्‌ने ही श्रीनारदजीको ध्रुवके निकट श्रीसद्गुरु बनाकर उपदेश देनेके निमित्त भेजा। मुख्य लक्ष्य श्रीसद्गुरुका सम्बन्ध है जो परम दुर्लभ है और इसके होनेसे तो 'बेड़ापार' ही है अर्थात् उसके होनेपर साधककी यात्राका प्रधान उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। जो कुछ कठिनता है वह बस यहींतक है।

श्रीसद्गुरुकी उपमा 'कर्णधार' (नावका खेनेवाला) अथवा सीढ़ीसे दी गयी है। जब कि कर्णधार मिल गये तो फिर भवसागरको पारकर श्रीउपास्यके देशमें जाना सुलभ हो गया अथवा ऊपर उठनेके लिये सीढ़ी मिल जानेसे ऊपर जाना सुगम

हो गया। श्रीसद्गुरुके साथ अदृश्य सम्बन्ध भी स्थापित होनेसे फिर वह सम्बन्ध कदापि टूटता नहीं, जन्मजन्मान्तरतक बना रहता है। अतएव यह भी बड़ा दुर्लभ है। बड़े लोग एक बार जिसकी बाँह गहते हैं, उसका कदापि त्याग नहीं करते। जिस साधकका किसी ऐसे सत्पुरुषसे सम्बन्ध हो गया, जिनको श्रीसद्-गुरु लब्ध हैं, तब उनके द्वारा श्रीसद्गुरुसे सम्बन्ध बड़ी सुगमता-से हो जाता है। अतएव सत्पुरुषसे भी सम्बन्ध करनेका यत्न अवश्य करना चाहिये। बड़े भाग्यकी बात है कि वर्तमानकालमें भी ऐसे सत्पुरुष हैं जो जङ्गल-पहाड़-सदृश अगम्य स्थानमें न रहकर नगरोंमें रहते हैं और योग्य साधकोंको मार्ग बतलानेके लिये और आवश्यक सहायता देनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं और इनके द्वारा साधक मार्गमें पदार्पण कर सकता है और उसके बाद श्रीसद्गुरुके दुर्लभ सम्बन्धको प्राप्त कर सकता है। अतएव सत्पुरुषकी प्राप्ति और उनमें श्रद्धा और उनकी कृपा भी दुर्लभ है और यह भी बिरले ही लोगोंको प्राप्त होती है। सत्पुरुष भी ऐसे गुप्त रहते हैं कि उनकी पहचान भी कठिन है। गीतामें लिखा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(७।३)

'सहस्रों (अनेकों) मनुष्योंमें कोई ही परमार्थके मार्गमें अनुसरण करनेका उपाय करता है और इन उपाय करनेवालोंमें भी कोई ही मुझको तत्त्व (तादात्म्यभाव) से जानता है।'

मन्त्र, गुरु आदि जो हैं वे भी श्रीसद्गुरुके प्रतिनिधि हैं

अतएव उनका आदर-सम्मान अवश्य करना चाहिये किन्तु ये श्रीसद्गुरुपदवाच्य नहीं हैं क्योंकि 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुरेव महेश्वरः' के वाच्य केवल श्रीसद्गुरु ही हैं जिनकी प्राप्तिसे अज्ञानान्धकार दूर हो ही जाता है।

बहुत साधक निद्रित रहनेमें सूक्ष्मशरीरद्वारा भुवर्लोकमें मृत व्यक्तिके जीवको अथवा अचानक मरे हुए व्यक्तिको अथवा अपनेसे कम जाननेवाले किसी पुरुषके जीवको उपदेश देकर सहायता करते हैं। यदि श्रीसद्गुरुसम्बन्धप्राप्त शिष्य साधनकालमें अथवा दीक्षा पानेपर स्थूल शरीरको त्याग करता है, तो वह स्वर्गके सुखका भी त्याग करता है अर्थात् वह स्वर्गके उच्च भागमें जाकर स्वर्गका उत्तम आनन्द प्राप्त कर सकता था जिसको वह त्यागकर भुवर्लोकमें ही इसलिये रह जाता है कि उसके गुरु शीघ्र उसका जन्म भूलोकमें करवा दें जिसमें वह शीघ्र श्रीगुरु और श्रीभगवान्‌के कार्यको संसारमें करनेमें प्रवृत्त हो जाय। ऐसी अवस्थामें उसको श्रीगुरु उसके शीघ्र जन्म होनेका प्रबन्ध करते हैं और उसके लिये उपयुक्त स्थान और कुलमें उसका जन्म करवा देते हैं। गीतामें ऐसे जन्मको परम दुर्लभ कहा है। उसके स्वर्गमें जाकर वहाँका आनन्द लेनेसे जितनी वहाँकी शक्तियाँ खर्च होतीं वे संसारके उपकारमें खर्च होती हैं। यहाँ सब कुछ पुरुषार्थसे मिलता है, गुरु लोग केवल उपदेशद्वारा मार्ग बतलानेवाले हैं, किन्तु चलना काम लोगोंका है और कोई चलनेसेही मार्गके अन्तमें कभी-न-कभी पहुँचेगा, अन्यथा नहीं। किन्तु इस समयमें बहुधा लोग पुरुषार्थका श्रम लेना नहीं

चाहते, वे चाहते हैं कि बिना श्रम किये किसी प्रकारसे महात्मा हो जायँ, कोई किसी प्रकार उन्हें एकाएक महात्मामें परिवर्तन कर दे। जब कि लोग ऐसे आलसी और परमार्थके सम्बन्धमें उदासीन हैं, तब ऐसे समयमें यदि श्रीगुरुलोग संसारमें प्रकाशभावसे रहेंगे तो सब कोई समझ सकता है कि उनका रहना कैसा असह्य उनके लिये हो जायगा ? अधिकांश लोग यही प्रार्थना करेंगे कि हम लोग एकाएक महात्मा बना दिये जायँ, सब सांसारिक वाञ्छित पदार्थ हमें मिलें, व्याधि और अन्य दुःखसे हम मुक्त कर दिये जायँ! उनके भरोसे रहकर पुरुषार्थ करनेका कोई साहस न करेगा; अतएव अनधिकारीसे गुप्त रहना श्रीगुरुओंके लिये आवश्यक और उत्तम नियम है। और संसार भी, आजकल लोगोंके दुष्टाचरणके कारण, ऐसा अपवित्र हो गया है कि पवित्र महात्माओंका जनसमूह-में रहना उनके लिये असह्य है, अतएव वे लोग अपने पवित्र गुप्त स्थानमें रहकर वहींसे संसारका जितना अधिक उपकार करते हैं उतना वे प्रकाश्यभावसे जनसमूहमें रहकर नहीं कर सकते। आवश्यक होनेपर उनमेंसे कोई-कोई समय-समयपर संसारमें साधारण रीतिसे जन्म लेकर प्रकट होते हैं, किन्तु अधिकांश इस भूलोकमें स्थूल शरीरमें रहकर भी अप्रकट रहते हैं। श्रीगुरुओंमें भी कई श्रेणियाँ हैं और वे लोग अपने शरीरके कारण बाह्यदृष्टिसे इस भूलोकमें रहकर भी यथार्थमें ऊपरके दिव्य लोकमें रहते हैं। स्थूल शरीर भी उन लोगोंको है, किन्तु उनका स्थूल शरीर हमलोगोंके स्थूल शरीरसे अन्य प्रकारका है। उनका शरीर उनके इच्छाधीन है और उसमें पञ्चभूतका शुद्ध सात्त्विक सूक्ष्मांश विशेष है, स्थूल बहुत

काम है। जिज्ञासु श्रीसद्गुरुकी प्राप्ति करनेका जितना इच्छुक रहता है, उससे सहस्रगुणा अधिक श्रीसद्गुरु उसके पास पहुँचनेके लिये इच्छुक रहते हैं जिसमें वे उसको सहायता दे सकें, किन्तु उनकी ओर जानेकी चेष्टा करना, साधकका काम है। किन्तु केवल क्षीण इच्छामात्र रखनेसे और उनकी ओर चलनेकी कुछ भी चेष्टा नहीं करनेसे तो वे प्राप्त हो नहीं सकते। यदि जिज्ञासु एक पग श्रीगुरुकी ओर बढ़ता है तो वे दो पग उसकी ओर बढ़ते हैं जिसमें शीघ्र वह उनको प्राप्त करे। प्रत्येक मनुष्यके एक नियत इष्टदेव और एक नियत श्रीसद्गुरु हैं, किन्तु उनको प्रत्यक्ष भावमें प्राप्त करनेके लिये यत्न करना मनुष्यका परम कर्त्तव्य है। प्रत्येक आर्यके गोत्र-ऋषि हैं। इस कारण बिना स्पष्टरूपसे ज्ञान हुए भी श्रीसद्गुरुका स्मरण-ध्यान करना चाहिये, क्योंकि सबके प्रति उनकी दृष्टि रहती है, श्रीसद्गुरुलोग चाहते हैं कि संसारमें शिष्य उनको प्राप्त हो जिनके द्वारा विशेष रूपसे संसारका उपकार (संसारके लोगोंका ध्यान सत्मार्गकी ओर आकर्षण करके) किया जाय और धर्मका प्रचार हो जिससे लोग सब अज्ञानमें न लिप्त रहकर जीवनको व्यर्थ खोनेसे बचें और श्रीभगवान्के निर्भय चरणोंके आश्रयमें आवें। अतएव वे लोग सदा संसारके जीवोंको इस अभिप्रायसे निरीक्षण करते रहते हैं कि कौन ऐसा है जो उनकी सहायता चाहता है और उनकी प्राप्ति करनेके लिये प्रस्तुत है अतएव साधक जब शिष्य होनेके योग्य हो जाता है, तब एक क्षण भी गुरुलोग उसके निकट पहुँचनेमें विलम्ब नहीं करते हैं, चुम्बककी तरह वह उनको आकर्षित कर लेता है। परन्तु

हमलोगोंने अपने हृदयद्वारको अहङ्कार, अभिमान, स्वार्थ, आलस्य, आन्तरिक मलिनता, विषयवासना इत्यादिके कारण ऐसा बन्द कर रक्खा है कि जिसके कारण श्रीसद्गुरु यद्यपि यहाँ सहायता करनेके लिये खड़े हैं परन्तु हमलोग देखते नहीं हैं और अपनी पीठ उनकी ओरसे फेरकर बन्द गुफा (काम-क्रोधादिसे अवरुद्ध हृदय) के भीतर अज्ञानके अन्धकारमें पड़े हुए उनके शान्तिदायी प्रकाशसे वञ्चित हो रहे हैं। हृदयके शुद्ध-स्वच्छ और प्रेमपूरित होनेपर स्वार्थ और कामादि शत्रुको पराजित करके हृदयद्वार खोलने और उनके चरण-कमलकी प्राप्तिनिमित्त आर्तनाद उच्चारण करनेहीसे श्रीसद्गुरु भीतर स्वतः मिल जायँगे। हृदयद्वार खोलना क्या है मानो अहङ्कार, स्वार्थ, विषयतृष्णा, आलस्य, ममता, काम आदि अवगुणोंका त्यागना है, और निष्काम परोपकारी कर्म करना है। इन्द्रिय और मनका निग्रह करना, विचार और ध्यान-मनन करना, शुद्ध आचरणका अभ्यास करना और श्रीउपास्य और श्रीसद्गुरुमें एकनिष्ठा और अचल निष्काम भक्ति रखना है। ऐसा करनेसे श्रीसद्गुरु अवश्य मिलेंगे। स्वार्थ अनर्थका मूल है, और जबतक हमलोग अपने-अपने स्वार्थकी दीवार (जिसके कारण हमलोग अपनेको अपनेसे नीचेकी श्रेणीके लोगोंसे पृथक् समझते हैं) को नहीं तोड़ेंगे और उन लोगोंके साथ प्रेमका बर्ताव करके शुद्ध हृदयसे उनका उपकार करना प्रारम्भ नहीं करेंगे, तबतक जो दीवार हमलोग और हमलोगोंसे ऊँची श्रेणीके लोगों (महात्मागण) में है वह भी न टूटेगी और उसके नहीं टूटनेके कारण उन लोगोंसे सहायता प्राप्त करनेके योग्य हमलोग नहीं

हो सकेंगे। श्रीसद्गुरुकी प्राप्ति जङ्गल-जङ्गल, पहाड़-पहाड़ अथवा तीर्थ अथवा जनस्थानोंमें खोजनेसे ही नहीं होगी। श्रीसद्गुरुका प्रथम साक्षात्कार अपने शरीरके भीतरमें ही हृदयमें होगा, अतएव श्रीसद्गुरुको अपने भीतरमें खोजना चाहिये, अन्तरमें जो चित्तचञ्चलता, तृष्णा, स्वार्थपना, अज्ञानता आदि अन्धकार और काम-क्रोधादि मल हैं उनको निष्काम परोपकारी कर्म, अभ्यास, ज्ञान और भक्ति-रूप सूर्यके प्रकाश और भगवत्प्रेमरूपी जलके सिञ्चनसे नष्ट करनेसे श्रीसद्गुरुका वहाँ ही दर्शन होगा। श्रीसद्गुरु यह चाहते हैं कि जैसे हम (गुरु) लोगोंने सृष्टिकी भलाईके निमित्त निर्वाणके परम आनन्दको त्यागा है, उसी प्रकार जो श्रीगुरुके निकट आना चाहते हैं उनको भी सर्व प्रकारकी स्वार्थकामनाका त्याग करना चाहिये, और सृष्टिका उपकार करना ही एकमात्र उद्देश्य रखना चाहिये, और परोपकारी कर्म निःस्वार्थभावसे करके दिखलाना चाहिये कि वह उन श्रीसद्गुरुओंके शिष्य होनेके योग्य हैं। ऐसे ही श्रीसद्गुरु राजविद्याके दीक्षक और श्रीभगवान् सशक्तिके साथ युक्त करानेवाले हैं और केवल उन्हींके द्वारा राजविद्याकी प्रेम-दीक्षा मिल सकती है, अन्यद्वारा नहीं। अतएव जबतक ऐसे श्रीसद्गुरुकी प्राप्ति न हो, तबतक साधकको चाहिये, कि वह अपने-को उनके शिष्य होनेके निमित्त अधिकारी बननेका यत्न करता रहे और भक्तिपूर्वक चित्तको उन्हींके अदृश्य चरणकमलपर सन्निवेशित रक्खे। श्रीसद्गुरुकी प्राप्ति अनधिकारीको कदापि नहीं हो सकती। दीक्षासे दीक्षित करके श्रीसद्गुरु शिष्यको त्रिगुणसे पारकर श्रीउपास्यमें मिला देते हैं। बीते कालमें श्रीसद्गुरुकी प्राप्ति

योग्य शिष्योंको होती थी, आजकल भी होती है और आगे भी होगी। जैसे कोई रात्रिमें पहाड़पर खड़ा होकर नीचे देखता है तो नीचेके सर्वत्र अन्धकारमें जिस किसी एक झोंपड़ीमें प्रकाश हो उसपर उसकी दृष्टि शीघ्र पड़ती है, ऐसे ही जो तमोगुणरूपी अन्धकारको सत्त्वगुणके प्रकाशद्वारा नाश करता है और रजोगुण-रूपी वायुको शान्तकर जीवात्मारूपी दीपको प्रज्वलित करता है, उसपर प्रकाशके कारण श्रीसद्गुरुका ध्यान शीघ्र आकर्षित होता है और तब वह उनकी शान्तिदायी दृष्टिके भीतर आकर उनके चरणकमलतक पहुँचता है। धन्य है वह मनुष्य जो श्रीसद्गुरुकी प्राप्ति करता है, देवतालोग उसकी बड़ाई करते हैं और विश्वभर-का उससे उपकार होता है।

लिखा है—'नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्' अर्थात् गुरुतत्त्वसे परे कोई तत्त्व नहीं है। किन्तु शोक है कि आजकल इस गुरु-तत्त्वको लोग भूल गये हैं और इसके यथार्थ तत्त्वकी अज्ञानताके कारण इसका प्रायः दुरुपयोग होता है। शास्त्रमें जो कथन है कि श्रीगुरुको सर्वस्व अर्पण करो वह श्रीसद्गुरुके निमित्त है और वे ऐसे कारुणिक और दयालु होते हैं, और संसारके लिये जो उन्होंने परम त्याग किया है वह ऐसा परमोच्च और भावनातीत है कि सर्वस्व अर्पण भी उनकी तुच्छ सेवा है, कदापि यथेष्ट नहीं है। आजकल दृश्य गुरुकी खोजमें लोग अनेक कष्ट उठाते हैं और धोखेमें पड़कर किसी-किसी कच्चे और व्यवसायी गुरुके उपदेशसे अपनी बड़ी हानि करते हैं। यह बड़े शोककी बात है। यदि साधकोंको गुरुतत्त्वका और श्रीसद्गुरुकी असीम करुणा

और उनके इस अटल व्रतका कि 'वे योग्य साधकको जहाँ वह रहेगा वहाँ ही अवश्य सहायता करेंगे और उपयुक्त समयपर अवश्य मिलेंगे' का ज्ञान और विश्वास हो और इसी विश्वासके आधारपर वह साधनामें अग्रसर होते रहें तो साधकोंका बड़ा उपकार होगा और वे ठीक मार्गमें स्थित रहेंगे और इधर-उधर भटककर गड़हेमें नहीं गिरेंगे। श्रीसद्‌गुरु और श्रीभगवान्‌ने संसारके हितके लिये उन साधनाओंको सच्छास्त्रद्वारा प्रकाशित कर दिया है जिनके अभ्याससे श्रीसद्‌गुरुसे सम्बन्ध होता है। अतएव इनके जाननेके लिये शास्त्रकी सहायता आवश्यक है। इन साधनाओंके अभ्याससे और अनुरागकी आकर्षिणी शक्तिसे श्रीसद्‌गुरुकी कृपा अवश्य होगी जिसके होनेपर वे भावुककी बाँह पकड़कर उसको अविद्यान्धकाररूपी सागरसे पारकर श्रीभगवान्‌के सन्निकट ले जायँगे। अतएव साधकको इधर-उधर न भटककर केवल साधनामें अग्रसर होते रहना चाहिये और श्रीसद्‌गुरुमें विश्वास रखकर उनकी प्राप्तिके लिये यत्न करते रहना चाहिये।

श्रीसद्‌गुरुके विषयमें जो कुछ यहाँ लिखा गया है वह केवल शास्त्रके प्रमाणपर ही नहीं है, किन्तु वर्तमान कालमें जिन सत्पुरुषोंको श्रीसद्‌गुरुसे साक्षात् सम्बन्ध है उनके ज्ञान और अनुभवके आधारपर लिखा गया है। हम लोगोंको जैसे अपने शरीरका प्रत्यक्ष ज्ञान है उसी प्रकार इन सत्पुरुषोंको श्रीसद्‌गुरुके अस्तित्वका ज्ञान है। उन लोगोंको नित्य ध्यानद्वारा हृदयक्षेत्रमें श्रीसद्‌गुरुके साथ समागम होता है और उनके दर्शन

और उनके दिव्य तेजःपुञ्जरूपी प्रेमरसका स्पर्श और आस्वादन होता है। जब कभी वे लोग श्रीसद्‌गुरुका आवाहन करते हैं तभी श्रीसद्‌गुरुका आन्तरिक समागम उनको अपने शुद्ध हृदयमें लब्ध हो जाता है। साधकोंके लिये अवश्य यह परमोत्तम समाचार है कि वर्तमान समयमें भी श्रीसद्‌गुरु और फिर उनके द्वारा श्रीउपास्य-की प्राप्तिका मार्ग खुला हुआ है और यद्यपि श्रीसद्‌गुरु बाह्य दृष्टिके अदृश्य हैं तथापि उनके साथ सम्बन्ध करवानेके लिये सच्छास्त्र और श्रीसत्पुरुष हमलोगोंके बीच वर्तमान हैं।

राजविद्या (प्रेमयोग) की दीक्षा

राजविद्याका परिचय

जब शुद्ध बुद्धिवालेको श्रीभगवान्, उनकी शक्ति, सृष्टितत्त्व और जीवात्मा और इन सबोंका परस्पर सम्बन्ध आदिका ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभवके समान प्राप्त होता है और उस ज्ञानके कारण श्रीभगवान्‌के निमित्त प्रेमयज्ञमें वह प्रवृत्त होता है तो उसको ज्ञानयज्ञ कहते हैं। इस ज्ञान अथवा आध्यात्मिक स्वाध्यायकी प्राप्ति दुर्लभ है और बिना सत्पुरुष और श्रीसद्‌गुरुकी कृपासे नहीं प्राप्त हो सकता। श्रीगीतामें लिखा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४। ३४)

'हे अर्जुन! तत्त्वदर्शी ज्ञानी लोग इस तत्त्वज्ञानको तुझे उपदेश करेंगे। तू उनसे प्रणिपात (दण्डवत्-प्रणाम अर्थात्

अहंकार छोड़कर अपनेको समर्पण करना), जिज्ञासा और सेवा-द्वारा ज्ञानयज्ञकी प्राप्ति कर ।'

इसमें प्रणिपात, प्रश्न और सेवा तीन उपाय दर्शित हैं । प्रणिपात अर्थात् अर्पणके लिये श्रीसद्गुरुमें पूर्ण श्रद्धा और विश्वास आवश्यक है जिसके बिना यथार्थ अर्पण सम्भव नहीं है । और श्रीसद्गुरुकी प्राप्तिके लिये हृदयकी आन्तरिक निष्काम पिपासाकी आवश्यकता है और ऐसा दृढ़ विश्वास कि केवल श्रीगुरुदेव ही इस पिपासाकी शान्ति कर सकते हैं अन्य नहीं । अतएव साधकको गुरुभक्ति और प्रेमसे सुसज्जित होकर श्रीसद्गुरुकी शरणमें, किसी स्थानविशेषमें नहीं, किन्तु अपने हृदयमें जाना चाहिये । यहाँ सेवाका अर्थ इन्द्रिय और अन्तःकरणको श्रीसद्गुरु-के निमित्त अर्पण करना है और अपने श्रीगुरुदेवको सर्वत्र व्याप्त अर्थात् विश्वमय जान उनकी सेवाके निमित्त उनको विश्वहित कार्यमें नियुक्त करना है । 'स इव आसमन्तात् सेवा' अर्थात् वे सर्वत्र हैं ऐसा जान प्राणियोंका हित करना उनकी यथार्थ सेवा है । फिर श्रीगीता अ० ७ श्लोक ११ और १९ में श्रीभगवान्-ने ज्ञानी (ज्ञानयज्ञ करनेवाले) को अपनी आत्मा बतलाकर कहते हैं कि अनेक जन्मोंतक ज्ञानयज्ञ करनेपर ज्ञानी मुझको पाता है जब कि प्राणिमात्रको मेरा रूप होना उसे प्रत्यक्ष हो जाता है, किन्तु ऐसा महात्मा दुर्लभ है । इसका तात्पर्य यह है कि भावुक-को प्रेमयज्ञमें सिद्धि लाभ करनेसे उसको विश्व ईश्वरमय बोध होता है । इसके बाद श्रीगीता अ० ९ में श्रीभगवान्‌ने ऐसी अवस्था-का वर्णन किया है जो बुद्धिके ऊपर स्थिति होनेसे प्राप्त होती है,

जब कि ज्ञान-विज्ञान होकर हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाता है। यह अवस्था जिसके द्वारा प्राप्त होती है उसको राजविद्या कहते हैं जो परम रहस्य है और केवल श्रीसद्गुरुद्वारा दीक्षा मिलनेसे प्राप्त होती है। श्रीगीतामें लिखा है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
(९। १-२)

'हे अर्जुन! तू विषमदर्शी नहीं (अर्थात् समदर्शी) है, इससे विज्ञान (प्रत्यक्षज्ञान) सहित जो यह अत्यन्त गुप्त विद्या है, वह मैं तुझसे कहता हूँ, इसे जानकर तू सब अशुभ कर्मोंसे छूट जायगा, यह विद्याओंका राजा 'राजविद्या' है, गुप्तोंका भी राजा अर्थात् गुप्तातिगुप्त और अत्यन्त पवित्र है। इसका फल साक्षात् देखनेमें आता है। यह धर्मका तत्त्व है, करनेमें सब प्रकारसे सुखप्रद, भयसे शून्य और अक्षय फल देनेवाला है।' राजविद्या यथार्थमें क्या है—यह श्रीभगवान्ने गीतामें स्पष्ट नहीं बतलाया, क्योंकि जो गुह्यातिगुह्य है वह केवल श्रीसद्गुरुद्वारा प्राप्त होता है, कदापि लिखा नहीं जाता। श्रीसद्गुरु और श्रीपराशक्तिकी कृपासे इस राजविद्याको प्राप्तकर श्रीभगवान्की विहार-लीलामें प्रवृत्त हो आत्मसमर्पण करना इसका उद्देश्य है। इसका इशारा श्रीभगवान्ने उसी नवें अध्यायके नीचेके श्लोकोंमें दिया है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

(१३-१४, ३४)

'हे अर्जुन ! दैवी (परा) प्रकृतिका आश्रय रखनेवाले महात्मागण मुझे सम्पूर्ण प्राणियोंका कारण और अविनाशी बोध करके चित्तको मुझमें पूर्णरूपसे सन्निवेशित करके (तन्मय होकर) मेरा ही भजन (विहारलीलामें संयुक्त होकर सेवा) करते हैं। वे महात्मागण निरन्तर मेरा भजन-कीर्तन (मेरे तेजःपुञ्जका वितरण) करते हैं, दृढ संकल्प करके मेरे निमित्त यजन (त्याग) करते हैं, भक्तिपूर्वक मेरेमें अपनेको नमस्कार (अर्पण) करते हैं और मुझमें युक्त रहकर मेरी उपासना करते हैं। तू अपना मन मुझमें लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर, मुझे नमस्कार कर, मेरेमें अपनेको अर्पण कर, मेरेमें तत्पर हो (केवल मेरे निमित्त कर्म कर), इस प्रकार अपनी आत्माको अर्पणद्वारा युक्त करनेसे मुझको पावेगा।' इसी राजविद्याकी दीक्षाकी अवस्थाको श्रीगीता अ० ११ श्लोक ५४ में श्रीभगवान्‌ने पराभक्ति और ५५ श्लोकमें 'तत्त्वसे जानकर मेरेमें प्रवेश करना' कहा है।

इस प्रकरणमें जो राजविद्याकी दीक्षाका वर्णन है वे वे ही हैं जिनका वर्णन आत्मसमर्पणके प्रकरणमें हो चुका है किन्तु यहाँ उन्हींको योगशास्त्रकी संज्ञाद्वारा वर्णन किया जाता है। आजकल अधिकांश लोग इनकी आधिभौतिक अवस्थाको किञ्चित् जानते हैं

और उसी दृष्टिसे इनको समझते हैं किन्तु इनके आधिदैविक और आध्यात्मिक भाव अधिकांश लोगोंको एकदम ज्ञात नहीं हैं। चूँकि केवल श्रीसद्गुरुद्वारा दीक्षा मिलती है, अन्य गुरुओंके द्वारा नहीं, और श्रीसद्गुरु श्रीशिवके नाममें और उन्हींकी शक्तिसे यह दीक्षा देते हैं, अतएव जगद्गुरु श्रीमहादेवसे विना सम्बन्ध हुए भावुकको यह उच्च दीक्षा मिल नहीं सकती है। इस अवस्थामें श्रीशिवजीकी कृपाकी बड़ी आवश्यकता होती है, क्योंकि इस अवस्थामें भावुकके अवशेष दोषोंका पूर्ण नाश होना आवश्यक है जो श्रीशिवजीकी कृपा और तेजःपुञ्जकी प्राप्तिसे होता है। श्रीशिवजी श्मशानमें रहते हैं इसका तात्पर्य यही है कि उनका तेजःपुञ्ज दोषोंको दग्ध करनेवाला है। जिन उन्नतिशील भावुकको श्रीशिवजीसे सम्बन्धका सौभाग्य प्राप्त है वे उनके तेजःपुञ्जको साक्षात्‌रूपसे अपने हृदयमें अनुभव करते हैं जो ज्वलन्त अर्थात् तप्त ज्योतिके समान रहता है, चूँकि वह दोषोंका नाश करनेवाला है। यह आनुमानिक कथन नहीं है किन्तु श्रीसद्गुरुके जो शिष्य (सत्पुरुष) हैं वे प्रतिदिन ध्यानस्थ होकर इसका हृदयमें उसी प्रकार अनुभव करते हैं जैसा कि शरीरको शीत-उष्णके स्पर्शसे अनुभव होता है। दोषोंके नाश होनेपर श्रीउपास्यके तेजःपुञ्जका भी प्रत्यक्ष अनुभव हृदयमें होता है किन्तु इसका स्पर्श परम शीतल, शान्तिप्रद और प्रेमानन्दका प्रदान करनेवाला होता है। जगद्गुरु श्रीशिवजीके तेजःपुञ्जका स्पर्श उसीके लिये उपयोगी है जो अधिकांशमें शुद्ध है; किन्तु जो कामादि दोषोंसे पूरित हैं उनके लिये विष है और उनको इसकी प्राप्ति हो नहीं सकती। इसी

कारण श्रीशिवजीके प्रसादको, जो उनके आन्तरिक तेजसे पूरित समझा जाता है, ग्रहण (भोजन) करना मना है । किन्तु दोषोंको भस्म करनेके लिये श्रीशिवजीकी बाह्य विभूति जो भस्म है उसका धारण करना विहित है । आध्यात्मिक भस्मके स्पर्शसे पञ्चभूतोंके विकार नष्ट हो जाते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रजीने भी जगद्गुरु श्रीशिवजीके महत्त्व और जगद्गुरुसे सम्बन्ध स्थापित करनेकी आवश्यकताको अपने आचरणद्वारा सिद्ध किया । उन्होंने श्रीउपमन्यु (श्रीसद्गुरु) से दीक्षा लेकर जगद्गुरु श्रीशिवजीकी तपस्याद्वारा आराधना की और इस प्रकार श्रीजगद्-गुरुके सम्बन्धकी आवश्यकताको प्रकाशित किया । श्रीशिवजी भी श्रीभगवान्‌का ध्यान करके सिद्ध करते हैं कि श्रीउपास्य अन्तिम लक्ष्य हैं और श्रीजगद्गुरु और श्रीउपास्य दोनों एक हैं । ध्यान ही यथार्थमें आध्यात्मिक तपस्या है ।

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी जो श्रीरामोपासक थे, उन्होंने भी अपने श्रीरामचरितमानस और विनयपत्रिकामें भी बड़ी श्रद्धा और प्रेमसे श्रीशिवजीको जगद्गुरु होनेके कारण प्रणाम और वन्दना की है और वे श्रीकाशीमें विशेषकर श्रीशिवजीकी कृपाका लाभ करनेके लिये रहते भी थे । उपासकोंका विश्वास है कि भक्तिके देनेवाले श्रीशिवजी हैं जिसका भाव यही है कि वे जगद्गुरु हैं और बिना उनकी कृपाके न श्रीउपास्यकी भक्ति लब्ध हो सकती है और न प्राप्ति हो सकती है ।

साधारण मनुष्य केवल स्वर्लोकतक जाता है और वहाँसे लौटकर फिर नीचे गिरता है और स्वर्लोकसे ऊपर उसके लिये

जाना कठिन है, क्योंकि वहाँ महाश्मशान है जहाँ मूल प्रकृतिका त्रिगुण और पराशक्तिका त्रिभाव दोनों टक्कर खाते हैं। पहाड़ोंमें जहाँ दो नदियोंका सङ्गम है जैसा कि देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग आदि, वहाँ सङ्गमके कारण नदीका वेग ऐसा प्रबल है कि उस स्थानमें तो किसी प्रकारसे पार होना असम्भव है। इस महाश्मशानसे पार वही होता है जो श्रीसद्‌गुरु और श्रीजगद्‌गुरु शिवसे सम्बन्ध लब्ध-कर दीक्षा प्राप्त करता है, जिसके होनेपर ये दोनों श्रीगुरुदेव उसको पार कर देते हैं।

साधारण मनुष्यमें तीनों शरीरों, स्थूल, सूक्ष्म और कारणमें एकता नहीं है, एक जीवात्माका अनुभव दूसरेको प्राप्त नहीं, मानों तीनों शरीरमें अभिमानी और तीन अवस्था जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके बीच अविद्याकी नदी बह रही है जिसमें बिना सेतुके निर्माणके एकता नहीं हो सकती। और भी आवश्यक है कि ये तीनों शरीर जो गुणमय हैं उनके गुणोंके विकार दमन किये जायँ। ये सब राजविद्याकी दीक्षाके द्वारा सम्पन्न होते हैं। सहस्रनाम अर्थात् एकके बाद तीन शून्यका तात्पर्य है कि तीनों शरीरोंको शून्य बनानेसे एक जो श्रीउपास्य हैं उनकी प्राप्ति उनके अप्राकृत अशब्द नामकी प्राप्तिद्वारा होगी।

बहुत साधारण लोगोंमें केवल स्थूल उपाधिके सिवा सूक्ष्म उपाधि (शरीर) बनीतक नहीं रहती है अर्थात् सूक्ष्म उपाधि जिन गुणोंके मिश्रणसे बनती है वह रहता है किन्तु शरीर नहीं तैयार रहता। सूक्ष्म शरीर साधनद्वारा तैयार होता है। इसी

कारण जिस संस्कारसे द्विजत्व प्राप्त होता है उसको दूसरा जन्म लेना कहते हैं, क्योंकि आचार्यके उपदेशानुसार चलनेसे सूक्ष्म शरीर तैयार हो जाता है। उसी प्रकार केवल श्रीसद्‌गुरुकी दीक्षाद्वारा ही कारण-शरीर और उसका अभिमानी 'प्राज्ञ' जागरित होता है, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है।

योगदीक्षा

जब साधक कर्म, अभ्यास, ज्ञान और भक्तियोगके उपयुक्त अभ्यासद्वारा श्रीसद्‌गुरुके शिष्य होनेके योग्य होता है (उसके पहिले साधक गुरुसे अप्रकाशभावसे सहायता पाता है जैसा पहले कहा जा चुका है) और ऐसी अवस्थाको प्राप्त हो जाता है कि तबसे बिना श्रीसद्‌गुरुके प्रत्यक्ष हुए और उनके द्वारा बिना प्रकाशभावसे उपदेश पाये वह आगे बढ़ नहीं सकता, तब उसको गुरुका प्रत्यक्षरूपमें अपने हृदयमें दर्शन होता है। तब शिष्य श्रीसद्‌गुरुद्वारा दीक्षा ग्रहण करता है जो दीक्षा चार प्रकारकी है। शिष्यको दीक्षा इस निमित्त प्रदान की जाती है कि वह उसको प्राप्तकर सृष्टिके निमित्त उपकार करनेमें विशेष योग्य होवे और उसके द्वारा श्रीभगवान्‌में आत्मसमर्पण कर उनका प्रिय साधन कर सके। प्रत्येक दीक्षा पानेसे शिष्यमें बहुत बड़ा आन्तरिक परिवर्तन होता है और उसकी संवित्ति (प्रज्ञाशक्ति) फैलती है जिसके कारण वह योग-भक्तिकी कुंजीको पाता है और उस कुंजीको काममें लानेसे उस दीक्षाकी विज्ञान-अवस्थाको प्राप्त करता है और फिर उस विज्ञान (आध्यात्मिक) से शक्तिलाभ करता है। इन

करनी पड़ती। साधनकालमें जो ज्ञान, विचार, विवेकद्वारा बुद्धिने केवल निश्चय किया था वह अब अपरोक्ष हो जाता है। वह अनुभव करता है कि आत्मा सबका एक ही है, अतएव सब एक हैं, भिन्नता अयथार्थ है। उसका ज्ञानचक्षु खुल जाता है, जिसके कारण उसकी आन्तरिक दृष्टि मायाके पर्देके भीतरतक जाती है और वह सर्वत्र एक ही आत्माके अस्तित्वको देखता है जिसके कारण बाहरी नानात्व उसको असत्य भासता है। दूसरा दोष अभिनिवेश है, जिसके त्यागनेसे वह संशयरहित हो जाता है। उसको मृत्युका तनिक भी भय नहीं रहता, क्योंकि सूक्ष्म शरीरको स्थूलसे सदाके लिये पृथक् होनेको मृत्यु कहते हैं, जिसको वह मरनेके पहले पृथक्कर अनुभव कर सकता है। इस अवस्थावाले-का लक्षण श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में ऐसा दिया है—

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥
(२।१३)

'योगकी प्रथम दीक्षाप्राप्त व्यक्तिका शरीर हलका, नीरोग, लोभशून्य, सुन्दर वर्ण, मधुरस्वर, शरीरसे सुन्दर गन्धका निकलना, मल-मूत्र थोड़ा—ये सब लक्षण हैं।'

परिव्राजकको कतिपय सिद्धान्त—यथा पुनर्जन्म, कर्मफल, जीवन्मुक्त महात्माओंकी संसारमें स्थिति इत्यादिका ज्ञान अपरोक्ष हो जाता है और तब उनमें उसे कोई संशय नहीं रहता। वह

कर्मकाण्डके आदेशोंमें बद्ध नहीं रहता, अतएव उसके लिये कोई बाह्य कर्मकाण्डकी क्रिया करनी आवश्यक नहीं रहती, इस अवस्थामें उसका मुख्य साधन आन्तरिक हो जाता है। बाह्य कर्मोंके द्वारा जो आन्तरिक परिवर्तन होता है उसको वह प्राप्त कर चुका, अतएव बाह्य कर्म जो ऊपर जानेके निमित्त सीढ़ीकी भाँति है और जो प्रारम्भमें अत्यन्तावश्यक है उसके लिये आवश्यक नहीं रहता। किन्तु जिनको ऊपर चढ़नेके लिये सीढ़ीकी आवश्यकता है और जो बिना उसके ऊपर जा नहीं सकते यदि वे सीढ़ीका त्याग करें, और इस कारण उसके द्वारा ऊपर चढ़नेकी चेष्टासे वञ्चित हो जायँ तो वे ऊपर नहीं उठ सकते। अतएव केवल बाह्य कर्मोंके त्यागनेसे ही कोई संन्यासी नहीं हो सकता। आजसे पाँच हजार वर्ष पहले भी ऐसे लोग थे जो केवल बाह्य लिङ्गके कारण अपनेको संन्यासी मानते थे; उन्हीं लोगोंको लक्ष्य करके श्रीकृष्ण भगवान्‌ने गीतामें ऐसा कहा है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(६।१)

'जो कर्मफलके ऊपर आसरा न कर केवल कर्त्तव्य जान कर्मको करता है वही संन्यासी और योगी है, किन्तु वह नहीं जो अग्निहोत्र नहीं करता और कर्मोंको भी नहीं करता।' यदि पाँच हजार वर्ष पहले भी ऐसे केवल नामके संन्यासी थे तो आजकलका क्या कहना है? आजकल तो ऐसे नामधारी संन्यासी अनेक

हैं। अतएव साम्प्रतमें श्रीसद्गुरुके शिष्यगण सत्पुरुष आदि प्रायः बाह्य लिंग नहीं रखते, किन्तु वे ज्ञान, पवित्रता, निःस्वार्थपना, परोपकारिता और भक्तिके कारण पहचाने जाते हैं। एक बड़ा भारी लाभ इस दीक्षाके प्राप्त करनेसे यह होता है कि उसके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह फिर कभी किसी अवस्थामें खोया नहीं जा सकता, मृत्यु और पुनर्जन्म भी उस ज्ञानको नाश नहीं कर सकता और न भुला सकता, दूसरे जन्ममें फिर उसके प्राप्त करनेके लिये उसे चेष्टा न करनी होगी, किन्तु स्वतः प्राप्त रहता है। अब इसके उच्चभावका वर्णन किया जाता है।

जैसे पहले कहा जा चुका है यह दीक्षा न तो स्थूल शरीरमें मिलती है, जो अज्ञानका घर है, और न सूक्ष्म शरीरमें, जो अज्ञान और साधारण ज्ञानका भी घर है। श्रीगुरुदेवके दर्शन और दीक्षाकी प्राप्ति जिसके लिये उसका हृदय अनेक कालसे लालायित था, सर्वप्रथम उसे अपने निज हृदयमें ही कारण-शरीरमें रहकर होती है जो बोधका गेह है। इसीलिये जिज्ञासुके प्रति यह आदेश है कि 'तू उसकी खोज कर जो ज्ञानगेहमें तेरा प्रवेश करावेगा।' इस आध्यात्मिक दीक्षाके समय शिष्यके स्थूल और कारण-सूक्ष्म शरीर तो समाधिस्थ अर्थात् अचेतन अवस्थामें हो जाते हैं और शरीर जिसका स्थान शरीरमें हृदय है उसमें उसे अपने श्रीगुरुदेवका साक्षात् दर्शन होता है और श्रीगुरुदेवके हृदयमें वह देवाधिदेव अपने श्रीउपास्यदेवको देखता है। श्रीगुरुदेव उसमें ह्लादिनी शक्तिको जाग्रत्कर श्रीभगवान्के उस एकमात्र आनन्दभावको प्रदान करते हैं जिसे माण्डूक्योपनिषद्के सप्तम श्लोकमें 'शान्तं

शिवमद्वैतम्' कहा है। यह परम गुह्य अनुभवानन्द है जिसे प्राप्तकर दीक्षित शिष्य श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ६ के २९ वें श्लोकके अनुसार समदर्शी हो श्रीभगवान्‌को सब जीवोंमें और सब जीवोंको श्रीभगवान्‌में देखता है।

उस समय असत् अहंकार-सम्बन्धी द्रष्टा, दर्शन और दृश्यात्मक पर्दे दीक्षित शिष्यके नेत्रोंके सामनेसे हट जाते हैं और वह अपनेको सच्चे जीवन-जगत्‌में पाता हैं। इस दशाकी ओर श्रीगीता अध्याय२ का ६९ वाँ श्लोक इन शब्दोंमें संकेत करता है—'जहाँ सब संसार सोता है वहाँ सच्चा ज्ञानी जागता है और जहाँ संसार जागता है वहाँ ज्ञानी सोता है।' इसी भावको रामचरितमानसमें 'यह जग जामिनि जागहिं जोगी। बिरत बिरंचि प्रपंच बियोगी॥' द्वारा व्यक्त किया गया है। श्रीगीताके उपर्युक्त श्लोकका भाष्य करते हुए श्रीशङ्कराचार्यजी कहते हैं—'सब जीवोंके प्रति श्रीभगवान् रात्रिवत् हैं अर्थात् अज्ञात हैं और उनमें ज्ञानी जागता है अर्थात् उन्हें अनुभव करता है और जिस प्रपञ्चमें सब जीव जागते हैं, अर्थात् अज्ञानवश द्रष्टा, दर्शन और दृश्यात्मक इस मिथ्याप्रपञ्चका अनुभव करते हैं उसमें ज्ञानी सोता है; अर्थात् ज्ञानीके लिये उसका अभाव रहता है।' शिष्य अपने कारणशरीरमें श्रीभगवान्‌के अद्वैतभावका अनुभव कर लेता है और उसके स्थूल शरीरके अभिमानी जीवात्मापर इस प्रथम दीक्षाका ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह श्रीभगवान्‌का शुद्ध अंश (प्रतिबिम्बमात्र) हो जाता है अथवा यों कहिये कि उसका व्यक्तित्वभाव सर्वात्मभावमें परिणत हो जाता है। योगाग्नि (प्रेमाग्नि) के प्रभावसे उसके स्थूल

शरीरके राजसिक और तामसिक स्वभावके अणुगण परिवर्तित होकर पवित्र, सूक्ष्म और सात्त्विक हो जाते हैं जिससे कि उसका शरीर श्रीभगवान्‌के भाव और तेजपुञ्जके विकाशका एक केन्द्र हो जाता है। (देखिये श्वेताश्वतर० २। १२। १३)। वह अनुभव करता है कि 'मेरा (उसका) स्थूल केन्द्र और इस समष्टिका स्थूल केन्द्र दोनों वास्तवमें एक ही श्रीभगवान्‌का विकाश अर्थात् स्वरूप हैं जो दोनोंमें प्रकट होते हुए भी दोनोंको अतिक्रमण करते हैं। वह दोनोंमें समता और एकता स्थापित करता है। ऐसा अनुभव करते हुए वह श्रीगीताके अध्याय ६ के ३२ वें श्लोकके अनुसार सब जीवोंपर दयार्द्रचित्त होता है और उनका उपकार करना अपना मुख्य व्रत समझता है। गीताका वाक्य है—'हे अर्जुन! जो सम्पूर्ण प्राणियोंके दुःख-सुखको अपने दुःख-सुखके समान मानता है और सबमें समदर्शी होता है वही योगी है।' उपनिषदोंमें इस विराट्‌के स्थूल केन्द्रकी संज्ञा 'वैश्वानर' है और श्रीगीतामें 'अधिभूत' और यह सब जीवोंकी मूल भित्ति है। वह अनुभव करता है कि वह और यह बाह्य विश्व एक ही श्रीभगवान्‌के स्वरूप हैं।

इसी समय उसे सर्वप्रथम इस बातका प्रत्यक्ष भान होता है कि श्रीभगवान् जिनके लिये उस भावुकका हृदय व्यग्र हो रहा है वे उस भावुकके परम धाम और अविनाशी आश्रयस्थल हैं, यद्यपि भावुक अनादि कालसे उनसे बिछुड़कर इधर-उधर भटक रहा था। इस भटकनेके कारण उसकी परिव्राजक संज्ञा होती है। ऐसे ही दीक्षित शिष्यकी ओर संकेत करते हुए श्रीभगवान् गीता

अध्याय १२ के १९ वें श्लोकमें आज्ञा करते हैं कि 'हे अर्जुन! जो स्तुति-निन्दाको समान जानता है, कम बोलता है, यथालाभ सन्तुष्ट रहता है, किसी एक स्थानको घर समझकर उसमें बद्ध नहीं रहता और जिसकी बुद्धि स्थिर है वही भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।' आनन्दघन श्रीभगवान्‌के अनूप रूपकी झाँकीका आनन्द और शान्ति पाकर वह मुग्ध होकर मौन हो जाता है। क्योंकि अब वह बाहरकी आसक्तिको त्यागकर केवल श्रीभगवान्‌में संलग्न रहता है। इसी अवस्थाके सम्बन्धमें महात्मा कबीरदास-जीकी उक्ति है—'मन मस्त हुआ तब क्यों बोले' भुवर्लौकिक भ्रमणों और दृश्योंके चमत्कार अर्थात् नीचेकी सिद्धिको आध्यात्मिक साधनाका लक्ष्य और प्रमाण बताना राजविद्याके अर्थका अनर्थ करना है। यह असारको सार और तुच्छको महान् बनाना है और ऐसी सिद्धिके कारण भूतात्माके अहंभावकी ऊर्ध्वलोकसे सम्बन्ध होनेसे उसके लोपके बदले वृद्धि होती है जो हानिकर है। राजविद्याके अधिकारीका मुख्य लक्ष्य इस सृष्टिके एकमात्र सार श्रीभगवान्‌की कृपासे इस सृष्टिरूपी मायाजाल और असत् अहं-भावसे मुक्त होकर उनमें अपनेको अर्पण करना है। भुवर्लोक और स्वर्गलोककी तो कोई कथा ही नहीं, श्रीभगवान्‌का सच्चा भक्त तो ब्रह्मलोकके वासको भी तुच्छ समझता है (देखिये गीता अध्याय ८।१६)। दीक्षित शिष्यका एकमात्र निष्काम लक्ष्य मनुष्यजातिका आध्यात्मिक मङ्गल सम्पादनकर श्रीभगवान्‌की सेवा निरहङ्कार और त्यागभावसे करना रहता है जिस प्रेम-सेवाका कभी अन्त नहीं होता। इस मङ्गलकामनाके सिवा उसके

चित्तमें किसी उच्च स्वार्थका भी लेशमात्र अस्तित्व नहीं रहता और इस स्वार्थराहित्य दृढ़ कवचको धारणकर वह सर्वथा निरापद रहता है। उसके पवित्र प्रेमपूर्ण हृदयसे सदा आध्यात्मिक धार्मिक और नैतिक सत्ताका एक सोत बहा करता है जो कि इहलौकिक और भुवर्लौकिक चमत्कारकी अपेक्षा संसारका कहीं ज्यादा मङ्गल करता है। उसे चौदह भुवनके खाक छाननेकी कोई जरूरत नहीं रहती। भक्ति और वैराग्यकी वृद्धिके साथ-साथ इस हृदय-निःसृत आध्यात्मिक सत्ताके सोतेके बलकी भी वृद्धि होती रहती है। सच्चे दीक्षितके लक्षण हमें निश्चितरूपसे बता दिये गये हैं। स्थितप्रज्ञके स्वरूपसम्बन्धी अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीभगवान्‌ने इस बातको पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है। श्रीशङ्करा-चार्यजी भी अपने गीताभाष्यमें कहते हैं कि स्थितप्रज्ञ वह है जिस-ने श्रीभगवान्‌को अपना आत्मा करके जान लिया है, अर्थात् जिसने श्रीभगवान्‌में अपनी आत्माको अर्पणकर अपने लिये भिन्नता मिटा दी है। श्रीगीताके अध्याय २ के ५५, ५६ और ५७ श्लोकमें इसकी व्याख्या है। 'जो प्राणी अपने मनकी कामनाओंको पूर्ण रूपसे त्याग देता है और केवल अपनी आत्मामें ही आत्म-सुखका अनुभवकर सन्तुष्ट रहता है, वही स्थितप्रज्ञ है' यही श्लोक ५५ का तात्पर्य है और यह स्थिति कारण शरीरमें दीक्षितके स्थित होनेपर प्राप्त होती है। सूक्ष्म शरीरमें स्थित होने-पर उसकी क्या दशा होती है उसका उक्त ५६ श्लोकमें यों वर्णन है। यथा—'जिसका मन दुःखमें घबड़ाता नहीं, जिसमें सुखकी सब वासना नष्ट हो गयी और हर्ष, शोक, राग, भय और क्रोध

जिसके पास नहीं आते, वही स्थितप्रज्ञ है'। इस स्थूल देहके रहनेके कालमें वह किस भाँति विचरता है उसका वर्णन करते हुए आगेका श्लोक कहता है कि स्थितप्रज्ञ वह है जो सब स्थानोंमें अनासक्त, भली-बुरी किसी भी वस्तुमें राग-द्वेषको नहीं प्राप्त करता।

दूसरी दीक्षासे परिव्राजक बहूदक होता है किन्तु यहाँ कुटीचक संज्ञा ही रहेगी, क्योंकि प्रथमकी संज्ञा परिव्राजककी कही गयी है। इस दीक्षासे कुण्डलिनी शक्ति जगायी जाती है और अधःकुण्डलिनी जो मूलाधारचक्रके नीचे है वह चक्रोंको क्रमशः वेधती हुई ऊपरको जाकर ऊर्ध्व कुण्डलिनी जो सहस्रारमें है उसमें जा मिलती है (जिसका उल्लेख आगे चलकर भी होगा) तब वह जब चाहे तब स्थूल शरीरको छोड़के सूक्ष्म शरीरसे, बिना जाग्रत्की संज्ञासे विहीन हुए सूक्ष्म जगत् (भुवर्लोक * आदि) में जा सकता है और वहाँ जाके श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्यनिमित्त परोपकारी कर्म कर सकता है, और वहाँके कार्योंका पूर्ण ज्ञान

---

* भुवर्लोकमें ऐसे क्षुद्र देवगण अनेक हैं जिनमें रजोगुण और तमोगुणकी अधिकता है जैसे यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष इत्यादि-इत्यादि। जो मनुष्यकी आध्यात्मिक उन्नतिके बाधक हैं। जो व्यक्ति स्वार्थी है और जिसमें विषय-वासनाकी लालसा वर्तमान है ऐसा यदि भुवर्लोकमें (जहाँ विषयी भी हठ आदि क्रिया करके जा सकते हैं) जाय, तो वह उक्त क्षुद्र देवगणको अपनेमें उनके समान स्वभाव रखनेके कारण आकर्षित करेगा और उनसे युक्त होनेपर उसका (जानेवालेका) विषयी स्वभाव अधिक बढ़ जायगा जिसके कारण उसको अधिक परिमाणमें दुष्टाचरण करनेमें बाध्य होना पड़ेगा और तब इन्द्रियनिग्रह उसके लिये कठिन हो जायगा और वह भुवर्लोकके ऊपरके भागमें भी जाने योग्य न रहेगा। अतएव विषयवासनासे रहित होकर श्रीसद्गुरुकी प्राप्ति किये बिना भुवर्लोकमें जाने अथवा सम्बन्ध स्थापित

फिर यहाँ स्थूल शरीरमें ला सकता है। कुण्डलिनीका जगाना और चक्रोंका बेधन होना स्वतः समय आनेसे गुरुकृपाद्वारा उन्हींकी सहायतासे अन्तरमें होता है और उसके लिये कोई शारीरिक अथवा वायुकी क्रिया करनी नहीं पड़ती। जो लोग शम-दमादिविहीन हैं, निःस्वार्थ नहीं हैं, और साधनाद्वारा शिष्य होनेकी योग्यताको न प्राप्तकर श्रीसद्गुरुका लाभ नहीं किया है, ऐसे यदि हठयोग अथवा बाह्य शारीरिक क्रिया (जिनकी चर्चा तन्त्रके ग्रन्थोंमें भी है) द्वारा इस अर्धकुण्डलिनीको जगानेका यत्न करेंगे तो उनको सिवा हानिके लाभ न होगा। तन्त्रादि ग्रन्थोंमें इस विषयकी उच्च साधनाकी पूरी-पूरी क्रिया नहीं दी हुई है, केवल संकेतमात्र है, अतएव बिना श्रीसद्गुरु प्राप्त किये जो केवल पुस्तकपर भरोसा करके अथवा जो श्रीसद्गुरु नहीं हैं उनके कच्चे उपदेशपर इन क्रियाओंका अभ्यास सिद्धिप्राप्तिके निमित्त करते हैं वे प्रायः व्याधिग्रस्त हो जाते हैं, कोई विक्षिप्त भी हो जाते हैं, और उनकी विवेचनाशक्ति खराब हो जाती है, क्योंकि वे जीवनवृक्षके फलको अशुद्ध हस्तसे उसके पक्क होनेके पहले ही तोड़ना चाहते हैं। अपवित्र हृदयवाला कभी पवित्र मन्दिरके भीतर नहीं जा सकता, क्योंकि उस मन्दिरके द्वार-

---

करनेकी चेष्टा कभी नहीं करनी चाहिये। शिष्यको श्रीसद्गुरु अथवा उनके प्रौढ़ शिष्य भुवर्लोकमें रक्षा करते हैं। कोई-कोई वहाँ भयानक मूर्ति (यथा धड़ मनुष्यके ऐसा और मस्तक पशुका) देखने लगते हैं जो आकृति कई भुवर्लोकके वासियोंकी होती है। इस भयानक दृश्यके कारण कोई-कोई भयसे विक्षिप्त हो जाते हैं। इसी निमित्त शास्त्रोंमें बारंबार चेतावनी दी गयी है कि बिना श्रीसद्गुरु प्राप्त किये योग-क्रिया न प्रारम्भ करे। शुद्ध योग और योगके भौतिक चमत्कारमें बहुत भेद है।

पर ऐसा तीव्र और जाज्वल्यमान प्रकाश है जिसको अपवित्र हृदय-वाला उल्लू सह नहीं सकता। फूलकी कली हाथसे खोलनेसे जैसे नष्ट हो जाती है किन्तु छोड़ देनेसे उपयुक्त समयपर आवश्यक प्रकाश और वायु पाते रहनेपर स्वतः खिलकर सुन्दर पुष्प बन जाती है, वैसे ही बाह्य क्रियाद्वारा हठात् कुण्डलिनीके जगानेकी चेष्टा करनेसे और चक्रोंको बेधनेसे वे खराब हो जाते हैं, किन्तु श्रीसद्गुरु प्राप्त होनेपर उनकी दी हुई दीक्षाद्वारा स्वतः कुण्डलिनी जग जाती और चक्र पूर्णरूपसे बन जाते और उनके द्वारा शरीरमें आध्यात्मिक शक्तियोंका प्रवाह होने लगता है। चक्रोंका कार्य आध्यात्मिक शक्तिको अपनेद्वारा ऊपरसे नीचे प्रवाहितकर शरीरद्वारा प्रकाश करना है, जैसा कहा जा चुका है, किन्तु हठपूर्वक विकसित होनेका यत्न किये जानेसे चक्र खराब हो जाते और तब वे उक्त कार्यके योग्य नहीं रहते हैं। इसलिये बिना श्रीसद्गुरुकी प्राप्ति किये चक्रोंको छूना नहीं करना चाहिये। कुटीचककी अवस्था श्रीउपास्यके निमित्त आवश्यक सिद्धियोंकी प्राप्ति करनेकी है जो कुण्डलिनीके स्थूल और सूक्ष्म शरीरमें उत्थित होकर कार्य करनेसे होती है*। सिद्धियोंकी प्राप्ति करनेकी आवश्यकता इस निमित्त होती

---

* जैसे लड़केके हाथमें शस्त्र पड़नेसे वह उसके द्वारा अपनेको ही हानि पहुँचा सकता है वैसे ही अयोग्यको सिद्धियोंकी प्राप्ति होनेसे उसको उनके द्वारा केवल हानि होगी, क्योंकि राग, द्वेष, स्वार्थपना और विषयभोगकी लालसा उसमें रहनेके कारण वह उन सिद्धियोंसे जगत्‌का उपकार करनेके बदले दूसरेकी हानि करके भी अपने लिये सुखलाभकी चेष्टा करेगा जिसके कारण वह अन्ततः बड़ी विपत्तिमें पड़ जायगा, अतएव यथार्थ सिद्धियाँ निःस्वार्थ और परोपकारी शिष्यको ही दीक्षाकालमें मिलती हैं जब वह उनके पानेयोग्य होता है।

है कि शिष्य उनको प्राप्तकर अपने श्रीगुरुके निमित्त विशेष कार्योंके करने योग्य होवे; किन्तु ये सिद्धियाँ श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्यके प्रसादकी भाँति उसको उनके विश्वहित कार्य करनेके लिये मिलती हैं। आवश्यक होनेपर अब उसको केवल भूलोकमें ही परोपकारी कर्मोंको नहीं करना पड़ता, किन्तु अन्य (भुवरादि) लोकोंमें भी करना होता है, और केवल वाक्यहीद्वारा शिक्षा उपदेशादि नहीं देना पड़ता, किन्तु मनद्वारा अन्यके चित्तमें उत्तम भावना भेजना पड़ता है, जो दूरतक पहुँच सकती है। वह उत्तम मानसिक भावनाओंके*द्वारा संसारके प्रचलित व्यवहारको किञ्चित् बदल सकता है। इस दीक्षासे दीक्षितको विप्र कहते हैं और वेद (शब्द ब्रह्म) का यथार्थ वर्णका ज्ञान उन्हींको ऊपरके लोकोंमें जानेसे होता है। परिव्राजककी अवस्थाकी समाप्ति कभी-कभी कई जन्मोंमें होती है और कभी-कभी केवल एक जन्मके एक भागमें ही होती है।

प्रथम दीक्षाके अनन्तर जो अवस्था स्थूल शरीर और उसके अभिमानी जीवात्माकी हुई थी वही अब उसके सूक्ष्म शरीर और उस शरीरके अभिमानी जीवात्माकी होती है। इस द्वितीय दीक्षाके प्रभावसे उसका सूक्ष्म शरीर दर्पणकी भाँति ऐसा स्वच्छ हो जाता है कि उसके द्वारा श्रीभगवान्‌का विकास अच्छी तरह प्रकट होता है। विषयवासना एकदम समूल नष्ट हो जाती है, इन्द्रियोंकी लिप्सा पूर्णरूपसे जाती रहती है, भोगकामनाओंका बीज भस्म हो जाता है, स्वार्थ और अहंभावका अत्यन्त लोप हो जाता है और

* चित्त शुद्ध, एकाग्र और आध्यात्मिक शक्तिसे शक्तिमान् होनेके कारण जो कुछ वह भावना करता है उसका प्रभाव बहुत प्रबल होता है।

काम (स्वार्थ)की उपाधि शून्यके समान हो दोषशून्य हो जाती है।

उसके सूक्ष्म शरीरका जीवात्मा श्रीभगवान्‌का केवल प्रतिबिम्बमात्र हो जाता है और वह दीक्षित शिष्य अनुभव करता है कि उक्त जीवात्मा और उसके समानकी समष्टि विश्वात्मा (तैजस) यथार्थमें एक हैं और दोनों ही श्रीभगवान्‌की छाया हैं, और ऐसा ज्ञान उसके चित्तसे दोनोंके मध्यका द्वैतभाव प्रत्यक्षरूपसे दूर हो जाता है। इस भुवर्लौकिक समष्टि चेतनके केन्द्रकी माण्डूक्योपनिषद्‌में तैजस (प्रकाशमय केन्द्र) संज्ञा है और भी श्रीगीताजीमें 'अधिदैव' है जो सब देवताओंका मूल कारण है। श्रीभगवान्‌का जो प्रकाश उस शिष्यको श्रीगुरुदेवने उसे प्रथम दीक्षाके अवसरपर प्रदान किया था, वह अब उसके प्रेम, भक्ति और वैराग्यके प्रभावसे तेजोमय आध्यात्मिक शक्तिमें परिणत हो जाता है। इस शक्तिका नाम परा कुण्डलिनी है और वह अब उसके हृदयसे उठकर उसके मस्तकमें जा पहुँचती है और वहाँ पहुँचकर वहाँके सभी आध्यात्मिक चक्रोंको ऐसा सचेत और सजीव कर देती है कि वे सब भलीभाँति काम करने लग जाते हैं जिसको अबतक वह जीवित रखती थी। इसी प्रकार आगे बढ़ते हुए वह भ्रूमध्यस्थ उस स्थानमें पहुँचती है जिसे श्रीशङ्कराचार्यजीने 'धी गुहा' की संज्ञा दी है जो बुद्धिका केन्द्र है। वहाँ पहुँच वह बुद्धिको ऐसी दैवी वैद्युतिकशक्तिसे सम्पन्न कर देती है कि उसमें उच्च और अदृश्य दिव्य दर्शनकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है। तत्पश्चात् वह पूर्ण विकसित सहस्रदल कमलके मध्यमें विराजमान श्रीभगवतीमें

लीन हो जाती हैं, उपर्युक्त उच्चस्थ चक्रोंके द्वारा दीक्षित शिष्य नीचेके चक्रोंपर भी अपना पूर्ण अधिकार स्थापित करता है। योगशास्त्रानुसार मस्तिष्कमें सहस्रदल कमलके आकारका एक चक्र है। साधारण विषयासक्त जीवोंमें यह कमल कलीके रूपमें बिना खिला हुआ रहता है। जैसे कमलका फूल सूर्योदयकालमें सूर्यकी रश्मियोंके पड़नेसे विकसित होकर पूर्ण शोभा-सौन्दर्यको प्राप्त करता है, ठीक उसी तरह इस दीक्षित शिष्यका सहस्रदल कमल भी श्रीभगवान्‌की कृपाके किरणके प्रभावसे खिलकर अपूर्व शोभाको प्राप्त होता है जब कि श्रीभगवान्‌से निःसृत प्रेम-रससे यह पूरित हो जाता है। तब इसमें श्रीभगवती दैवी प्रकृति (पराशक्ति साक्षात् ह्लादिनीशक्ति) स्वयं विराजती हैं, और कमलासनस्थ हो वे अपने कृपा-वारिकी वृष्टिसे जीवके तापको बुझा उसे तृप्त करती और दिव्य जीवन (गोपीभाव) प्रदान करती हैं। इस सम्बन्धमें एक दीक्षित शिष्यकी एक बड़ी ही सुन्दर और हृदयद्रावक प्रार्थना है। श्रीभगवती दैवीप्रकृतिको सम्बोधन करते हुए वह कहता है कि 'हे जगन्माता! तू इस मायासमुद्रमें डूबे हुए अपने इस दैवी अंशको अपने सर्वोत्तम श्रीचरणोंसे बिछुड़ने न दे; वरं ऐसी दयादृष्टि कर कि वह ज्योति हृदयकुञ्जरूप तेरे आवासस्थलमें पहुँच तेरी चरण-छायामें बसे।' हृदयसे यह शक्ति भ्रूमध्यके छठे चक्रमें जाती है जब यह श्रीभगवान्‌की शक्ति बनकर अनाहत शब्द हो जाता है जो सर्वत्र व्याप्त है और श्रीसद्‌गुरुओंकी वह अकथ वाणी है। यह आध्यात्मिक अनाहत है, भुवलौंकिक नहीं जो कानके बन्द करनेसे सुननेमें आता है। इस प्रकार कुण्डलिनी नामकी इस

दैवी वैद्युतिक आध्यात्मिक शक्तिका प्रादुर्भाव इस जीवकी आध्यात्मिक उन्नतिका परिणाम है और कृत्रिम स्थूल साधनाओंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है और न प्राप्त हो सकता है।

इसके अतिरिक्त एक अर्धकुण्डलिनी भी है जिसका स्थान मूलाधार चक्र है जो कि मेरुदण्डकी जड़में है। इस कुण्डलिनीको हठयोगी प्राणायाम आदिके द्वारा जाग्रत् करनेका प्रयत्न करते हैं। यह साधनप्रणाली आपत्तिपूर्ण है और यथार्थ अध्यात्मयोग (उच्च और यथार्थ योग) से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ साधक प्राणायामके अतिरिक्त दर्पण या भ्रूमध्यमें त्राटक करके भी दिव्य दर्शन इत्यादिकी प्राप्तिका प्रतिपादन करते हैं पर इस क्षुद्र दिव्य दर्शन और आध्यात्मिक दिव्य दर्शनके बीच आकाश-पातालका अन्तर है। ऐसे साधक भ्रूमध्यस्थ चक्रमें जो एक छोटे सर्पके आकारके-ऐसा पदार्थ देखते हैं वह वास्तविक कुण्डलिनी नहीं है। ऐसे कच्चे और अप्रस्तुत साधकजन सूक्ष्म जगत् (भुवर्लोक) के भाँति-भाँतिके पदार्थ देखते हैं जैसा कि इस जगत्‌में देखनेमें आते हैं। इनके चित्तमें साधारण जीवोंकी भाँति ही भेद-भाव और स्वार्थरूप भ्रमका राज्य बना रहता है। जो इस क्षुद्र सिद्धिके कारण अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि वह सिद्धियोंकी शिक्षासे सिद्धियाँ प्राप्तकर अपना महत्त्व बढ़ाना चाहता है और इस प्रकार ऊर्ध्वमें अहंभावको बढ़ाकर अन्तमें अपना पतन करता है। यह परम स्थूल साधन परमार्थका विरोधी है, सिद्धिकी प्राप्तिके लोभमें पड़कर इस प्रकारके जो साधन किये जाते हैं उनमें और सच्ची आध्यात्मिकतामें जो अन्तर है उसे महात्माओंने बार-बार

समझाया है। इसी सम्बन्धमें प्रसिद्ध महात्मा ज्ञानेश्वरजी ऐसा कहते हैं कि 'मुनिगण कहते हैं कि वह सत्पथ नहीं है जिसमें नवद्वार-पर अधिकार प्राप्तकर सर्पको जगा उसे सुषुम्ना नाड़ीमें प्रवेश कराया जाता है। मोक्षमार्गका रास्ता तो श्रीभगवान्‌के चरण-सरोजका निरन्तर ध्यान है'। सच्चे शिष्यके लक्षण वर्णन करते हुए योगी श्रीमत्स्येन्द्रनाथजीने भी अपने शिष्य श्रीगोरखनाथके प्रति यों कहा—

कुण्डलनीको खूब चढ़ावे ब्रह्मरन्ध्रको जावे।
चलता है पानीके ऊपर बोलता सोई होवे॥
सोहि कच्चा वे कच्चा वे नहिं गुरुका बच्चा।

आजकल यह एक बड़ा भ्रम है कि श्रीभगवान्‌की प्राप्ति और सिद्धियोंके लाभमें लोग एकता अर्थात् परस्पर सहायक समझते हैं अर्थात् जिनमें सिद्धियाँ हैं वे ही श्रीभगवान्‌में पहुँचे हुए (श्रीभगवान्‌के कृपापात्र) भक्त समझे जाते हैं और जिनमें सिद्धियाँ नहीं हैं वे उत्तम भक्त नहीं माने जाते हैं, मानो श्रीभगवान् भक्तकी सेवासे प्रसन्न होकर सिद्धियाँ ही प्रदान करते हैं और सिद्धियाँ ही श्रीभगवान्‌की प्रसन्नताका चिह्न हैं। यथार्थ बात इससे उलटी है। प्रथम तो सिद्धियाँ स्वयं श्रीभगवान्‌की प्रसन्नताका चिह्न नहीं हैं, इनकी प्राप्ति मन्त्र, औषध, तपस्या आदिद्वारा हो जाती है। जिनमें स्वार्थ और रागद्वेष वर्त्तमान है और जिन्होंने इन्द्रियोंका निग्रह पूर्णरूपसे नहीं किया है, ऐसे लोगोंको भी ऊपरके तीन उपायोंमेंसे किसी एकके द्वारा अथवा हठयोगकी क्रियाद्वारा निम्न श्रेणीकी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं और वे बड़े-बड़े चमत्कार

दिखला सकते हैं—आकाशमें भ्रमण कर सकते हैं, अलक्षित हो सकते हैं, आसनको बिना सहारे उठा ले सकते हैं, कुछ कालतक किसी-किसीके लिये उनके कहे वाक्य भी ठीक-ठीक पूर्ण हो सकते हैं। किन्तु इतनेपर भी वे न उत्तम साधक अथवा भक्त अथवा ज्ञानी अथवा योगी हैं और न श्रीभगवान्‌के कृपापात्र ही हैं। अधिक सम्भव है कि वे इन सिद्धियोंके कारण स्वार्थमें अधिक ग्रस्त होकर और अहंभावकी विशेष वृद्धिकर बहुत नीचे गिर जायँगे और मायाके फन्देमें अधिक फँस जायँगे। इसी कारण सिद्धियाँ परमार्थमें बड़ी बाधा देनेवाली समझी गयी हैं और श्रीभगवान्‌की जिसपर कृपा होती है उसको वे सिद्धियाँ पूर्ण सिद्धावस्थाके पूर्व कदापि प्रदान नहीं करते। श्रीमद्भागवत पुराण स्क० ११ में लिखा है—

अन्तरायान्वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः॥

(१५।३३)

न हि तत्कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः॥

(२८।४२)

श्रीभगवान् कहते हैं कि इन सिद्धियोंकी चाहना न करे, क्योंकि 'उत्तम योग करनेवाले और मुझको शीघ्र प्राप्त करनेवाले योगीको ये सिद्धियाँ मेरी प्राप्तिमें विघ्नरूप हैं और केवल कालक्षेपके कारण हैं। सिद्धिका मार्ग बुद्धिशाली पुरुषोंके स्वीकार करनेयोग्य नहीं है, सिद्धिके निमित्त परिश्रम करना निरर्थक है, क्योंकि

वनस्पतिके फलके तुल्य शरीर नाशवान् है' (इस कारण उससे सम्बन्ध रखनेके कारण सिद्धि भी नाश हो जाती है), केवल आत्मा नित्य है ।

सच्ची आध्यात्मिक दिव्य दर्शनशक्तिका तो दीक्षित शिष्यमें वैसा ही स्वाभाविक विकास होता है जैसा कि फूलका । यह तो दिव्य दर्शन और अनुभवकी ऐसी अवस्था है जिसमें कि द्रष्टा, दर्शन और दृश्यका भेद-भाव सर्वथा दूर हो जाता है । श्रीशङ्कराचार्यजी अपनी अपरोक्षानुभूतिमें इस आध्यात्मिक दिव्य दर्शनशक्तिका यों वर्णन करते हैं—

दृष्टिदर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत् ।
दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रावलोकिनी ॥

'अर्थात् दृष्टि तो वहाँ जमाना चाहिये जहाँ कि द्रष्टा, दर्शन और दृश्य इन तीनोंका पूर्ण अभाव होता है, न कि नासिकाके अग्रभागमें ।'

अधिदेव केन्द्र सब देवताओंका मूल है । जब दीक्षित शिष्य अपने भुवर्लौकिक केन्द्रको इस समष्टि आधिदैविक केन्द्रसे परा कुण्डलिनीद्वारा युक्त कर देता है, तो उसे सभी उच्च देवगणोंके दर्शन होते हैं जिन्हें और अपनेको वह एक ही श्रीभगवान्का रूपान्तरमात्र मानता है जो उनमें और उसमें प्रकट होते हुए सबको अतिक्रमण करते हैं और सबसे निर्लेप हैं ।

इस अवस्थाके प्राप्त होनेपर आभ्यन्तरिक शक्तियोंकी प्राप्ति होती है जो बाह्य न होकर उसके अन्तरस्थ ज्ञान और विकासका

परिणाम है। इन दिव्य शक्तियोंकी प्राप्तिसे दीक्षितमें सब प्रकारका अभिमान और गौरव जाता रहता है और वह आत्मदृष्टिसे (श्रीभगवान्‌की शक्ति जो औरोंसे अभिन्न है) और देह-दृष्टिसे नाम-रूपको तुच्छ समझता है। सब प्रकारकी एषणा, यश, प्रशंसा-तक भी नष्ट हो जाती है और अपनेको कुटीचक अर्थात् पर्ण-कुटीमें रहनेवाला समझता है। 'तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना' की उक्तिको वही चरितार्थ करता है। एक उत्तम उक्ति है कि यदि बोधके लाभकी इच्छा है तब दीन बनो और जब बोध प्राप्त होवे तब दीनातिदीन हो जाओ।

तीसरी दीक्षासे कुटीचक बहूदक होता है जिसको कोई हंस भी कहते हैं। इस दीक्षाके बाद जन्म लेनेमें वह बाध्य नहीं है। यदि जन्म हो तो अपनी इच्छासे। इस अवस्थामें उसे एकताका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है और परमात्मासे वह पृथक् नहीं है इसका प्रत्यक्ष बोध उसे हो जाता है। इस अवस्थामें वह ऐसे लोकमें जा सकता है जहाँ ऐक्य प्रत्यक्ष भासता है और जहाँ 'तत्त्वमसि' का यथार्थ ज्ञान भी अपरोक्ष हो जाता है। वह जो ज्ञान बहुत ऊपर-के लोकमें जाकर प्राप्त करता है वह वहाँसे फिर नीचे आनेपर स्थूल शरीरके मगजमें भी अङ्कित कर सकता है और इसी कारण जाग्रत् अवस्थामें भी उसे वह ज्ञान बना रहता है। इस अवस्थामें वह रागद्वेषको पूर्णतः त्यागता है, सांसारिक वासनाएँ तो उसमें रहती ही नहीं, किन्तु आध्यात्मिक कामनाएँ, जैसा कि मोक्षकी इच्छा, ब्रह्मलोकके आनन्दके पानेकी इच्छा इत्यादि-इत्यादि भी उसमें अब नहीं रहतीं। वह अपनेको किसीसे पृथक् भावना नहीं कर सकता,

अतएव ऐसी कोई इच्छा उसमें नहीं रह सकती जिसका फल केवल उसीको होगा, अन्यको नहीं। जो कुछ वह प्राप्त करता है वह सबके निमित्त करता है, जो कुछ शक्ति उसे मिलती है वह सबमें फैलाता है और सबके साथ होकर उसका भागी होता है। इसलिये प्रत्येक शिष्यके ऐसी अवस्थाको प्राप्त करनेसे संसारको उसके कारण अत्यन्त उपकार होता है। द्वेष त्याग करनेसे अभिप्राय यह है कि वह सबके साथ अन्तरसे एक हो जाता है, अतएव वह जाति, वंश इत्यादिका भेद अपने लिये किसीमें नहीं मालूम करता। उसके लिये ऐसा नहीं है कि किसी एक जातिके लोगोंको वह प्रेमकी दृष्टिसे देखता और दूसरी जातिवालोंको घृणार्ह जानता है, उसके लिये सब समान हैं, अतएव न किसीमें राग करता है और न द्वेष करता है। श्रीकृष्ण भगवान्‌ने गीतामें ऐसे ही महानुभावोंके विषयमें कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५। १८)

'अर्थात् विद्वान् पुरुष विद्या तथा विनयसंयुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल इनको समान दृष्टिसे देखते हैं।' वह सर्वत्र ईश्वरको देखता है, अतएव वह सबके प्रति प्रेम, दया रखता है और जो उसके निकट आता वह उसकी परम दयाका प्रभाव अनुभव करता है। ऐसे ही महानुभावोंको यथार्थ 'ब्राह्मण' कहते हैं 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' और 'ब्राह्मणो लोकरक्षकः' अथवा 'मैत्रो ब्राह्मण उच्यते'।

इस अवस्थाके श्रीसद्‌गुरुके कृपापात्र शिष्यको हंस कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे पक्षी हंसमें विशेष गुण यह रहता है कि दूध और पानीके एकत्र मिले रहनेपर भी वह उसमेंसे जलसे दूध-को विलगकर केवल दूध पीनेके लिये ले लेता है, जलको त्याग देता है, उसी प्रकार अन्तरात्मा इस अवस्थामें आत्मा (सत्-पुरुष-चैतन्य) और अनात्मा (असत्-प्रकृति-जड) के मिलावटरूपी संसार और शरीरमेंसे परम प्रेमकी दीक्षाके बलसे केवल शुद्ध आत्माको अनात्मासे पृथक् कर लेता है। उच्च साधनकालमें यह अन्तरात्मा गुणोंमेंसे केवल शुद्ध सत्त्वगुणको अर्थात् परमोत्तम अनुभव (मक्खन) को ग्रहण करता था, और प्रथम दीक्षाके होने-पर उसको अनुभव हुआ कि विश्वमें केवल आत्मा (पुरुष) श्रीभगवान् हैं और मैं शुद्ध अन्तरात्मारूपमें भी केवल उनकी शक्ति-का अंशमात्र (सहचरी) हूँ, जिस परम ज्ञानके विज्ञान होनेपर वह परम प्रेमसे प्रेरित हो श्रीभगवान्‌की वस्तु अपनी आत्माको श्रीभगवान्‌में श्रीपराशक्तिद्वारा समर्पण करनेके लिये प्रवृत्त होता है और उसको यह भी प्रत्यक्ष बोध होता है कि श्रीभगवान्‌से पृथक् इस अन्तरात्माका अहंभाव असत् और अनर्थका कारण है जो उसकी पूर्वकी अवस्था थी। हृदयरूपी कुञ्जके अगम्य आन्तरिक भागमें, दीक्षाद्वारा प्राप्त श्रीपराशक्तिके परम प्रकाशकी सहायतासे वह अपने प्रियतम भगवान्‌की खोजमें प्रवेश करता है और इस प्रकार श्रीभगवान्‌के अत्यन्त समीप पहुँच जाता है। तत्र श्रीभगवान्‌के सम्बन्धजनित परम शान्ति और आनन्दका प्रचुररूपसे वह अनुभव करता है, यद्यपि आनन्दका लाभ

करना उसका उद्देश्य नहीं है। वह उस शान्ति और आनन्दके कारण कदापि अपने लक्ष्यसे विचलित नहीं होता किन्तु उसका अपनी आत्माको अर्पण करनेका प्रेमसङ्कल्प और भी अधिक प्रबल हो जाता है।

इस अवस्थामें कारणशरीररूपी अन्तिम आवरणमें परिवर्तन होता है जिसके कारण वह पूर्ण स्वच्छ निर्मल और परिष्कृत बनकर शुद्ध सात्त्विक आकाशके समान निर्मल बन जाता है। इसी अवस्थाको भावुक महात्माओंने गौनेकी साड़ी धारण करना कहा है। कारणशरीरका अभिमानी अन्तरात्मा अथवा प्राज्ञ अपने पृथक् व्यष्टिभावको असत् देखकर और कारणकी दृष्टिसे दैवप्रकृति-के प्रकाशका प्रतिबिम्ब भासित होनेपर प्रथम समष्टि चेतन 'ईश्वर' जिनकी संज्ञा श्रीगीतामें 'अधियज्ञ' है उनके साथ अभिन्नता स्थापन करता है जो श्रीभगवान्‌के मिलनके निमित्त आवश्यक है। इसके बाद वह कारणशरीर (शुद्ध सत्त्वगुण) से भी स्वतन्त्र हो जाता है और उस शरीरके अधीन न रहकर वह उसका प्रभु (नियन्ता) बन जाता है। अनेक जन्मोंमें जो उसने बड़े क्लेश और परिश्रमसे बड़े धैर्य-के साथ ज्ञान और भक्तिद्वारा अनुभवरूपी रत्नकी प्राप्ति की, अथवा विश्ववाटिकामें जो मनोहर और सुन्दर फल और पुष्परूप शुद्ध अनुभव उसने संग्रह किये जिनके द्वारा उसका कारणशरीर निर्मित है उनको अधियज्ञको त्यागकी भाँति अर्पण करता है ताकि इस नैवेद्यको वे संसारके कल्याणके लिये वितरण कर दें। उसके इस विश्ववाटिकामें भेजे जानेका एक यह भी उद्देश्य था जिसको उसने पूर्ण किया। यह अधियज्ञ भी श्रीभगवान्‌के समष्टि प्रतिबिम्ब हैं जो

त्रिलोकीमें श्रीभगवान्‌के कार्यको करते हैं। इनको कार्यब्रह्म भी कहते हैं।

वह अब प्रत्यक्ष देखता है कि सम्पूर्ण ज्ञान, तप, त्याग और साधना और प्रेमके लक्ष्य श्रीपराशक्ति (श्रीभगवान्‌की परम प्रिया ह्लादिनीशक्ति) श्रीभगवान्‌के परम प्रकाश हैं अतएव वह उनके श्रीचरणोंमें अपनी शुद्ध आत्माको अर्पण करता है जो अनेक जन्मोंके त्याग-सेवासे पवित्र हुआ है। तब वह हंसदशाको प्राप्त करता है जिसका भाव है 'हं' (अहं-प्राज्ञ) 'स' (ईश्वर) दोनों एक हैं। वह समझता है कि छः बड़ी शक्तियाँ जो उसमें प्रकाशित हैं वे केवल श्रीपराशक्तिके प्रसाद हैं। वे हैं—(१) ज्ञानशक्ति, इससे भूत, भविष्य जाना जा सकता है, (२) इच्छाशक्ति, (३) क्रियाशक्ति; यह गुह्य उच्च मानसिक शक्ति है, जिससे बिना किसी अन्य सहायताके दृश्य पदार्थ उत्पन्न किये जा सकते हैं, (४) मातृकाशक्ति जो बीज और मन्त्रकी शक्ति है, (५) ज्योतिशक्ति, (६) कुण्डलिनीशक्ति। यहाँ प्रकृतिसे नितान्त मुक्त होनेके लिये उसे अन्तिम युद्ध करना पड़ता है, क्योंकि यद्यपि वह तीनों शरीरके बन्धनसे मुक्त हो गया है किन्तु समष्टि अव्यक्त जिसको महत् कहते हैं उस महासागर अथवा महाश्मशानसे पार होना उसे अभी बाकी है और इसीके लिये इतनी तैयारी की गयी है। बिना इसके पार हुए वह श्रीउपास्यमें अपनेको अर्पण नहीं कर सकता। जब जीवात्मा तीनों शरीरसे पृथक् हो जाता है, ऐसी अवस्थाको महासुषुप्तिकी अवस्था कहते हैं जो मायाका मूल है और इसको

अतिक्रम करना बड़ा कठिन है। श्रीभगवान्‌ने इसीको लक्ष्यकर श्रीगीतामें यों कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(७।१४)

'वर्णन की हुई मेरी त्रिगुणात्मिका माया निश्चय करके दुस्तर है अर्थात् बड़ी कठिनतासे कोई इसको अतिक्रम कर सकता है किन्तु जो मेरेमें अपनेको अर्पण करना चाहेंगे केवल वे ही इसके पार हो सकते हैं।'

इस मायाके पार होनेमें भावुकको केवल पूर्व जन्मोंका तप और आत्यन्तिक भक्ति सहायता करती है। इस महाकुरुक्षेत्र-युद्ध-के अन्तिम दिनकी लड़ाईमें यद्यपि श्रीसद्गुरु उपदेश करनेके लिये तैयार रहते हैं और उपदेशद्वारा सहायता करते हैं किन्तु जय केवल पराभक्तिके बलसे ही होती है। यहाँ भावुक गीताज्ञान-रूपी वंशीध्वनि सुनता है। इस महाश्मशानमें श्रीजगद्गुरु श्री-महादेव और श्रीसद्गुरुकी सहायतासे अहंकारका बीज सूक्ष्माति-सूक्ष्मरूपमें जो तबतक वर्तमान रहता है वह विरहाग्निमें भस्म होकर उसपर श्रीभगवान्‌की वंशीध्वनिरूपी शक्तिसञ्चालन किया जाता है और तब वह अन्तरात्मा 'गोपी' रूपमें परिवर्तित हो जाती है।

तीसरी दीक्षाको प्राप्त करके पृथक्त्व भावको प्रेमाग्निद्वारा सर्वथा नाशकर और मायाको पारकर हंस चौथी दीक्षाद्वारा परम-

हंस अर्थात् जीवन्मुक्त होता है। इस अवस्थामें पूर्ण आत्मसमर्पण होकर केवल श्रीभगवान् ही रह जाते हैं और इस प्रकार 'सोऽहम्' का स और ह मिटकर केवल ॐ (एकाक्षर) रह जाता है। शोकका विषय है कि ऐसी बड़ी अवस्थाके नामको आजकल बहुत लोग केवल वाह्य लिंगके कारण धारण करते हैं। परमहंस जाग्रत् अवस्थामें रहकर भी तुरीयावस्थामें जा सकता है, जिस (तुरीया) अवस्थाकी प्राप्तिके निमित्त न तो उसको स्थूल शरीरसे पृथक् होना पड़ता है और न जाग्रत्संज्ञाविहीन होना होता है। उसको बोलते, देखते और संसारमें रहते तुरीयाका ज्ञान बना रहता है जिसका अनुभव भी वह करता रहता है। उसमें दो प्रकारकी संज्ञा बनी रहती है, एकसे आभ्यन्तरकी (परम) उच्च अवस्थाका अनुभव करता रहता है, और साथ ही साथ एक ही कालमें दूसरेसे शरीरका कार्य करता है। वह पाँच दोषोंका त्याग करता है—(१) रूप-राग अर्थात् साकार जीवन (भूलोकमें रहने) की वासना और (२) अरूप-राग अर्थात् निराकार जीवनकी (स्वर्ग और ब्रह्मलोकादिमें रहनेकी) भी वासना उसमें नहीं रहती, (३) श्रीभगवान्में अर्पण करनेके मान और अहंकारका अवशेष त्याग अर्थात् वह ऐसा नहीं मानता कि वह एक महती अवस्थामें है और दूसरे सब लोग उससे नीचे हैं, उसमें ऊँच और नीचकी भावना नहीं रहती और वह सबको एक देखता है। वह सदा जाग्रत्-अवस्थामें भी ऐसे आन्तरिक भावमें रहता है जिसके कारण सबकी आत्मा एक ही उसे देखनेमें आती और बोध होती और आत्माकी दृष्टिसे सिवा एकत्वके उसे पृथक्त्व

भासता ही नहीं। (४) वह किसी अवस्थामें उद्विग्न नहीं होता, चतुर्दश भुवनके लय होनेपर भी वह स्थिर ही रहेगा, व्यक्तकी कोई घटना उसकी शान्तिको विचलित नहीं कर सकती। कोई महान् आपत्ति उसकी दृष्टिमें क्या है? कुछ नहीं, उसकी दृष्टिमें उसके द्वारा केवल नाशवान् आकार भग्न होता है। संसारका नाश होना भी उसकी दृष्टिमें केवल प्रकृतिका परिवर्तन होना है। वह अज, नित्य, अव्यक्त, सनातन और शाश्वत तत्पद श्रीभगवान्के चरणकमलमें स्थित रहता है, अतएव किसी प्रकारसे उसकी शान्ति, स्थिरता और आनन्द भग्न नहीं हो सकता। सबके पश्चात् अन्तिम दोष अविद्याका, जो अज्ञानका कारण है, उसके लिये, नाश होता है। यह सूक्ष्म अविद्या मायासे विलक्षण क्षीण-रूपसे तबतक रहती है और इस अवस्थामें उसका पूर्ण नाश होता है। इस सूर्यमण्डलमें जितना ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है उतना उसको प्राप्त हो जाता है, जो कुछ पदार्थ इसमें हैं वे उसे लब्ध हो जाते हैं, कुछ भी जानने और पानेको इस सूर्यमण्डलमें उसके लिये बाकी नहीं रहता। इस सूर्यमण्डलका एक भी प्रकृतिका गुप्त भेद उससे गुप्त नहीं रहता, ऐसा कोई भी कोना इस भुवनमें नहीं रहता जहाँ उसकी दृष्टि न जा सके, सर्व शक्तियाँ उसे प्राप्त हो जाती हैं। वह अपने ब्रह्माण्डमें सर्वज्ञ और सर्वव्यापी हो जाता है। उसने सृष्टिके बनानेका जो उद्देश्य आत्म-समर्पण था उसको अपनेमें पूर्ण किया। कल्पके अन्तमें जिस अवस्थामें साधारण मनुष्यको किसी प्रकार पहुँचना सम्भव है अथवा न भी है वह वहाँ तभी पहुँच जाता है। ऐसा महात्मा यदि

अपनी इच्छाके कारण दूसरा जन्म ग्रहण करेगा, तो उसमें पूर्ण ज्ञान जो प्राप्त है वह ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। इस अवस्थामें भी महानिर्वाण लेनेका अधिकार उनको है किन्तु वे उसको फिर भी श्रीभगवान्के निमित्त त्यागते हैं। वे महानिर्वाण लेनेसे इस ब्रह्माण्डको अतिक्रम करके ऊर्ध्वमें चले जा सकते हैं जिसका कोई ज्ञान हमलोगोंको नहीं हो सकता कि वे कैसी अवस्थामें तब प्राप्त होंगे, किन्तु भक्त परमहंस श्रीभगवान्की सेवाके निमित्त त्यागमार्गको ग्रहण करते हैं। इस ब्रह्माण्डके बाहर जानेसे फिर उनको इस ब्रह्माण्डके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता और न तब वहाँसे किसीको वे सहायता करनेयोग्य रहते हैं, अतएव इस त्यागमार्गको ग्रहण करनेवाले महात्मा जो श्रीभगवान्की करुणाको संसारके कल्याणके निमित्त प्रकाशित करनेके लिये ही इस मार्गको ग्रहण करते हैं, वे संसारके जीवोंको अज्ञानमें पड़े देख श्रीभगवान्के निमित्त प्रतिज्ञा करते हैं कि जबतक ये लोग एक-एक करके अविद्यासे मुक्त न होंगे, तबतक यह अर्पित आत्मा उनके हितके लिये सेवा करती रहेगी और जब-जब आवश्यक होगा तब-तब नया-नया शरीर भी उस निमित्त धारण करेगी। उनको यह बोध हो जाता है कि श्रीभगवान्की यही सेवा है जो उनके जिम्मे सुपुर्द की गयी है।

ऊपरमें बहुत कुछ इस अवस्थाके लक्षणका वर्णन किया गया, किन्तु इस परम अवस्थाका आन्तरिक रहस्यवर्णन हो नहीं सकता। इस अवस्थामें श्रीपराशक्तिको सहचरीका भाव प्राप्त होता है किन्तु तथापि श्रीउपास्यके साक्षात् और सतत मिलन

और पूर्ण आत्मसमर्पणकी यह अवस्था नहीं है। इसके बाद इस मार्गमें पाँच और अवस्था हैं। शास्त्रमें भी परमहंसके बाद तुरीयातीत और अवधूत-अवस्था है। श्रीपराशक्तिकी ज्योति श्रीभगवान्के प्रथम आवरणके समान है जिसके द्वारा श्रीउपास्यके साथ समीपता प्राप्त होती है। ज्ञान और योगमार्गका 'सोऽहम्' प्रेममार्गकी दृष्टिमें समीपता ही है। इसी प्रकाशद्वारा श्रीभगवान् अपने भक्तको दर्शन अथवा समीपता प्रदान करते हैं। श्रीशंकराचार्यने अपनी सौन्दर्यलहरीमें इस परम प्रकाशको 'शम्भुका शरीर' कहा है। इस प्रकाश (श्रीपराशक्ति) के द्वारा ही श्रीभगवान् सगुण और व्यक्त होते हैं।

श्रीपराशक्तिकी सहचरी बनकर उनके आश्रयसे श्रीभगवान्की सेवा करना परम दुर्लभ, परम श्रेयस्कर, परम रहस्यमय भाव है; और यह भी आधिदैविक आत्मसमर्पण है। अधिकांश भक्तगण इसी अवस्थाको चाहते हैं और इसीद्वारा श्रीभगवान्की सेवा करते रहते हैं। किन्तु इसके आगे भी आध्यात्मिक आत्मसमर्पणकी अवस्था है जिसको 'राधाभाव' पीछे कहा जा चुका है। इस भावका नाम श्रीरामोपासकोंके लिये 'सीताभाव' है, शाक्त और शैवके लिये दिव्य महाविद्याभाव है। और श्रीविष्णुके उपासकोंके लिये 'लक्ष्मीभाव' है। यह साक्षात् आध्यात्मिक मिलन और आध्यात्मिक आत्मसमर्पण है जिसका वर्णन होना कठिन है और यह आधिदैविक मिलन और आत्मसमर्पणसे अवश्य विलक्षण है।

यह भाव पराभक्ति, परम प्रेम और महाभावकी चरम सीमा है जिसमें बहुत कुछ भिन्नता दूर होकर पूरी एकता स्थापित हो

जाती है, अथवा यों कहिये कि यथार्थ अनादि एकताके आवरण-रूपी प्रतिबन्धक दूर होकर वह शुद्ध एकता जाज्वल्यमान हो जाती है। श्रीप्रेमसम्पुटकाव्यमें श्रीराधाजीकी श्रीभगवान्के साथ इस प्रकार चरम एकतासूचक उक्ति है—

अन्योन्यचित्तविदुषौ नु परस्परात्म-
नित्यस्थितेरिति नृपु प्रथितौ यदावाम्।
तच्चौपचारिकमहो द्वितयत्वमेव
नैकस्य सम्भवति कर्हिचिदात्मनो नौ ॥१०७॥
एकात्मनीह रसपूर्णतमेऽत्यगाधे
एकासुसंग्रथितमेव तनुद्वयं नौ।
कस्मिंश्चिदेकसरसीव चकासदेक-
नालोत्थमब्जयुगलं खलु नीलपीतम् ॥१०८॥

'हम दोनोंके मन दोनोंको ज्ञात हैं, क्योंकि दोनोंके भीतर दोनों जन नित्य ही वास करते हैं, ऐसा जो प्रवाद है वह अयथार्थ है, सत्य नहीं है, क्योंकि हम दोनोंकी आत्मा एक ही है और एक आत्मा दो किस प्रकार हो सकती है। जिस प्रकार किसी एक सरोवरमें एक नालसे उत्पन्न नीले और पीले वर्णके दो कमल विकसित हुए हों उसी प्रकार अत्यन्त अगाध रसपरिपूर्ण एक आत्मासे हमलोगोंके नीले और पीले वर्णके दो शरीर एक ही प्राणसे संग्रथित होकर वर्तमान हैं।' इस कथनके बाद देवाङ्गना-वेशधारी श्रीभगवान्ने श्रीराधासे कहा कि मैं एकात्मताकी परीक्षा करना चाहती हूँ, इस प्रकारसे कि यदि आपके स्मरणमात्रसे आपके प्रियतम श्रीकृष्ण यहाँ आ जायें तो मुझको विश्वास होगा।

श्रीराधाजीने अपने परम प्रेम और प्रेमकी एकीकरणशक्तिके प्रत्यक्ष बोध उनमें रहनेके कारण इस परीक्षाको स्वीकार किया और कहा कि यदि एकात्मभाव सत्य है तो श्रीभगवान् शीघ्र प्रकट हो जायँ। श्रीभगवान् प्रकट हो गये। श्रीराधाजीकी उक्त अवस्थाका प्रेम-सम्पुटमें यों वर्णन है—

रोमाञ्चिताखिलतनुर्गलदश्रुसिक्ता
ध्यानागतं तमवबुध्य बहिर्विलोक्य।
आनन्दलीनहृदया खलु सत्यमेव
योगिन्यराजत निरञ्जनदृष्टिरेषा ॥१२४॥

'तब श्रीराधाजीने सर्वांगसे रोमाञ्चित होकर ध्यानमें प्रियतम श्रीभगवान्के आगमनको जाना और बाहर भी उनको देखकर वे अनवरत नेत्रसे अश्रुधारा वर्षण करते-करते आनन्दमें लीन हो गयीं। उन्होंने उस परीक्षामें सत्य-सत्य ही योगिनीके समान निरञ्जन-दृष्टिको प्राप्त किया अर्थात् नेत्रके अश्रुसे दोनों नेत्रोंके अञ्जनको धो दिया।'

इसमें जो भगवत्प्राप्तिके मार्गकी कठिनाई और दीर्घत्व दिखलाये गये हैं उनका प्रचुर प्रमाण गीतामें ऐसे है। अध्याय ७ के १९ वें श्लोकमें कथन है कि अनेक जन्मोंके बाद ज्ञानी श्रीभगवान्-की प्राप्ति करता है। उक्त अध्यायके तीसरे श्लोकमें कथन है कि हजारोंमें एक यत्न करता है और यत्न करनेवालोंमें किसी-किसीको प्राप्ति होती है। इससे सिद्ध है कि दिव्य प्रकाशकी प्राप्ति होनेपर भी उस प्रकाशके केन्द्र श्रीभगवान्में प्रवेश करना कठिन है।

इसीको भगवत्प्राप्ति कहते हैं जो जीवन्मुक्त अवस्थाके भी ऊपर है। गीता अध्याय १८ के ५४ और ५५ श्लोकमें भी कथन है कि ब्रह्ममें एकीभाव प्राप्त होकर भी जब पराभक्तिकी प्राप्ति करता है, तब मेरेमें पराभक्तिद्वारा ही प्रवेश करता है। यहाँ श्रीभगवान्के प्रकाशकी ब्रह्म-संज्ञा है। इस प्रकार जीवन्मुक्त ह्लादिनीशक्ति-रूपा पराभक्ति पाकर जब श्रीभगवान्में सम्पूर्णभावसे समर्पित होकर प्रवेश करते हैं उसके द्वारा श्रीभगवान्का बृहत् तेजपुञ्ज और प्रेम-प्रकाश ब्रह्माण्डमात्रमें विस्तृत होता है जिससे अखिल ब्रह्माण्ड तृप्त होता है। जिस प्रकार पुच्छल ताराके टूटकर सूर्यमें प्रविष्ट होनेसे प्रकाशकी वृद्धि देखी जाती है, उसीकी तुलनाके समान किञ्चित् अंशमें यह भी है।

कहा जाता है कि इस आध्यात्मिक आत्मसमर्पणका प्रायः यह परिणाम होता है कि इस परम त्यागके कारण स्वयं श्रीभगवान् उस निवेदित आत्माके साथ संसारमें अवतार लेकर कोई महत् कार्य करते हैं, अथवा निवेदित आत्मारूपी परम पुरुषोंमें कोई समय-समयपर श्रीभगवान्की इच्छाके अनुसार उनके प्रतिरूपकी भाँति संसारमें अवतार लेकर विश्वहितसम्बन्धी कोई विशेष कार्य करते हैं। दिव्यलोकमें रहकर भी वे श्रीभगवान्द्वारा प्रेरित होकर श्रीभगवान्की विश्वहित सेवा करते हैं। अवतार लेनेपर ये अंशावतार कहलाते हैं। श्रीमद्भागवत पुराणमें जो दशावतारके सिवा अन्य चौदह अवतारोंका वर्णन है वे प्रायः ऐसे अवतार हैं और इनसे अन्य प्रकारके भी अवतार होते हैं। स्मरण रहे कि इस राजविद्याके मार्गमें प्रारम्भसे अन्ततक श्रीभगवान्के विश्वहित

कार्यमें योग देकर उनकी सेवा करना मुख्य है और जिसमें भाव है वही केवल इस प्रेमयज्ञमार्गका अधिकारी है। क्योंकि आत्मसमर्पणरूप सेवा ही सृष्टिका आधार और जीवन है।

हम लोगोंके महर्षिगण ऐसे ही त्यागमार्गके अनुसरण करनेवाले हैं जिनका वर्णन गुरुतत्त्वमें किया गया है। इनको श्रीभगवान्‌से एकता प्राप्त रहती है। केवल ऐसे ही त्यागी जीवन्मुक्त श्रीसद्‌गुरु कहे जाते हैं और वे ही परम भागवत (भक्त) कहे जाते हैं। श्रीभगवान्‌ने जगत्‌के कल्याण और राजविद्याके मार्गपर लोगोंको लानेके लिये ही श्रीउद्धवको दीक्षा देकर श्रीबदरिकाश्रममें जानेके लिये कहा, यद्यपि वे श्रीभगवान्‌से बाह्यभावसे भी अलग होना नहीं चाहते थे। यदि ये श्रीसद्‌गुरु लोग मनुष्यके हितनिमित्त निर्वाण त्यागकर सृष्टिमें ही रहना स्वीकार न करते तो मनुष्यकी दशा अनाथ बालकके समान हो जाती और मनुष्यके लिये कोई राजविद्याके मार्गका बतलानेवाला नहीं रहता; अतएव मनुष्यमात्र इन श्रीसद्‌गुरुओंका ऋणी बना हुआ है। ऐसे श्रीसद्‌गुरुगण वर्तमानकालमें भी इस मर्त्यलोकमें स्थूल शरीरमें इसलिये वर्तमान हैं कि उनमें विश्वास-भक्ति करके और साधनाद्वारा सम्बन्ध स्थापनकर तीव्र साधक उनके चरण-कमलको प्राप्त कर सके जिसमें इस घोर कलियुगमें भी राजविद्याके मार्गका अनुसरण करना लोगोंके लिये असम्भव न हो जाय। वे लोग इसके लिये अत्यन्त इच्छुक हैं कि जिज्ञासु साधक उनके निकट आनेका यत्न करे और उनकी सहायतासे सत्-मार्गको ग्रहण करे, किन्तु हमलोग उसके निमित्त प्रस्तुत नहीं होते। आजकल भी

ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने उन श्रीसद्गुरुओं को प्राप्त किया है और जिनके लिये वे (श्रीसद्गुरु) ऐसे प्रत्यक्ष हैं जैसे संसारके स्थूल पदार्थ जो हम लोगोंके नेत्रके सामने हम लोगोंको प्रत्यक्ष हैं। अतएव जो उनकी प्राप्ति करनेके लिये यथेष्ट चेष्टा करेंगे (वह चेष्टा कर्म, अभ्यास, ज्ञान और भक्तियोगका अभ्यास है) वह अब भी उनको अवश्य प्राप्त करेंगे। ऐसी चेष्टा करनेवाला साधक धन्य है।

अन्तिम वक्तव्य

राजविद्याकी दीक्षाकी केवल बाह्य आधिभौतिक अवस्थाके अधिकारी कोई-कोई मुमुक्षु ऐसे होते हैं जो उसके द्वारा मोक्षको लाभकर आगे नहीं बढ़ते। किन्तु वे श्रीसद्गुरुके साक्षात् सम्बन्ध प्राप्तकर शिष्य नहीं बन सकते। इसी कारण ऐसे साधककी आधिभौतिक अवस्थाका भी किञ्चित् वर्णन किया गया है। मुमुक्षु साधकोंके लिये भी परोपकार-सेवा-व्रत आवश्यक है, क्योंकि यह सृष्टिकी ऊर्ध्व गतिकी ओर गमन करनेके लिये परमावश्यक नियम है। इस परोपकारसे ही मुमुक्षु भी अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होता है और मुमुक्षुकी साधना और भजनसे और उसके मोक्ष लेनेपर भी संसारका बड़ा हित होता है। श्रीभगवान् तो श्रीगीता अ० ७ श्लोक १६ में कहते हैं कि जो दुःखी व्यक्ति खोई हुई वस्तुकी प्राप्तिके लिये अथवा विषयी अप्राप्त पदार्थके लाभके लिये मेरा (श्रीभगवान्‌का) भजन करते हैं वे भी पुण्यशील और उदार हैं। जब कि श्रीभगवान्‌के द्वेष अथवा भयसे भी लाभ होता है, तो आर्त और विषयीको सकाम भजन करने-

से भी क्यों नहीं लाभ होगा ? पुण्यके उदय होनेसे ही किसी प्रकार चित्त श्रीभगवान्‌की ओर जाता है और जब किसी प्रकारसे ईश्वरोन्मुख चित्त हुआ तो फिर बेड़ा पार है, क्योंकि फिर श्रीभगवान् अपने-आप उसको आकर्षण करेंगे, यदि वह अपनेसे ही हठ करके फिर प्रतिकूल न हो जाय। मुमुक्षु तो इन दोनोंसे भी उत्तम हैं। यह स्पष्ट है कि यद्यपि श्रीभगवान्‌के साक्षात् मिलनका मार्ग बहुत ही कठिन, दीर्घ और त्यागपूर्ण है, तथापि श्रीभगवान्‌की करुणा विश्वके लिये इतनी प्रगाढ़ है कि श्रीचरणमें पहुँचानेवाले मार्गपर पहुँच जानेके लिये अनेक पगदंडियाँ बना दी गयी हैं जिनके द्वारा सब कोई, यदि चाहे तो मार्गपर सुगमतासे पहुँच जा सकता है और मार्गपर पहुँच जाना ही बड़े भाग्यकी बात है।

श्रीभगवान्‌ने संसारके साधारण जीवोंपर दया करके ही अवतार धारण किया ताकि उनके पावन नाम और चरित्रके स्मरणसे श्रीभगवान्‌की प्राप्ति सुगम हो जाय। कलियुगके लोगोंपर तो श्रीभगवान्‌ने अपनी करुणा बहुत ही अधिक परिमाणमें इस प्रकार दिखलायी कि केवल नामस्मरणद्वारा अपनी प्राप्तिका सुगम मार्ग खोल दिया। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी का वचन है—

> **कलिजुग सम जुग आन नहिं, जो नर करु बिसवास।**
> **गाइ राम गुनगन बिमल, भव तरु बिनहिं प्रयास॥**

श्रीमद्भागवत पुराण आदि ग्रन्थोंमें भी ऐसा ही नामका प्रभाव वर्णित है।

जब जीवात्मा श्रीभगवान्‌के सम्मुख आता है तो वे बड़ी प्रसन्नतासे उसे शरणमें आनेके लिये सब प्रकारसे सहायता करते

हैं और उसके पिछले पापोंकी कुछ भी परवा नहीं करते। कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९।३०, ३२)

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

(श्रीमद्भा० २।४।१८)

'श्रीभगवान् कहते हैं कि यदि कोई अत्यन्त दुराचारी हो और वह औरोंकी भक्ति न करके मेरी ही उपासना करे तो वह साधु ही है, क्योंकि उसने मेरेको प्राप्त करनेके लिये अच्छे प्रकारसे निश्चय कर लिया है। हे अर्जुन! कोई कितना ही पापी क्यों न हो, चाहे स्त्री हो, वा वैश्य हो, वा शूद्र हो, वह यदि मेरा आश्रय लेता है तो उत्तम गतिको प्राप्त होता है। भील वा मध्यदेशके ताम्रमुख पुरुष, तैलंगोंमें अन्ध्र जातिके मनुष्य, पुलिन्द और पुल्कस, इन चाण्डालजातियोंके पुरुष, आभीर, कङ्क, यवन और खस इत्यादि यवनजातियोंके मनुष्य और जो अन्य भी पापजातियोंके पुरुष हैं वे जिनके भक्तोंके आश्रयसे शुद्ध हो जाते हैं उन महाप्रभावशाली श्रीभगवान्को नमस्कार है!'

जब कि श्रीभगवान् और उनके प्रतिरूप श्रीसद्गुरुगण संसारका कल्याण करने और तारनेके लिये बड़े ही उत्सुक हैं, नित्य लोगोंपर अपनी करुणाकी वर्षा कर रहे हैं, सगुण, साकार और अवतारभावको धारणकर अपनेको मन्दबुद्धिके भी गम्य बनाते हैं, भक्ति और श्रद्धासे अर्पित क्षुद्रातिक्षुद्र सेवाका भी सहर्ष स्वीकार करते हैं, यहाँतक कि केवल पत्र, पुष्प, फल, जलके भी भक्तिसे प्रदान होनेपर तृप्त हो जाते हैं, जो एक पग उनकी ओर उठाता है तो वे दस पग उसकी ओर उठाते हैं, सदा-सर्वदा सबके हृदयमें विराजमान रहते हैं ताकि किसीको उनके ढूँढ़नेके लिये दूर जाना नहीं पड़े, ऐसी अवस्थामें जो श्रीकरुणावरुणालय श्रीभगवान्से विमुख होकर उनकी आज्ञाके प्रतिकूल चलते हैं उनकी दशा अवश्य बड़ी शोचनीय है। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने ठीक कहा है—

जाके पास रहे चिन्तामनि सो कित काँच बटोरे।

श्रीभगवान्की उक्ति श्रीमद्भागवत पुराणमें यों है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा॥
(११।२०।१७)

'सकल फलोंके मूलभूत करोड़ों उद्योगोंसे प्राप्त न होनेवाली परन्तु सहजमें प्राप्त हुई गुरुरूप कर्णधार (मल्लाह) से युक्त और स्मरणसे ही अनुकूल वायुरूप मेरी प्रेरणा की हुई मनुष्य-

शरीररूप नौकाको पाकर जो प्राणी संसारसमुद्रको नहीं तरता है उसको केवल आत्मघाती समझो।'

गीतामें श्रीभगवान्‌के मिलनेका सुलभ उपाय यों वर्णन है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८।१४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मेरेमें अनन्य चित्तसे स्थित हुआ, सदा ही निरन्तर मेरेको स्मरण करता है, उस निरन्तर मेरेमें युक्त हुए योगीको मैं सुलभ हूँ अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।' प्रेमके आनेसे ही अनन्य स्मरण हो जायगा और श्रीभगवान्‌के मधुर नाम, पावन कीर्ति और विश्वके हितके लिये असीम त्याग और दयाका चिन्तन करनेसे अनुरागकी उत्पत्ति सुलभ है। अनुरागसे चित्त शुद्ध होनेपर प्रेमकी प्राप्ति होती है।

सबको चाहिये कि श्रीभगवान्‌के चरण-कमलोंमें प्रेमपूर्वक चित्तको संनिवेशित करनेका यत्न करें, उनके पावन नामके सदा-सर्वदा निरन्तर स्मरण करनेमें तत्पर रहें, सत्संगतिकी प्राप्तिके लिये चेष्टा करते रहें, विश्वको श्रीभगवान्‌का रूप जान किसीकी भी हानि करनेकी इच्छातक न करें; किन्तु दूसरोंके दुःखको अपना दुःख समझ और उसके कारण दयालु होकर परोपकार करें, सत्यके अभ्यासमें विशेष दत्तचित्त रहें, अन्तःकरण और इन्द्रियोंको शुद्ध और स्वच्छ करके उनका निग्रह करें, श्रीभगवान्‌को जीवात्माके हितके लिये हृदयमें सदा वर्तमान जान उनके चरण-

कमलकी सतत और साक्षात् सेवामें नियुक्त होनेके लिये तरसते रहें, ज्ञानको लाभकर प्रकृतिके गुणोंके भुलावेमें कदापि न पड़ें, दुःखको विवेक और ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये आया हुआ समझ उसको धैर्यपूर्वक सहें, कदापि उद्विग्न न हों और उसको उपकारी जान प्रसन्न ही रहें; काम, क्रोध, लोभ और मानको परम शत्रु समझ उनके जीतनेकी बहुत बड़ी चेष्टा आत्मबलद्वारा करें; अपनेको बाह्यदृष्टिसे मान, मद, अभिमानके दमनके निमित्त नीचातिनीच मानें, केवल विहित कर्मोंको करें और उनको केवल श्रीभगवान्के निमित्त ही उनकी सेवाकी भाँति सम्पादन करें, कदापि कोई कामनाकी इच्छा उनसे न करें और उनके फलसे किसी प्रकार क्षुब्ध न होकर सिद्धि और असिद्धि दोनोंमें समान रहें, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, शत्रु-मित्र और सुख-दुःख, यश-अपयशको समान जानें, अपनेको श्रीभगवान्की शक्तिरूपा आत्मा समझ अहंभाव और अहङ्कार, ममताका त्याग करें; और श्रीसद्गुरु और श्रीभगवान्में परम अनुराग रख और उनको हृदयस्थ जानकर निष्काम ध्यान, स्मरण और प्रेम-भक्तिद्वारा सम्बन्ध स्थापनकर उनकी सेवाके लिये उनमें अपनी आत्मातकको अपने हृदयमें उनकी शरण जाकर अर्पण करें। ऊपर कथित साधनाएँ बहुत कठिन अथवा दुष्प्राप्य कदापि नहीं हैं किन्तु केवल दृढ़ सङ्कल्प और श्रीभगवान्में श्रद्धा-भक्तिके रखनेसे ही अवश्य प्राप्त हो जायँगी; क्योंकि वे बड़े कारुणिक हैं और जिज्ञासुकी आर्त प्रार्थना-पर बहुत शीघ्र ध्यान देते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण स्कं० ११ में

श्रीभगवान्ने गृहस्थोंके निमित्त बड़ा सुगम विधान किया है जैसा कि—

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम्।
गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम्॥
इति मां यः स्वधर्मेण भजन्नित्यमनन्यभाक्।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दतेऽचिरात्॥
(१८।४३-४४)

अपनी भार्याके साथ केवल ऋतुकालमें गमन करनेवाले गृहस्थ, इस प्रकारके ब्रह्मचर्य, तप, शौच, सन्तोष तथा प्राणियोंके हित-साधनसे धर्मका लाभ करते हैं और मेरी उपासना करना सबका धर्म है (जो गृहस्थको भी कर्तव्य है)। इस प्रकार स्वधर्मके पालनसे जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरी भावना रखते हुए अनन्य भावसे मेरा भजन करते हैं, वह शीघ्र ही मेरी विशुद्ध भक्ति पाते हैं।

श्रीभगवान्के निःस्वार्थ नामस्मरण, प्राणियोंके प्रति दया, उनके लिये उपकार कर्म, और श्रीभगवान् हृदयमें वर्तमान हैं तथा अपनी ओर आनेके लिये बड़ी उत्सुकतासे आकर्षण कर रहे हैं (जिस शक्तिके प्रतिकूल न होकर अनुकूल रहना चाहिये), ऐसा दृढ़ विश्वास और इनका अभ्यास करनेसे सब कुछ आवश्यक साधना और गुणकी प्राप्ति हो जायगी। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीका निम्नकथित वचन परम सत्य है जिसपर आस्था रखकर हमलोगोंको धैर्य धारणकर और प्रसन्न रह अपने अनुरागको भलीभाँति जाग्रत् रखना चाहिये। कहा है—

जो इच्छा करिहौ मन माहीं। हरिप्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥

श्रीभगवान्‌के प्रेमपूर्वक सतत स्मरण और निष्काम परोपकार-सेवा-व्रतमें अनन्तानन्त शक्ति है और ये जीवात्माको श्रीभगवान्‌में अवश्य युक्त कर देते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अन्तिम मङ्गल-संवाद

भगवत्प्राप्तिका मार्ग कठिन होनेपर भी साधकोंके लिये यह परम सन्तोषप्रद श्रीभगवान्‌की ही आज्ञा है कि कठिन होनेपर केवल सत्सङ्गसे प्राप्ति हो जाती है (श्रीमद्भागवत पु० स्क० ११, अ० १२ । १-२) जो पहले कहा भी जा चुका है। इसकी पुष्टिमें जो श्रीभगवान्‌ने वहाँ उदाहरण दिये वे नीचे दिये जाते हैं—

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः ।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः ।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन्युगेऽनघ ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः ।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः ।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥
(३–६)

हे अनघ ! सत्सङ्गके द्वारा ही भिन्न-भिन्न युगोंमें दैत्य, राक्षस, मृग, पक्षी, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर, मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि राजस-तामस-प्रकृतिके जीव, एवं वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर,

मयदानव, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गज, गृध्र, तुलाधार वैश्य, व्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञ-पत्नियाँ और ऐसे ही अन्यान्य अनेकों जन मेरे परम पदको प्राप्त हुए हैं।

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः॥
केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा॥
यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि॥
(७-९)

देखो गोपिकाएँ, गौएँ, यमलार्जुन, एवं व्रजके अन्यान्य मृग आदि तथा और भी मन्दबुद्धि नाग एवं सिद्धगण जिन्होंने न तो वेदोंको पढ़ा था, न महापुरुषोंकी उपासना की थी और न कोई व्रत या तप ही किया था, केवल सत्सङ्गजनित मेरे भक्ति-भावसे ही सुगमतापूर्वक मुझको प्राप्त हो गये, जिसको कि बड़े-बड़े साधनसम्पन्न यत्नशील भी योग, सांख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ, श्रुतिके कथन और मनन तथा संन्यास आदि किसी उपायसे भी नहीं पा सकते।

आजकल सत्सङ्ग दुर्लभ होनेपर भी अनुरागीको अवश्य मिलता है। किसी महानुभावके ग्रन्थका पढ़ना भी उनके साथ सत्सङ्ग करना है। इसी कारण श्रीभगवान् गीता-प्रेसको स्थापित करवा-कर वहाँसे ऐसे मासिकपत्र और पुस्तकोंको प्रकाशित करवा रहे हैं कि उनके पढ़नेसे सत्सङ्गका लाभ हो। इस पुस्तकके भी

प्रकाशित करनेका एकमात्र उद्देश्य सत्सङ्गकी वृद्धि है।

श्रीभगवान्‌की उक्ति है—

जो जन ऊधो मोहिं न विसारैं, तेहि न विसारौं छिन एक घरी।
जो मोहि भजै भजौं मैं वाको, कल न परत मोहिं एक घरी॥
काटौं जनम जनमके फंदा, राखौं सुख आनन्द करी॥
चतुर सुजान सभामें बैठे, दुःसासन अनरीति करी।
सुमिरन कियो द्रौपदी जब ही, खैंचत चीर उबारि धरी॥
ध्रुव पहलाद रैनि दिन धावै, प्रगट भये वैकुंठपुरी।
भारतमें भरुहीके अंडा, तापर गजको घंट ढुरी॥
अंबरीष गृह आये दुर्वासा, चक्र सुदर्शन छाहिं करी।
सूरके स्वामी गजराज उबारे, कृपा करो जगदीश हरी॥

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीका वचन है—

अपराध अगाध भये जनतें, अपने उर आनत नाहिंन जू।
गनिका गज गीध अजामिलके, गनि पातक पुंज सिराहिं न जू॥
लिये वारक नाम सुधाम दियो, जेहि धाम महामुनि जाहिं न जू।
तुलसो भजु दीनदयालहिं रे, रघुनाथ अनाथहिं दाहिन जू॥
सो जननी सो पिता सोइ भ्रात, सो भामिनी सो सुत सो हित मेरो।
सोई सगा सो सखा सोइ सेवक, सो गुरु सो सुर साहिब चेरो॥
सो तुलसी प्रिय प्रान समान, कहाँ लौं बनाय कहौं बहुतेरो।
जो तजि देहको गेहको नेह, सनेहसो रामको होय सबेरो॥

वामाङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट्।
सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वप्रियः सर्वदा
शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्करः पातु माम्॥

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं
सीतासमारोपितवामभागम्।
पाणौ महासायकचारुचापं
नमामि रामं रघुवंशनाथम्॥

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहं जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः॥

वक्षःस्थले च विपुलं नयनोत्पले च
मन्दस्मिते च मृदुलं मृदुजल्पिते च।
बिम्बाधरे च मधुरं मुरलीधरे च
बालं विलासनिधिमाकलये कदा नु॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

श्रीभगवदर्पणमस्तु।